भारतीय

साहित्यशास्त्र

लेखक

गणेश त्र्यंबक देशपांडे
एम्. ए., एल्एल्. बी., डी. लिट्.

रीडर इन् संस्कृत
नागपूर विश्वविद्यालय
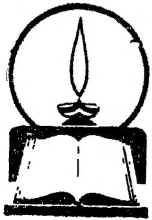
पॉप्युलर बुक डेपो, बंबई ७

© ग. त्र्यं. देशपांडे

प्रथम संस्करण :
दिसंबर १९६०
पौष १८८२

मुद्रक : मा. ह. पटवर्धन
संगम प्रेस (प्रा.) लि.
३८३ नारायण पेठ
पुणें २

प्रकाशक : ग. रा. भटकल
पॉप्युलर बुक डेपो
लैमिंग्टन रोड
बंबई ७

आचार्याणां स्वरूपेण शास्त्रविद्याप्रवर्तनम् ।
करोति काऽपि या तस्याः पादयोरिदमर्पितम् ॥

परिचय
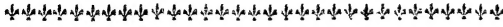
मेरे लिये यह बड़े ही हर्ष की बात है कि प्राध्यापक गणेश त्र्यंबक देशपांडे का—जो कि मेरे विद्यार्थी और मित्र रहे हैं—एक उत्कृष्ट ग्रंथ—'भारतीय साहित्यशास्त्र' विद्वानों के सन्मुख उपस्थित किया जा रहा है। अध्ययनकाल में ही आप बुद्धि कुशाग्रता, ज्ञानग्रहण की उत्सुकता तथा विचक्षणता आदि गुणों के समुच्चय से ख्यातिप्राप्त थे। आगे चल कर, जब आपने प्राध्यापक-वृत्ति स्वीकार की, तो संचित ज्ञान से ही संतोष न मानकर, आपने पूर्वमीमांसा, धर्मशास्त्र, साहित्यशास्त्र, सांख्यादि दर्शन आदि का गंभीर अध्ययन करते हुए अपने ज्ञान का स्तर ऊँचा उठाया और तभी अपनी परिणत प्रज्ञा का फल लेखों तथा भाषणों के द्वारा विद्वानमंडली के सम्मुख उपस्थित करना आरम्भ किया। आपकी निवेदनशैली प्रमाणपरिपुष्ट एवं प्रसादगुणयुक्त होने से, अल्प समय में ही आपका यश सर्वत्र प्रसारित हुआ तथा अनेकानेक संस्थाएँ भाषणमालाओं के ग्रथन के लिये आपको निमन्त्रित करती रहीं। बंबई मराठी साहित्य संघ की, 'वामन मल्हार जोशी व्याख्यानमाला' के उपलक्ष्य में आपके दिये भाषण अब ग्रन्थ रूप में प्रकाशित हो रहे हैं।

विगत तीस चालीस वर्षों में, भारत में साहित्यशास्त्र से संबन्धित बहुत कुछ अनुसंधान हुआ है। महामहोपाध्याय डॉ. पां. वा. काणे, डॉ. सुशीलकुमार दे, डॉ. राघवन्, डॉ. शंकरन् आदि विद्वानों ने, साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत विविध समस्याओं की गंभीर चर्चा की है। डॉ. काणे ने एवं डॉ. दे ने संस्कृत साहित्यशास्त्र का सम्पूर्ण इतिहास भी लिखा है। किन्तु ये सभी ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखे गये हैं। मराठी में प्रा. द. के. केळकर का 'काव्यालोचन' डॉ. के. ना. वाटवे का 'रसविमर्श' आदि ग्रन्थों का निर्माण तो हुआ है, किन्तु फिर भी सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य का आलोडन करते हुए, ऐतिहासिक पद्धति से, तद्गत विविध समस्याओं का विस्तरश:

विवेचन करनेवाले ग्रन्थ की आवश्यकता थी ही। स्वाधीनता प्राप्ति के अनन्तर उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में देश्य भाषाओं का अधिकाधिक मात्रा में उपयोग किया जा रहा है। ऐसे समय में इन भाषाओं में स्वतन्त्र एवं विचक्षण पद्धति से लिखे ग्रन्थों की आवश्यकता और भी अधिक प्रतीत हो रही है। मराठी में साहित्यशास्त्रविषयक ग्रन्थों के इस अभाव की पूर्ति, प्रा. देशपांडे कृत इस ग्रन्थद्वारा अच्छी तरह से होगी।

प्रा. देशपांडे के ग्रन्थ के दो विभाग हैं। पूर्वार्द्ध में भरताचार्य के नाटचशास्त्र से लेकर तो पंडित जगन्नाथ कृत रसगंगाधर तक के, अर्थात् ख्रि. पू. २०० से लेकर तो ख्रिस्तोत्तर १७०० तक के लगभग दो सहस्र वर्षो की अवधि में साहित्यशास्त्र विकास किस प्रकार होता रहा यह, भिन्न भिन्न कालखंडों में हुए ग्रन्थकारों के ग्रन्थान्तर्गत विषयों का सूक्ष्म पर्यालोचन करते हुए दर्शाया गया है। इस ग्रन्थ में, अनेक स्थानों में प्रा. देशपांडे की स्वतंन्त्र प्रज्ञा का आभास मिलता है। उदाहरण के लिये, भरत द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों का उत्तरकालीन अलंकारों से आपने प्रस्थापित किया हुआ संबन्ध देखिये। इसी तरह, भरत, भामह, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, आदि ग्रन्थकार भिन्न भिन्न संप्रदायों (Schools) के प्रवर्तक न हो कर, उन्होंने 'सिद्धपरमतानुवाद' के आधार पर निज ग्रन्थों में विषयों की विवेचना की है, यह भी प्राध्यापक देशपांडे ने सिद्ध किया है।

उत्तरार्द्ध में शब्दार्थों का स्वरूप, अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना की शक्तियाँ, व्यंग्यार्थ अर्थात् ध्वनि, रसप्रक्रिया आदि साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत विषयों का विवेचन आकर ग्रन्थों का अनुसरण करते हुए विस्तारपूर्वक किया गया है। इनमें, 'रसप्रक्रिया' का अध्याय इस विभाग का मर्म है। अभिनवगुप्त कृत अभिनवभारती तथा ध्वन्यालोकलोचन इन टीकाओं का सूक्ष्म अध्ययन करते हुए, उनके सिद्धान्त तथा उनके द्वारा की गयी पूर्वाचार्यों के मतों की आलोचना प्रा. देशपांडे ने अति विशद रूप में विवेचित की है। साहित्यशास्त्रान्तर्गत विविध विषयों के विवरण में व्याकरण, पूर्वमीमांसा, न्याय आदि शास्त्रों की पारिभाषिक संज्ञाओं का एवं सिद्धान्तों का उपयोग किया जाता है। ग्रन्थकार ने स्थानस्थान पर उन संज्ञाओं को एवं सिद्धान्तों को स्पष्ट किया है। इससे, जिनका उन शास्त्रों से परिचय नहीं है उनके लिये ग्रन्थकारकृत विषयप्रतिपादन सरल हो गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर, उदाहरण के लिये संस्कृत पद्य लिये गये हैं। इन पद्यों में व्यंग्यार्थ तथा सौंदर्य स्पष्ट करने में ग्रन्थकार ने उच्च कोटी की रसिकता दर्शायी है।

आजकल मराठी में रस के विषय में चर्चा चलती है। और कई बार, विवेचक का संस्कृत ग्रन्थों से साक्षात् परिचय न होने के कारण, संस्कृत साहित्य-

शास्त्रकारों के मतों का विपर्यास होने की संभावना रहती है। इस दशा में प्रस्तुत ग्रन्थ से, संस्कृत [illegible] मतों का यथार्थ ज्ञान होने में सहाय्यता मिलेगी। इसी प्रकार, विश्वविद्यालयों की बी. ए., एवं एम्. ए. परीक्षाओं में मम्मटाचार्य कृत 'काव्यप्रकाश' आनन्दवर्धनाचार्य कृत 'ध्वन्यालोक' आदि ग्रन्थ संस्कृत के पाठ्यक्रम में समाविष्ट रहते हैं। इसमें संदेह नहीं कि संस्कृतज्ञ छात्रों को भी उन ग्रन्थों के अध्ययन में प्रस्तुत ग्रन्थ से बहुत कुछ सहाय्यता मिलेगी।

प्रा. देशपांडे की शैली प्रवाहपूर्ण, आकर्षक एवम् सुंदर है। उनके विवेचित विषय गहन हैं, किन्तु जहाँतक हो सकें आपने उनको सरल किया है। आपके इस ग्रन्थ को मैं सहर्ष प्रस्तुत करता हूँ।

नागपुर
मकरसंक्रमण
दि. १४–१–१९५८

वा. वि. मिराशी

ऋ णा नि र्दे श

मन्दो (बुध) यशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्वाहूरिव वामनः ॥
अथवा कृतवाग्द्वारे (शास्त्रे)ऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥

"मङ्गलादीनि शास्त्राणि प्रथन्ते" भगवान.
भाष्यकार का वचन है; "पूर्वेभ्यो भरतादिभ्यः सादरं विहितोऽञ्जलिः ।" आदि मंगल से शास्त्र आरंभ करने की शिष्टों की मान्य रीति है। और शास्त्रसम्मत शिष्टाचार का पालन सर्वदा श्रेयःप्रद होता है।

ऐसा समझना ठीक नहीं कि मुनि भरत से प्रचलित पूर्वसूरियों की परम्परा जगन्नाथ के अनन्तर खण्डित हुई। भाषा तथा विवेचना की पद्धति में परिवर्तन यद्यपि स्पष्ट है, तथापि साहित्यशास्त्र के आधुनिक विवेचक भी मुनि के ही गोत्रज हैं। मुनि के इन आधुनिक गोत्रजों में, सर्वप्रथम निर्देश महामहोपाध्याय डॉ. पां. वा. काणेजी का ही करना आवश्यक है। साहित्यदर्पण की डॉक्टर साहब द्वारा लिखित प्रस्तावना ही है कि मुझे मीमांसा से साहित्यशास्त्र की ओर आकर्षित किया। एक ग्रन्थ की प्रस्तावना के रूप में लिखा आपका यह निबन्ध, साहित्यशास्त्र के इतिहास के रूप में मौलिक सिद्ध हुआ। इस ग्रन्थ का यह महत्त्व है कि साहित्य-ग्रन्थों के कालानुक्रम के विषय में इस ग्रंथ का कोई भी आधार लें। डॉ. सुशील-कुमार दे का Sanskrit Poetics ग्रंथ भी इसी स्तर का है। साहित्यमीमांसा के विविध अंगों की कल्पना इस ग्रंथ से पूर्णरूपेण आती है। इस ग्रंथ से स्पष्ट है कि शास्त्रीय विवेचन भी साहित्य के समान आकर्षक होता है। इसके अतिरिक्त, कई लोगों को इस ग्रन्थ से अध्ययन की प्रेरणा भी प्राप्त हुई है। डॉ. शंकरन् के निबंध,

Some Aspects of literary Criticism in Sanskrit तथा Rasa and Dhvani, डॉ. लाहिरी का प्रबन्ध Concepts of Riti and Guna in Sanskrit Poetics, डॉ. राघवन् के ग्रन्थ Bhoja's Shringar Prakash तथा Number of Rasas, एवम् लेखसंग्रह Some Concepts of Alankar Shastra आदि, तथा ऐसे अन्य ग्रन्थ भी साहित्यशास्त्र के प्रमेय विशेषों के पूर्ण रूप से परिचायक हैं। इनके अतिरिक्त, विभिन्न पत्रपत्रिकाओं में प्रसिद्ध स्फुट लेखन है ही।

साहित्यशास्त्र के मूल ग्रन्थों के अध्ययन में, उपर्युक्त सभी ग्रन्थों से तथा लेखों से मुझे अनेक प्रकारों से सहाय्यता मिली है और अनेक बार मेरे विचारों को गति प्राप्त हुई है। मूल ग्रन्थों के सम्बन्ध में इन ग्रन्थों का पठन तथा इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में मूल ग्रंथों का पुनः अवलोकन, इस प्रकार अध्ययन करने से, मेरे विचार धीरे धीरे निश्चित रूप धारण करने लगे। यह बात नहीं कि, इन ग्रन्थकारों के सभी मतों से मैं आज सहमत हूँ, किन्तु तब भी मैं इस उपकार को नहीं भूल सकता कि मेरे विचारों को गति तथा आकार इन्हीं ग्रन्थों ने दिया है। मूल ग्रंथों के बारे में क्या कहा जायें, मै जो कुछ हूँ, इन मूल ग्रन्थों के कारण ही हूँ।

प्रकृत ग्रन्थ के पूर्वार्ध की प्रेरणा मुझे डॉ. राघवन् के कुछ लेखों से मिली। डॉ. राघवन् के लिखे दो सुंदर लेख है—'Names of Sanskrit Poetics' और 'Lakshana'। इनमें से प्रथम लेख में डॉ. राघवन् ने दर्शाया है कि साहित्यशास्त्र की 'अलंकार' के साथ और भी दो संज्ञाएँ हैं— 'काव्यलक्षण' और 'क्रियाकल्प'। इस लेख को पढ़ते ही, साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत अनेक बातें मेरे सम्मुख उपस्थित हुई, एवं मेरी धारणा हुई कि ये प्राचीन नाम केवल संज्ञा के लिये न हो कर, शास्त्र के विकास की अवस्थाओं के वे द्योतक है। डॉ. राघवन् ने लक्षणों पर लिखे निबंध में अभिनवगुप्तकृत विवेचना की आलोचना में, एक दो स्थानों पर अर्थ के विषय में संदेह प्रकट किया है, किन्तु मुझे प्रतीत हुआ कि निरुक्त तथा मीमांसा की सहाय्यता से, वह संदेह भी नष्ट हो सकता है। इस विषय में पण्डित ताताचार्यकृत भामह टीका तथा प्रस्तावना से भी मुझे क्वचित् आधार प्राप्त हुआ। तब, मुझे हिंमत बँध गयी कि मेरा तर्क गलत तो नहीं था, और इस दृष्टि से मैंने मूलग्रंथों का पुनः अवलोकन आरम्भ किया। इसीसे, पूर्वार्ध में ग्रथित विचार सिद्ध हुआ है।

मेरे ये विचार कदाचित् मन ही मन में रह जाते, अधिक से अधिक यही होता कि कुछ एक विचार लेखरूप में प्रकट हुए होते। किन्तु ये सब विचार ग्रन्थनिविष्ट होनेवाले ही थे, मानो इसी लिये, विद्वानों के सम्मुख इन्हें प्रस्तुत करने का प्रसंग भी

आ गया । बंबई मराठी साहित्य संघ के तत्त्वावधान में, प्रतिवर्ष 'वामन मल्हार जोशी व्याख्यानमाला' आयोजित की जाती है । सन् १९५३ में मुझे इस माला के लिये निमन्त्रित किया गया । उस समय साहित्यशास्त्र के संबन्ध में मेरे विचार मैंने विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किये। कुल पाँच भाषणों में मैंने इसका पूरा मानचित्र उपस्थित किया । इसीका अब यह ग्रन्थरूप है।

भाषणों के लगभग पाँच वर्ष बाद यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। इस विलंब के लिये अधिकांश उत्तरदायित्व मेरा ही है। बंबई मराठी साहित्य संघ के तत्कालीन मन्त्री डॉ. भालेराव की हार्दिक इच्छा थी कि क्राउन २०० से २५० पृष्ठों का ग्रन्थ मैं उसी समय लिख दूँ। किन्तु उस समय वह कार्य नहीं हो सका। इसके अतिरिक्त मैं भी यह निश्चय नहीं कर सका कि मात्र पूर्वार्ध ही दें या उत्तरार्ध भी दिया जायें। अन्ततः, कई मित्रों के विचार से तय हुआ कि, पृष्ठसंख्या चाहे जो हो, जो कुछ कहना है एक बार कह दें। किन्तु तब आरंभ में जो उत्साह था वह कुछ कम होने लगा था। और प्रो. वा. ल. कुलकर्णी, प्रो. पु. शि. रेगे, प्रो. रा. भि. जोशी, डॉ. ग्रामोपाध्ये, प्रो. अनन्त काणेकर आदि मित्रों का अनुरोध न होता, तो कह नहीं सकते कि आजतक भी यह ग्रन्थ पूरा हो पाता या नहीं।

इसके बाद सवाल था प्रकाशन का। ग्रन्थ पूरा लिख कर, पाण्डुलिपि मैंने साहित्यसंघ को प्रस्तुत की। किन्तु संघ की रखी पृष्ठों की मर्यादा का मैंने उल्लंघन किया था–दो गुना पृष्ठ लिख कर। इससे, उस संस्था को, ग्रन्थ के प्रकाशन के विषय में मैं कुछ कह नहीं सकता था। तब, इस ग्रन्थ के प्रकाशन का भार पॉप्युलर बुक डिपो के संचालक दोनों बन्धु–श्री. सदानंद तथा श्री. रामदास भटकल ने सम्हाला। श्री. ढवळे के कर्नाटक प्रेस ने मुद्रण कार्य किया — समय की पाबन्दी न रखते हुए मेरी ओर से प्रूफ जाते थे–आपने इस बारे में कोई शिकायत नहीं की। इस प्रकार यह ग्रन्थ आज प्रकाशित हो रहा है। इस ग्रन्थ के निर्माण का श्रेय–उन ग्रंथों तथा ग्रन्थकारों को जिन्होंने मुझे प्रेरणा दी,–बंबई मराठी साहित्य संघ को–जिसने मुझे भाषणों का अवसर दिया, मेरे मित्रगण जिन्होंने नित्य अनुरोध किया–भटकल बन्धु–जिन्होंने आर्थिक भार उठाया तथा कर्नाटक प्रेस के संचालक और कर्मचारी आदि सभी का है। इन सभी को मैं हृदय से धन्यवाद अर्पित करता हूँ। एक ही बात मन में खटकती है कि इस ग्रन्थ के प्रकाशन के समय डॉ. भालेराव हम लोगों में नहीं हैं।

मैं जब हाइस्कूल में पढ़ता था तभी प्रो. ना. भू. जवादीवार मुझसे कुवलयानन्द की कारिकाओं का पाठ करवाते थे। मुझपर अभी वे संस्कार हैं। मॉरिस कॉलेज

में जो जीवन बीता, उसमें पं. रामप्रतापशास्त्री नित्य भागवत के छन्दों का सौंदर्य विशद करते थे। संस्कृत काव्य के सौंदर्य का आस्वादन उन्हीं का सिखाया है। म. म. वा. वि. मिराशीजी ने मुझे साहित्यशास्त्र में प्रविष्ट किया। पं. सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदीजी ने तत्त्वबोधिनी में गति करायी तथा शास्त्रविवेचना की प्राचीन पद्धति की शिक्षा दी। हिस्लॉप कॉलेज के प्रो. गो. के. गर्दे जी ने मीमांसा में मुझे प्रविष्ट किया। इन सभी गुरुजनों का मुझे इस समय स्मरण हो रहा है। इन गुरुजनों ने ही मेरी संविद्दीपिका को प्रज्वलित किया; आजतक प्रज्वलित रखा तथा मुझे संस्कारपूत किया। यह जो कुछ मैं विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत कर सका, यह उन्हींकी दी हुई शिक्षा का फल है। उस संविद्दीपिका से प्रवर्तित यह ग्रन्थरूप छोटीसी आरती मैं आज मेरे गुरुजनों के श्रीचरणों में समर्पित करता हूँ।

गुरुवर म. म. नानासाहेब मिराशी जी की अब भी मेरे लिये पहले जैसी आस्था है। मेरे स्वाध्याय में खण्ड न हो इस लिये आप नित्य सतर्क रहते हैं; मेरा छोटासा लेख भी क्यों न हो, शीघ्र ही उसे पढ़ कर आप उसके विषय में लिखते रहते हैं एवं मुझे प्रोत्साहित करते हैं। और इस लिये, मैं भी चाहे जब आपका चाहे जितना समय लेता रहता हूँ। इस समय, वे वस्तुतः कार्य में निमग्न हैं, किन्तु मेरा आग्रह था कि आप मेरी यह रचना पढ़ें। आपने भी इस ग्रन्थ को पढ़ कर, बड़े स्नेह से विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया। मैं कैसे आप का ऋण चुका सकता हूँ?

मेरे मित्र कई बार मुझसे पूछते हैं कि, 'इस ग्रन्थ में आप ने क्या नवीन बताया है?' तब मुझे अभिनवभारती में से एक प्रसंग याद आता है। रसाध्याय में, लोल्लट आदि पूर्व आचार्यों के मतों का अभिनवगुप्त ने परीक्षणपूर्वक संशोधन किया, तब पूर्वपक्षी अभिनवगुप्त से पूछते हैं, 'उच्यतां तर्हि परिशुद्धं तत्त्वम्।' इस पर अभिनवगुप्त उत्तर देते हैं, 'उक्तमेव हि तत् मुनिना; न तु अपूर्व किञ्चित्।' ऐसा ही कुछ यहाँ भी है। इस ग्रन्थ में जो कुछ बताया गया है वह पूर्वसूरियों का ही कहा है। मैंने उनके कथन का मात्र अनुवाद किया है। मैंने अपनी कुछ नई बात नहीं कही; ऐसा कुछ 'अपूर्व' मेरे पास है भी नहीं।

किन्तु ग्रन्थगत दोष तथा त्रुटियाँ मेरी अपनी हैं। पूर्वसूरियों से उनका संबन्ध नहीं है। इन दोषों को मैं जानता हूँ। कई स्थानों में इसमें अनुक्त और दुरुस्त होंगे। इन्हीं में मुद्रणदोषों का भी योग है। कई मुद्रणदोष ध्यान में नहीं आये, छपाई में कई स्थानो में टाइप उखड़ गया है; और कई पृष्ठोंमें पुरानी और आधुनिक लेखनपद्धतियों का मिश्रण हुआ है। ये सब दोष मैं देख सकता हूँ। विद्वान् इनके लिये क्षमा की दृष्टि रखें। कुछ विशेष टिप्पणियाँ, तथा विशिष्ट दोषों का एक शुद्धिपत्र साथ जोड़ दिया गया है। इस परसे शुद्ध करते हुए पाठक ग्रन्थ को पढ़ें।

यह सब करने पर भीं, कहा नहीं जा सकता कि ग्रन्थ पूर्ण निर्दोष हुआ है। दो आँखें कहाँतक देख सकती है और दो हाथ कितना काम कर सकते है ? विश्व में पूर्ण और दोषरहित केवल परमेश्वर है, किन्तु उनको भी इसके लिये, सहस्राक्ष और सहस्रबाहु होना पड़ा। प्रार्थना है कि पाठक इस ग्रन्थ के दोष तथा त्रुटियाँ बतायेंगे। द्वितीय संस्करण में उनका संशोधन अवश्य किया जायगा।

अमरावती
वसंतपंचमी
दि. २४–१–१९५९

ग. त्र्यं. देशपांडे

आ भा र

मेरे मित्र प्रो० **श्रीनिवास गोविंद देउस्कर** जी ने इस ग्रंथ का मराठी भाषा से हिन्दी भाषा में अनुवाद प्रस्तुत किया है। वे सस्कृत साहित्य के व्यासङ्गी अभ्यासक है और भारतीय साहित्यशास्त्र में विशेष अनुराग रखने के कारण उन्होंने यह कार्य संपन्न किया है। इस अनुवाद का कोई पारिश्रमिक भी स्वीकार न करके उन्होंने साहित्य सेवा का आदर्श चरितार्थ किया है। उनका मै चिर ऋणी हूँ। उनका आभार किन शब्दों में प्रकट करूँ ?

उसी प्रकार मेरे मित्र श्री. रामदास जी भटकल जी ने इस ग्रंथ का [illegible] प्रकाशन किया है। उनका भी मैं ऋणी हूँ।

नागपूर,
१ दिसंबर १९६०

ग. त्र्यं. देशपांडे

अनुक्रमणिका

पूर्वार्द्ध

उत्तरार्द्ध

भारतीय साहित्यशास्त्र

पूर्वार्द्ध

पूर्वार्द्ध

उत्तरार्द्ध

अध्याय पहला

विषयप्रवेश

सरितामिव प्रवाहाः तुच्छाः प्रथमं यथोत्तरं विपुलाः ।
ये शास्त्रसमारंभा भवन्ति लोकस्य ते वन्द्याः ।।

नदी के प्रवाह के समान शास्त्र का भी प्रवाह प्रारंभ में छोटा-सा होता है । बढ़ते बढ़ते वह विशाल बनता जाता है । ऐसे ही शास्त्र लोकादर के भाजन होते हैं । साहित्यशास्त्र के लिये भी यह नियम लागू होता है । आरंभ की प्रायोगिक अवस्था के उपक्रमों से साहित्य का शास्त्र किस प्रकार विकसित हुआ हम इस भाग में देखेंगे ।

साहित्यशास्त्र—काव्यालंकार—काव्यलक्षण—क्रियाकल्प

जिस शास्त्र के लिए आज हम साहित्यशास्त्र शब्द का प्रयोग करते हैं, उसका प्राचीन नाम अलंकारशास्त्र है । 'अलंकार' शब्द का आधुनिक अर्थ अनुप्रास—उपमा आदि के लिए ही सीमित हुआ है, किन्तु प्राचीन काल में उसकी व्याप्ति कहीं अधिक थी । रस, रीति, गुण, वक्रोक्ति आदि सभी का अन्तर्भाव 'अलंकार' शब्द के अर्थ में होता था । प्राचीन परम्परा के पण्डित आज भी साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों को 'अलंकारग्रन्थ' तथा उसके अध्येता को 'आलंकारिक' कहते हैं । कालांतर में 'अलंकार' शब्द की यह व्याप्ति संकुचित होती गई और उसके स्थानपर 'साहित्य' शब्द रूढ़ होता गया । काव्यविवेचना के प्राचीन ग्रन्थों के नामोंपर केवल दृष्टिक्षेप करने से यह स्पष्ट होता है । कुछ ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—

भामह (सन् ६००-७०० ईसवी)—काव्यालंकार;
दण्डी (सन् ६००-७०० ईसवी)—काव्यादर्श;

उद्भट (सन् ८०० ईसवी)—[illegible];
वामन (सन् ८०० ईसवी)—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति;
रुद्रट (सन् ८५० ईसवी)—काव्यालंकार.

उपर्युक्त ग्रन्थों में केवल अलंकारों की ही विवेचना नहीं, अपितु उस समय के सभी साहित्यविषयक प्रश्नों का ऊहापोह किया गया है। उदाहरणस्वरूप, भामह के ग्रन्थ में काव्यन्याय, शब्दशुद्धि आदि विषयों पर अध्याय हैं। वामन के ग्रन्थ में रीति पर विवेचना की गई है। रुद्रट के ग्रन्थ में तो रस पर भी विवेचना है। पर केवल दण्डी का अपवाद छोड़ दिया तो सभी ने अपने ग्रन्थों को 'काव्यालंकार' यही एक नाम दिया है।

लेकिन रुद्रट के बाद ग्रन्थों के नाम कुछ भिन्न प्रकार के दिखाई देते हैं। काव्य के विविध अंगों की चर्चा जिनमें की गई है उन ग्रन्थों को 'काव्यमीमांसा', 'काव्य-प्रकाश', 'काव्यानुशासन' आदि नाम दिये गये हैं। काव्यविवेचना के किसी विशिष्ट अंग की विवेचना जिनमें हो वे ग्रन्थ उन्हीं विषयों के अनुसार नामांकित किये गए हैं। इस प्रकार ध्वनि की विवेचना जिसमें है वह ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक'। व्यञ्जना का परिक्षण जिसमें है वह 'व्यक्तिविवेक'। रसास्वाद की प्रक्रिया जिसमें बताई गई है वह—'हृदयदर्पण'। औचित्य की विवेचना जिसमें है वह— 'औचित्यविचार-चर्चा'। इस प्रकार ग्रन्थों के नाम ग्रन्थगत विषय को लक्ष्य करके बनाये मिलते हैं। इस काल के 'अलंकार' ग्रन्थों में सामान्यतया अलंकारों की ही विवेचना पाई जाती है। रुय्यक ने दो ग्रन्थ लिखे हैं—'अलंकारसर्वस्व' तथा 'साहित्यमीमांसा'। इनमें से प्रथम ग्रन्थ में केवल अलंकारों की विवेचना है। दूसरे ग्रन्थ में काव्य के अन्य अंगों की विवेचना है।

प्रतीत होता है, 'साहित्य' शब्द काव्यविवेचना में रुद्रट के बाद धीरे धीरे रूढ़ होता गया। 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' यह तो भामह ने पहले ही कह रक्खा था। किन्तु शब्दार्थों के 'साहित्य' की कल्पना ने रुद्रट के बाद ही स्वतंत्र रूप से जड़ पकड़ ली प्रतीत होता है। रुद्रट भी 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' कहकर भामह का केवल अनुवादमात्र करता है। परन्तु राजशेखर के समय में (सन् ९०० ईसवी के लगभग) '**साहित्य**' शब्द काव्यमीमांसा का शास्त्र अथवा विद्या के अर्थ में रूढ़ हुआ प्रतीत होता है। साहित्यविद्या अर्थात् साहित्य शास्त्र का 'पंचमी साहित्य-विद्या' इस प्रकार स्वतंत्रतया निर्देश करते हुए, राजशेखर उसे आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति इन विद्याओं की श्रेणी में स्थान देता है। इस काल में अनेकों ग्रन्थकारों ने काव्यशास्त्र के अर्थ में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग किया हुआ मिलता है। श्रीकण्ठचरित काव्य के कर्ता मङ्खकवि, लगभग राजशेखर के ही समय के

मुकुलभट्ट, उनके शिष्य प्रतिहारेन्दुराज, अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमेन्द्र, इन सभी ने काव्यशास्त्र के लिये 'साहित्य' शब्द का ही प्रयोग किया है (१)। कुन्तक तथा भोज ने तो 'साहित्य क्या है' इसी प्रश्न को लेकर विचार किया है। और दर्शाया है कि भिन्नभिन्न काव्यांगों का शब्दार्थों के 'साहित्य' में कैसे अन्तर्भाव होता है (२)। इसके अनन्तर रुय्यक ने 'साहित्यमीमांसा' नाम से ही स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना की है एवम् 'व्यक्तिविवेक' पर लिखी टीका में वह 'साहित्य' शब्द का, काव्य के मीमांसकों ने रूढ़ की हुई परिभाषा में निर्वचन करता है (३)। ईसा की चौदहवीं सदी में विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ को स्पष्टतः 'साहित्यदर्पण' नाम दिया है, जिसमें काव्य के नाटयसहित सभी अंगोंपर चर्चा की गई है। इससे प्रतीत होता है कि, 'काव्यालंकार' संज्ञा के स्थानपर, 'काव्यविवेचनशास्त्र के अर्थ में 'साहित्य' संज्ञा राजशेखर के पहले से ही रूढ़ होने लगी थी।

जान पडता है कि 'अलंकार' एवं 'साहित्य' के समान **'काव्यलक्षण'** शब्द भी काव्यविवेचना के लिए एक पर्याय था। भामह ने 'काव्यालंकार' के अर्थ में 'काव्यलक्ष्म' शब्द का एक स्थान पर प्रयोग किया है (४)। और दण्डी ने भी "यथासामर्थ्यमस्माभिः क्रियते **काव्यलक्षणम्**" इस प्रकार काव्यलक्षण शब्द का स्पष्ट रूप में प्रयोग किया है (५)। काव्य के विवेचक के अर्थ में 'अलंकार' शब्द से 'आलंकारिक' शब्द बना। 'ध्वन्यालोक'से विदित होता है कि ठीक इसी प्रकार

---

१. (१) विना न साहित्यविदाऽपरत्र गुणः कथंचित् प्रथते कवीनाम्।—मङ्ख
   (२) पदवाक्याप्रमाणेषु तदेतत्प्रतिबिंबितम्।
   यो योजयति साहित्ये तस्य वाणी प्रसीदति॥—मुकुलः, अभिधावृत्तिमातृका
   (३) 'मीमांसासारमेघात्, पदजलधिविधोः, तर्कमाणिक्यकोशात्
   साहित्यश्रीमुरारेः . उद्भट की टीका
   (४) श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः।—क्षेमेन्द्रः, औचित्यविचारचर्चा

२. देखिये : 'साहित्यशास्त्रांतील साहित्य', महाराष्ट्र साहित्य पत्रिका, अंक १०१–१०२

३. 'न च काव्ये शास्त्रादिवत् अर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते, सहितोयः दब्दार्थयोः तत्र प्रयोगात्' कहते हुए रुय्यक ने 'साहित्य' शब्द का विवरण 'साहित्यं [illegible] अन्यूनानतिरिक्तत्वम्' ऐसा दिया है। यहाँ रुय्यक ने अधिकतर कुन्तक के ही शब्दों का प्रयोग किया है। विदित होता है कि आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक आदि के ग्रंन्थोंमें साहित्यकल्पना की विवेचना के साथ ही उसकी परिभाषा भी रुढ़ होने लगी थी।

४. अवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म। भामहः 'काव्यालंकार'। (६।६४)

५. काव्यादर्श (१।२)

'काव्यलक्षरण' शब्द से 'काव्यलक्षरणकारी', 'काव्यलक्षरणविधायी' एवम् 'काव्यलक्ष्मविधायी' आदि शब्द भी बने हैं। (६)

इन तीन संज्ञाओं से भिन्न एक चौथी संज्ञा भी इस शास्त्र के लिए थी। वह है '**क्रियाकल्प**'। क्रियाकल्प का अर्थ है काव्यकरण के नियम। हमारी सम्मति में यह संज्ञा 'काव्यालंकार' तथा 'काव्यलक्षरण' संज्ञाओं से पूर्वकालिक है। एवम् साहित्यशास्त्र के विकास के आरंभकालीन प्रायोगिक अवस्था की वह द्योतक है। क्रियाकल्प का संक्षेप में इतिहास इस प्रकार है।

वात्स्यायन के (सन् २५० ईसवी के लगभग) (७) 'कामसूत्र' में चौंसठ कलाओं की सूची दी गई है। उसमें 'संपाठ्य, मानसी काव्यक्रिया, अभिधानकोष, छन्दोज्ञान, **क्रियाकल्प**' इस क्रम से कलाओं के नाम दिये गये हैं। संपाठ्य का अर्थ है दो या अधिक व्यक्तियों ने स्पर्धा के लिए या मनोरंजन के हेतु काव्य कण्ठस्थ करना; मानसी काव्यक्रिया का अर्थ है संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश भाषा में की हुई नूतन काव्य-रचना; अभिधानकोष का अर्थ है शब्दसंग्रह; छन्दोज्ञान का अर्थ है वृत्तों का ज्ञान; एवं क्रियाकल्प का अर्थ है काव्यकरण के नियम अर्थात् काव्यालंकार। उपर्युक्त कलाओं के इस प्रकार अर्थ देते हुए कामसूत्र का टीकाकार यशोधर लिखता है — "अभिधानकोष, छन्दोज्ञान तथा क्रियाकल्प तीनों कलाएं काव्यक्रिया की अंगभूत हैं एवम् इन तीनों का ज्ञान काव्यनिर्माण तथा काव्य के परिशीलन के लिए आवश्यक है।" (८) यशोधर ने काव्यक्रिया = काव्यनिर्माण, तथा क्रियाकल्प = 'काव्य-करणविधि' अर्थात् 'काव्यालंकार' इस प्रकार पर्याय दिये हैं।

छन्द, अभिधान एवं क्रियाकल्प अर्थात् अलंकार का काव्यक्रिया अर्थात् काव्य-रचना से अतिनिकट का संबन्ध है। भामह के ग्रन्थ का विषय 'अलंकार' है। अलंकारविवेचना के इस ग्रन्थ में भामह लिखता है—

शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यवैखरी ॥

---

६. 'काव्यलक्ष्मविधायिभिः "चिरंतनकाव्यलक्षणकारिणां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्" काव्य-लक्षणकारिभिः प्रसिद्धे आदर्शिते प्रकारलेशे' इस प्रकार अनेक उल्लेख 'ध्वन्यालोक' में हैं।

७. वात्स्यायन का समय 'कामसूत्र' में दर्शित राजकीय स्थिति के उल्लेखों से ईसा की तीसरी शताब्दी का मध्य (ई. स. २५०) निर्धारित किया गया है। H. C. Chakladar : *Social Life in Ancient India*, p 33.

८. काव्यक्रिया इति संस्कृतप्राकृतापभ्रंशकाव्यस्य करणम्, प्रतीतप्रयोजनम्। अभिधानकोष इति उत्पलमालादि। छन्दोज्ञानमिति पिंगलादिप्रणीतस्य छन्दसो ज्ञानम्। क्रियाकल्प इति काव्य-करणविधिः, काव्यालंकार इत्यर्थः। त्रितयमपि काव्यक्रियाङ्गम् परकाव्यावबोधनार्थं च।

शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा विद्वदुपासनम् ।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः **काव्यक्रियादरः** ।

इन कारिकाओं में भामह ने कामसूत्र के छन्द, अभिधान तथा काव्यक्रिया इन शब्दों, का प्रयोग किया है। दण्डीने भी क्रियाकल्प का निर्देश क्रियाविधि नाम से किया है। वह लिखता है—

अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसंधाय सूरयः ।
वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः **क्रियाविधिम्** ।।
तैः शरीरं च काव्यानामलंकाराश्च दर्शिताः । (का. द. १।९।१०)

विधि और कल्प पर्यायशब्द हैं। अतः दण्डी ने उपर्युक्त कारिका में क्रियाकल्प का ही निर्देश किया है इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता। (९) इसके अतिरिक्त काव्य के शब्दार्थमय शरीर तथा अलंकारों की विवेचना भी क्रियाविधि अर्थात् क्रियाकल्प का विषय यह भी दण्डी ने इस प्रकरण में बताया है।

वामन के काव्यालंकार सूत्रोंपर 'कामधेनु' नामक टीका उपलब्ध है। इस टीका में चौंसठ कलाओं की संग्रहकारिकाएँ भामह के नामपर दी गई हैं।

इन करिकाओं में दी गई कलाओं की सूची वात्स्यायन के कारिकाओं से मिलती-जुलती है। केवल वात्स्यायन के 'क्रियाकल्प' ' कला के स्थान पर भामह ने 'काव्यलक्षण' कला दी है। (१०) 'काव्यलक्षण' शब्द 'काव्यालंकार' का समानार्थक शब्द है। इस सत्यपर ध्यान देने से क्रियाकल्प, काव्यलक्षण तथा काव्यालंकार का परस्पर सम्बन्ध ध्यान में आता है और तीनों का विषय भी एक ही है यह स्पष्ट दिखाई देता है।

रामायण में भी 'क्रियाकल्प' का निर्देश है। रामायण के कवि ने कहा है कि रामसभा में लव और कुश के रामायण गान के समय श्रोतागण में पौराणिक, शब्दवेत्ता, गान्धर्ववेत्ता, कलावान्, छन्दःशास्त्रज्ञ तथा '**क्रियाकल्पविद्**' उपस्थित थे। (रामायण उ. का. ९४।५-७)। यहाँ भी शब्दज्ञ, छन्दःशास्त्रज्ञ और क्रियाकल्पविद् का एक ही स्थान में निर्देश है। काव्य के समीक्षक जिस सभा में हों वहाँ शब्दज्ञ तथा छन्दःशास्त्रज्ञों के साथ सिवा आलंकारिकों के कौन आसनग्रहण कर

---

९. दण्डी के 'क्रियाविधि' पद का अर्थ तरुणवाचस्पति नामक टीकाकार ने 'रचनाप्रकार' दिया है। 'हृदयंगमा' नाम्नी टीका में इसीका अर्थ 'क्रियाविधान' किया गया है। यह दोनों अर्थ तथा 'जयमंगला' टीका में किया गया 'काव्यकरणविधि' यह अर्थ एक ही है।

१०. 'अत्र कलानामुद्देशः कृतो भामहेन' लिखकर, कामधेनुकार गोपेन्द्रभूपाल ने कारिकाएँ दी हैं। उनमें 'धोरणमातृका, यन्त्रमातृका काव्यलक्षणम्' इस प्रकार निर्देश किया हुआ है। (वामन : काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १।३।७ पर टीका)।

सकता है? इसलिए यहाँ भी 'क्रियाकल्पविद्' का अर्थ 'काव्यरचनाशास्त्रज्ञ' ही करना पड़ता है।

क्रियाकल्प का 'काव्यालंकार' अर्थ स्वीकार करने से क्रिया = काव्य यह अर्थ भी क्रमप्राप्त होता है। संभव है कि काव्यक्रिया से 'काव्यक्रियाकल्प' शब्द बना हो और इसकी क्लिष्टता के कारण 'क्रियाकल्प' शब्द प्रयुक्त हुआ हो। यह भी संभव है कि इसी प्रकार साहित्यिक समाज में 'काव्यक्रिया' के लिए 'क्रिया' शब्द भी रूढ़ हुआ हो। अगर इसमें कुछ तथ्य हैं तो कालिदास का अपने नाटच कृति के लिए 'क्रिया' शब्द का उपयोग करना कुछ विशेष अर्थ रखता है। (११)

सारांश, साहित्यशास्त्र के इतिहास का अवलोकन करने से विदित होता है कि इस शास्त्र के लिए चार संज्ञाओं का प्रयोग होता था – क्रियाकल्प, काव्यलक्षण, काव्यालंकार तथा साहित्य (डॉ. राघवन् : *Names of Sanskrit Poetics*)

"सौंदर्यम् अलंकारः"

'अलंकार' शब्द का आधुनिक अर्थ उपमा, अनुप्रास आदि के लिए ही सीमित है। रुद्रट के समय तक इस शब्द का अर्थ अधिक व्यापक था। 'अलंकार' शब्द की यह पूर्वकालिक व्याप्ति कहाँतक थी इसका परीक्षण करना आवश्यक है। जिन्हें आज हम परम्परा के अनुसार 'अलंकारवादी' कहते हैं उन भामह आदि ग्रन्थकारों के ग्रन्थों का सम्यक् ज्ञान विना इस व्यापक अर्थ को समझ लिए ठीक प्रकार से नहीं हो सकता। भामह, उद्भट, वामन तथा रुद्रट इन सभी ने अपने ग्रन्थों को 'काव्यालंकार' का ही नाम दिया है। भामह ने 'अलंकार' शब्द का अर्थ कहीं भी दिया नहीं। दण्डी की सम्मति में 'अलंकार' शब्द का अर्थ 'काव्य शोभाकर धर्म' होता है। (काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।) अलंकार शब्द के व्यापक तथा सीमित दोनों अर्थ वामन ने दिये हैं। इस लिए वामन से आरंभ करके हम पीछे जायेंगे।

अपने ग्रन्थ का आरम्भ ही वामन 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्' सूत्र से करता है। वास्तव में, गुणालंकारसंस्कृत शब्दर्थों के लिए ही काव्य शब्द उपयुक्त होता है इसे वामन भलीभांति जानता है। परन्तु केवल विवेचना के लिए शब्दार्थ = काव्य यह वामन का गहीत कृत्य है। वामन की सम्मति में काव्य की अर्थात् शब्दार्थों की

---

११. भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः।—मालविकाग्निमित्र.

प्रणयिषु वा दाक्षिण्यात् अथवा सद्वस्तुबहुमानात्।
शृणुत जना अवधानात् क्रियामिमां कालिदासस्य॥— विक्रमोर्वशीय

ग्राह्यता अलंकारों से होती है। यह अलंकार क्या है? इस पर वामन का उत्तर है "**सौंदर्यम् अलंकार:**" सौंदर्य ही अलंकार है। यहाँ अलंकार शब्द का अर्थ सौंदर्य किया गया है। यही अलंकार शब्द का व्यापक अर्थ है। उपमा आदि इस सौंदर्य के निर्माण के लिए साधनीभूत हैं, इसलिए साधनदृष्टि से (साधन होने से)—करण व्युत्पति से—उन्हें अलंकार कहा गया है। यह सौंदर्यरूप अलंकार शब्दार्थों के सम्बन्ध में किस प्रकार सम्पन्न होता है? इस पर वामन का कथन है—"सदोषगुणालंकार-हानोपादानाभ्याम्।" शब्दार्थों के सम्बन्ध में दोषत्याग से एवम् गुण तथा उपमा आदि अलंकारों के स्वीकार से यह सौंदर्यरूप अलंकार सम्पन्न किया जा सकता है। वामन के विचार में गुण तथा उपमा आदि अलंकार काव्य के सौंदर्य के साधन हैं। इन दोनों साधनों में भेद दर्शाते हुए वामन कहता है—"काव्यशोभाया: कर्तारो गुणा:, [illegible] अलंकारा:।" गुण [illegible] के कारक हेतु हैं, उपमा आदि उस शोभा के अतिशय के साधन हैं।

काव्यसौंदर्य के अर्थ में वामन ने यहाँ [illegible] शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द को देखते ही दण्डी का "काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।"—— वचन याद आता है। और वामन के "काव्यशोभाया: कर्तार:" इस वचन की दण्डी के 'काव्यशोभाकरान्' के वचन से ठीक संगति होती है। अलंकार = काव्य-शोभाकर धर्म यह दण्डी का कथन है। अलंकार = सौंदर्य यह वामन का मत है। किसी भी अर्थ को स्वीकार करने पर भी, अलंकार शब्द से दोनों का अभिप्राय काव्य शोभा अथवा काव्यसौंदर्य से है यह स्पष्ट हो जाता है।

वामन तथा दण्डी ने 'अलंकार' का लक्षण किया है। किन्तु भामह ने किया नहीं। परन्तु कहीं कहीं भामह 'अलंकृति' शब्द का प्रयोग करता है। प्रतीत होता है कि निश्चय ही इन स्थानों पर सौंदर्य अथवा काव्यशोभा के अर्थ से ही भामह का अभिप्राय था। उदाहरणस्वरूप—"सुपां तिङां च व्युत्पत्तिम् वाचां **वाञ्छन्त्यलंकृतिम्**" अथवा "इष्टाभिधेय वक्रोक्तिरिष्टा वाचामलंकृति:।" यहाँ तथा अन्य समान स्थानोंपर 'अलंकृति' शब्द का सौंदर्य अर्थात् काव्यशोभा यही एक अर्थ करना पडता है। 'सौंदर्य' के अर्थ में वामन ने 'अलंकृति' शब्द का भी प्रयोग किया है। 'सौंदर्य-मलंकार:।' सूत्र के अर्थ में वामन ने लिखा है——"अलंकृतिरलंकार:।" दण्डी तथा वामन के समान 'अलंकार' संज्ञा का अर्थ न करते हुए भामह ने उसका प्रयोग किया है इसका एक कारण यह भी हो सकता है——किसी शास्त्र में किसी संज्ञा का अर्थ न किया हो और उसका प्रत्यक्ष प्रयोगमात्र किया गया हो तो स्वीकार करना पड़ता है——उस संज्ञा का विशिष्ट अर्थ उस शास्त्र के अभ्यासकों में पहले से ही ज्ञात एवम् रूढ है। संभव है कि 'अलंकार' शब्द का 'सौंदर्य अर्थात् काव्यशोभा'

यह अर्थ साहित्यक्षेत्र में ज्ञात तथा रूढ़ है इस बात को भामह जानता हो और इस लिए इस संज्ञा का अर्थ करने की कोई आवश्यकता उसने समझी न हो। भामह से पूर्व 'अलंकार' शब्दसौंदर्य अर्थात् शोभा के अर्थ में प्रयुक्त होता था।

काव्यचर्चा का उद्गम नाटचचर्चा से हुआ, इसे हम आगे विस्तार से दर्शायेंगे। केवल रस के संबन्ध में ही नहीं, अपितु गुणालंकारों के संबन्ध में भी काव्यचर्चा के लिए नाटचशास्त्र का आश्रय लिया गया है। इस प्रकार आश्रय लेने में काव्यलक्षण-कारों ने नाटच में रूढ अनेकों संज्ञाओं को सही सही उठा लिया है। इन संज्ञाओं में से एक '**काव्यालंकार**' है।

नाटचशास्त्र में अलंकार शब्द का, काव्य के समान अन्य विभागों के लिए भी उपयोग किया गया है। काव्यालंकार, पाठचालंकार, नेपथ्यालंकार, नाटचालंकार, वर्णालंकार तथा प्रयोगालंकार इस प्रकार अलंकारों के छह भेद नाटचशास्त्र में बताये गये हैं। इन सभी संज्ञाओं में अलंकार शब्द का अर्थ सौंदर्य अथवा शोभाकर धर्म ही किया गया है। इन छः अलंकारों में से '**काव्यालंकार**' को आलंकारिकों ने नाटचशास्त्र से पृथक् किया, एवम् उसकी स्वतन्त्र रूप में विवेचना की। तथा इस स्वतन्त्र विवेचना के निर्देश के लिये नाटचशास्त्र में दी गई उसकी मूल संज्ञा को ही निर्धारित किया। आलंकारिकों में से कई ग्रन्थकारों ने 'काव्यालंकार' संज्ञा के स्थान पर नाटचशास्त्र की ही दी हुई दूसरी संज्ञा–'**काव्यलक्षण**' का प्रयोग किया है। यही विवेचना आगे चल कर अलंकार शास्त्र में परिणत हुई। इस प्रकार काव्यरचना तथा काव्यस्वरूप के संबन्ध में नाटचचर्चा में पूर्वकाल से ही ज्ञात तथा रूढ संज्ञाओं को काव्य की स्वतन्त्र चर्चा में प्रयुक्त करना आलंकारिकों ने आरम्भ किया।

काव्यालंकार की इस प्रकार स्वतन्त्र विवेचना हो रही थी और इसी समय नाटचशास्त्र के अन्य अनेक विषय इस विवेचना में परिवर्तित रूप में आने लगे थे। उदाहरणस्वरूप, नाटच के संध्यंग, वृत्त्यंग तथा लक्षणों को नाटचशास्त्र में 'अलकार' की संज्ञा नहीं है। किन्तु यही विषय जब काव्यचर्चा में आने लगे, तब उनमें शोभा-कारित्व होने से उन्हें 'अलंकार' माना गया। दण्डी कहता है––

यच्च संध्यंगवृत्त्यंगलक्षणान्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः ॥ (२।३६७)

"अन्य शास्त्र में अर्थात् नाटचशास्त्र में संध्यंग, वृत्त्यंग तथा लक्षणों का जो वर्णन किया गया है वह हमें अलंकार के रूप में मान्य है। सार यह है कि काव्यविवेचना के आरंभकाल में अलंकार शब्द का अर्थ "सौंदर्य' अथवा 'काव्यशोभाकर धर्म' होता था। जिस किसी से काव्य में शोभा आती थी उसे साहित्यिक 'अलंकार' की

संज्ञा दिया करते थे। इसी हेतु अनुप्रास, उपमा आदि के साथ ही गुण, सन्धि, वृत्ति, लक्षण, रस इन सभी को उन्होंने 'अलंकार' की ही संज्ञा दी है।"

सौंदर्यप्रतीति ही काव्यात्मा है

इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि अलंकार शब्द व्यापक अर्थ में सौंदर्य अथवा काव्यशोभा का वाचक है। इससे प्राचीन आचार्यों के मत में सौंदर्य ही काव्य का सारभूत तत्त्व निर्धारित होता है। उत्तर काल में अलंकार शब्द का अर्थ सीमित हुआ। किन्तु इस कारण सौंदर्यतत्त्व का महत्त्व काव्यचर्चा में किसी दृष्टि से कम हुआ, ऐसा समझने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसके लिए विवेचकों ने प्राचीन आचार्यों के अलंकार शब्द प्रयोग न करते हुए चारुत्व, कामनीयक, सौंदर्य, रमणीयता आदि शब्दों का प्रयोग किया। उदा. 'शब्दगताश्**चारुत्व**हेतवः।', '**कामनीयकम्** अनतिवर्तमानस्य।' काव्यस्य हि ललितोचितमंनिवेश चारुणः।', 'विविधविशिष्ट-वाच्यवाचकरचनाप्रपंचचारुणः। आदि प्रयोग आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में पाये जाते हैं। ध्वन्यालोक के '[illegible]' पदपर अभिनवगुप्त का व्याख्यान है—"प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा। तस्याः विशेषोरसावेशवैशद्य **सौंदर्य**-निर्माणक्षमत्वम्।" महाकवियों की प्रतिभा का विशेष यह होता है कि रसावेश के लिए आवश्यक प्रज्ञा की निर्मलता उसमें होती है। और उस निर्मलता के द्वारा उसे सौंदर्य की प्रतीति होती है। सौंदर्य के इसी प्रतीति का महाकवि के काव्य में आविर्भाव होता है। [illegible]—— यहाँ अभिप्राय यह है कि यही सौंदर्य—जो कि प्रज्ञा-नैर्मल्य के द्वारा प्रतीत होता है—काव्य का स्वरूप होता है। द्वितीयोद्योत में—

> किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुनः प्राप्तश्चिराद्दर्शनम्।
> केयं निष्करुणप्रवासरुचिता केनाऽसि दूरीकृतः॥
> स्वप्नान्तेष्वपि ते वदन् प्रियतमव्यासक्त कण्ठग्रहो।
> बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजनः॥

इस श्लोक पर लिखते हुए अभिनवगुप्त कहता है—" न हि त्वया रिपवो हताः, इति यावत् अनलंकृतोऽयम् वाक्यार्थः तादृगयम्, अपि तु **सुन्दरीभूतः**।" राजा ने किया हुआ शत्रुनाश इस पद्य का वर्ण्य विषय है। किन्तु "हे राजन्, आपने शत्रुओं का नाश किया" इस वाक्य से जो अर्थ प्रतीत हुआ होता वह यहाँ प्रतीत होता नहीं। यहाँ जो अर्थ प्रतीत होता है वह सौदर्ययुक्त है।

केवल इतना ही नही कि चारुत्व अर्थात् सौंदर्य काव्य के लिए आवश्यक घटक है, बल्कि सौदर्य के बिना कोई काव्य हो ही नहीं सकता, यह अभिनवगुप्त का कथन

तल्लक्षणे सर्व एवैते सुलक्षिता भवन्ति।' आनन्दवर्धन के इस वाक्य के व्याख्यान के अवसरपर अभिनवगुप्त कहते हैं—

"तथाजातीयानामिति चारुत्वातिशयवताम्–इत्यर्थः 'सुलक्षिताः इति **यत्किलैषां तद्विनिर्मुक्तं रूपं न तत्काव्येऽभ्यर्थनीयम्**। उपमा हि 'यथा गौस्तथा गवयः।' इति। रूपकं 'गौर्वाहीकः।' इति। श्लेष : 'द्विर्वचनेऽचि' तन्त्रात्मकः —एवमन्यत्। **न चैवमादि काव्योपयोगीति**।" सारांश, काव्य में अर्थ चारुत्वातिशय से युक्त चाहिये; अर्थ का सौंदर्यहीनरूप काव्य में अभ्यर्थनीय नहीं होता।' यथा गौस्तथा गवयः।' इस वाक्य में उपमासदृश रचना है। 'गौर्वाहीकः।' में रूपक है और 'द्विर्वचनेऽचि' इस पाणिनीय सूत्र में श्लेष है। किन्तु इनका तथा इनसे सदृश अन्य वाक्यों का काव्य के लिए उपयोग नहीं हो सकता। क्यों कि उनमें सौंदर्य प्रतीत नही होता।

इतना ही नही बल्कि अन्य सभी मतों के विरोध में ध्वनि का समर्थन करनेवाले अभिनवगुप्त ने सूचित किया है कि ध्वनि भी सुदर होनी चाहिये। भट्टनायक ध्वनितत्त्व के एक विरोधक थे। उनका कहना था कि ध्वन्यर्थ की कोई सीमा न होने से, सभी स्थानों में, यहाँ तक कि 'सिंहो वटुः' इस वाक्य में भी, काव्यत्व का स्वीकार करना पड़ेगा। इसपर अभिनवगुप्त कहते हैं—"यह ठीक नहीं। अभिव्यंजनीय रस के लिए उचित वाच्य, वाचक तथा रचना के प्रपंच से सुंदर हुए अर्थात् गुणालंकार-संस्कृत शब्दार्थों के द्वारा व्यक्त हुई ध्वनि के लिए ही 'काव्य' की संज्ञा है। केवल ध्वनि है इसलिए वह काव्य भी है यह कहना ठीक नहीं।" (१२) मीमांसकों के 'श्रुतार्थापत्ति में भी ध्वनित्व स्वीकार करना होगा' इस आक्षेप के उत्तर में वे कहते हैं, "ध्वनि काव्यविशेष है। गुणालंकारसंस्कृत शब्दार्थों के द्वारा व्यक्त ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। किसी भी अन्य प्रकार की ध्वनि काव्यात्मा कतई नहीं हो सकती।" (१३)

काव्य में तो सौंदर्य रहता ही है एवम् बिना सौंदर्य के, शब्दार्थों में काव्यत्व-व्यवहार नहीं होता इस प्रकार काव्य और सौंदर्य में अव्यभिचारी भाव अभिनव-गुप्त ने अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध किया। इसपर आक्षेपक प्रश्न करता है—"तो **चारुत्वप्रतीति ही काव्य की आत्मा है** यह आपको स्वीकार करना होगा।"

---

१२. तेन सर्वत्रापि ध्वननसद्भावेऽपि न तथा व्यवहारः।...तेन, एतन्निरवकाशं यदुक्तं हृदयदर्पणे–'सर्वत्र तर्हि काव्यव्यवहारः स्यादिति।'

१३. काव्यग्रहणात् गुणालंकारोपस्कृतशब्दार्थपृष्ठपाती ध्वनिलक्षण आत्मा इत्युक्तम्। तेन एतन्निरवकाशं श्रुतार्थापत्तावपि ध्वनिव्यवहारः स्यादिति।

अभिनवगुप्त का इस पर उत्तर है—" बिलकुल ठीक ! आपका कहना हमें स्वीकार है। इस संबंध में तो हमारा आपका कोई विवाद ही नहीं।" (१४)

विदित होता है कि काव्यालंकार शब्द प्राचीन आचार्यो ने काव्यसौंदर्य के व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया। इस अर्थपर ध्यान देने से काव्यचर्चा के किसी भी अंग की विवेचना के लिए यह संज्ञा कैसे सुयोग्य है यह स्पष्ट होता है। अलंकार--काव्यशोभा अथवा काव्यसौंदर्य इस व्यापक अर्थ में वाच्यवाचकसंबंध जब तक साहित्य के क्षेत्र में रूढ़ तथा ज्ञात था तब तक काव्यविवेचना के किसी भी ग्रन्थ को 'अलंकार' यही संज्ञा दी जाती थी। कुन्तक का ग्रन्थ '**वक्रोक्तिजीवित**' नाम से परिचित है किन्तु कुन्तक ने स्वयम् अपने ग्रन्थ को 'अलंकार' ही कहा है। और वहाँ भी उसका काव्यसौंदर्य अर्थात् चारुत्व से ही अभिप्राय है। (१५)

किन्तु अलंकार शब्द की यह व्याप्ति ज्यों ज्यों सीमित होने लगी त्यों त्यों अलंकार तथा काव्यशोभा में वाच्यवाचकसम्बन्ध नष्ट होने लगा। अलंकार = सौंदर्य अर्थात् काव्यशोभा इस अर्थ के स्थान पर अलंकार = उपमा आदि सौंदर्यसाधन का अर्थ उपस्थित होने लगा। प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में, वाचक अर्थ में ही अलंकारशास्त्र काव्यसौंदर्य का शास्त्र था। किन्तु अलंकार शब्द की व्याप्ति उपमा आदि के लिए ही सीमित होनेपर, अलंकार शास्त्र एवम् काव्यसौंदर्यशास्त्र में वाच्यवाचकसम्बन्ध बताना साहित्य के आचार्यों के लिए असंभव हुआ। इस लिए वे लक्षणा अथवा प्रधानव्यपदेश का आश्रय करते हुए वे 'अलंकारशास्त्र' का व्यापक अर्थ करने लगे (१६)। किन्तु काव्यालंकारशब्द का इतिहास देखने से तथा नाटचशास्त्र में काव्य-

---

१४. यच्चोक्तम्–'चारुत्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यस्यात्मा स्यात् इति,' तदङ्गीकुर्म एव। नास्ति खल्वयं विवादः।

१५. 'काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते' इस कारिका की वृत्ति में कुन्तक लिखता है—'ग्रन्थस्यास्य अलङ्कार इत्यभिधानम्।'

१६. 'यद्यपि रसालङ्काराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि छत्रिन्यायेन अलङ्कारशास्त्र-मुच्यते।' यहाँ कुमारस्वामी ने उपादान लक्षणा के आधार पर अलंकारशास्त्र की व्याप्ति विस्तृत की है। शास्त्र में अनेक विषय होने पर भी प्रधान विषय के उद्देश्य से शास्त्र की संज्ञा बनाई जाती है इस प्रकार प्रधानव्यपदेश का आश्रय करते हुए अलंकारशास्त्र का व्यापक अर्थ बताया है। किन्तु प्रधानव्यपदेश का उपयोग करने में एक आपत्ति हो सकती है। काव्य में रस प्रधान अंग होता है। प्रधानव्यपदेश का उपयोग करना हो तो काव्यशास्त्र की संज्ञा रस को लक्ष्य कर के बनाई जानी चाहिये। एक ओर रस का प्राधान्य स्वीकार करना तथा दूसरी ओर प्रधानव्यपदेश के आश्रय से अलंकारों को प्राधान्य देना यह युक्तिसंगत नहीं। इसके विपरीत इतिहासमुख से अलंकार शब्द का व्यापक अर्थ करने पर इस शास्त्र की संज्ञा अलंकारशास्त्र क्यों बनी यह विस्पष्ट हो जाता है। और संज्ञा का निश्चित बोध भी होता है।

सौंदर्यवाचक 'काव्यालंकार' शब्द ही रूढ़ हुआ इस बात पर ध्यान देने से 'अलंकार-शास्त्र' संज्ञा मूलतः व्यापक है यह स्पष्ट होता है।

यहाँ एक बात का अवधान रखना आवश्यक है कि अलंकार का 'सौंदर्य' अर्थ करने में अलंकारशास्त्र = सौंदर्यशास्त्र ऐसा समीकरण सिद्ध होता है। 'अलंकार' शब्द का अर्थ सीमित होने पर, 'अलंकारशास्त्र' संज्ञा का अर्थ करने में, प्राचीन पंडितों ने लक्षणा का आश्रय किया। किन्तु चिरन्तन आचार्यों का निर्देशित व्यापक अर्थ आज फिर से प्रकाशित करने पर आधुनिक पंडितों से उसके अतिव्याप्त किये जाने का डर है। संभव है कि अलंकार = सौंदर्य; इस लिए अलंकारशास्त्र = सौंदर्य-शास्त्र अर्थात् आधुनिक Æsthetics है ऐसी धारणा कोई मोहवश कर लें तो भी इस प्रकार मोह नहीं होना चाहिये। अलंकारशास्त्र में काव्यसौंदर्य की विवेचना है किन्तु इसी आधार पर उसे Æsthetics कहना ठीक न होगा। Æsthetics में सभी ललितकलाओं के सौदर्य की विवेचना आती है। सभी—इन्द्रियग्राह्य एवम् केवल मनोग्राह्य—कलाओं का सौंदर्य उस शास्त्र का विषय है। काव्यशास्त्र उसका एक अंशमात्र हो सकता है। किन्तु एक अंश सम्पूर्ण शास्त्र नहीं हो सकता।

कवि, नागरक, सहृदय

काव्य निर्माण के साथ रसिक वृत्ति भी उदित होती है। कवि तथा रसिक के मिलन में काव्यचर्चा प्रारम्भ होती है। इस दृष्टि से काव्य के अनुपद काव्यचर्चा आनी चाहिये और वह आई भी।

'काव्यक्रिया' एक कला है। इस लिए काव्यशास्त्र एक कला का शास्त्र है। कला का शास्त्र प्रयोगप्रधान होता है। तदनुसार काव्यशास्त्र भी आरंभ में प्रयोगप्रधान था। भरतमुनि के नाटचशास्त्र से यह विस्पष्ट होता है। नाटचशास्त्र में नाटच की केवल तत्त्वतः विवेचना नहीं है; अपितु नाटच सफल कैसे किया जाता है यह उसमें बताया गया है। नेपथ्य, पाठ, रंग आदि की विविध **विधियाँ** अथवा **कल्प** इसमें बताये गये हैं। **इस दृष्टि से नाटचशास्त्र का क्रियाकल्प के ग्रन्थ के रूप में निर्देश हो सकता है**। काव्यविवेचना के अनेक ग्रन्थों में कविशिक्षा तथा काव्यपठन की दृष्टि से विचार किया हुआ मिलता है। उससे कला के इस प्रायोगिक अंश का ही अभिप्राय है। संस्कृत के अनेक शिक्षा ग्रन्थ तथा राजशेखर के काव्यमीमांसा का 'पाठचगुणाः!' यह अध्याय इसी प्रयोगशरणता का द्योतक है। काव्य के पठन तथा नाटच के प्रयोग के उपक्रमों से ही नाटचचर्चा उदय हुई है। श्रोता अथवा दर्शकों पर काव्य अथवा नाटच का अपेक्षित परिणाम दृष्टिगोचर होने पर ही काव्य-सिद्धि या नाटचसिद्धि हुई ऐसा समझा जाता था। भरत मुनी ने लिखा हुआ नाटच-

सिद्धि का अध्याय इस दृष्टि से पढ़ना आवश्यक है। श्रोता अथवा दर्शकों पर इष्ट परिणाम करने के लिए काव्य तथा नाट्य में क्या होना चाहिये इस पर विचार प्रारंभिक ग्रन्थों में पाया जाता है। इस दृष्टि से विवेचना करने में आवश्यक सैद्धान्तिक विवेचना इन ग्रन्थों में की जाती थी। इसी कारण से प्रारंभिक ग्रन्थों में प्रायोगिक विवेचना तथा सैद्धान्तिक विवेचना मिश्ररूप में पाई जाती हैं।

काव्यचर्चा का उद्गम रसिक मनोभूमि में है। आधुनिक काल में काव्य की चर्चा करना कुछ आसान-सा हो गया है। नूतन काव्य पढ़ने पर हम उसकी चर्चा पत्रपत्रिकाओं में कर सकते हैं। उसके लिए एकत्रित होना आवश्यक नहीं है। किन्तु प्राचीन काल में बिना एकत्रित हुए इस प्रकार की चर्चा करना असंभव होता था। चर्चा के लिए किसी सभा का आयोजन आवश्यक होता था ऐसी सभा को **'विदग्धगोष्ठी'** कहा जाता था। गोष्ठी का अर्थ है मंडल या सभा। उस काल में काव्यगायन या काव्यचर्चा ऐसी विदग्धगोष्ठी में हुआ करती थी। विदग्धगोष्ठी में सम्मिलित होने की योग्यता रखना शिष्टता का लक्षण माना जाता था। इन विदग्धगोष्ठियों के द्वारा कवि का काव्य तथा उसकी कीर्ति का धीरे धीरे प्रसार होता था तथा अन्त में उसका किसी राजसभा में प्रवेश होता था।

विदग्धगोष्ठी में नित्य काव्य का आस्वाद ग्रहण करनेवाला तथा काव्यचर्चा का प्रवर्तक रसिक ही **नागरक** है। संस्कृत काव्य पर तथा काव्य के द्वारा काव्यशास्त्र पर भी नागरक के आयुःक्रम का प्रभाव रहा है। दो पहर के समय शांत चित्त से मित्रोंसहित काव्य गोष्ठी में काव्यास्वाद ग्रहण करनेवाला नागरक का चरित्र कैसा होगा यह देखने से साहित्यशास्त्र की अनेक समस्याओं का स्पष्टीकरण हो सकता है।

नगर का निवासी सुखसंपन्न गृहस्थ नागरक कहलाता था। परन्तु सुखसंपन्न का अर्थ यह नहीं कि वह निरुद्योगी रहता था। उस व्यक्ति को नागरक कहा जात था जिसने विद्याध्ययन पूरा करने के पश्चात् निज वर्ण के लिए उचित व्यवसाय के द्वारा धनार्जन करते हुए गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया हो। (१७) नागरक का अर्थ है विदग्धजन (नागरको विदग्धजनः—'जयमंगला')। सारांश, आज जिसे सुशिक्षित, सुसंस्कृत, सज्जन समझा जाता है वही पूर्वकालीन नागरक है। चातुर्वर्ण्य के किसी भी वर्ण का व्यक्ति सुशिक्षित तथा शिष्ट होने पर उसे नागरक की प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी। वात्स्यायन के वर्णन के अनुसार नागरक का दिनक्रम निम्नलिखित रूप का होता था। (१८)

---

१७. गृहीतविद्यः प्रतिग्रह—जय—क्रय—निर्वेशाधिगतैः अर्थैः अन्वयागतैरुभयैर्वा गार्हस्थ्यमधिगम्य नागरकवृत्तं चरेत्। (कामसूत्र १–४–१)

१८. वात्स्यायन : कामसूत्र, अधि. १, अध्याय ४

ऐसा व्यक्ति नगर का मूल निवासी हो या किसी उद्योगवश नगर में रहने के लिए आया हुआ हो, वह नगर के सभ्य लोगों की बस्ती में रहा करता था। उसके घर के सामने छोटा-सा उद्यान हुआ करता था। घर के कक्ष सुविधा के अनुकूल हुआ करते थे। साधारणतः उसका घर द्विवासगृह हुआ करता था। अर्थात् घर में एक शय्यागृह और उससे सट कर बाहर की ओर आराम करने के लिए एक बैठक हुआ करती थी। ऊँचे तख्तपोश पर गद्देतकिये रख कर बैठक बनाई जाती थी। इस तख्तपोश के शिरोभाग की ओर एक छोटी-सी वेदी पर चन्दन का चूर्ण,सुगन्धित द्रव्य और पसीना थामने के लिए लेप करने के सुगन्धित चूर्ण, ताम्बूल इत्यादि वस्तुएँ रखी जाती थीं। तख्तपोश के नीचे पतद्ग्रह (हाथ धोने का बर्तन), पीकदान इत्यादि वस्तुएँ रखी जाती थीं। कमरे में एक ओर खूँटी पर वीणा रहती थी। दूसरी ओर एक चित्रफलक होकर उसके समीप चित्रकला की आवश्यक सामग्री रखी रहती थी। तख्तपोश के पास ही कुछ पुस्तकें ऐसी रखी रहती जो हाथ बढाकर ली जा सके। पुस्तकें साधारणतया स्वकृत या परकृत काव्य की हुआ करती थीं। इनके अतिरिक्त सजावट के लिए कमरे में जगह जगह कुरंटमाला अर्थात् कुरंट वृक्ष से बनायी हुई नकली फूलों की मालाएँ लटकाइ रहतीं थी। कमरे में दूसरी ओर एक बड़ी बिछायत बिछाई रहती थी और उसपर चौसर आदि खेलने का सामान रखा रहता। वासगृह के बाहर की ओर शुकसारिकाओं के पिंजड़े टंगे दिखाई देते। आँगन के बाग में एक ओर एक झूला रहता और उसके पास ही शाम की बैठक के लिए एक चबूतरा हुआ करता। शाम के समय उस पर बैठे हुए दोस्तमित्रों के साथ शरबत इत्यादि पीने का कार्यक्रम हुआ करता। नागरक के घर की हर चीज अपनी अपनी जगह इस तरह रखी रहती कि जिससे उसकी विदग्धता का परिचय मिलता। इसी संबंध में यशोधर ने कहा है :—"अनुरूपस्थाननिवेशनमपि वैदग्ध्यजननम्।"

इस प्रकार के घर में निवास करनेवाला नागरक प्रातःकाल शुचिर्भूत हो सुंदर वेष परिधान कर तथा दर्पण में वेष निरीक्षण कर, अपने काम के लिए निकलता। दो पहर काम से वापस आ कर फिर स्नान के पश्चात् भोजन करता। भोजन के बाद शुकसारिकाप्रलाप, तांबूलभक्षण इत्यादि में कुछ समय बिताता। थोड़ा आराम करने के बाद तीसरे पहर उचित वेषभूषा पहने **गोष्ठीविहार** के लिये जाता। इस गोष्ठीविहार में उसकी काव्यसमस्याएँ तथा कलासमस्याएँ चलतीं।

साधारणतया नागरक का दैनिक क्रम इस प्रकार का रहता था। किन्तु उसकी विदग्धता नैमित्तिक गोष्ठियों में विशेष रूप से प्रकाशित हुआ करती थी। घटानिबन्धन, गोष्ठीसमवाय, समापानक, उद्यानगमन, समस्याक्रीडा आदि विविध प्रकार की गोष्ठियाँ होती थीं।

घटानिबन्धन का अर्थ है किसी देवता के मेले के उपलक्ष्य में एकत्रित होना। पक्ष में या महीने में एक बार नागरक सरस्वती मंदिर में एकत्रित हुआ करते थे। इसे 'समाज' कहा जाता था। (१९) विद्या तथा कला के संबन्ध में सरस्वती नागरकों की अधिष्ठात्री देवी थी। निर्धारित (साधारणतया पंचमी के) दिन नियुक्त नागरक सरस्वती के भवन में एकत्रित होते थे और वहाँ विविध कलाओं के कार्यक्रम तथा स्पर्धाएँ हुआ करती थीं। कुशीलव तथा नटनर्तक वहाँ नाट्य के प्रयोग कर दिखाते थे। दूसरे दिन पारितोषिक वितरण समारोह हुआ करता। समेलन का एक और भेद गोष्ठीसमवाय होता था। कला में कुशल किसी वेश्या के यहाँ अथवा किसी नागरक के घर पर ही इस सभा का आयोजन हुआ करता था। समान वयस्क, समविद्य तथा समान अभिरुचि के नागरक वहाँ एकत्रित हुआ करते थे। इस गोष्ठीसमवाय में विशेषरूप से काव्यसमस्याएँ तथा कलासमस्याएँ हुआ करती थीं। कला में निपुण वेश्याएँ तथा विदग्ध गणिकाएँ भी इस कार्यक्रम में भाग लिया करती थीं। इस संमेलन में कलाकारों का सम्मान किया जाता था। इसके अतिरिक्त समापानक, उद्यानक्रीडा आदि के निमित्त नागरक एकत्रित हुआ करते थे।

नागरकगोष्ठी में जो काव्यसमस्याएँ तथा कलासमस्याएँ चलतीं वह केवल पंडितों के लिए ही सीमित नहीं रहती थीं। सभी प्रकार के लोग उसमें भाग लिया करते थे। समस्याओं के यह प्रयोग समय समय पर जनपदों में किये जाते थे। इसी हेतु इन सब का वर्णन करने के पश्चात् कामसूत्रकार कहते हैं—

नात्यन्तं संस्कृतेनैव नात्यन्तं देशभाषया।
कथां गोष्ठीषु कथयन् लोके बहुमतो भवेत्॥
लोकचित्तानुवर्तिन्या क्रीडामात्रैक कार्यया।
गोष्ठ्या सह चरन् विद्वान् लोके सिद्धि नियच्छति॥

नागरक के सामान्य जीवनक्रम का परिणाम कवि की काव्यरचना पर तथा आनुषंगिक रूप में काव्यचर्चा पर भी हुआ करता था। कीर्ति के इच्छुक कवि को किन विषयों में सतर्क रहना चाहिये इस संबन्ध में राजशेखर कहता है—"कविः प्रथममात्मानमेव कल्पयेत्, कियान् मे संस्कारः, क्व भाषाविषये शक्तोऽस्मि, किं रुचिर्लोकः परिवृढो वा, **कीदृशि गोष्ठ्यां विनीतः**।" कवि का काव्य, भाषा तथा संस्कारों की, वह जिस गोष्ठी में काव्य पठन करता हो उसके गोष्ठी के सभ्य जनों के संस्कारों से समानता होनी चाहिये। राजशेखर का कथन है कि भोजन के पश्चात् कवि को काव्यगोष्ठी प्रवर्तित करनी चाहिये। वह कहता है कि वहाँ प्रश्नोत्तरभेदन,

---

१९. पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेतऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः।

काव्यमसस्या, धारणा, मातृकाभ्यास तथा चित्रायोग आदि कलाओं को प्रवर्तित करना चाहिये। ये सब कामशास्त्र की चौसठ कलाओं के अन्तर्गत है। समय समय पर एकान्त में अथवा परिमित परिषद् में (चुने हुए रसिकों की मण्डली में) अपने काव्य की शोधनपूर्वक परीक्षा करनी चाहिये। अनेकशः रसावेश में विवेक छूटता है। राजशेखर का विचार है कि इस प्रकार शोधन करने से विवेक आता है। (का. मी. ५२)। काव्यगोष्ठी में भाग लेने के लिये नागरक की कुछ अपनी योग्यता आवश्यक होती थी। काव्यशास्त्र का पठन इस प्रकार की योग्यता पाने के लिये अत्यन्त साधक होता था। दण्डी का कथन है—

तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमाः विदग्धगोष्ठीषु [illegible] ॥

'जिन्हें कीर्ति की अभिलाषा हो उन्हें अहोरात्र श्रमपूर्वक काव्यविद्या की उपासना करनी चाहिये। जो इस प्रकार परिश्रम करेंगे वे कवित्वशक्ति कृश रहने पर भी, विदग्धगोष्ठी में विहार करने में समर्थ रहेंगे।"

कामसूत्र तथा काव्यमीमांसा में क्रमशः नागरक तथा कवि का जो दिनक्रम लिखा हुआ है, उस पर विद्वानों को विश्वास नहीं होता। उसमें वे अतिशयोक्ति की कल्पना करते हैं। उसे स्वीकार करने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन ग्रन्थों में दी गई सूचना पूर्ण रूप से कल्पित है। राजशेखर ने कवि के संबन्ध में जो कुछ बताया है, दण्डी तथा वामन के ग्रन्थों में भी वह पाया जाता है। राजशेखर ने निर्देशित किये हुए 'प्रश्नोत्तरभेदन' से समान 'प्रहेलिका' नामक भेद दण्डी ने 'काव्यादर्श' में दिया हुआ है। और कहा है कि प्रहेलिका क्रीडागोष्ठी में विशेष उपयुक्त होती हैं (२०)। चित्रायोग के अनेक प्रकार दण्डी ने काव्यादर्श के तीसरे परिच्छेद में तथा रुद्रट ने काव्यालंकार के पाँचवें अध्याय में दिये हुए हैं। इन सब का उपयोग काव्यगोष्ठी में होता था। काव्यगोष्ठी का अर्थ ही विदग्धगोष्ठी या नागरक गोष्ठी है। इस प्रकार नागरकगोष्ठी काव्यविवेचना के लिए एवं काव्य के प्रसार के लिए एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था।

काव्यगोष्ठी में कवि की रचना प्रस्तुत होने पर उसकी केवल प्रशंसा ही होती थी सो बात नहीं। अनेकशः उसकी कड़ी आलोचना भी होती थी। इस संबन्ध में कवियों के लिए राजशेखर ने कहा है—अपनी कृति के लिए जनता की मान्यता क्या है यह जानना चाहिये। सतर्क रहना चाहिये कि जनता को वह असम्मत न हो।

२०. क्रिडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे।
परव्यामोहने चापि सोपयोगा प्रहेलिका ॥ (३।९७)

किन्तु जनता निरंकुश होती है, इसलिये केवल जनापवाद से डरकर रहना भी ठीक नहीं। स्वयम् अपनी शक्ति को जानना चाहिये। कवि की अनुपस्थिति में उसके काव्य की प्रशंसा होती है। एवम् उसके देशांतर जाने के पश्चात् समाज उसकी महत्ता को समझता है। महाकवि की भी निकटवर्ती परिचितजन अवज्ञा ही करते हैं। प्रत्यक्ष कवि का काव्य, कुलस्त्री का रूप और घर के ही वैद्य की विद्या आज तक किसे अच्छी पसंद आई है? किन्तु, इस स्थिति में भी कवि के कीर्ति के प्रसार का वही एक मार्ग है। विदग्धगोष्ठी के कारण कवि की रचना समाज के सम्मुख प्रस्तुत होती है। सज्जन उसकी प्रशंसा करते हैं एवम् बाल, स्त्रियाँ आदि की मुखपरम्परा से उसका प्रचार होता है। (२१)

पूर्व 'घटानिबन्धन' नामक नैमित्तिक कवि गोष्ठी का वर्णन किया है। राजशेखर विशेष रूप से कहता है कि स्वयम् राजा अगर कवि हो तो उसे इस प्रकार के कविसमाज (संमेलन) का आयोजन करना चाहिये। केवल इतना ही नहीं, उसका कथन है कि काव्यपरीक्षा के लिए बड़े बड़े नगरों में '**ब्रह्मसभा**' आयोजित करनी चाहिये और उनमें जो कवि प्रवीण या प्रमाणित हो उसका ब्रह्मरथयान तथा पट्टबन्ध आदि से सम्मान करना चाहिये। काव्यगोष्ठी, कविसमाज तथा ब्रह्मसभा के द्वारा कवि के कवित्व की परीक्षा तथा उसके यश का प्रसार होता था तथा योग्यता के अनुसार उसे राजाश्रय प्राप्त होता था।

संस्कृत के साहित्यग्रन्थों में अनेक शिक्षाग्रन्थ क्यों लिखे गये होंगे, यह समझना अब सरल है। आधुनिक काल में हमें शिक्षाग्रन्थों का कोई महत्त्व तो रहा ही नहीं बल्कि शिक्षाग्रन्थों की ओर कुछ तिरस्कार से ही देखने की आधुनिक पण्डितों की प्रवृत्ति दिखाई देती है। किन्तु प्राचीन काल में काव्य का प्रसार काव्यगोष्ठी से ही होता था; काव्य भी, एक कला होने के नाते रसिक सभा में प्रदर्शित करना आवश्यक होता था, एवम् इसी कारण से यत्नपूर्वक काव्य की शिक्षा ग्रहण करना पड़ता था, इस पर ध्यान देने से पूर्व काल में शिक्षाग्रन्थों का महत्त्व क्यों था यह स्पष्ट हो जाता है। विदित होता है कि इस प्रकार की काव्यगोष्ठियों में ही साहित्यविवेचना के आरम्भकालीन ग्रन्थों की विचारसामग्री तैयार हुई है।

काव्यगोष्ठी में सरलता से काव्य के आस्वादन का आनन्द विदग्ध नागरक लिया करता था। आगे चल कर राजा कवि को आश्रय प्रदान करता था। ये दोनों रसिक रहते थे। इन दोनों से भिन्न तथा दोनों से कुछ विशेष योग्यता रखनेवाला काव्य का एक तीसरा भी रसिक होता था। वह था '**सहृदय**'। काव्यगोष्ठी,

---

२१. राजशेखर : काव्यमीमांसा, पृ. ५१

कविसमाज एवम् ब्रह्मसभा इन सभी में 'सहृदय' की उपस्थिति रहती थी। काव्यप्रेमी राजा तथा अन्य सदस्यों के साथ 'सहृदय' भी काव्य के आस्वादन का आनन्द लिया करता था। किन्तु इसीमें उसे इतिकर्तव्यता न थी। काव्य के आस्वादन की उपपत्ति खोजने का भी वह प्रयास करता था; उसने जो काव्य पढ़े हो अथवा सुने हुए हो उनके गुण तथा दोषों का वह विवेक करता; समय समय पर काव्य के सम्बन्ध में अपना विचार भी वह प्रस्तुत किया करता था। एक दृष्टि से 'सहृदय' स्वयम् कवि के काव्य का आलोचक भी रहता था तो दूसरी दृष्टि से काव्यचर्चा के सिद्धान्तों का वह प्रस्थापक भी होता था। कविसमाज का सदस्य होने के नाते, प्रस्तुत किये गये काव्य पर वह अपनी संमति भी देता था और संमति देने में काव्य के सिद्धान्तों की विवेचना भी किया करता था। इस प्रकार की विवेचना ही शनैः शनैः शास्त्र में परिणत हुई। विदग्ध-गोष्ठी में सभी नागरक रसिक रहा करते थे, किन्तु सभी के पास विवेचना की प्रज्ञा होना संभव नहीं है। इस लिए, सारस्वत के 'किमपि रहस्य' के अन्वेषण का प्रयास वे सब करते ही थे, यह असंभव है। इस रहस्य के अन्वेषण का कार्य विमलप्रतिभावान् 'सहृदय' ने किया और इसी अपूर्व प्रयास के कारण वह काव्य के लिए एक निकष बना।

'सहृदय' ही काव्य के आस्वादन का मूल अधिकारी है। अभिनवगुप्त कहते हैं— "अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशाली सहृदयः।" एक ओर है काव्य का निर्माता कवि दूसरी ओर है तन्मयन होके काव्य का आस्वाद ग्रहण करनेवाला 'सहृदय'। कवि तथा 'सहृदय' के हृदयसंवाद के लिए अत्यंत उपकारक साधन है–शब्दार्थमय काव्य, तथा रसिक जिनसे आनन्दमयी अवस्था को प्राप्त होता है उन शब्दार्थों के स्वरूप की विशेष रूप से विवेचना जिस शास्त्र में होती है वह शास्त्र है—काव्यशास्त्र या साहित्यशास्त्र। साहित्यशास्त्र के नियमों की रचना में 'सहृदय' ने अन्य अनेकों शास्त्रों से लाभ उठाया है। किन्तु ऐसा करने में उसने जीवन को–लौकिक अनुभव को अपनी दृष्टि से क्षणभर के लिये भी ओझल नहीं होने दिया। जीवनानुभव के ठोस भित्ती पर साहित्य भवन की सृष्टि करने में जहाँ कहीं किसी शास्त्र से लाभ हो सकता था वहाँ उसने अवश्य लाभ उठाया है। और तो क्या, सभी शास्त्रों का सार निचोड़ कर, उनके यथावत् मेल से जीवन की जिस रमणीय मूर्ति को उसने अंकित किया वही है साहित्यविद्या। इसी हेतु, साहित्यविद्या में सभी विद्याओं का सार मिलता है। राजशेखर का कथन है–पञ्चमी साहित्यविद्या सा तु सर्वासां विद्यानाम् निष्यंदः।"

साहित्यग्रन्थों के अध्ययन की चतुःसूत्री

संस्कृत ग्रन्थों से अलंकारशास्त्र का अध्ययन करने में कुछ एक बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। काव्यप्रकाश अथवा साहित्यदर्पण के अध्ययन से काव्य के भिन्न

भिन्न अंगों से परिचय होता है। संस्कृत काव्यग्रन्थों का प्राचीन पद्धति के अनुसार अध्ययन करने में इतना परिचय भी पर्याप्त होता है। किन्तु उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में जो विचार विवेचित किये गये है, वे किसी एक विशेष क्रम से विकसित होते हुए इन ग्रन्थों में आये हैं। अगर यह जानना है कि यह विकास किस क्रम से हुआ, तो हमें मम्मट से पूर्व जो ग्रन्थकार हो गये उनका अध्ययन करना आवश्यक होता है एवम् उनके विचारों में अन्वय लगाना पड़ता है। जब तक हम इस अन्वय को नहीं समझ पाते तब तक हमारी एक ऐसी गलत धारणा रहती है कि साहित्यशास्त्र के सिद्धान्त केवल एक ही ढाँचे में ढले हुए और सम्प्रदायनिष्ठ है। यह धारणा अनेक अपसिद्धान्तों का कारण है। साहित्यशास्त्र के विकास का संस्कृत ग्रन्थों से अन्वेषण करने में, किसी भी शास्त्रग्रन्थ के अध्ययन के लिए आवश्यक चार नियम आँखों से ओझल नहीं किये जा सकते। वे नियम इस प्रकार हैं—

१. **लक्ष्यानुसारि लक्षणम्**—काव्यशास्त्र का प्रयोजन है काव्य का लक्षण निर्धारित करना। "लक्षण" का अर्थ है असाधारण धर्म। काव्यलक्षण का अर्थ है काव्य का विशेष धर्म जो वाङमय के अन्य प्रकारों से काव्य का भेद दर्शाता है। काव्य के इस विशेष धर्म के अन्वेषण में काव्यमीमांसकों ने उनके समक्ष जो काव्य-प्रपंच था उसका अध्ययन किया। काव्य के इन लक्षण ग्रन्थों की जिस काल में रचना हुई उस काल में शास्त्रज्ञों के समक्ष विस्तृत संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा देशी वाङमय प्रस्तुत था। उस वाङमय का उन्होंने वर्गीकरण किया तथा अन्वयव्यतिरेक की रीति का अवलंबन करते हुए सामान्य नियमों की रचना करने का उपक्रम किया। इस प्रकार शनैः शनैः शास्त्रविचार प्रकट हुआ। उस काल की यह शास्त्रपद्धति आज हमें दुर्बोध होने लगी है। वैसे ही उस समय के कई काव्य प्रकार भी हम ठीक तरह से नहीं समझ पाते। इस हेतु, प्राचीन ग्रन्थों का कुछ अंश आज हमें अनुचित विस्तार सा प्रतीत होता है। किन्तु जिस काव्य के आधार पर उस शास्त्र का निर्माण हुआ उस काव्य से ऐसे अंश का स्थान स्थान पर सम्बन्ध देखना चाहिये, जिससे कि जिन्हें, हम दुर्बोध समझते है ऐसी कई बातों का भेद आज भी खुल सकता है। उदाहरण-स्वरूप—कई ग्रन्थों में रस पर लिखे गये अध्यायों में नायक तथा नायिकाओं के भेद, उपभेद, उनके मित्र, सहेलियाँ इत्यादि का वर्णन मिलता है। ऐसे वर्णन को हम केवल अनुचित विस्तार ही नही अपितु अनावश्यक भी समझते है। किन्तु साहित्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र में उस काल में जो आन्तरिक सम्बन्ध था उस सम्बन्ध पर ध्यान देने से वे विषय उसी प्रकार से क्यों आये यह स्पष्ट हो जाता है, एवम् नाट्यशास्त्र में लिखे गये वर्णन का उस काल की समाजस्थिति से सम्बन्ध देखने का प्रयास करने से उस वर्णन का तत्कालीन महत्त्व समझने में भी कोई असुविधा नहीं होती। पीठमर्द

विट, चेट, नायिका की अनेकानेक सखियाँ अथवा कामतन्त्र में सचिवत्व करनेवाली स्त्रियाँ इन सबका प्राचीन साहित्य ग्रन्थों में वर्णित स्वरूप, ४०।५० वर्ष पूर्व के ग्रामीण जीवन में कुछ अंश में पाया जाता था इस बात पर ध्यान देने से साहित्य ग्रन्थों में किये गये इस वर्णन का महत्त्व स्वीकृत होता है। जिस प्रकार व्याकरण प्रयोगशरण होता है ठीक उसी प्रकार साहित्यशास्त्र भी साहित्यशरण होता है, और अगर साहित्यशास्त्र में किये गये वर्णनों का साक्षात् जीवन के स्तर से स्पष्टीकरण हो सका तो उन वर्णनों का महत्त्व और भी विशद रूप में प्रतीत होता है।

२. **प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति**—यह नियम सभी शास्त्रों के लिये सत्य है। शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना किस प्रकार होती है यह इस नियम से विदित होता है। शास्त्र में अनेक विषयों की प्रक्रिया बताई जाती है। जिसके सम्बन्ध में सम्पूर्ण प्रक्रिया बताई गई हो वह है प्रधानवस्तु। पीछे वही प्रक्रिया कुछ अंश में बदल कर अन्य वस्तुओं को लागू की जाती है। जिन वस्तुओं को वह लागू होती है उन्हें प्रधान-वस्तु के ही वर्ग में रखा जाता है तथा उस वर्ग को प्रधान वस्तु का ही नाम दिया जाता है। यही शास्त्रों में बताया गया प्रधान वस्तु व्यपदेश है। शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की यह एक रीति है। इस रीति से शास्त्रीय विवेचन-विशद होती है। साहित्यशास्त्रों के ग्रन्थ लिखने में इस पद्धति का अनुसरण किया गया है इस बात पर ध्यान न देने से अनेक विद्वानों को भ्रान्ति हुई है। उदाहरण के रूप में साहित्यग्रन्थों में दी गई रसप्रक्रिया ही लीजिये। रस के सम्बन्ध में बताई गई प्रक्रिया रस के समान ही भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावा शबलना इत्यादि को भी लागू होती है। रस के समान भाव आदि का काव्यातमत्व भी शास्त्रकारों ने स्वीकार किया है। "काव्य में रस प्रधान होता है" यह शास्त्रकार, वचन, भाव, आदि के प्राधान्य के सम्बन्ध में भी सत्य है। "प्रतीयमानस्य अन्यभेद-दर्शनेऽपि रसभावमुखेनैव उपलक्षणं प्राधान्यात्" कहते हुए आनन्दवर्धन ने रस के साथ भाव का भी प्राधान्य माना है। अभिनवगुप्त ने "व्यभिचारिणोऽपि प्राणत्वम्" बताया है। केवल इतना ही नहीं, तो "रसभावशब्देन च तदाभासतत्प्रशमावपि संगृहीतौ एव, अवान्तरवैचित्र्येऽपि तदेकरूपत्वात्" इन शब्दों में रस, भाव तथा उनकी भिन्न भिन्न छटाओं (Shades) की एकजातीयता बताई है। "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" इस प्रकार काव्य का लक्षण करनेपर, "रसात्मकम्" शब्द की व्याप्ति बताते हुए विश्वनाथ कहता है—"रस्यते इति रसः इति व्युत्पत्तियोगात् भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते।" यहाँ उसने "रस" शब्द का "रस्यमानता" के अर्थ में प्रयोग किया है, तथा भाव आदि में भी रस्यमानता होने से, उनमें भी काव्या-त्मत्व स्पष्टरूप से स्वीकार किया है। इसी को वह "रसधर्मयोगित्वात् भावादिष्वपि

रसत्वमुपचारात् " इस प्रकार दुहराता है। सारांश, काव्यात्मा होने के नाते रस के विषय में चर्चा करने में शास्त्रकारों ने भाव आदि का भी एकजातीय होने से ग्रहण किया है, एवम् उस सम्पूर्ण विवेचना को रसविवेचन अर्थात् रसप्रक्रिया की संज्ञा प्रधानव्यपदेश के न्याय से दी है। किन्तु संस्कृत ग्रन्थों की यह शास्त्रीय पद्धति कई आधुनिक पण्डित न समझ सके और संस्कृत ग्रन्थों में भाव-काव्यपर आवश्यक विचार नहीं हुआ ऐसी अपनी धारणा उन्हों ने बना ली (२२)।

३. **यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्**—यह नियम व्याकरण शास्त्र का माना जाता है। किन्तु साहित्यशास्त्र के लिये भी वह लागू हो सकता है। विशेष रूप से, जिसे साहित्यशास्त्र के विकास का अध्ययन करना हो उसके लिये उत्तरोत्तर प्रामाण्य ध्यान में रखना नितान्त आवश्यक है। किसी भी शास्त्र के विकास में उत्तरकालीन आविष्कार का प्रामाण्य होता है। इसका कारण यह है कि उत्तरकालीन विवेचना में पूर्वकालीन सभी विषयों की विवेचना तो होती ही है, और पूर्वकालीन आविष्कार से जिनकी उपपत्ति नहीं हो सकती थी उन विषयों की उपपत्ति भी सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ, दण्डी ने काव्यमार्ग की विवेचना की है। वामन दण्डी के पश्चात् हुए। उन्होंने दण्डी की विवेचना से दोष वर्ज्य कर के गुणों की और भी ठीक प्रकार से विवेचना की, और रीति की उपपत्ति सिद्ध की। इन दोनों पूर्वाचार्यों के मतों का कुन्तक ने संकलन किया तथा उनके विचारों का अधूरापन दर्शाकर, रीतियों की विवेचना सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम मार्ग की संज्ञाओं से और भी शास्त्रशुद्ध की, एवम् रीति कवि के स्वभाव की द्योतक [illegible] यह दर्शाया। विश्वनाथ ने " पदसंघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत्। **उपकर्त्री रसादीनाम्**–।" कहकर रीति का स्वरूप निर्देशित किया तथा दण्डी और वामन ने सूचित किया हुआ उनका रसोपकारकत्व विशद किया। इस प्रकार क्रमशः रीतियों का इतिहास है। ऐसा होने पर भी अनेक विद्वान् आज भी वामन कृत रीतिविवेचना ही प्रमाण मानते हैं एवम् उसीके आधार पर अपने सिद्धान्तों की रचना करते हैं (२३)।

४. **सिद्धपरमतानुवाद**—साहित्यशास्त्र पर रचे गये संस्कृत ग्रन्थों में व्याकरण, न्याय, मीमांसा आदि शास्त्रों के सिद्धांतों का उपयोग प्रतिपद किया गया है। अपने मत की सिद्धि के लिये उन्होंने इन शास्त्रों के सिद्धान्तों का अनुवाद मात्र किया है। एक शास्त्र की विवेचना करने में, अन्य शास्त्रों में सिद्ध मत का अनुवाद करना ही

---

२२. देखें–डॉ. मा. गो. देशमुख कृत 'भावगन्ध' प्रमेय की विवेचना।

२३. देखें–डॉ. मा. गो. देशमुख : 'मराठीचें साहित्यशास्त्र'–'रीति आणि रेखा' अध्याय तथा *Sanskrit Poetics* में. डॉ. De ने की हुई रीति की विवेचना।

सिद्धपरमतानुवाद है। साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों में इस प्रकार का अनुवाद अनेक स्थानों पर किया गया है (२४) । अनुवाद करने में, अनूदित सिद्धान्त की विवेचना या व्याख्यान के लिये शास्त्रकार समय देता नहीं। वह व्याख्यान हमें अपने आप ही स्वतंत्र रूप से समझ लेना चाहिये। अन्य शास्त्रों के सिद्धान्तों के समान, साहित्यशास्त्र के सबन्ध में अन्य ग्रन्थकारों के जो मान्य विचार हों उनका भी शास्त्रकार अनुवाद मात्र करते हैं; और आगे बढते हैं। इससे ग्रन्थ की रचना संक्षेप में हो सकती है। इस प्रकार के अनूदित विचार हमें मूल ग्रन्थों से समझ लेने पड़ते हैं; एवम् प्रकृत ग्रन्थ में उनका सम्बन्ध भी जोड़ लेना पड़ता है। किसी बात का किसी ग्रन्थकार ने केवल निर्देश ही किया है, उसकी विवेचना के लिए अपेक्षाकृत अधिक पृष्ठ नहीं दिये इसलिये, उसे वह मानता नहीं था या वह बात उसे स्वीकार न थी इस प्रकार शीघ्र ही हम परिणाम पर पहुँचते हैं; यह हमारी भूल है। भामह के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों की यह भूल हुई है (२५) ।

इन चार नियमों को साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों के अध्ययन की चतुःसूत्री कहा जा सकता है। इन नियमों के अनुसार ग्रन्थ का अर्थ करना नितान्त आवश्यक है। इन नियमों की ओर ध्यान न देने से अनुचित परिणाम निकल सकते हैं।

---

२४. सिद्धपरमतानुवाद का एक अच्छा उदाहरण वामन के काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में है। पाँचवें अधिकरण के प्रथम अध्याय में 'स्तनादीनां द्वित्वाविष्टा जातिः प्रायेण' सूत्र है। इस सूत्र की वृत्ति में वामन ने लिखा है—

"अथ कथं द्वित्वाविष्टत्वं जातेः। तद्धि द्रव्ये न जातौ। अतद्रूपत्वात् जातेः। न दोषः। तदतद्रूपत्वात् जातेः। कथं तदतद्रूपत्वं जातेः। तद्धि जैमिनीया जानन्ति। वयं तु लक्ष्यसिद्धौ सिद्धपरमतानुवादिनः। न चैवमतिप्रसंगः। लक्ष्यानुसारित्वान्न्यायस्य॥"

यहाँ वामन ने लक्ष्यसिद्धि के लिये मीमांसकों के सिद्ध मत का अनुवाद किया है: मीमांसकों का यह मत ऐसा ही क्यों? इस प्रश्न पर "यह मीमांसक जानते हैं, वहीं देखें।" यह उसका उत्तर है। काव्यगत वस्तुस्थिति का जिससे स्पष्टीकरण हो ऐसा न्याय खोजने का ही साहित्य के मीमांसकों का कार्य है। वह न्याय वैसा ही क्यों यह समझाने का कार्य उस शास्त्र का है जिससे वह लिया गया हो। काव्यशास्त्र में जिन न्यायों का उपयोग किया गया वे वस्तु विवेचना के लिये उपयुक्त थे इस कारण लिये गये। न्याय के होने से वस्तुस्थिति में फर्क नहीं होता। काव्यशास्त्र काव्यानुसारी है यही वामन यहाँ सूचित करता है।

२५. डॉ. शंकरन्, श्री. रामस्वामी, डॉ. De आदि के भामह के सम्बन्ध में विचार देखें। इन विचारों की आलोचना आगे की है।

आजकल के अध्ययन करनेवालों की कुछ कठिनाइयाँ—

इसके अतिरिक्त और भी कई कठिनाइयाँ हमने ही निर्माण कर रक्खी हैं। आजकल विश्वविद्यालयों में साहित्यशास्त्र का सम्पूर्ण ग्रन्थ अध्ययन के लिये नियुक्त नहीं होता। केवल एक या दो अध्याय ही नियुक्त किये जाते हैं। उस पर से इस शास्त्र के सम्बन्ध में सामान्य ज्ञान भी प्राप्त नहीं किया जाता। इस स्थिति में रस, रीति, गुण, वक्रोक्ति, अलंकार इत्यादि के सम्बन्ध में हम कुछ गलत धारणाएँ बना लेते हैं एवम् प्राचीन ग्रन्थों के विषय में मन चाहे परिणाम निकालते रहते हैं।

आजकल अनेक विद्वानों ने रस सिद्धान्त की पुनर्व्यवस्था करने का प्रयास आरम्भ किया है। इस प्रयास में भी उन्होंने शास्त्रीय दृष्टिकोण का आवश्यक निश्चय नहीं रखा है। उदाहरणस्वरूप, 'रसविमर्श' ग्रन्थ में वीररस की विवेचना में वीररस के उत्साह स्थायी भाव के स्थान पर 'अमर्ष' स्थायी रखने का प्रस्ताव किया गया है। 'अमर्ष' वीररस का स्थायी हो सकता है या नहीं इस प्रश्न को क्षण-भर के लिये छोड़ भी दिया और इस प्रकार स्थायी बदला जा सकता है यह स्वीकार भी कर लिया, तो भी कहना पड़ता है कि इस प्रकार स्थायी बदलने से समूचे शास्त्र पर क्या परिणाम हो सकते हैं इस बात पर ग्रन्थकार ने जरा भी ध्यान नहीं दिया। प्राचीन शास्त्रकारों ने उत्साह स्थायी मान कर युद्धवीर, दानवीर, दयावीर, इत्यादि व्यवस्था की। वीर का 'उत्साह' स्थायी हटा कर उसके स्थान पर 'अमर्ष' प्रतिष्ठित करने से इस व्यवस्था में फ़र्क होगा। इस प्रकार जब फ़र्क होगा तब, पहले जहाँ जहाँ उत्साह का सम्बन्ध था वहाँ अब अमर्ष का सम्बन्ध रहेगा। इस स्थिति में, अमर्ष के स्थायी होने के कारण पूर्व शास्त्र की पुनर्व्यवस्था करना आवश्यक होगा, एवम् यह व्यवस्था सम्पूर्ण शास्त्र के लिये किस प्रकार उपकारक सिद्ध होती है यह भी दर्शाना होगा। अन्यथा वह पुनर्व्यवस्था नहीं कहलायेगी। पूर्व शास्त्रव्यवस्था में परिवर्तन करते हुए नये प्रस्ताव रखने का कार्य, सुप्रतिष्ठित विधि में Amendment का प्रस्ताव रखने के समान ही महत्त्वपूर्ण है। केवल एक स्थान में परिवर्तन करने का प्रस्ताव रखने से काम नहीं चलता। उस परिवर्तन का समूचे शास्त्रव्यवस्था पर होनेवाला परिणाम तथा उसके लिये आवश्यक पुनर्व्यवस्था स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करना आवश्यक होता है। रसविवेचना के संबन्ध में भी रसविमर्श तथा तत्सदृश 'अभिनवकाव्यप्रकाश' आदि अन्य ग्रन्थों में इसी प्रकार भ्रान्ति हुई है। रसप्रक्रिया के सम्बन्ध में ये विद्वान् अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिसिद्धान्त ग्राह्य समझते हैं किन्तु आनन्दमीमांसा में परिपुष्टिवाद के आश्रय से रस के सुखदुःखात्मक होने का परिणाम निकालते हैं। यह अर्धजरतीय न्याय है। प्राचीन ग्रन्थों में 'आनन्दवाद' तथा 'सुखदुःखवाद' की परम्पराएँ हैं किन्तु उनमें इस प्रकार विचारों की भ्रान्ति नहीं

है। अभिनवगुप्त की उपपत्ति से हम 'आनन्दवाद' पर पहुँचते हैं और दण्डी, वामन, लोल्लट, शंकुक आदि के परिपुष्टिविचार से 'सुखदुःखवाद' पर्यवसित होता है इस बात को प्राचीन ग्रन्थकारों ने भलीभांति ध्यान में रखा है। इस हेतु उनकी रसमीमांसा में भ्रान्ति नहीं है। इसके अतिरिक्त, ध्वनि एक पद्धति है, क्षमेन्द्र का स्वतन्त्र औचित्यविचारसम्प्रदाय है, रस जितना आस्वाद्य है उतना रसाभास नहीं आदि मत भी इसी प्रकार बनाये गये हैं।

आजकल के अध्ययन करनेवालों का उत्तरदायित्व

इस स्थिति में, ऐसे ग्रन्थ आज विश्वविद्यालयों में प्रविष्ट हुए हैं। और संभव है कि मूल संस्कृत ग्रन्थों का स्थान उन्हें प्राप्त होगा। संस्कृत ग्रन्थों का मूल से अध्ययन करने की विद्यार्थियों की प्रवृत्ति दिनप्रतिदिन कम होती जा रही है। इस दशा में, बिना मूल ग्रन्थों से तुलना किये ही इन ग्रन्थों को मूल ग्रन्थों की प्रतिष्ठा प्राप्त होगी। इन ग्रन्थों में साहित्यविचार का जो दर्शन कराया गया है, वैसाही वह मूल ग्रन्थों में है ऐसी भ्रान्ति भविष्यत् काल में विद्यार्थियों को होने की संभावना है।

इस अवस्था में संस्कृत के विद्वानों पर एक उत्तरदायित्व आता है। संस्कृत ग्रन्थों के विचारों का उन्हें सत्यदर्शन कराना चाहिये। संस्कृत ग्रन्थों में जिस प्रकार विचार हुआ है उसी प्रकार उसे प्रस्तुत करना चाहिये। उस पर से प्राचीन शास्त्रकारों का कहना स्पष्टरूप में विदित हो जायगा, मूल विचार पूर्ण रूप में अभ्यासकों के समक्ष प्रस्तुत होने से उसकी श्रेष्ठकनिष्ठता निर्धारित हो जायगी। इन विचारों को प्रस्तुत करने में आग्रह रखने का कोई कारण नहीं। "अब रसव्यवस्था का अड़ंगा निकाल लेना चाहिये।" ऐसा अगर किसीने कहा तो हम चिढ़ जाते हैं; और फिर "हमारे संस्कृत ग्रन्थों में सभी कुछ है" इस आग्रह से प्रेरित होते हैं। इसकी कोई आवश्यकता नहीं। संस्कृत ग्रन्थों के विचार पाठकों के समक्ष यथार्थ रूपमें प्रस्तुत करना ही हमारा प्रधान कार्य है। वे विचार एकबार अभ्यासकों के समक्ष प्रस्तुत होने पर, विचारों की आज की धारणा में वे कहाँ तक ग्राह्य अथवा अग्राह्य हैं यह आपही निर्धारित हो जायगा। "हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा।"

इसलिए यथार्थतः मूल संस्कृत ग्रन्थों के भाषानुवाद होने चाहिये। इससे भरत, भामह, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त अथवा मम्मट क्या कहते हैं यह अभ्यासकों को प्रत्यक्षरूप में विदित होगा। दूसरों के मुख से सुनने की उन्हें जरूरत नहीं पड़ेगी। यथार्थतः ऐसा काम कोई संस्थाही कर सकती है। अकेला व्यक्ति यह बोझ नहीं उठा सकता। किन्तु तबतक बैठे रहने का भी कोई कारण नहीं। संक्षेप में क्यों न हो वह स्वरूप पाठकों के समक्ष प्रस्तुत होना चाहिये। ऐसा करने से, कम से कम इस शास्त्र की रूपरेखा तो ज्ञात होगी। ऐसा ही प्रयास इस ग्रन्थ में किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का स्वरूप

प्रस्तुत ग्रन्थ के दो भाग किये गये हैं। साहित्यशास्त्र का विकास किस प्रकार हुआ यह पूर्वार्ध में इतिहासमुख से दर्शाया है। म. म. पां. वा. काणे महोदय ने संस्कृत अलंकारग्रन्थों का जो कालानुक्रम निर्धारित किया है उसे इस विवेचना में स्वीकार किया गया है। इन्हींके अनुसार साहित्यविचार की अवस्थाएँ दर्शाई गई हैं। उत्तरार्ध में साहित्य के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। उसमें विवेचना का क्रम मम्मटाचार्य के 'काव्यप्रकाश' का ही है। इसका एक कारण यह है कि प्राचीन सम्पूर्ण विचारों का परिगणन करने के बाद मम्मटाचार्य ने वह पद्धति के अवलंबसे विद्यार्थीगण पारम्परिक पद्धति से परिचित होंगे। दूसरा कारण यह कि 'काव्यप्रकाश' या 'साहित्यदर्पण' ये दोही ग्रन्थ विश्वविद्यालयों में साधारणतया अध्ययन के लिये नियुक्त किये जाते हैं। उनके अध्ययन में भी इससे सहाय्यता होगी।

अध्याय दूसरा

नाट्यशास्त्र में काव्यचर्चा

साहित्यशास्त्र के उपलब्ध ग्रन्थों में भरतमुनि विरचित नाटचशास्त्र प्राचीनतम है। परम्परा के अनुसार अग्निपुराण ही प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। सभी पुराणग्रन्थ व्यासविरचित हैं इस श्रद्धा से अगर उसे प्रथम ग्रन्थ मान लिया जाय तो कोई आपत्ति नहीं। किन्तु इतिहास के प्रमाणों के अनुसार अग्नि-पुराण ईसा की सातवी शताव्दि से नवीं शताब्दि के काल में लिखा गया सिद्ध हुआ है। स्वयम् नाटचशास्त्र में भी प्राचीन लेखकों के निर्देश हैं एवम् पाणिनि की अष्टाध्यायी में नटसूत्रों का निर्देश है। परन्तु वे ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। इस कारण भरतमुनि के नाटचशास्त्र से ही विवेचना आरम्भ करना ठीक होगा।

नाटचशास्त्र की रूपरेखा

माना जाता है कि नाटचशास्त्र की रचना ईसवी पूर्व २०० से सन् २०० ईसवी तक के काल में हुई। इस ग्रन्थ की श्लोकसंख्या सात सहस्र है। और नाटच के सभी अंग तथा उपांगों की सूचना इसमें संग्रहीत है। विस्तार के भय से इस ग्रन्थ का सार भी यहाँ दिया नहीं जा सकता। केवल उसकी रूपरेखा मात्र दी जा सकती है। निम्न रूपरेखा नाटचशास्त्र के निर्णयसागर सँस्करण से दी जाती है।

नाटचवेद अर्थात् नाटचशास्त्र का निर्माण कैसे हुआ यह प्रथम अध्याय में बताया गया है। ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठच, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत तथा अथर्ववेद से रस लेकर नाटचवेद निर्माण किया और वह भरतमुनि को प्रदान किया। दूसरे अध्याय में नाटच मंडप की रचना का वर्णन है। तीसरे अध्याय में रंगदेवता का पूजाविधान है। चौथे अध्याय में तांडवनृत्य तथा पाँचवें अध्याय में पूर्वरंग, प्रस्तावना तथा नांदी वर्णित है। छठे रसाध्याय में तथा सातवें भावाध्याय

में रस, स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव एवम् संचारी भावों की विवेचना है। आठवें अध्याय में अभिनय के आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक भेद बताये गये हैं। नवें अध्याय में अंगाभिनय अर्थात् हस्तपादादि अवयवों के विक्षेप का विचार किया गया है। दसवें तथा ग्यारहवें अध्याय में नृत्य की गति तथा चारी (नृत्य के गति भेद) की विवेचना की गई है। बारहवें अध्याय में देवता, राजा तथा सेवकगण आदि की भूमिकाओं के अभिनय का वर्णन है। तेरहवें अध्याय में प्रवृत्तियों का विचार किया गया है एवम् आवन्ती, दाक्षिणात्या, पांचाली, तथा औड्रमागधी प्रवृत्तियों के विशेष बताये गये हैं। चौदहवें तथा पॅंद्रहवें अध्यायों में छन्दों की विवेचना है। सोलहवें अध्याय में काव्य के लक्षण, अलंकार, गुण एवम् दोषों का विचार किया गया है। सत्रहवें अध्याय में काकुस्वरविधान एवम् प्राकृत भाषाओं की विवेचना है। १८ वें अध्याय में दशरूपविधान अर्थात् नाट्य के नाटक प्रकरण आदि दस भेदों का विवरण है। १९ वें अध्याय में नाट्यवस्तु एवम् नाट्यसंधि वर्णित हैं। २० वें अध्याय में भारती, सात्वती ,आरभटी एवम् कैशिकी वृत्तियों का वर्णन है। २१ वें अध्याय में पात्रों की वेषभूषा का विधान है। २२ वें अध्याय में स्त्रियों के तथा पुरुषों के हावभाव, प्रेम की दश अवस्थाएँ एवम् नायिकाओं के भेद कथन किये हैं। २३ वें अध्याय में प्रेम में सफलता पाने के मार्ग तथा कुंटनी के संबन्ध में सूचना है।२४ वें अध्याय में नायकनायिकाभेद, राजा एवम् राजा का अन्तःपुर, सेवक, सूत्रधार, विदूषक तथा अन्य पात्रों के सम्बन्ध में सूचना है। २५ वें अध्याय में अभिनय के विशेष प्रकार दिये गये हैं। २६ वें अध्याय में पात्रों को कैसे चुनना चाहिये एवम् भूमिका किस प्रकार देनी चाहिये इस विषय में विवरण है। २७ वें अध्याय में नाट्य-सिद्धि अर्थात् प्रयोग की सफलता कैसे निर्धारित करनी चाहिये यह बताया है। २८ से ३५ अध्यायों तक नाट्यसंगीत की विवेचना है। ३६ वें अध्याय में अभिनेता एवम् अन्य कर्मचारियों के गुण वर्णित हैं। अन्ततः, ३७ वें अध्याय में नाट्यशास्त्र स्वर्ग से पृथ्वी पर कैसे आया यह बताया गया है।

इस प्रकार, नाट्यशास्त्र के ३७ अध्यायों में नाट्यसंबन्धी सभी बातों की शास्त्रीय विवेचना एवम् क्रियाविधि बताई गई हैं। काव्यशास्त्र की दृष्टि से महत्त्व के कौनसे विषय नाट्यशास्त्र में विवेचित किये गये हैं यह अब देखना चाहिये। म. म. पां. वा. काणे महोदय की संमति में, "काव्यमीमांसा अर्थात् साहित्यशास्त्र की दृष्टि से ६, ७, १६, १८, २० तथा २२ इन्हीं अध्यायों का महत्त्व है।" स्थूलतः यह सत्य है। किन्तु नाट्य तथा काव्य में जो आन्तरिक संबन्ध है उसपर ध्यान देने से विदित होता है कि इनके अतिरिक्त अन्य अनेक नाट्यांगों का काव्यचर्चा में अन्तर्भाव हुआ है।

आरम्भ में दी गई किम्वदन्ती

प्रारम्भ में दी गई किम्वदन्ती ही देखिये। ललित साहित्य की ओर हम किस दृष्टि से देखें यह इसमें बताया गया है। पूर्वकाल की बात है। त्रेतायुग में इन्द्र आदि देवता ब्रह्माजी के निकट गये और उन्होंने ब्रह्माजी से प्रार्थना की, "क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्"—जो श्रवण के लिए मधुर एवम् देखने के लिए सुंदर हो ऐसी क्रीडा हम चाहते हैं। ब्रह्माजी ने कहा "ठीक है" और ऋग्वेद आदि चार वेदों से आवश्यक अंश संगृहीत कर सब के ग्रहणयोग्य नाट्यवेद का निर्माण किया। फिर इन्द्र को बुला कर ब्रह्माजी ने कहा, "तुम लोगों में जो कुशल, विदग्ध, प्रगल्भ और जितश्रम हो उन्हें यह नाट्यवेद दो।" किन्तु देवताओं में इन गुणों से युक्त कोई था नहीं। इस लिए इन्द्र ने कहा, "पितामह, इस वेद के ग्रहण, धारण, ज्ञान अथवा प्रयोग में देवतागण समर्थ नहीं है; क्योंकि आपने जिन गुणों की अपेक्षा की है वे उनमें नहीं हैं।" तब ब्रह्माजी ने वह नाट्यवेद भरतमुनि को प्रदान किया। भरतमुनि ने अपने लड़कों को नाट्यवेद पढ़ाया और जिसके लिए जो काम योग्य था उसे वह देकर, भारती, आरभटी और सात्वती वृत्तियों से युक्त नाट्यप्रयोग सिद्ध किया। भरतमुनि की सिद्धता देखकर ब्रह्माजी ने कहा, "इस प्रयोग में कैशिकी वृत्ति का भी उपयोग करो।" इस पर भरत ने प्रार्थना की, "भगवन्, सिवा स्त्रीजनों के कैशिकी वृत्ति का प्रयोग असंभव है।" तब ब्रह्माजी ने नाट्यालंकार में चतुर अप्सराएँ भरत को दीं।

तत्पश्चात्, थोड़े ही दिनों में इन्द्रध्वज नाम का उत्सव हुआ। उस अवसर पर भरत ने अपने नाट्य का प्रयोग प्रस्तुत किया। उसकी कथावस्तु का आशय था देवताओं ने दानवों पर पाई हुई विजय। प्रयोग चल ही रहा था कि दानवों ने उसके मध्य में विघ्न उपस्थित किये। तब ब्रह्माजी ने दानवों से पूछा, "दैत्यों, तुम प्रयोग में बाधा क्यों पहुँचा रहे हो?" इसपर विरूपाक्ष नामक दैत्य ने कहा, "पितामह, आपने देवताओं की इच्छा के अनुकूल यह नाट्यवेद निर्माण किया है। इसमें आपने हमारा प्रत्यादेश अर्थात् तिरस्कार दर्शाया है। यह आपके लिऐ उचित नहीं। देव और दानव दोनों आपसे ही निर्माण हुए हैं। अत एव आपको दोनों पर समान दृष्टि रखनी चाहिये।" इसपर ब्रह्माजी ने उत्तर दिया, "दैत्यों, तुम्हें क्रोध भी नहीं करना चाहिये और विषाद भी नहीं करना चाहिये। नाट्यवेद मैंने किस प्रकार निर्माण किया इसपर ध्यान दो—

> भवतां देवतानां च शुभाशुभ-विकल्पकैः ।
> कर्मभावान्वयापेक्षी नाट्यवेदो मया कृतः ।।

नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चाऽपि भावनम् ।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ।।

क्वचिद् धर्मः, क्वचित् क्रीडा, क्वचिदर्थः, क्वचित् शमः ।
क्वचिद् हास्यं, क्वचिद् युद्धं, क्वचित् कामः, क्वचिद् वधः ।।

धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामार्थसेविनाम् ।
निग्रहो दुर्विनीतानां मत्तानां दमनक्रिया ।।

नाना भावोपसंपन्नं नानाऽवस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ।।

(ना. शा. १।१०६-०६, ११२)

"दैत्यों, यह नाट्यवेद, जिसमें तुम्हारे एवम् देवताओं के शुभ तथा अशुभ कर्मफल दर्शाये हैं, तुम्हारे ही कर्म, भाव एवम् अन्वय के अनुसार मैंने निर्माण किया है। इसमें तुम्हारा या देवों का एकान्ततः या तत्त्वतः भावन नहीं है। नाट्य में सम्पूर्ण त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तन होता है। अतएव, इसमें कही धर्म देखने को मिलेगा तो कही क्रीडा, कहीं अर्थ होगा तो कहीं शम। धर्म में प्रवृत्त लोगों का धर्म, कामसेवियों का काम, दुर्विनीत लोगों का निग्रह, मत्तों का दमन—इस प्रकार त्रैलोक्य में जिसका जिस प्रकार का वृत्त देखा जाता है वैसा ही वह नाट्य में प्रस्तुत किया जाता है। अनेक प्रकार के भावों से संपन्न एवम् नाना अवस्थाओं से युक्त लोकवृत्तानुकरण नाट्य में मिलेगा। अतएव—

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः ।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतः नाट्यमित्यभिधीयते ।। (१।११६)

"इस संसार में लोकस्वभाव सुख एवम् दुःख से अन्वित पाया जाता है। और वह जब अंग आदि अभिनयों से उपेत अर्थात् अभिसंक्रान्त होता है तब उसे नाट्य कहते हैं।"

ब्रह्माजी ने इस प्रकार दैत्यों की भ्रान्ति नष्ट की। तत्पश्चात् नाट्य यथावत चलता रहा।

किम्वदन्ती से निष्कर्ष—यह किम्वदन्ती अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। नाट्य को एवम् उसके साथ ही काव्य को किस दृष्टि से देखना चाहिये, यह हम इस किम्वदन्ती से समझ सकते हैं। साथ ही कुछ दूसरी बातें भी इससे स्पष्ट हो जाती हैं। क्रमशः वे ये हैं—

१. **साहित्यकार के आवश्यक गुण**— नाटचवेद अर्थात् काव्यशास्त्र के ग्रहण, धारण, ज्ञान एवम् प्रयोग के लिए साहित्यकार की कुछ विशेष योग्यता आवश्यक है। अन्य प्रकार से देवतागण श्रेष्ठ तो जरूर थे किन्तु नाटच एवम् काव्य धारण करने के लिए आवश्यक गुण उनमें नहीं थे। कुशलता अर्थात् विवेचकशक्ति, वैदग्ध्य, प्रगल्भता तथा जितश्रमता अर्थात् आलस का अभाव ये गुण कवि अथवा नाटचकार के लिए आवश्यक है। ये गुण न हो तो काव्य का निर्माण नहीं हो सकता। केवल इतना ही नहीं, रसिकता भी प्राप्त नहीं हो सकती।

२. **कैशिकी अर्थात् सौंदर्यव्यापार**— बिना कैशिकी के नाटच अथवा काव्य हो नहीं सकता। "कैशिकी' ललित वृत्ति है। नाटच अथवा काव्य का विषय कुछ भी हो, उसमें वैचित्र्य अर्थात् लालित्य न हों तो वह नाटच अथवा काव्य नहीं हो सकता। भरत के नाटच प्रयोग में देवता और असुरों के युद्ध की कथावस्तु थी। अर्थात् वह नाटच का **डिम** या **समवकार** नामक भेद था एवम् उसमें प्रधान रस वीर या रौद्र था। किन्तु उसमें कैशिकी आवश्यक थी। उसमें वैचित्र्य या लालित्य होना जरूरी था। कैशिकी का अर्थ है सौंदर्यव्यापार। अभिनवगुप्त कहते हैं। "सौंदर्योपयोगी व्यापारः कैशिकीवृत्तिः।" उनका कथन है कि काव्य में जो भी कुछ लालित्य है वह सब कैशिकी के ही कारण है। (एवं यत्किंचित् लालित्यं तत्सर्वं कैशिकीविजृम्भितम्।)। अनेक विद्वानों की यह धारणा है कि कैशिकी का शृंगार से ही संबन्ध है। यह ठीक नहीं। अन्य रसों से भी उसका सम्बन्ध है। वीर अथवा रौद्र रस को 'आरभटी' वृत्ति अभिव्यक्त करती है किन्तु काव्य एवं नाटक में इन रसों की अभिव्यक्ति में जो सौंदर्य या वैचित्र्य प्रतीत होता है वह कैशिकी है। कोई भी रस क्यों न हो उसकी अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक अभिनय में वैचित्र्य एवम् सौन्दर्य का होना आवश्यक है। वह अगर उसमें न हो तो रस की अभिव्यक्ति ही नहीं हो सकती (१)। अतएव अभिनवगुप्त ने कहा है, "इति सर्वत्र कैशिकी प्राणाः।" मुनि भरत ने भी कैशिकी को "नृत्याङ्गहार-संपन्ना रसभावक्रियात्मिका" कहा है एवम् उसकी प्रतीकस्वरूप अप्सराएँ 'नाटचालंकारचतुर' थीं ऐसा कहा है। नाटचालंकार का अर्थ है नाटचवैचित्र्यहेतु। नाटचालंकार की विवेचना अनुपद की जायगी।

३. **साहित्य को हम किस दृष्टि से देखें**— काव्य नाटक आदि को हम किस दृष्टि से देखें यह भी उपर्युक्त किम्वदन्ती से स्पष्ट होता है। देवताओं ने दैत्यों को

---

१६. रौद्रादिरसाभिव्यक्तौ अपि कर्तव्यतायां योऽभिनयः उपादीयते सोऽपि सुंदरवैचित्र्य-व्याप्ति णया दुःश्लिष्टः अश्लिष्टो वा न रसाभिव्यक्तिहेतुर्भवति।

पराभूत करने की कथावस्तु देखकर दैत्य क्रुद्ध हुए। नाटक के कर्ता ने हमारा प्रत्यादेश किया इस प्रकार की उनकी धारणा हुई। किन्तु उनका यह क्रोध 'भ्रान्तिमात्रकृत' था। नाट्य का उन्होंने व्यक्ति से सम्बन्ध जोड़ दिया। किन्तु ब्रह्मा ने उन्हें सत्य दृष्टि दी। नाट्य तो देवताओं का महत्त्व भी नहीं बढाता और दैत्यों का अधिक्षेप भी नहीं करता। त्रैलोक्य में जो लोकचरित देखा जाता है उसीका वह अनुकरण (अनुव्यवसाय) है। नाट्य में अनेक प्रकार के भाव तथा अनेक प्रकार की अवस्थाएँ अंकित की जाती है। ये भाव तथा ये अवस्थाएँ लोक में जिस प्रकार प्रसिद्ध हैं उसी रूप में नाट्य में दर्शाई जाती हैं। लोक में प्रसिद्ध अवस्था दर्शाने के लिए व्यक्ति केवल प्रतीकरूप में लिए जाते हैं। क्यों कि विना प्रतीक के लोकजीवन के भाव एवम् अवस्थाएँ अभिव्यक्त ही नहीं हो सकती। 'नाट्य' व्यक्ति की अनुकृति न होकर अवस्था की अनुकृति है। इसी हेतु नाट्य को अनुव्यवसाय कहा गया है। व्यक्ति के द्वारा प्रतीत होने पर भी नाट्यगत अवस्थाओं की प्रतीति व्यक्ति से निरपेक्ष होनी चाहिये। ऐसी व्यक्ति से निरपेक्ष अवस्थाओं का ही काव्य में आस्वादन होता है। जो यह नहीं कर पाता वह काव्य या नाटक का रसिक नहीं हो सकता। 'स्वपरगतदेशकालावस्थावेश' एक बड़ा रसविघ्न है। काव्यगत अवस्थाओं की व्यक्तिनिरपेक्षता रस के आस्वादन का मूल तत्त्व है। और वह त्रिकाल सत्य है। अवस्थाओं का प्रकटन पौराणिक अथवा ऐतिहासिक व्यक्तियों के द्वारा होने पर उनकी व्यक्तिनिरपेक्षता विशेष रूप से बताना आवश्यक नहीं होता, किन्तु आधुनिक नाम धारण करनेवाले पात्रों के द्वारा अवस्थाओं का दर्शन कराया गया हो तो लेखक के लिए कहना आवश्यक होता है कि "कल्पना से पात्रों का निर्माण किया हुआ है।" ऐसे कथन का और ब्रह्मा के कथन का हेतु एक ही है और वह यह कि काव्य एवम् नाट्य के अवस्थाओं का आस्वादन व्यक्तिनिरपेक्ष हो कर करना चाहिये।

४. **कवि के लिए आवश्यक सतर्कता** — रसिक ने नाट्य को व्यक्तिनिरपेक्ष दृष्टि से देखना चाहिये यह जिस प्रकार भरतमुनि कहते है उसी प्रकार कवि को भी वे चेतावनी देते हैं कि उसने भी अपने नाटक में विशिष्ट व्यक्ति को अंकित न करते हुए व्यक्तिनिरपेक्ष अवस्था का ही अंकन करना चाहिये। कीर्ति का लाभ होने से, कवि को व्यक्तिसापेक्ष लिखने का मोह कई बार होता है। इस मोह का उसने दमन करना चाहिये। अन्यथा, उसमें कवि का अधःपतन है यह भरतमुनि ने "नटशाप" की आख्यायिका के द्वारा जतलाया है। भरतपुत्रों को नाट्यवेद अवगत हुआ और उनकी प्रशंसा होने लगी। उस प्रशंसा से वे उन्मत्त हुए और अपने ज्ञान का उपयोग दुसरों का मज़ाक उड़ाने में करने लगे। ऋषिमुनियों का उन्होंने मजाक उड़ाया। किसी समय वे एक हास्यकारक शिल्पक (छोटा-सा नाटक) खेलें। और

भी होना ग्रावश्यक है। इसमें, लोकप्रवृत्तियों से सम्वादी अभिनयांश 'लोकधर्मी' है एवं अभिनय का ही सौंदर्याधायक अंश "नाटचधर्मी" है(५)।"

वैसे तो नाटच ने लौकिक धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई धर्म ही नहीं होता। फिर भी कवि और नट अपने नाटकों और प्रयोगों में आकर्षण निर्माण करने के हेतु लोकागत प्रक्रिया पर अपनी कल्पना का संस्कार करते हैं और इस प्रकार उसे सौंदर्यशाली बनाते हैं। ऐसे नाटचांश में 'नाटचधर्मी' होती है। लोकधर्मी ही नाटचधर्मी का आधार है। भित्ति तथा उसमें सौंदर्य का आधायक चित्र या रंग इन दोनों में जिस प्रकार आधार और आधेय का सम्बन्ध होता है उसी प्रकार लोकधर्मी एवं नाटचधर्मी में सम्बन्ध होता है (६)। ठीक है कि चित्र या रंग भित्ति के आधार के बिना नहीं रह सकता, किन्तु भित्ति में भी चित्र या रंग के बिना सौंदर्य नहीं आ सकता। उसी प्रकार, लोकधर्मी के आधार से ही नाटचधर्मी रहती है किन्तु लोकधर्मी का सौंदर्यमय आविर्भाव भी बिना नाटचधर्मी के हो ही नहीं सकता। दोनों धर्मियों के इस संबन्ध पर ध्यान देने से नाटचशास्त्र में बताये गये धर्मिलक्षणों का मर्म विस्पष्ट होता है। नाटचशास्त्र में धर्मी लक्षण इस प्रकार किये गये है—

स्वभावभावोपगतम्, शुद्धं त्वविकृतं तथा।
लोकवार्ताक्रियोपेतम्, अङ्गलीलाविवर्जितम् ।।
स्वभावाभिनयोपेतम्, नानास्त्रीपुरुपाश्रयम्।
यदीदृशं भवेन्नाट्यम्, **लोकधर्मी** तु सा स्मृता ।। (ना. शा. १३।७१-७२)

अतिवाक्यक्रियोपेतम्, अतिसत्त्वातिभावकम्।
लीलाङ्गहाराभिनयम्, नाटचलक्षणलक्षितम् ।।
स्वरालंकारसंयुक्तम्, अस्वस्थपुरुपाश्रयम्।
यदीदृशं भवेन्नाटचं, **नाटचधर्मी** तु सा स्मृता ।।(ना. शा.१३।७३-७४)

इन लक्षणों के अनुसार नाटचगत लोकधर्मी एवम् नाटचधर्मी दोनों का भेद इस प्रकार दर्शाया जा सकता है—

---

५. लोकस्वभावमेवानुवर्तमानं धर्मिद्वयम्। लोको जनपदवासी जनः। स च प्रवृत्तिक्रमेण प्रपंचितः। तत्प्रसंगेनैव धर्मी आयाता। सा च द्वेधा — (अ. भा. भाग २, पृ. २१३)

६. यद्यपि लौकिकधर्मव्यतिरेकेण नाट्ये न कश्चिद्धर्मोऽस्ति, तथापि स यत्र लोकागतप्रक्रियाक्रमो रंजनाधिक्यप्राधान्यनधिरोहयितुं कविनटव्यापारे वैचित्र्यं स्वीकुर्वन् नाट्यधर्मी इत्युच्यते।... लौकिकस्य धर्मस्य मूलभूतत्वात् नाट्यधर्मं(प्रति) वैचित्र्योल्लेखभित्तिस्थानत्वात् इति लोकधर्मीमेवादौ लक्षयति। (अ. भा. भाग २, पृ. २१४)

नाट्यगत लोकधर्मी	नाट्यगत नाट्यधर्मी
१. स्वभावभावोपगत	१. अतिसत्त्व
२. शुद्ध और अविकृत	२. अतिभावक
३. लोकवार्ताक्रियोपेत	३. अतिवाक्यक्रियोपेत
४. अंगलीलाविवर्जित	४. लीलांगहाराभिनय
५. स्वभावाभिनयोपेत	५. स्वरालंकारसंयुक्त
६. नानास्त्रीपुरुषाश्रय	६. [illegible]

नाट्य में कवि तथा नट दोनों का 'व्यापार' रहता है। भावों का अनुकीर्तन करने के लिए कवि लौकिक प्रवृत्तियों का दर्शन कथावस्तु के द्वारा कराता है। उस कथावस्तु का मूल रूप लोक में प्रसिद्ध किसी घटना या व्यवहार का होता है। इसी को उपर्युक्त लक्षण में 'लोकवार्ता क्रियोपेत' कहा है। लोकवार्ता का अर्थ है लोक-प्रसिद्धि और क्रिया का अर्थ है घटना या व्यवहार। यही लोकधर्म है। नाट्य की कथावस्तु का जितना अंश ऐसी लोकवार्ताक्रिया से युक्त होता है उतना नाट्यांश लोकधर्मी है। किन्तु कवि मूल घटना को उसी रूप में प्रस्तुत नही करता। अपनी कल्पना से वह उसका कुछ विस्तार करता है या उसमें कुछ परिवर्तन करता है। ऐसे नाट्यांश को भरत ने 'अतिवाक्यक्रियोपेत' कहा है। नाट्य का यह कल्पित अंश 'नाट्यधर्मी' है। उदाहरणस्वरूप रामकथापर रचित नाटक लिए जा सकते हैं। राम वनवास गये अयोध्या से, वे भी कैकेयी और दशरथ के वचनानुसार। मूल रामायण की कथा के अनुसार इसमें रावण का कोई हाथ न था। किन्तु भवभूति ने महावीरचरित में मूल कथा में परिवर्तन किया है। उसने दर्शाया है कि रामचंद्र जी का नाश करने की रावण ही की इच्छा थी और इस कारण रामचंद्रजी को किसी बहाने वह दण्डकारण्य में लाना चाहता था। इस लिए उसने शूर्पणखा को ही मंथरा के वेष में रामचंद्रजी के निकट भेजा। रामचंद्रजी का विवाह हाल ही में संपन्न हुआ था और वे अबतक मिथिला ही में थे। शूर्पणखा रामचंद्रजी से मिथिला में ही मिली और कैकेयी के संदेश के बहाने रामचंद्रजी को बन में जाने को कहा। उसके अनुसार रामचंद्रजी बन में गये। यहाँ 'कैकेयी के वचन के अनुसार रामचंद्रजी वन में जाते हैं' इतना नाट्यांश' 'लोकवार्ताक्रियोपेत' होने से 'लोकधर्मी' है। किन्तु भवभूति ने उसकी पृष्ठभूमि के रूप में दी हुई काल्पनिक कारणपरम्परा 'अतिवाक्यक्रियोपेत' होने से 'नाट्यधर्मी' है। रसिकों को अनुभव होगा कि यह परिवर्तन रस की दृष्टि से उचित है क्यों कि इस नाटक में प्रधान वीररस का परिपोष करने के लिए नाट्यधर्म के अनुसार किया गया है। कवि जिस प्रकार कथावस्तु में परिवर्तन करता है उसी प्रकार अगर नाट्यधर्म के लिए आवश्यक

हो तो, कई बार वह पात्रों की मूल चित्तवृत्ति में भी परिवर्तन करता है। लोक-प्रवृत्ति के अनुसार कई लोगों के स्वभाव का एक निश्चित ढाँचा-सा बना रहता है। पात्र अगर ऐतिहासिक हो तो उनकी चित्तवृत्ति पहले से ही लोगों को ज्ञात रहती है। कवि ने इन चित्तवृत्तियों को अगर मूल के अनुसार या लोकप्रवृत्ति के अनुसार दर्शाया हो तो वह चित्तवृत्ति अथवा भाव 'स्वभावभावोपगत', 'अविकृत' और 'शुद्ध' होता है। इस लिए यह अंश 'लोकधर्मी' है। किन्तु इसमें भी कवि नाट्यधर्म के अनुसार, सौंदर्य लाने के लिए अनेकशः परिवर्तन करता है एवं अपनी कल्पना से पात्र के मूल स्वभाव को भी कुछ बदल देता है। यह नाट्यांश नाट्यधर्मी है। इस का उदाहरण अभिनवगुप्त ने 'तापसवत्सराज' नाटक में विदूषक का दिया है। सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार विदूषक उतावला होता है; कोई भी कार्य वह ठीक तरह से नहीं कर पाता; कोई बात उसके मन में नहीं रह सकती। किन्तु 'तापसवत्सराज' में विदूषक समयपर मन्त्री के समान गम्भीर एवं मन्त्रगुप्ति रखने वाला दिखाया है। यह नाट्यधर्म के अनुसार किया हुआ परिवर्तन है। ऐतिहासिक उदाहरण भास के दो नाटक 'दूतवाक्य' तथा 'ऊरुभंग' के लिए जा सकते हैं। दोनों नाटकों में दुर्योधन का पात्र है। 'दूतवाक्य' में दुर्योधन महाभारत के दुर्योधन के सदृश ही है। उसकी स्वभावरेखा 'स्वभावभाषोपगत', 'शुद्ध' एवं 'अविकृत' है। यह नाट्यांश लोकधर्मी है। किन्तु ऊरुभंग में भास ने दुर्योधन में इतना परिवर्तन किया है कि प्रतीत होता है वह उद्धत स्वभाव छोड़कर धीरोदात्त बन गया हो। यहाँ दुर्योधन का पात्र 'अतिसत्त्व' तथा 'अतिभावक' होने से नाट्यधर्मी है।

कवि के व्यापार में लोकधर्मी और नाट्यधर्मी का स्वरूप हमने देखा। नट के व्यापार में भी यह धर्म होते हैं। उनका स्वरूप अब हम देखेंगे।

अभिनय के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति करना नटव्यापार है। इस व्यापार में भावों की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक अनुभावादि के अभिनय लौकिक वृत्तिप्रवृत्तियों से संवादी रहना आवश्यक है। इस प्रकार नटव्यापार का लोक की वृत्तिप्रवृत्तियों से संवादी अंश नटगत लोकधर्मी है। इससे अतिरिक्त केवल शोभाकारक अभिनयांश नटगत नाट्यधर्मी है। भरतमुनि का कथन है कि नटगत लोकधर्मी अंगलीलाविवर्जित, स्वभावाभिनयसे युक्त एवं नानास्त्रीपुरुषाश्रय होती है। और नटगत नाट्यधर्मी लीलांगहारों से युक्त नाट्यलक्षणों से लक्षित तथा अस्वस्थ पुरुषाश्रित होती है। यहाँ, नानास्त्रीपुरुषाश्रित अर्थात् विविध स्त्री-पुरुषों की स्वभावतः (बिना अभ्यास के) होनेवाली चेष्टाएँ या हरकतें तथा अस्वस्थ-पुरुषाश्रित अर्थात् पुरुष ने अभ्यास के द्वारा प्राप्त किये हुए नारी के व्यापार या नारी

ने अभ्यास के द्वारा प्राप्त किये हुए पुरुष के व्यापार इस प्रकार अभिनवगुप्त ने अर्थ दिये हुए हैं। आज की भाषा में, स्त्रियों के काम स्त्रियों ने तथा पुरुषों के काम पुरुषों ने करना यह है नटगत लोकधर्मी एवं स्त्रियों के काम पुरुषों ने या पुरुषों के काम स्त्रियों ने करना यह है नटगत नाटचधर्मी।

नाटचधर्मी ने नाटच का बहुत बड़ा प्रान्त व्याप्त किया है। कल्पना की सहाय्यता से नाटच में जो कुछ दर्शाया जाता है एवं जिसका ग्रहण किया जाता है- सभी का नाटचधर्मी में अन्तर्भाव होता है। आत्मगत भाषण नाटचधर्मी होता है। नाटच में जो 'आत्मगत' भाषण समझा जाता है वह वास्तव में पास के अन्य अभिनेता एवं दर्शक भी सुनते हैं। किन्तु बोलनेवाला व्यक्ति वह मन ही मन में बोला इसको दर्शक, अभिनेता एवं कवि सभी स्वीकार करते हैं। यह नाटचधर्मी है। मूल वस्तु को और भी आकर्षक एवं शोभाकारी करने के लिए रंगमंचपर जो भी कुछ दिखाया जाता है वह सब नाटचधर्मी है। रंगमंच पर अभिनेता के अभिनय को दी हुई संगीत की साथ, नट की चारी एवम् ध्रुवा लोक में कभी पाई नहीं जाती। किन्तु नाटच में यही बातें अपूर्व सौन्दर्य का निर्माण करती हैं। यह सब नाटचधर्मी है। केवल इतना ही नहीं, तो नाटच के मूल भाव तथा अवस्थाओं को सौंदर्यमय एवं परिणाम-कारी रूप में अभिव्यक्त करने के हेतु रंगमंच पर किया गया सब ही व्यापार नाटचधर्मी है। इसीपर ध्यान देकर भरतमुनि ने कहा है—

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखक्रियात्मकः।
सोऽङ्गाभिनयसंयुक्तो नाटचधर्मी प्रकीर्तिता ॥" (ना. शा. १६।८१)

सुखदुःखक्रियात्मक लोकस्वभाव जब संगीत आदि अंग तथा अभिनय से संयुक्त होता है तब वह नाटचधर्मी ही होती है। नाटचधर्मी का यह व्यापक अर्थ बतलाकर मुनि भरत कहते हैं—

नाटचधर्मीप्रवृत्तं हि सदा नाटचं प्रयोजयेत्।
न ह्यंगाभिनयात् किंचित् ऋते रागः प्रवर्तते ॥
सर्वस्य सहजो भावः सर्वोह्यभिनयोऽर्थतः।
अङ्गालंकार चेष्टा तु नाटचधर्मी प्रकीर्तितः ॥ (ना. शा. १३।८४,८५)

"नाटचप्रयोग नित्य नाटचधर्मी से युक्त होना चाहिये। क्यों कि सिवा गीत आदि अंगों के तथा अभिनय के राग अर्थात् रसिकों की प्रीति या आनंद निर्माण नहीं हो सकता। भाव तो सभी में स्वभावतः रहता है (इस लिए वह लोकधर्मी है)। नाटच में अभिनय, अर्थ के अर्थात् इस अभिनेय भाव के अनुगुण होता है, इस लिए चेष्टा, गुण, लक्षण इत्यादि अंग तथा उपमा आदि अलंकार, ये सब व्यापार

हो तो, कई बार वह पात्रों की मूल चित्तवृत्ति में भी परिवर्तन करता है। लोक-प्रवृत्ति के अनुसार कई लोगों के स्वभाव का एक निश्चित ढाँचा-सा बना रहता है। पात्र अगर ऐतिहासिक हो तो उनकी चित्तवृत्ति पहले से ही लोगों को ज्ञात रहती है। कवि ने इन चित्तवृत्तियों को अगर मूल के अनुसार या लोकप्रवृत्ति के अनुसार दर्शाया हो तो वह चित्तवृत्ति अथवा भाव 'स्वभावभावोपगत', 'अविकृत' और 'शुद्ध' होता है। इस लिए यह अंश 'लोकधर्मी' है। किन्तु इसमें भी कवि नाट्यधर्म के अनुसार, सौंदर्य लाने के लिए अनेकशः परिवर्तन करता है एवं अपनी कल्पना से पात्र के मूल स्वभाव को भी कुछ बदल देता है। यह नाट्यांश नाट्यधर्मी है। इस का उदाहरण अभिनवगुप्त ने 'तापसवत्सराज' नाटक में विदूषक का दिया है। सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार विदूषक उतावला होता है; कोई भी कार्य वह ठीक तरह से नहीं कर पाता; कोई बात उसके मन में नही रह सकती। किन्तु 'तापसवत्सराज' में विदूषक समयपर मन्त्री के समान गम्भीर एवं मन्त्रगुप्ति रखने वाला दिखाया है। यह नाट्यधर्म के अनुसार किया हुआ परिवर्तन है। ऐतिहासिक उदाहरण भास के दो नाटक 'दूतवाक्य' तथा 'ऊरुभंग' के लिए जा सकते हैं। दोनों नाटकों में दुर्योधन का पात्र है। 'दूतवाक्य' में दुर्योधन महाभारत के दुर्योधन के सदृश ही है। उसकी स्वभावरेखा 'स्वभावभावोपगत', 'शुद्ध' एवं 'अविकृत' है। यह नाट्यांश लोकधर्मी है। किन्तु ऊरुभंग में भास ने दुर्योधन में इतना परिवर्तन किया है कि प्रतीत होता है वह उद्धत स्वभाव छोड़कर धीरोदात्त बन गया हो। यहाँ दुर्योधन का पात्र 'अतिसत्त्व' तथा 'अतिभावक' होने से नाट्यधर्मी है।

कवि के व्यापार में लोकधर्मी और नाट्यधर्मी का स्वरूप हमने देखा। नट के व्यापार में भी यह धर्म होते हैं। उनका स्वरूप अब हम देखेंगे।

अभिनय के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति करना नटव्यापार है। इस व्यापार में भावों की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक अनुभावादि के अभिनय लौकिक वृत्तिप्रवृत्तियों से संवादी रहना आवश्यक है। इस प्रकार नटव्यापार का लोक की वृत्तिप्रवृत्तियों से संवादी अंश नटगत लोकधर्मी है। इससे अतिरिक्त केवल शोभाकारक अभिनयांश नटगत नाट्यधर्मी है। भरतमुनि का कथन है कि नटगत लोकधर्मी अंगलीलाविवर्जित, स्वभावाभिनयसे युक्त एवं नानास्त्रीपुरुषाश्रय होती है। और नटगत नाट्यधर्मी लीलांगहारों से युक्त नाट्यलक्षणों से लक्षित तथा अस्वस्थ पुरुषाश्रित होती है। यहाँ, नानास्त्रीपुरुषाश्रित अर्थात् विविध स्त्री-पुरुषों की स्वभावतः (बिना अभ्यास के) होनेवाली चेष्टाएँ या हरकतें तथा अस्वस्थ-पुरुषाश्रित अर्थात् पुरुष ने अभ्यास के द्वारा प्राप्त किये हुए नारी के व्यापार या नारी

ने अभ्यास के द्वारा प्राप्त किये हुए पुरुष के व्यापार इस प्रकार अभिनवगुप्त ने अर्थ दिये हुए हैं। आज की भाषा में, स्त्रियों के काम स्त्रियों ने तथा पुरुषों के काम पुरुषों ने करना यह है नटगत लोकधर्मी एवं स्त्रियों के काम पुरुषों ने या पुरुषों के काम स्त्रियों ने करना यह है नटगत नाट्यधर्मी।

नाट्यधर्मी ने नाट्य का बहुत बड़ा प्रान्त व्याप्त किया है। कल्पना की सहाय्यता से नाट्य में जो कुछ दर्शाया जाता है एवं जिसका ग्रहण किया जाता है-सभी का नाट्यधर्मी में अन्तर्भाव होता है। आत्मगत भाषण नाट्यधर्मी होता है। नाट्य में जो 'आत्मगत' भाषण समझा जाता है वह वास्तव में पास के अन्य अभिनेता एवं दर्शक भी सुनते हैं। किन्तु बोलनेवाला व्यक्ति वह मन ही मन में बोला इसको दर्शक, अभिनेता एवं कवि सभी स्वीकार करते हैं। यह नाट्यधर्मी है। मूल वस्तु को और भी आकर्षक एवं शोभाकारी करने के लिए रंगमंचपर जो भी कुछ दिखाया जाता है वह सब नाट्यधर्मी है। रंगमंच पर अभिनेता के अभिनय को दी हुई संगीत की साथ, नट की चारी एवम् ध्रुवा लोक में कभी पाई नहीं जाती। किन्तु नाट्य में यही बातें अपूर्व सौन्दर्य का निर्माण करती हैं। यह सब नाट्यधर्मी है। केवल इतना ही नहीं, तो नाट्य के मूल भाव तथा अवस्थाओं को सौंदर्यमय एवं परिणाम-कारी रूप में अभिव्यक्त करने के हेतु रंगमंच पर किया गया सब ही व्यापार नाट्यधर्मी है। इसीपर ध्यान देकर भरतमुनि ने कहा है—

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखक्रियात्मकः ।
सोऽङ्गाभिनयसंयुक्तो नाट्यधर्मी प्रकीर्तिता ॥" (ना. शा. १६।८१)

सुखदुःखक्रियात्मक लोकस्वभाव जब संगीत आदि अंग तथा अभिनय से संयुक्त होता है तब वह नाट्यधर्मी ही होती है। नाट्यधर्मी का यह व्यापक अर्थ बतलाकर मुनि भरत कहते हैं—

नाट्यधर्मीप्रवृत्तं हि सदा नाट्यं प्रयोजयेत्।
न ह्यंगाभिनयात् किंचित् ऋते रागः प्रवर्तते ॥
सर्वस्य सहजो भावः सर्वोह्यभिनयोऽर्थतः ।
अङ्गालंकार चेष्टा तु नाट्यधर्मी प्रकीर्तितः ॥ (ना. शा. १३।८४,८५)

"नाट्यप्रयोग नित्य नाट्यधर्मी से युक्त होना चाहिये। क्यों कि सिवा गीत आदि अंगों के तथा अभिनय के राग अर्थात् रसिकों की प्रीति या आनंद निर्माण नहीं हो सकता। भाव तो सभी में स्वभावतः रहता है (इस लिए वह लोकधर्मी है)। नाट्य में अभिनय, अर्थ के अर्थात् इस अभिनेय भाव के अनुगुण होता है, इस लिए चेष्टा, गुण, लक्षण इत्यादि अंग तथा उपमा आदि अलंकार, ये सब व्यापार

नाटचधर्मी ही हैं।" इसपर अभिनवगुप्त कहते हैं—"कविगत हो या नटगत हो, वागंगालंकाररूप नाटचधर्मी कलाकृति का प्राण ही होती है। यह नाटचधर्मी रूप अभिनय किसी अर्थ की अपेक्षा से होता है, तथा वह अर्थ उस अभिनय से अभिव्यक्त होता है। यह अभिव्यक्त होनेवाला अर्थ भावरूप होता है एवं सब में सहजरूप में रहता है। इस लिए यह सहज भावरूप अर्थ लोकधर्मी है। यह लोकधर्मी नाटचधर्मी का आधार होती है एवं उन दोनों में संवादित्व होता है। (७)"

नाटचधर्मी अर्थात् अभिनयप्रकारों का औचित्य

लोकधर्मी तथा नाटचधर्मी के संवन्धपर ध्यान देने के बाद अब हम जरा पीछे मुड़कर देखें। भरत ने नाटच का लक्षण इस प्रकार किया है—

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
अङ्गाद्यभिनयोपेतो नाटचमित्याभिधीयते ।। (१।११९)

और नाटचधर्मी का लक्षण इस प्रकार किया है—

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखक्रियात्मकः।
सोऽङ्गाभिनयसंयुक्तो नाटचधर्मी प्रकीर्तिता: ।। (१३।८१)

इन दोनों लक्षणों का एकत्र विचार करने से नाटच और नाटचधर्मी में आन्तरिक सम्बन्ध विस्पष्ट हो जाता है। सुखदुःखात्मक लोकस्वभाव लोकधर्म है। यह लोकधर्म अभिनय से उपेत होना अर्थात् रसिकहृदय में संक्रान्त होना ही नाटच है। यह अभिनय लोकस्वभाव से संयुक्त अर्थात् औचित्य से युक्त होना नाटचधर्म है। नाटचधर्म में कल्पना का प्रपंच होने पर भी नाटचधर्म केवल नटसंकेत नहीं है। वह "संभाव्यमान होकर रंजन तथा वस्तु के लिए उपयोगी" होना चाहिये ऐसा अभिनवगुप्त का कथन है (भा.२ पृ.२१६)। इस प्रकार का नाटचधर्म ही सौंदर्यशाली व्यापार है।" नाटचधर्मीप्रवृत्तं हि सदा नाटचं प्रयोजयेत्।" ऐसा मुनि भरत ने क्यों कहा है यह अब विस्पष्ट हो जायगा। अभिनव गुप्त ने तो नाटचधर्मी को 'सर्वाभिनयप्रकारसारा' ही कहा है तथा नाटचधर्मित्व लोकस्वभाव का नाटचगत विधान है ऐसा भी स्पष्टरूप में कहा है (८)।

---

७. यस्मात् कविगता नटगता वागंगालंकारनिष्ठा नाट्यधर्मीरूपा सर्वप्राणवती अर्थत. इति अर्थमपेक्ष्य प्रवर्तते, तस्मात् सर्वस्य संबंधी सहजो भावो लोकधर्मलक्षण उक्तो भित्तिस्थानीयत्वेन नाट्यधर्म्याः सहजसंवादिकर्मणः। अंगं वर्तनारूपं गुणलक्षणानि च, अलंकारचेष्टा अलंकाराः उपमादयश्च ।। (अ. भा. भाग २, पृ. २१८)

८. लोकस्वभावस्य अनुभावविलासोपेतत्वविधायकस्य नाट्यधर्मित्वं विधानम्। (अ. भा. भाग २, पृ. २१५)

लोकधर्मी लोकसिद्ध होती है तो नाटचधर्मी कविनिर्मित या नटनिर्मित रहती है। अभिनय भी एक दृष्टि से नाटचधर्मी ही है। क्यों कि दर्शकों के हृदय में भावों का संक्रमण करने के लिए नट ने निर्माण किया हुआ वह एक साधन है। भिन्न भिन्न अर्थों को [illegible] शरीर आदि का व्यापार ही अभिनय है (९)। अभिनय से आज हम शरीर के हाव, भाव आदि ही समझते हैं। किन्तु भरत ने किया हुआ अभिनय का अर्थ इससे कहीं अधिक व्यापक है। उनके मन्तव्य के अनुसार सीन सीनरी, वेष, शरीर की चेष्टाएँ, बोलने का प्रकार, स्तम्भ, स्वेद आदि सात्त्विक भाव इन सभी का अभिनय में अन्तर्भाव होता है। इस व्यापक अर्थ में ही अभिनय नाटचधर्मी है।

नाटचस्थित नाटचधर्मी अर्थात् काव्यस्थित वक्रोक्ति

नाटच की लोकधर्मी तथा नाटचधर्मी काव्य में स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति के रूप में परिणत हुई। अभिनवगुप्त कहते हैं—"नाटच के लोकधर्मी एवं नाटचधर्मी के स्थानपर काव्य में स्वभावोक्ति एवं वक्रोक्ति के दो प्रकार आते हैं तथा उनके द्वारा प्रसन्न, मधुर और ओजस्वी शब्दों के योग से अलौकिक विभाव आदि समर्पित होते हैं और नाटच के अनुसार काव्य में भी रस की अभिव्यक्ति होती है (१०)।" नाटचस्थित वर्तना आदि नाटचांगों का एवं नाटचालंकार चेष्टाओं का कार्य काव्य में गुण, लक्षण एवं उपमा आदि अलंकारों के द्वारा संपन्न होता है। लोकधर्मी का स्वभावोक्ति से तथा नाटचधर्मी का वक्रोक्ति से संबन्ध किस प्रकार है इस विषय में विवेचन उत्तरार्ध में किया जावेगा।

नाटच के विविध अलंकार

सुखदुःखात्मक लोकस्वभाव का दर्शन अभिनय के द्वारा कराना ही नाटच है। लोकस्वभाव में मानव के भावों एवं अवस्थाओं का अन्तर्भाव होता है। इनमें से भाव अभिव्यक्त ही होते हैं। वे शब्दवाच्य भी नहीं होते अथवा उनकी अनुकृति भी नहीं हो सकती। किन्तु अवस्थाओं की अनुकृति हो सकती है। नाटच तो

---

९. नाट्यशास्त्र में अभिनयलक्षण इस प्रकार है—
अभिपूर्वस्तु णीञ् धातुरभिमुख्यार्थनिर्णये।
यस्मात् प्रयोगं नयति तस्मादभिनयः स्मृतः॥
विभावयति यस्मात् च नानार्थान् हि प्रयोगतः।
शाखांगोपाङ्गसंयुक्तः तस्मादभिनयः स्मृतः॥ (ना. शा. ८।७, ८)

१०. काव्येऽपि च लोकनाट्यधर्मस्थानीये स्वभावोक्तिवक्रोक्तिप्रकारद्वयेन अलौकिकप्रसन्नमधुरौजस्विशब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगात् इयमेव रसवार्ता॥

अवस्थानुकृति ही है। (अवस्थानुकृतिर्नाटचम् – दशरूप)। यह अनुकृति अभिनय के द्वारा होती है। अभिनय के चार भेद होते हैं – आहार्य, आंगिक, वाचिक तथा सात्त्विक। आहार्य में सीन–सीनरी, वेषभूषा, अलंकार आदि का अन्तर्भाव होता है। आंगिक अभिनय में शरीर के अंगों के व्यापार अन्तर्भूत हैं। वाचिक अभिनय में नाटक की भाषा, वह बोलने की पद्धति, उच्चनीच स्वर आदि संमिलित है। एवं सात्त्विक अभिनय में स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च आदि सात्त्विक भावों के दर्शन के प्रकार आते हैं।। यह चारों प्रकार के अभिनय स्वतन्त्रतया उत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत होते हैं एवं उनमें संवादित्व रहता है तब नाटच सफल होता है। इनके औचित्यपूर्ण परस्पर सामंजस्य पर ही नाटच की सफलता अवलंबित रहती है। इनमें से हर एक प्रकार पूर्णरूप से प्रकट होना एवम् उसमें सौदर्य का आविर्भाव होना–– इसीको नाटचशास्त्र में '**अलंकार**' की संज्ञा है।

नाटच में सर्वप्रथम आहार्य अभिनय ठीक प्रकार से सिद्ध होना चाहिये। आहार्य अभिनय का अर्थ है नेपथ्य। नेपथ्य में वेष तथा सीनसीनरी दोनों का अन्तर्भाव होता है। नटों की रंगभूषा एवं रंगमंच की सजावट इतनी अच्छी बननी चाहिये कि उनके प्रस्तुत होते ही दर्शकों की स्थल, काल, आदि की संवेदना विगलित होकर वह प्रस्तुत किये हुए प्रसंग से समरस हो जाना चाहिये। आहार्य अभिनय की इस पूर्णता को '**नाटचालंकार**' अथवा '**नेपथ्यालंकार**' की संज्ञा दी गई है (२१।२-५)। नाटच में दूसरा महत्त्व का अंश है वाणी, अंग तथा सत्त्व का अभिनय। यह अभिनय रस के औचित्य से सिद्ध होने पर जो सौंदर्य निर्माण होता है उसे '**नाटचालंकार**' अथव '**सत्त्वालंकार**' की संज्ञा है (२२।३-४)। उत्तर काल में काव्यचर्चा में इस '**सत्त्वालंकार**' की हाव, भाव, हेला, माधुर्य, कान्ति आदि के रूप में विवेचना की गई है। इनके अतिरिक्त भरत ने पाठचालंकार और वर्णालंकार भी बताये हैं। भाषण करने में स्वरों की उच्चनीचता, धीरे से या त्वरा से बोलना आदि का औचित्य भी नाटच में रखना पड़ता है। यह औचित्य ही '**पाठचालंकार**' है (१७-१)। गायन के आरोह-अवरोह, स्थायी-संचारी स्वर आदि का सौंदर्य ही '**वर्णालंकार**' है (२९–१७)। इस प्रकार नाटच में रंगसज्जा (सीन्स्), वेष, आंगिक अभिनय, पाठच संगीत इन सभी का अपना सौंदर्य सिद्ध होना चाहिये। किन्तु इसके साथ मूल नाटचकृति भी सुंदर होनी चाहिये। नाटच कृति के सौंदर्य को नाटचशास्त्र में '**काव्यालंकार**' कहा है। नाटचकृति में कवि ने निर्माण किया हुआ सौंदर्य एवं अभिनय में नट ने निर्माण किया हुआ सौंदर्य इन दोनों के ठीक

---

११. यदा सर्वे समुदिता एकीभूता भवन्ति हि।
अलङ्कारः स तु तदा मन्तव्यो नाटकाश्रयः॥ (ना. शा. २७:९२)

सामंजस्य में सम्पूर्ण प्रयोग का सौंदर्य प्रतीत होता है। यही नाटचसिद्धि है। भरत न नाटचसिद्धि की विवेचना के लिए एक पूरा अध्याय लिखा है। नाटचसिद्धि की पूर्णता ही 'प्रयोगालंकार' है (११)।

भरतकृत काव्यालंकार तथा काव्यलक्षण

वाचिक अभिनय के संबन्ध में, नाटचशास्त्र में काव्यालंकारों का विचार किया गया है। काव्य के लिए इन चारों की अत्यंत आवश्यकता है—वह निर्दोष होना चाहिये। श्लेष, प्रसाद आदि गुणों से युक्त होना चाहिये। उपमा आदि अलंकारों से मंडित होना चाहिये। और सब से महत्त्वपूर्ण बात है वह लक्षणों से युक्त होना चाहिये। भरतमुनि ने कहा है—'काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः।' नाटचशास्त्र में उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक इन चार अलंकारों का निर्देश है। दश काव्यगुण तथा दश काव्यदोष बताए गए हैं। ये सर्वपरिचित हैं। इनके अतिरिक्त भरत ने ३६, काव्यलक्षण दिये हैं। वे उतने प्रसिद्ध नहीं हैं। इस लिए काव्यलक्षण क्या है यह देखना आवश्यक है।

नाटचशास्त्र में काव्यलक्षणों का काव्यालंकारों में परिवर्तन

नाटचशास्त्र में काव्यलक्षणों की परिभाषा नहीं है। केवल ३६ लक्षणों की तालिका (१२) एवम् उनके स्वरूप का वर्णन है। भरत के बाद जो काव्यचर्चा हुई उसमें काव्यलक्षणों का विवेचन प्रायः मिलता नहीं। भोज, शारदातनय और विश्वनाथ ने ये लक्षण दिये हैं। किन्तु उन्होंने वे केवल नाटच के आनुषगिक रूप में दिये हैं। जयदेव ने चन्द्रालोक में उनका निर्देश किया है किन्तु अन्य साहित्य-मीमांसकों ने उनका निर्देश तक नहीं किया। धनंजय का 'दशरूप' ग्रन्थ नाटच पर

---

१२. नाट्यशास्त्र में लक्षणों की दो तालिकाएँ मिलती हैं: एक उपजाति वृत्त में है और दूसरी अनुष्टुभ् छन्द में। इन दोनों में थोड़ा भेद है। उपजाति तालिका के लक्षण (ना. शा. अ. १६) निम्न प्रकार के हैं—

१. विभूषण	१०. अतिशय	१९. याञ्चा	२८. क्षमा
२. अक्षरसंघात	११. हेतु	२०. प्रतिषेध	२९. प्राप्ति
३. शोभा	१२. सारूप्य	२१. पृच्छा	३०. पश्चात्ताप
४. अभिमान	१३. मिथ्याध्यवसाय	२२. दृष्टान्त	३१. अनुवृत्ति
५. गुणकीर्तन	१४. सिद्धि	२३. निर्भासन	३२. उपपत्ति
६. प्रोत्साहन	१५. पदोच्चय	२४. संशय	३३. युक्ति
७. उदाहरण	१६. आक्रंद	२५. आशी	३४. कार्य
८. निरुक्त	१७. मनोरथ	२६. प्रियोक्ति	३५. अनुनीति
९. गुणानुवाद	१८. आख्यान	२७. कपट	३६. परिदेवन

ही लिखा है। किन्तु उसमें भी लक्षणों पर विवेचना नहीं। धनंजय तथा उसका टीकाकार धनिक दोनों का कथन है कि ये लक्षण उपमा आदि अलंकारों में तथा भावों में अन्तर्भूत हुए है (१३)। अभिनवगुप्त के अपने समय में भी काव्यविवेचना की जो भिन्न भिन्न पद्धतियाँ थीं उनमें लक्षणपद्धति थी नहीं। वे कहते हैं—

"भरत ने ठीक कहा था कि काव्यबन्ध ३६ लक्षणों से युक्त रहना चाहिये। किन्तु गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति आदि काव्यपद्धतियाँ जिस प्रकार प्रसिद्ध हैं उस प्रकार लक्षण नहीं हैं।" (१४) तब भरत के समय में जिनका महत्त्व माना गया था उन लक्षणों का आगे चलकर लोप कैसे हुआ? धनिक के कथन के अनुसार उनका भाव तथा अलंकारों में परिगणन हुआ यह स्वीकार करनेपर भी यह प्रश्न शेष रहता है कि उनका परिगणन अलंकारों में तथा भावों में कैसे हुआ इसका कुछ पता लगता हो तो देखें।

भरत ने लक्षण तथा अलंकारों को परस्परभिन्न माना है। पर काव्यशोभा-करत्व का धर्म दोनों के लिए सामान्य है। उन्होंने उपमा आदि को अलंकार कहा है और लक्षणों को काव्यविभूषण कहा है (१५)।...किन्तु दोनों से भी सौंदर्यधर्म का ही अभिप्राय है यह बात स्पष्ट है।

नाटचशास्त्र में छत्तीस लक्षण और चार अलंकार हैं, एवं काव्य के अलंकारों की चर्चा में लगभग चालीस अलंकार दिये हैं; लेकिन लक्षण एक भी दिया नहीं। इसकी एक उपपत्ति यह हो सकती है कि भामह के समय तक लक्षणों का अलंकारों में पर्यवसान हो गया हो। लगभग भामह के काल में दण्डी हुआ। 'काव्यादर्श' में उसने स्पष्टरूप में लिखा है—

यच्च संध्यंगवृत्यंगलक्षणान्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः॥ (काव्यादर्श, २।३६६)

"अन्य शास्त्र में (नाटचशास्त्र में) जो संध्यंग, वृत्त्यंग, लक्षण आदि वर्णित हैं वे भी हमें अलंकार के रूप में स्वीकार है।" दंडी के समय में अलंकारों का विकल्पन चल ही रहा था। दण्डी कहता है—"अलंकार का अर्थ है काव्यशोभाकर धर्म। अलकारों का विकल्पन अभी चल ही रहा है। उनकी गणना कौन कर सकता है?

---

१३. दशरूप ४।८४ तथा उसपर वृत्ति देखिए।

१४. काव्यबन्धाः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः कर्तव्याः इत्युक्तम्। तत्र गुणालंकारादिरीतिवृत्तयश्च काव्येषु प्रसिद्धो मार्गः। लक्षणानि तु न प्रसिद्धानि।

१५. एतानि वा काव्यभूषणानि।
प्रोक्तानि वै भूषणसंमितानि॥ (१६।४१)

किन्तु पूर्व आचार्यों ने अलंकारों के विकल्पन का बीज पहले ही कहा हुआ है। उसी को परिष्कृत करने का यह हमारा प्रयास है (१६)।" इससे विस्पष्ट होता है कि दण्डी तथा भामह के समय से पूर्व ही अलंकार विकल्पन का सूत्र साहित्यकारों को ज्ञात हो गया था।

तर्क होता है कि अलकारों के विकल्पन का बीज लक्षणों के स्वरूप में पूर्व से ही उपस्थित था। लक्षणों के विषय में अभिनवगुप्त ने अपने गुरु भट्टतौत का यह मत दिया है—" लक्षणों के संयोग से अलंकारों में वैचित्र्य आता है। उदाहरणार्थ—गुणानुवाद नामक लक्षण से उपमा का योग होने से प्रशंसोपमा होती है। अतिशय नामक लक्षण से सम्बन्ध होनेपर अतिशयोक्ति होती है। मनोरथ लक्षण से संयोग होने पर अप्रस्तुत प्रशंसा होती है। मिथ्याध्यवसाय लक्षण के योग से अपह्नुति होती है और सिद्धि लक्षण के सम्बन्ध से तुल्ययोगिता होती है। इसी प्रकार अन्य अलंकारों के बीज का अनुसंधान करना चाहिये (१७)।" भट्टतौत के इस मत पर ध्यान देने से लक्षणों का शनैः शनैः अलंकारों में परिवर्तन कैसे हुआ यह स्पष्ट होने लगता है।

अलंकारों के विकल्पन में अथवा अलंकारों में वैचित्र्य लाने में पूर्व आचार्यों ने लक्षणों का उपयोग किस प्रकार किया होगा यह दण्डी के "अलंकार चक्रों" से भी विशद होता है। इस दृष्टि से दण्डी के अलंकारचक्र और लक्षणों में तुलना करना इष्ट होगा किन्तु स्थलाभाव के कारण वह यहाँ नहीं दी जा सकती।

साहित्यशास्त्र के विकास में, लक्षणों का अलंकारों में परिवर्तन होना एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अवस्था है। भरत से भामह तक के ग्रन्थकारों का विचार करने में यह अत्यंत उपयोगी है। नाटचशास्त्र से मुक्त हो कर जब काव्यचर्चा स्वतन्त्र रूप में प्रवृत्त हुई उस समय 'अर्थक्रियोपेत' नाटचकाव्य जिस प्रकार 'शब्दार्थमय' हुआ, उसी प्रकार 'लक्षणान्वित' काव्यबन्ध सालंकार होने लगा। भरत का 'काव्य-लक्षण' "काव्यालंकार' के नाम से प्रतिष्ठित हुआ और उसी नाम से अपने स्वतन्त्र मार्ग पर आगे बढ़ा। इन नई घटनाओं में नाटचशास्त्र के जिन बातों का उपयोग

---

१६. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कात्स्न्येंन वक्ष्यति।
किन्तु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्।
तदेव परिसंस्कर्तुमयमस्मत्परिश्रमः॥ (२।१,२)

१७. उपाध्यायमतं तु—लक्षणबलात् अलंकाराणां वैचित्र्यमागच्छति। तथाहि—गुणानुवाद-नाम्ना लक्षणेन योगात् प्रशंसोपमा। अतिशयनाम्ना अतिशयोक्तिः। मनोरथाख्येन अप्रस्तुत-प्रशंसा। मिथ्याध्यवसायेन अपह्नुतिः। सिद्धया तुल्ययोगिता। इत्येवमुत्प्रेक्ष्यम्।

किया गया उन सभी का अन्तर्भाव अलंकारों में होने लगा। इस प्रकार नई रचना करने में, शास्त्र के 'काव्यलक्षण' संज्ञा के स्थान पर 'काव्यालंकार' संज्ञा का प्रयोग होना आश्चर्य की बात नहीं है।

कई काव्यलक्षण निरुक्त तथा मीमांसा में पाये जाते हैं

भरत ने भी ये काव्यलक्षण कहाँ से प्राप्त किये ? नाटचशास्त्र के भरत से पूर्व रचे गये ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। इस हेतु नाटचशास्त्र में यह लक्षण कहाँ से आये इस बात का निश्चय नहीं हो सकता। किन्तु लक्षणों का सामान्य उद्‌गम स्थान कहाँ होगा इस विषय में कुछ तर्क किया जा सकता है और इस उद्‌गम का अन्वेषण इष्ट भी है। इससे लक्षणों की और अलंकारों की कल्पना तो स्पष्ट होगी ही, पर भामह की 'वक्रोक्ति' पर भी प्रकाश पडेगा।

भरत ने नाटचशास्त्र में उपमा, रूपक और दीपक ये तीन अर्थालंकार दिये हैं। उनमें से उपमा और रूपक की परम्परा तो मिलती है। उपमा एक अति प्राचीन अलंकार है। यास्काचार्य के निरुक्त में उसका उल्लेख है (१८) किन्तु 'निरुक्त' में रूपक का उल्लेख नहीं है। निरुक्त से विदित नहीं होता कि उपमा से भिन्न अलंकार के रूप में रूपक की कल्पना यास्क को थी। उनकी दृष्टि में रूपक लुप्तोपमा ही था (१९)। पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' में उपमान, उपमित, सामान्यवचन आदि शब्द मिलते हैं। (२।१।५५, ५६)। किन्तु रूपक का स्वतन्त्र रूप में निर्देश नहीं है। बादरायण के 'वेदान्तसूत्रों' में उपमा और रूपक दोनों का स्पष्ट रूप में निर्देश है (२०)। इससे यह कहने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि ब्रह्मसूत्रों के समय में रूपक की स्वतन्त्र रूप से कल्पना की गई थी। इसके अनन्तर नाटचशास्त्र में इसका निर्देश पाया जाता है।

निरुक्त तथा वेदान्तसूत्रों में पाये जानेवाले उपमा तथा रूपक के बीज विकसित होते होते भरत तक आ पहुँचे इस प्रकार का मत सब विद्वानों ने एक स्वर से व्यक्त किया है। इन्हीं विद्वानों के मान्य मत की भूमिका पर आरूढ़ होकर अधिक निरीक्षण

---

१८. अथात उपमाः। यदेतत् तत्सदृशमिति गार्ग्यः। तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन व प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा अप्रख्यातं वा उपमिमीते, अथापि कनीयसा ज्यायांसम् (निरुक्त ३।१३)

१९. लुप्तोपमानि अर्थोपमानि इत्याचक्षते। (निरुक्त ३।१८)

२०. अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्। (ब्र. सू. ३।२।१८-)
आनुमानिकमप्येकेषां शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः दर्शयति च। (ब्र. सू. १-४-१)

करने पर विदित होता है कि नाटचशास्त्र के लक्षणों की परम्परा भी निरुक्त तथा पूर्वमीमांसा सूत्रों में ही है। निरुक्त के एक खण्ड में यास्क ने इस प्रकार कहा है—

"ऋग्वेद के सभी मंत्र एक प्रकार के नहीं है। कई मन्त्र परोक्षकृत हैं; कई प्रत्यक्षकृत हैं और कुछ थोड़े आध्यात्मिक भी हैं। कई मन्त्रों में केवल स्तुति ही पाई जाती है, आशीर्वाद नहीं होता; और कई मन्त्रों में केवल आशीर्वाद ही रहता है स्तुति नहीं। यह बात अध्वर्यु के एवं यज्ञविषयक मन्त्रों में विशेष रूप में पाई जाती है। कई मन्त्रों में ऋषि शपथ करते दिखाई देते हैं, और कई स्थानों में अभिशाप मिलते हैं। किसी स्थान में किसी तत्त्व का या परिस्थिति का कथन किया हुआ मिलता है। एवं कई ऋचाओं में परिदेवन अर्थात् विलाप किया हुआ मिलता है; और प्रसंगवश मन्त्रों में निन्दा अथवा प्रशंसा भी पाई जाती है। इस प्रकार, ऋषियों की मन्त्रदृष्टि अनेकानेक अभिप्रायों से युक्त पाई जाती है (२१)।" यास्काचार्य ने इन सब के उदाहरण दिये हुए हैं।

नानाविध अभिप्रायों को व्यक्त करने के ऋषियों के, ऋग्वेद में पाये जानेवाले कतिपय प्रकार यास्क ने उपर्युक्त उद्धरण में दिये है। इनमें से कई प्रकार नाटचशास्त्र के लक्षणों से मिलते जुलते हैं। नाटचशास्त्र के आक्रन्द, आख्यान, आशीः, प्रियोक्ति तथा परिदेवन ये लक्षण तथा निरुक्त के अभिशाप, आचिख्यासा, आशीः, प्रशंसा तथा परिदेवना यह प्रकार सजातीय ही हैं। इसके अतिरिक्त, निरुक्त यह शास्त्रनाम भी नाटचशास्त्र में स्वतन्त्र रूप में लक्षण बन चुका है।

जैमिनि की पूर्व मीमांसा एक और शास्त्र है जिस में वेदों के वाक्यों का अर्थ किया गया है। मीमांसा सूत्रों के दूसरे अध्याय के प्रथम पाद में ऐसे सूत्र हैं जिनमें जैमिनि ने मन्त्रों तथा ब्राह्मणों का स्वरूप कथन किया हुआ है। उनपर लिखे हुए भाष्य में शबरस्वामी ने पूर्व आचार्यों की कतिपय लक्षणकारिकाएँ दी हैं। मन्त्रों में कहीं आशी, कहीं स्तुति, कहीं संख्या, कहीं प्रलपित, कही परिदेवन, कहीं प्रैष और [illegible] पृष्ट, आख्यान, अनुषंग, प्रयोग, अभिधान (सामर्थ्य) आदि पाये जाते हैं। उसी प्रकार हेतु, निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, संशय, विधि, परकृति, पुराकल्प, व्यवधारणकल्पना तथा उपमान यह ब्राह्मण ग्रन्थों के दश लक्षण हैं ऐसा उन

२१. परोक्षाकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मंत्राः भूयिष्ठाः। अल्पशः आध्यात्मिकाः। अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वादः। ... अथापि आशीरेव न स्तुतिः। ... तदेतत् बहुल आध्वर्येव याज्ञेषु च मंत्रेषु। अथापि शपथाभिशापौ। ... अथापि कस्यचिद् भावस्य आचिख्यासा। ... अथापि परिदेवना कस्माच्चिद् भावात्। ... अथापि निन्दाप्रशंसे। ... एवमुच्चावचैरभिप्रायैः ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति। (निरुक्त ७।१।३)

कारिकाओं में कहा गया है (२२)। मीमांसकों ने दिये हुए मन्त्र ब्राह्मणों के अर्थात् वेदों के इन लक्षणों की नाटचशास्त्र के काव्यलक्षण से तुलना करने पर उनमें बहुत कुछ साम्य दिखाई देता है। कतिपय लक्षण तो सही सही एक ही है।

निरुक्तकार यास्क का कथन है कि मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों ने मन्त्रों में अपने उच्चावच अभिप्राय व्यक्त किये हुए है। जिन वैदिक [illegible] व्यक्त हुए उन वाक्यों के लक्षण मीमांसकों ने वर्गीकृत किये है। वैदिक वाङ्मय हमारा प्राचीनतम प्रधान वाङ्मय है। उस वाङ्मय का अर्थ करने के लिए एवं उसका स्वरूप निर्धारित करने के लिए निरुक्त तथा मीमांसा इन शास्त्रों की प्रवृत्ति हुई। इस यत्न में उन्हें स्तुति, निन्दा, आशीः, हेतु, आख्यान, आक्रन्द, परिदेवन, संशय, व्यवधारण आदि लक्षण प्राप्त हुए।

लौकिक वाङ्मय जैसा बनता गया, उसके भी स्वरूप का विचार होने लगा। ऋषि जिस प्रकार अपने उच्चावच अभिप्राय मन्त्रों में व्यक्त करते थे उसी प्रकार कवियों ने भी अपने विविध अभिप्राय काव्य में व्यक्त किये थे। कवियों के काव्य का अर्थ करने में एवम् उसके स्वरूप का निरीक्षण करने में जो अभ्यासक प्रवृत्त हुए थे वे भी विद्वान् थे। मीमांसा आदि शास्त्रों से उनका भी परिचय था ही। वे जब लौकिक काव्य का स्वरूप निर्धारित करने के लिए प्रवृत्त हुए और कवियों ने अपने अभिप्राय किस प्रकार व्यक्त किये हैं यह देखने लगे तब वैदिक ऋषियों के तथा इन कवियों के अभिप्राय व्यक्त करने की शैली में अनेक स्थानों में उन्होंने समानता पाई। काव्य की शैली का स्वरूप विशद करने में पूर्णरूप से नई परिभाषा का उन्होंने उपयोग किया नही, बल्कि पूर्व से ही रूढ परिभाषा का उन्होने उपयोग किया। ठीक ही है। "अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थ पर्वतं व्रजेत्?" वैदिक लक्षण बने बनाये थे ही। उन्हींका लौकिक काव्य के विश्लेषण में उन्होंने उपयोग किया। इस प्रकार निरुक्त तथा मीमांसा में निर्देशित वैदिक काव्यलक्षणों का काव्यचर्चा में अन्तर्भाव होकर उनसे काव्यलक्षण सिद्ध हुए।

---

२२. ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः॥
वृत्तौ लक्षणमेतेषामस्यन्तत्वन्तरूपता।
आशिषः स्तुतिसंख्ये च प्रलप्तं परिदेवितम्॥
[illegible]।
सामर्थ्य चांत मंत्राणा विस्तरः प्रायिको मतः॥ (तंत्रवार्तिक : मंत्रलक्षणाधिकरण)
हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशया विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना।
उपमानं दशैवेते विधयो ब्राह्मणस्य तु।
एतत् स्यात् सर्वं वेदेषु नियतं विधिलक्षणम्। (तंत्रवार्तिक : ब्राह्मणलक्षणाधिकरण)

निरुक्त तथा मीमांसा में निर्दिष्ट मन्त्रब्राह्मणों के लक्षणों की और नाट्यशास्त्र में कथित काव्यलक्षणों की परस्पर समानतापर ध्यान देने से एवं काव्यविवेचक पद-वाक्य-प्रमाण आदि शास्त्रों से परिचित रहते थे इस तथ्य पर दृष्टि डालने से उपर्युक्त तर्क करने में कोई बाधा नही होनी चाहिये। भारतीय काव्यविवेचना में शास्त्रीय कल्पनाओं का एवं परिभाषा का अनुपद उपयोग किया गया है। अनुमान, परिसंख्या, हेतु, काव्यलिंग आदि अलकार शास्त्रीय कल्पनाओं पर आधारित हैं यह सर्वप्रसिद्ध है। इन अलंकारों की मूल कल्पनाएँ शास्त्र मे है। किन्तु इन कल्पनाओं की सहायता से कवि ने काव्य में वैचित्र्य [illegible] करने पर उनका काव्यशास्त्र में अलंकार के रूप में संनिवेश हुआ। संभव है कि ठीक इसी प्रकार लक्षणों का भी शास्त्र से काव्य में प्रवेश हुआ। निरुक्त में उपमा पर विवेचन मिलता है, पूर्व मीमांसा में उपमान पाया जाता है और वेदान्तसूत्रों में उपमान तथा रूपक उपलब्ध होते है। फिर काव्य के लक्षण अगर निरुक्त और मीमांसा में मिले तो आश्चर्य ही क्या है? और इसमें खूबी यह है कि इन सब की मीमांसा में 'लक्षण' ही की संज्ञा है। उपमान भी एक लक्षण ही है। अन्य शास्त्रों के लक्षणों को इस प्रकार एक बार काव्यशास्त्र में प्रवेश मिलने पर अन्य अनेक विषयों से अनेक बातें उसमें संमिलित होना स्वाभाविक था। जहाँ कहीं भाषण, लेखन आदि के प्रकारों के विषय में कुछ विधान होगा, सभवं है कि काव्यशास्त्र ने वहीं से उसे उठा लिया हो। कौटिलीय अर्थशास्त्र के ३१ वें अध्याय में किये हुए विवेचन में और नाटचशास्त्र के कतिपय लक्षणों में जो समानता है वह इस दृष्टि से महत्त्व रखती है। ग्रन्थविस्तार की आशंका से उनकी तुलना यहाँ नहीं की जा सकती।

नाटचशास्त्र के काव्य लक्षणों का संबन्ध निरुक्त तथा मीमांसा के वैदिक लक्षणों से किस प्रकार हो सकता है इस विषय में जो अनुमान पूर्व प्रतिपादन किया है उससे लक्षणों का इतिहास प्रकाशित तो होता है ही, और भी एक साहित्यसमस्या हल करने में उसकी सहाय्यता होती है। काव्यलक्षणों का स्वरूप क्या हो सकता है इस विषय में अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में भिन्न भिन्न दश मत उद्धृत किये है। उनमें से एक मत यह है—'कवेरभिप्रायविशेषो लक्षणम्।' इस संबन्ध में डॉ. राघवन् ने कहा है कि यह मत केवल काल्पनिक है और भरत के नाटचशास्त्र से इसका तनिक भी संबन्ध नहीं है (२३)। किन्तु हमारा किया हुआ अनुमान ठीक हो तो कह

---

२३. डॉ. राघवन् ने 'History of Lakshana' नाम से एक अच्छा लेख लिखा है। उसमें वे कहते हैं — "We are unable to have much light as regards the fifth view on which we have a brief remark. It says, [illegible] कवेरभिप्रायविशेषो लक्षणमिति ... The curious and purely speculative views, the connection of which with भरत's own view we do not see at all are the views No. 4...and No. 5 which takes लक्षण to be अभिप्रायविशेष—"

सकते है कि यह मत निरुक्त के अभ्यासक साहित्यरसिक का होगा और फिर इसमें केवल काल्पनिकता का कोई अंश नहीं रहता।

काव्य का रसिक अगर अन्य शास्त्रों से परिचित रहा तो उनके [illegible] का परिणाम उसकी काव्यचर्चा पर होता है। संस्कृत ग्रन्थों में की गई काव्यचर्चा में इसका पग पग पर प्रमाण मिलता है। लक्षणों के संबन्ध में उद्धृत किये हुए अनेक मतों में अभिनवगुप्त ने एक मत यह दिया है—"इतरेषां तु मतं यथा तन्त्र-प्रसंगबाधातिदेशादि मीमांसाप्रसिद्धं वाक्यविशेषव्यवच्छेदलक्षणम्, तथा काव्य-विशेषव्यवच्छेदकं भूषणादिलक्षणजातम्।" मीमांसा से दृष्टान्त देकर काव्यलक्षणों का स्वरूप कथन करनेवाला यह अज्ञात शास्त्रज्ञ मीमांसा से परिचित होगा यह समझने में कोई कठिनाई नही हो सकती। इसी तरह, साहित्य के जिस रसिक ने निरुक्त में निर्देशित वैदिक लक्षणों से वैदिक ऋषियों के उच्चावच अभिप्रायों की कल्पना की उसने काव्य के लक्षणों की उत्पत्ति कवि के अभिप्रायविशेष से मान ली तो आश्चर्य की बात नहीं है। निरुक्त में कहा है कि वैदिक मन्त्रों में कवियों के उच्चावच अभिप्राय है और मीमांसा में निन्दा, स्तुति, आशीः, प्रशंसा आदि अभिप्रायों को 'लक्षण' की संज्ञा है। इसका अर्थ यह होता है कि वैदिक मन्त्रों में कवियों के उच्चावच अभिप्राय व्यक्त होते हैं यह शास्त्रकारों का मत विस्पष्ट है। तब यही लक्षण अगर काव्यचर्चा में लिए गए तो उनसे कवि के अभिप्रायविशेष व्यक्त होने में क्या आपत्ति हो सकती है?

निरुक्त तथा मीमांसा इन शास्त्रों से काव्यचर्चा में लक्षण लिए गए। वैदिक वाङ्मय और लौकिक वाङ्मय जिस प्रकार सर्वथा भिन्न है ठीक वैसे ही उनकी विवेचना के शास्त्र भी भिन्न है इस भूमिका से यह विवेचन हुआ। किन्तु वेदही—विशेष रूप में ऋग्वेद तथा आथर्वणवेद—एक काव्यसंग्रह है इस बात को अगर मान लिया गया (२४), तो कहा जा सकता है कि उनके अर्थ की विवेचना के शास्त्र मे, स्थूल रूप में क्यों न हों, काव्यचर्चा हुई है। और इस प्रकार की चर्चा निरुक्त तथा मीमांसा में उपलब्ध है भी। निरुक्त के उपमाविषयक परिच्छेद तथा मीमांसा के लक्षण-विषयक विचार दोनों काव्यचर्चा के अंग हो सकते हैं। मीमांसा का अर्थवादप्रकरण तो स्पष्टरूप में काव्यचर्चा ही का एक अंग है। वेद के परोक्षकृत मन्त्रों के नाम से जिन मन्त्रों का निरुक्तकार निर्देश करते हैं वही मन्त्र मीमांसक अर्थवादप्रकरण में लेते हैं। यास्क के निर्दिष्ट परोक्षकृत मन्त्र और काव्य की वक्रोक्ति इन दोनों में तत्वतः कोई भेद नहीं है। और "नासत्यमस्ति किंचन काव्ये स्तुत्यर्थमर्थवादोऽयम्।" इस

---

२४. ऋग्वेद एक काव्यसंग्रह है यह अन्यत्र दर्शाया है। देखें—'युगवाणी', (मराठी) जनवरी, १९५१

प्रकार काव्य की कल्पित वस्तु एवं अर्थवाद दोनों में शास्त्रकारों ने ही मेल करा दिया है।

भरतमुनिकृत लक्षणों का सामान्य स्वरूप अब हम देख सकते हैं। जहाँ तक हो सकें अभिनवगुप्त के ही शब्दों में हम इसे समझ लेंगे। ३६ काव्यलक्षणों का संग्रह देने के पश्चात् भरत ने अन्त में कहा है——

षट्त्रिंशदेतानि तु लक्षणानि।
प्रोक्तानि वै भूषणसंमितानि॥
काव्येषु **भावार्थगतानि** तज्ज्ञैः।
सम्यक् प्रयोज्यानि यथारसं तु॥ (ना. शा. १६।४२)

यहाँ 'भावार्थगतानि' पद के विवरण में अभिनवगुप्त कहते हैं——" यथारसं ये भाव विभावानुभावव्यभिचारिणः, तेषां योऽर्थः स्थायीभावरसीकरणात्मकं प्रयोजनान्तरम्, गतानि प्राप्तानि। यत्-अभिधाव्यापारोपसंक्रान्ता, उद्यानादयोऽर्थाः तद्रसविशेष-विभावादिभावं प्रतिपद्यन्ते, तानि लक्षणानि इति सामान्यलक्षणम्। अत एव काव्ये सम्यक् प्रयोज्यानि इति तेषां विषय उक्तः।" (अ. भा. भाग, २, पृ. २९८)।

" लक्षण भावार्थगत है। भाव का अर्थ है तत्तद् रस के लिए उचित विभाव, अनुभाव और संचारी भाव। अर्थ यानी प्रयोजन। यह प्रयोजन है स्थायी भावों का रसीकरण। काव्य में वर्णित विषय लौकिक ही होते हैं। किन्तु ये उद्यान आदि लौकिक विषय भी जिसके कारण विभावत्व आदि में संक्रांत होते हुए रसत्व को प्राप्त होते हैं वह है लक्षण।" लौकिक व्यवहार में उद्यान आदि पदार्थ भावों के कारण होते हैं। किन्तु काव्य में अभिधाव्यापार के कारण उनका स्वरूप पूर्णरूपेण परि-वर्तित हो जाता है तथा वही पदार्थ रसोचित विभाव के नाते उपस्थित होते हैं। लौकिक पदार्थ रसोचित विभावों में जिससे परिणत होते हैं वह कवि का अभिधा-व्यापार ही लक्षणों का बीज है। इसी हेतु भरतमुनि ने कहा है कि लक्षणों का यथा-रस अर्थात् रस के लिए उचित रूप में उपयोग करना चाहिये। सारांश, लौकिक पदार्थों की रस के लिए उचित रूप में जिससे योजना होती है वह कवि का अभिधा-व्यापार ही लक्षणों का सामान्य लक्षण है। अपने इस कथन की पुष्टि के लिए अभिनवगुप्त भट्टनायक का प्रमाण उपस्थित करते हैं——

भट्टनायकेनाऽपि अत एव [illegible]-

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः।
अर्थे तत्त्वेन युक्ते तु [illegible]॥
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत्॥

भट्टनायक की संमति में भी 'व्यापारप्राधान्य' ही काव्य की विशेषता है। वे कहते हैं, "शास्त्र भिन्न वाङमय है, जिसमें शब्दप्राधान्य का ही आश्रय किया जाता है। जिसमें अर्थ का ही प्राधान्य होता है वह वाङ्मय आख्यान (इतिहास-पुराण) है। इसके विपरीत, वाङमय के उस भेद को जिसमें शब्द तथा अर्थ दोनों का गुणीभाव रहता है और व्यापार का ही प्राधान्य रहता है—काव्य की संज्ञा दी जाती है।" सारांश, कवि का अभिधाव्यापार ही काव्यलक्षण है।

यह अभिधाव्यापार कवि की उक्ति में रहता है। कवि का उक्तिविशेष ही काव्य की विशेषता है। शास्त्र एवं काव्य दोनों में शब्द तथा अर्थ तो समान ही रहते हैं। किन्तु उन्हीं शब्दार्थों को कवि अपने काव्य में ऐसे औचित्यपूर्ण रीति से प्रयुक्त करता है कि वे ही शब्दार्थ रसवृत्ति में पर्यवसित होते हैं। यही कविव्यापार है। वक्रोक्ति भी इसीका एक पर्याय है। अभिनवगुप्त ने कहा है—"बन्धो, गुम्फः, भणितिः वक्रोक्तिः, कविव्यापारः, इति हि पर्यायात् लक्षणं तु अलंकारान्तरमपि न निरर्थकम्।"

"वक्रोक्ति" शब्द से भामह का भी कविव्यापार से ही अभिप्राय है। अभिनवगुप्त ने कहा है—"भामहेनापि—'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते' इत्यादि। तेन च परमार्थे कविव्यापार एव लक्षणम्।" भामह का कथन है कि वक्रोक्ति से अर्थ का विभावन होता है। कविव्यापार ही अर्थ के विभावन का एकमात्र मार्ग है। अर्थ यह कि, वक्रोक्ति संज्ञा से भामह को कविव्यापार ही अपेक्षित है।

रसोचित अथवा रसानुगुण शब्दार्थरचना ही इस कविव्यापार का स्वरूप है। इसी तथ्य को आनन्दवर्धन 'ध्वन्यालोक' में इन शब्दों में कहते हैं—

> वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
> रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः॥ (३।३२)

रसों को तथा भावों को ही काव्यार्थ के नाते मुख्यत्व देकर उनके लिए उचित शब्दार्थों का उपनिबन्धन ही कविव्यापार है। इसीको मम्मट ने—"शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसांगभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत् काव्यम्—लोकोत्तरवर्णनानिपुण-कविकर्म—" कहा है। यही काव्यलक्षण का सामान्य लक्षण है। अभिनवगुप्त कहते हैं—"चित्तवृत्त्यात्मकं रसं लक्षयन् तद्रसोचितविभावादिसंपादक: विशिष्टोऽभिधा-व्यापारो लक्षणशब्देन उच्यते।" (अ. भा. भाग २, पृ. २९७)।

इस प्रकार भरतमुनि का लक्षण एवं भामह की वक्रोक्ति, दोनों भी कवि के अभिधाव्यापार के ही द्योतक हैं। नाटचशास्त्र के लक्षणों के स्थान पर काव्यचर्चा के स्वतन्त्र युग में 'वक्रोक्ति' किस प्रकार आ चुकी यह अब विदित होगा। किन्तु

नाटच के लक्षणों के स्थान पर वक्रोक्ति आई इतना ही इसका अर्थ नहीं है। नाटच के लक्षणों का कार्य है अर्थों का विभावन। वह कार्य काव्य में वक्रोक्ति ने सम्पन्न करना आरम्भ किया। [illegible] 'अनयाऽर्थो विभाव्यते' इस प्रकार स्पष्ट रूप में बताया है। लक्षणों से अलंकारों में वैचित्र्य सिद्ध होता है यह भट्टतौत का कहना है। 'कोऽलंकारोऽनया विना' यह भामह का कथन है। काव्यबन्ध लक्षणयुक्त रहना चाहिये 'यह भरतमुनि का कथन है और भामह कहते हैं— 'यत्नोऽस्यां कविभिः कार्यः।' सारांश, लक्षणों का स्वरूप, प्रयोजन, एवं परिणाम इन सब का संक्षेप भामह ने अपने वक्रोक्ति के विषय में लिखे हुए प्रसिद्ध कारिका में किया हुआ है—

> सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
> यत्नोऽस्यां कविभिः कार्यो कोऽलंकारोऽनया विना ।। (२।८५)

वेदार्थविवेचन में नैरुक्त तथा मीमांसकों को प्राप्त वैदिक लक्षणों का लौकिक काव्य में प्रयोग होने पर वे नाटचशास्त्र के काव्यलक्षण बन गए। इन काव्यलक्षणों के ही काव्यचर्चा के स्वतन्त्र युग में काव्यालंकार हुए, यह इतिहास हम अगले अध्याय में देखेंगे।

अ ध्या य ती स रा

काव्यचर्चा का स्वतंत्र संसार

लक्षण और अलंकार : कुछ उदाहरण

नाट्यशास्त्र में की गई काव्यचर्चा नाट्य की आनुषंगिक है, परन्तु भामह आदि की की हुई काव्यचर्चा स्वतंत्र है। काव्यचर्चा के स्वतन्त्र होने में, उसके अन्तर्गत जो बहुविध घटनाएँ घटीं उनमें लक्षणों का अलंकारों में परिवर्तन होना सबसे बड़ी एवं महत्त्वपूर्ण घटना है। इस घटना का पूरा इतिहास आज ज्ञात नहीं है। किन्तु ऐसे प्रमाण निश्चय ही दिये जा सकते हैं जिनसे इस बात की स्थूल रूप में कल्पना हो सकें। नाट्यशास्त्र में लक्षणों के संग्रह की दो तालिकाएँ हैं, एक उपजाति वृत्त में ग्रथित है और दूसरी अनुष्टुप् छन्द में। अभिनवगुप्त को दोनों तालिकाएँ ज्ञात थीं। उनमें से, गुरुपरंपरा से प्राप्त उपजाति (छंद) वृत्त में ग्रथित तालिका को उन्होंने मूल माना है तथा उसपर लिखी टीका में अनुष्टुप् तालिका का स्थान स्थान पर निर्देश किया है। दोनों तालिकाओं में से हर एक में छत्तीस छत्तीस ही लक्षण हैं। किन्तु सभी लक्षण दोनों में समान नहीं। केवल १७ लक्षण दोनों तालिकाओं में समान हैं, और १९ लक्षण भिन्न भिन्न हैं। इस प्रकार दोनों तालिकाओं में कुल मिलाकर कुल लक्षणों का योग (१७+१९+१९) –कुल ५५ होता है। इन में से कुछ लक्षण उदाहरण रूप लेकर उनके अलंकार किस प्रकार हुए यह देखें—

१. **शोभा** नामक लक्षण का स्वरूप यह है—

> सिद्धैरर्थैः समं कृत्वा ह्यसिद्धोऽर्थः प्रयुज्यते।
> यत्र श्लक्ष्णविचित्रार्था सा शोभेत्यभिधीयते ।।

शोभा लक्षण का यह स्वरूप '**तुल्ययोगिता**' अलंकार से मिलता है।

२. **निरुक्त** लक्षण—

निरवद्यस्य वाक्यस्य पूर्वोक्तार्थप्रसिद्धये।
यदुच्यते तु वचनं **निरुक्तं** तदुदाहृतम् ।।

इसमें **अर्थान्तरन्यास** का बीज है।

३. **संदेह** लक्षण—

अपरिज्ञाततत्त्वार्थं वाक्यं यत्र समाप्यते।
अनेकत्वाद्विचाराणां स **संशय** इति स्मृतः ।।

यह तो '**ससंदेह**' अलंकार का ही लक्षण (परिभाषा) हो सकता है।

४. **दृष्ट** लक्षण—

यथादेशं यथाकालं यथारूपं च वर्ण्यते।
यत्प्रत्यक्षं परोक्षं वा दृष्टं तत् वर्णतोऽपि वा ।।

यह '**स्वभावोक्ति**' है।

५. **गुणातिपात और गर्हण** लक्षण—

गुणाभिधानैर्विविधैः विपरीतार्थयोजितैः।
गुणातिपातो मधुरो निष्ठुरार्थो भवेदथ ।।
यत्र संकीर्तयन् दोषं गुणमर्थेन योजयेत्।
गुणातिपाताद् दोषाद् वा **गर्हणं** नाम तद्भवेत् ।।

यह दोनों लक्षण मिलाकर '**व्याजस्तुति**' अलंकार होता है।

६. **मनोरथ** लक्षण—

हृदयार्थस्य वाक्यस्य गूढार्थस्य विभावकम्।
अन्यापदेशैः कथनं **मनोरथ** इति स्मृतः ।।

यह '**अप्रस्तुतप्रशंसा**' हो सकती है एवं अभिप्राय व्यक्त करने के लिए आकार अथवा इंगित का उपयोग करने से '**सूक्ष्म**' अलंकार हो सकता है।

७. **प्रतिबोध** लक्षण —

कार्येषु विपरीतेषु यदि किंचित् प्रवर्तते।
निवार्यते च कार्यज्ञैः प्रतिषेधः प्रकीर्तितः ।।

उपर्युक्त '**मनोरथ**' लक्षण और यह '**प्रतिबोध**' मिलाकर '**आक्षेप**' अलंकार होता है (१)।

---

१. लक्षणानां च परस्परवैचित्र्यात् अपि अनन्तो विचित्रभावः। यथा मनोरथप्रतिषेधयोः संमेलनात् आक्षेपः। (अ. भा. भाग २, पृ. ३२१)

इस दृष्टि से लक्षण की ओर देखें तो लक्षण औचित्य के निकट आ जाता है। कवि के काव्य में शब्द, अर्थ, गुण तथा अलंकार इन सब की जो संघटना होती है उससे काव्यलक्षण निर्धारित होता है। इस प्रकार काव्य में औचित्य का निर्माण ही लक्षण का प्रयोजन सिद्ध होता है। अभिनवगुप्त भी लक्षण के विषय में, "परमौचित्यख्यापने प्रयोजनम्।" कहते हैं। इस दृष्टि से लक्षण अलंकारों का अनुग्राहक है इसमें तनिक भी संदेह नहीं रहता।

इस प्रकार कवि-व्यापार के बल से लौकिक वस्तु भी अलौकिक स्वभाव से काव्य में प्रकट होना यही लक्षण है (५)। यह लक्षण ही शब्दार्थमय काव्यशरीर है। इस शरीर के सौदर्य में वृद्धि जिनसे होती है वह है अलंकार। जिस प्रकार पृथग्भूत हार से रमणी विभूषित होती है ठीक उसी प्रकार पृथक् सिद्ध चन्द्र आदि उपमानों से वनितावदन आदि का सौंदर्य बढ़ कर प्रतीत होता है। किन्तु वर्णनीय वनितावदन आदि में इस प्रकार सौदर्य की वृद्धि होने का काव्य में एकमात्र कारण कवि की प्रतिभा ही है। रमणी का मुख और चन्द्र, दोनों लौकिक वस्तुएँ है तथा वे पृथक् सिद्ध हैं। यह लौकिक सृष्टि हुई। किन्तु कवि की प्रतिभा उनमें सादृश्य देखती है। इससे वे दोनों वस्तुएँ परिवर्तित होती हैं और प्रतिभा के द्वारा प्रकाशित होने के हेतु एक अनोखे संबन्ध से (उपमानोपमेयसंबंध) उपस्थित होती हैं तथा विशेष रूप में सुंदर प्रतीत होती हैं (६)। यही कवि की अलौकिक सृष्टि है।

इसी लिए, बिना लक्षणों का आश्रय किये हुए, अलंकारों को काव्य में स्थान नहीं है। लक्षण का अर्थ है कविव्यापार तथा कविव्यापार है कविप्रतिभा का शब्दार्थमय आविर्भाव। अलंकारों की ओर केवल सरसरी दृष्टि से देखने पर उनमें सादृश्य, अभेद, अध्यवसाय, विरोध आदि लौकिक व्यवहार के ही संबन्ध दिखाई देते हैं। परन्तु यह अलंकारों का केवल बाह्य कवच या ढाँचा है। यह ढाँचा अलंकार नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो 'गौरिव गवयः।' यह उपमा हो जाती और 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' यह ससंदेह हो जाता। किन्तु यह काव्यालंकार नहीं हो सकते। यह तो केवल लौकिक संबन्ध है। और इन लौकिक संबन्धों के रूप में जब अधिष्ठानभूत कविव्यापार या लक्षण प्रतीत होता है तभी उसे अलं-

---

५. ध्यान रहें कि काव्यस्थित विभावादिक अलौकिक होते हैं।

६. एवं कविव्यापारबलात् यदर्थजातं लौकिकात् स्वभावात् विद्यमानं तदेव लक्षणमित्युक्तम्। तस्य शरीरकल्पस्य अलंकारा अधुना वक्तव्याः। ...काव्ये तावल्लक्षणं शरीरम्। ...यथाहि पृथग्भूतेन हारेण रमणी विभूष्यते, तथा उपमानेन शशिना, तत्सदृशेन वा कविबुद्धिसामर्थ्येन परिवर्तमानत्वात् पृथक् सिद्धेनैव प्रकृतवर्णनीयवनितावदनादि सुंदरीक्रियते इति तदेव अलंकारः।

कारत्व प्राप्त होता है। इसी हेतु, अभिनवगुप्त का स्पष्ट रूप में कथन है कि, "काव्य-बन्धेषु काव्यलक्षणेषु सत्सु' यह शर्त प्रत्येक अलंकार में मूलतः गृहीत है (७)।' यही शर्त उत्तरकालीन ग्रन्थकारों ने 'वैचित्र्ये सति' इस रूप में निर्देशित की है।

इस विभाग की आवश्यकता

भरत ने काव्य का लक्षण–गुण–अलंकार इस प्रकार विभाग किया और हर विभाग का पृथक् विचार किया। परन्तु, 'इस प्रकार विचार करना वास्तव में असंभव है, कवि की उक्ति अखण्ड तथा एकघनस्वरूप होती है तथा कवि का या रसिक का अनुभव भी एक घनस्वरूप होता है' इस प्रकार आशंका उठा कर अभिनवगुप्त ने उसका समाधान किया है। वे कहते हैं—"पुरुष के बारे में उसके लक्षण, गुण, अलंकार आदि व्यवहार जैसे किया जा सकता, उस प्रकार काव्य के विषय में उसके लक्षण, गुण, अलंकार आदि व्यवहार किया नहीं जा सकता। पुरुष के सम्बन्ध में शरीर और चैतन्य में भेद स्पष्ट है। एवं कटक आदि अलंकार उन दोनों से भी भिन्न है यह भी स्पष्ट है। किन्तु काव्य के रचना के समय या काव्य के आस्वादन के समय इन लक्षण आदि की स्वतन्त्र रूप में प्रतीति नहीं होती। दण्डी ने काव्यशोभाकर धर्मों को अलंकार कहा है और प्रसाद आदि शोभाकर धर्मों को गुण कहा है। इसका अर्थ यही होता है कि दण्डी की संमति में गुणालंकार विभाग भी उपपन्न नहीं हो सकता।" इस प्रकार आक्षेप उपस्थित करते हुए अभिनव गुप्त समाधान करते हैं कि, "यह तो ठीक है। फिर भी कवि का काव्य-रचनासामर्थ्य अथवा रसिक का काव्यविवेचनासामर्थ्य ठीक प्रकार से समझने के लिए, इस प्रकार का कुछ न कुछ विभाग, चाहे काल्पनिक भी क्यों न हों—स्वीकार करना आवश्यक ही है (८)।"

परिणतप्रज्ञ कवि जिस समय काव्यरचना या नाट्यरचना करता है उस समय उसके काव्यव्यापार में कोई विशिष्ट क्रम होता ही है सो बात नहीं। यह

---

७. [illegible] सत्सु, इत्यनेन 'गौरिव गवयः' इति नायमलंकारः। (अ. भा. २।३२२)। 'ध्वन्यालोकलोचन' भी देखिए।

८. किं च पुरुषस्येव काव्यस्य लक्षणगुणालंकारव्यवहारो न युक्तः पुरुषस्य शरीरचैतन्यभेदात् कटकादीनां ततोऽपि भेदात्। काव्यस्यं पुनः विरचनकाले प्रतिपत्तिकाले वा प्रापकसत्तायां तेषामगणितत्वाच्च। दण्डिनापि 'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते' इति ब्रुवता गुणमध्य एव च तत्र प्रसादादीनभिदधता च गुणालंकारविभागोऽप्यसंभवी इति सूचितं भवति। सत्यमेतत्, किन्तु विरचनविवेचनसामर्थ्यसमर्थनाय अवश्यं काल्पनिकोऽपि विभाग आश्रयणीयः। (अ. भा. २।२९)

निर्माण किया हुआ लक्षरण है, यह प्रसाद है, यह ओजोगुरण है, यह अलंकार है इस प्रकार कवि को प्रतीति होती नहीं यह तो ठीक है। किन्तु जब हम उसकी कृति का अपोद्धार (विश्लेषरण) करते है उस समय हमें किसी न किसी क्रम की कल्पना तो करनी ही पड़ती है। कम से कम, महाकवित्व का आदर्श रखनेवाले कविशिष्यों के समक्ष इस प्रकार का क्रम तो अवश्य ही प्रस्तुत करना पड़ता है। "जिन्हें महाकवि की योग्यता प्राप्त करना हों उन्हें वे महाकवि किस मार्ग से गये यह बिना देखें काव्यसमृद्धि की सीढ़ी चढ़ जाना असंभव है।" यों कहकर अभिनवगुप्त कहते हैं, "शास्त्रदृष्ट क्रम का उल्लंघन होने से अनेक नाटककारों की बड़ी बड़ी गलतियाँ हुई दिखाई देती हैं। सभी कवि तो वाल्मीकि, व्यास, कालिदास या भट्टेन्दुराज नहीं होते। और इन कवियों में भी जो प्रतिभा का प्रकर्ष देखा जाता है वह भी पूर्वजन्म में किये हुए क्रमाभ्यास से उदित पाटव से ही प्राप्त हुआ हो (९)।"

लक्षणों के अलंकार कैसे हुए—

आज जो अलंकार माने जाते हैं उनमें लक्षरण समाविष्ट हुए यह कहने में अभिप्राय यह है कि नाटचशास्त्र के लक्षरण उत्तरकालीन काव्यचर्चा में अलंकारों के रूप में प्रकाशित हुए, और इसमें खूबी यह है कि इस बात का आरम्भ [illegible] ही में हुआ दिखाई देता है। भरत ने स्वीकार किये हुए अर्थालंकारों को थोड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखने से उनके कुछ विशेष ध्यान में आते हैं। भरत ने उपमा, रूपक तथा दीपक ये तीन अर्थालंकार माने हैं। ये तीनों भेद औपम्यमूलक हैं। उपमान तथा उपमेय की स्फुट प्रतीति (उपमा), उनमें अभेद (रूपक) तथा अनेक पदार्थों को एकत्र लाने से ध्वनित होनेवाला सादृश्य (दीपक) इन्हीं पर ये अलंकार आधारित हैं (१०)। उपमा की परिभाषा देने के उपरान्त भरतमुनि ने उपमा के प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी और किंचित्सदृशी ये पाँच भेद किये हैं। इस प्रकार भेद करने में किसी भी विभाजनसिद्धान्त (Principle of Division) का आधार नहीं लिया गया। किन्तु इनमें से प्रशंसोपमा एवं निन्दोपमा के भेद निश्चय ही लक्षरणकृत हैं। अभिनवगुप्त का कथन है कि इस प्रकार भेद करने का

---

९. महाकवीनां पदवीमुपात्तामारुरुक्षताम्।
नासंस्मृत्य पदस्पर्शान् संपत्सोपानपद्धतिः॥

क्रमोल्लंघने हि सति नाटकादि विरचयतां महान्तः प्रमादादपभ्रंशाः भवन्ति। नहि सर्वो वाल्मीकिर्व्यासः कालिदासो भट्टेन्दुराजो वा, तेषामपि प्राग्जन्मार्जितक्रमाभ्याससमुदितपाटवोत्पादितः....ज्ञानातिशयः। (अ. भा. २।२९३)

१०. देखें: अ. भा. २।३२१

मूल कारण 'तद्गतशरीरभेद' है। एवं यह शरीरलक्षण ही है यह भी उन्होंने ही अनेकश: कहा है।

भरतकृत लक्षणालंकारविभाग स्थूल रूप में है। भरत लक्षणों को 'काव्य-विभूषण' कहते हैं एवं वे 'भूषणसंमित' हैं ऐसा भी बताते हैं। उपमा के पाँच भेद करने के अनन्तर मुनि कहते हैं—

उपमाया बुधैरेते ज्ञेया भेदाः समासतः।
शेषा ये लक्षणेनोक्तास्ते ग्राह्याः काव्यलोकतः।। (१६।५६)

'नाट्यशास्त्र में किये गये भेदों से जो भिन्न दीखते हों ऐसे भेद लक्षणमुख से समझ लेने चाहिए' ऐसा इस श्लोक का अभिप्राय अभिनवगुप्त ने माना है। इस पर से विदित होता है कि 'निन्दोपमा' और 'प्रशंसोपमा' के दो लक्षणकृत भेद भरत ने स्वयं दिये और अन्य भेद लक्षणों पर से समझ लेने को कहा।

लक्षणमुख से अलंकार भेद करने का सूत्र एकबार अवगत कर लेने के बाद अलंकारप्रपंच का विस्तार होने में क्या देर थी? भरत ने स्वीकार किये हुए तीन अलंकारों में ही छत्तीस लक्षणों का वैचित्र्य प्रतीत होने पर ही कितने अलंकार होते हैं, और उनमें अन्यान्य अलंकारछटाओं के मिश्रण से सैकडों और सहस्रों अलंकारों की कल्पना की जा सकती है इसमें कोई संदेह नहीं (११)।

वास्तविकता यह है कि गुण और अलंकारों में भेद दर्शाने के लिए भरत ने जो रेखा खींची है वह अत्यंत सूक्ष्म है। उदाहरण के रूप में [illegible] लक्षण का स्वरूप ही मूलत: गुणालंकारों के उचित संनिवेश के रूप का है (१२), एवं गुणानुवाद नामक लक्षण भी एक उपमा ही है (१३), यह बात अभिनव-गुप्त के भी ध्यान में आई हुई है। दण्डी प्रभृति आचार्यों ने किये हुए उपमाभेदों की ओर ध्यान देने से, उनमें भेदक अंश लक्षण ही है यह स्पष्ट होगा (१४)। सारांश,

---

११. इत्येवम् उपमारूपकादीनां अलंकारत्वेन वक्ष्यमाणानां प्रत्येकं षट्त्रिंशल्लक्षणयोगात्, लक्षणानामपि च एकद्वित्र्याद्यवान्तरविभागभेदात् आनन्त्यं केन गणयितुं शक्यम्, इदानी शतसहस्राणि वैचित्र्याणि सहृदयैरुत्प्रेक्ष्यन्ताम्। (अ. भा. २।३१७)

१२. अलंकारैर्गुणैश्चैव बहुभिर्यदलंकृतम्।
भूषणैरेव विन्यस्तैस्तद् भूषणमिति स्मृतम्।।

१३. 'गुणानुवादो हीनानामुत्तमैरूपमाकृतः।' यह गुणानुवाद का स्वरूप है। अभिनव-गुप्त ने 'पालिता द्यौरिवेंद्रेण त्वया राजन् वसुंधरा।' यह पद्य उदाहरण के रूप में दिया है। यह गुणोत्कर्ष दर्शानेवाली उपमा ही है।

१४, ननु उपमेयमलंकारः। किमतः? उक्तं हि अलंकाराणां वैचित्र्यं लक्षणकृतमेव। अत एव दण्डिप्रभृतिभिः ये निरूपिता उपमाभेदाः, तत्र यो भेदकोंऽशः आचिख्यासासंशयनिर्णया-दिरर्थः स तादृक् पृथगलंकारतया न गणितः। (अ. भा.)

भरत से उत्तरवर्ती काल में किया गया अलंकारप्रपंच लक्षणकृत तो है ही, किन्तु उसका बीज भी नाटचशास्त्र में है यह स्पष्ट है।

अलंकारवैचित्र्य का बीज इस प्रकार नाटचशास्त्र में ही मिलता है। उधर भामह-दण्डी के ग्रन्थों में देखा जाता है कि लक्षणों के ही अलंकार बने। इसका अर्थ यह है कि भरत से लेकर भामह-दण्डी तक जो काल बीता उसमें अलंकारों की रचना चलती रही हो। संभव है कि, काव्यचर्चा प्रधानतः लक्षणमुख से होती थी इस हेतु काव्यचर्चा के लिए 'काव्यलक्षण' संज्ञा का प्रयोग हुआ हो। नाटचशास्त्र में काव्यचर्चा नाटच की आनुषंगिक है। उसमें स्वतन्त्र काव्यचर्चा के बीज हैं, फिर भी कुल चर्चा नाटचांगभत है इसमें कुछ सदेह नहीं। सभव है कि स्वतन्त्र काव्यचर्चा का प्रारम्भ जिस समय हुआ होगा उस समय में नाटचशास्त्र के काव्यलक्षण, दोष, गुण, अलंकार आदि प्रकरण पृथक् रूप में लेकर उसका उपयोग स्वतन्त्र रूप में काव्यविवेचन करने के लिए किया गया हो। जो रसिक यह चर्चा करते थे वेही 'काव्यलक्षणकारी' अथवा 'काव्यलक्षणविधायी' पडित हैं। संभव है कि इनके द्वारा की गई विवेचना में लक्षणकृत अलकारवैचित्र्य का स्वरूप और भी विशद होने लगा हो। भरत की निन्दोपमा एवं प्रशंसोपमा के समान नये शास्त्रकारों ने आचिख्यासोपमा, संशयोपमा, गुणोपमा आदि भेदों के स्वरूप विवेचित किये हों। इस प्रकार धीरे धीरे अलंकारचक्र प्रवर्तित हुए। संभव है कि इन अलंकारचक्रों से ही आगे चल कर अनेक स्वतन्त्र अलंकार उदित हुए हों।

हमें स्वीकार है कि, हमने ऊपर जो परम्परा सूचित की है उसकी पुष्टि में आज जितने चाहिए उतने प्रमाण हम उपस्थित नहीं कर सकते। किन्तु इतने प्रमाण निश्चय ही दिये जा सकते हैं जिनसे कि यह स्वीकार हो सकें कि ऐसी परम्परा का होना संभवनीय है। दण्डी अपने 'काव्यादर्श' में अलंकारचक्रों का विवेचन कर रहे हैं। इन अलंकारचक्रों में अनेक लक्षण समाविष्ट हुए हैं। कुछ लक्षणों को दण्डी स्वतन्त्ररूप में अलंकार भी मानते हैं। उपलब्ध ग्रन्थकारों में अलकार-चक्रों का विवेचन एक दण्डी मात्र करते हैं, परन्तु इस प्रकार के विवेचकों की उनके पूर्व एक परम्परा है। दण्डी कहते हैं, "अलंकारों का विकल्पन अभी चल ही रहा है, तो उनकी गणना कौन कर सकता है? किन्तु इस विकल्पन का बीज पूर्व आचार्यों-ने पहले ही दर्शित किया है। हम केवल उसका परिसंस्कार मात्र करते हैं (१५)।

---

१५. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कात्स्न्येन वक्ष्यति॥
किन्तु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्।
तदेव परिसंस्कर्तुमयमस्मत्परिश्रमः। (काव्यादर्श २। १,२)

यहाँ दण्डी ने परम्परा का निर्देश किया है। अलंकारचक्रों की कल्पना दण्डी की अपनी नहीं है। वह तो एक प्राचीन कल्पना है और उसका परिसंस्कार करके दण्डी उसे और भी अच्छे रूप में उपस्थित कर रहे हैं।

भामह के ग्रन्थ में भी ऐसा ही आधार मिलता है। भामह के पहले कई आलंकारिकों ने निन्दोपमा, प्रशंसोपमा और आचिख्यासोपमा इस प्रकार उपमा के तीन भेद किये थे। इस प्रकार विभाग करना भामह को स्वीकार नहीं है (१६)। यह उपमा भेद अलंकारचक्रों के भेदों के समान ही प्रतीत होते हैं वे लक्षणवैचित्र्य पर ही आधारित है। इसका अर्थ यह होता है कि लक्षणवैचित्र्य पर आधारित अलंकारचक्र भामह को भी ज्ञात थे। लक्षणवैचित्र्य से अलंकारचक्र और अलंकार-चक्र से स्वतन्त्र अलंकार इस क्रम से कई लक्षणों के अलंकार हुए और कतिपय लक्षण तो स्वतन्त्रतया 'अलंकार' ही माने गये। हेतु, मनोरथ, लेश और आशी यह चार ऐसे लक्षण है। इनके अलंकारत्व के विषय में आलंकारिकों में मतभिन्नता हुई। भट्टि का कहना है कि 'आशी' को अलंकार माना जाय। किन्तु भामह उसे अलंकार के रूप में स्वीकार करने के लिए राजी नहीं हैं। भामह-दण्डी के समय के पूर्व ही हेतु, मनोरथ (सूक्ष्म) और लेश इन लक्षणों को अलंकारत्व प्राप्त हुआ था। परन्तु भामह उनका अलंकारत्व स्वीकार नहीं करते और इधर दण्डी इन्हें उत्तम प्रकार के अलंकार बताते हैं (१७)। इससे प्रतीत होता है कि लक्षणों से भिन्न भिन्न प्रकारों से अलंकार बन रहे थे और इस तरह अलंकारों के बनने में कई बार मतभिन्नता भी होती थी।

लक्षणों से अलंकार बनने के इस काल में शास्त्रलेखन की भी एक विशिष्ट पद्धति थी। भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, तथा रुद्रट इन ग्रन्थकारों की लेखन की पद्धति एक ही है। पहले संग्रहकारिका देकर बाद में लक्षणकारिका देना यह सब की पद्धति है। इनमें से भामह की संग्रहकारिकाओं से कुछ महत्त्वपूर्ण परिणाम निकलते हैं। भामह ने कुल चालीस अलंकारों का विचार किया है। किन्तु उन सब का संग्रह एक स्थान पर दिया नहीं। उनके छोटे विभाग किये हैं। वे इस प्रकार हैं :—

---

१६. यदुक्तं त्रिप्रकारत्वं तस्याः कैश्चिन्महात्मभिः।
निंदाप्रशंसाचिख्यासाभेदादत्राभिधीयते।
सामान्यगुणनिर्देशात् त्रयमप्युदितं ननु॥ (भामह २। ३७,३८)

१७. हेतुः सूक्ष्मोऽथ लेशश्च नालंकारतया मतः। (भामह २। ८६)
हेतुः सूक्ष्मोऽथ लेशश्च वाचामुत्तमभूषणम्। (दण्डी २। २३५)

१. कई ग्रन्थकारों ने स्वीकार किये हुए पाँच ही अलंकार—अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक और उपमा।
२. इनके अतिरिक्त माने हुए और छह अलंकार — आक्षेप, अर्थान्तर-न्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति और अतिशयोक्ति।
३. हेतु, सूक्ष्म और लेश की अनलंकारता।
४. यथासंख्य और उत्प्रेक्षा।
५. कई ग्रन्थकारों की संमति में स्वीकृत स्वभावोक्ति।
६. प्रेयस् आदि तेईस अलंकार।

इन छोटे छोटे संग्रहों से प्रतीत होता है कि भामह से पूर्व ही आलंकारिकों ने भिन्न भिन्न अलंकारसमूह बनाये थे। भामह ने वे समूह लिए, उनके लक्षण और उदाहरण दिये और जहाँ मतभिन्नता थी वहाँ स्पष्ट शब्दों में उसका विवरण किया। इन अलंकारसमूहों के बनाने में वर्गीकरण का कोई भी सिद्धान्त नहीं है। इस लिए भामह ने स्वयं इन छह अलंकार वर्गों की कल्पना की होगी नही कहा जा सकता। प्रत्युत, 'इति वाचामलंकाराः पंचैवान्यैरुदाहृताः।', 'केषांचिन्मते', 'अन्ये जगदुः' इस प्रकार दूसरों के संग्रहों का आधार भामह ने ही दिया है। इस पर से इतना ही तर्क होता है कि भामह के पूर्व से ही अन्यान्य आलंकारिक अलंकारों की रचना कर रहे थे, भामह ने उनका संग्रह किया, विवेचन किया, कतिपय अलंकारों को अस्वीकार किया, और कतिपय अलंकार अधिक रचे। भामह के ग्रन्थ के दूसरे परिच्छेद में दिये हुए अलंकार अन्य ग्रन्थकारों ने पहले ही स्वीकार किये थे। भामह ने उनके लक्षण बनाए और स्वयंकृत उदाहरण दिये (१८); और तीसरे परिच्छेद में दिये हुए अलंकारों में से कई अलंकारों का उन्होंने स्वयम् निश्चय किया (१९)। दण्डी के समय में भी अलंकारों का विकल्पन जारी था। इतना ही नहीं, नाटच के सन्ध्यङ्ग, वृत्त्यङ्ग आदि का अलंकारत्व स्वीकार करने के लिए भी दण्डी सिद्ध थे।

काव्यचर्चा स्वतन्त्र होने का प्रयोजन

उपलब्ध ग्रन्थों से प्रतीत होता है कि भामह दण्डी के काल में (सन् ६००–७५० ईसवी) काव्यचर्चा नाटच से पृथक् होकर अपने बल पर खड़ी हो गई थी। भामह और दण्डीने स्पष्ट ही कहा है, "हम काव्य पर विचार करते हैं, काव्य का ही एक भेद नाटच है हम उसपर विचार नहीं करते, अन्य ग्रन्थकर्ताओं ने वह कार्य

---

१८. स्वयंकृतैरेव निदर्शनैरियं
मया पक्लृप्ता खलु वागलंकृतिः। (२।९६)

१९. गिरामलंकारविधिः सविस्तरः
स्वयं विनिश्चित्य मया धियोदितः। (३।५८)

किया है (२०)।" इतना ही नहीं, किसी शास्त्र की नई रचना करने में प्रतीत होने-वाले विशेष भी इस काल के ग्रन्थों में प्राप्त होते है।

किसी शास्त्र का अंगभूत होने के नाते जो विवेचित किया जाता था ऐसा अंश उस शास्त्र से जब पृथक् होता है और स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में जब उसकी विवेचना होना आरम्भ होता है, तब पृथक् होने के लिए उसे प्रयोजन की आवश्यकता होती है। नये शास्त्र से जिनकी उपपत्ति सिद्ध होती है ऐसी वस्तुओं का विपुल संग्रह उपलब्ध होने पर वह प्रयोजन निर्माण होता है। आधुनिक उदाहरण मनोविज्ञान का दिया जा सकता है। कुछ समय के पूर्व वह अध्यात्मशास्त्र (metaphysics) का एक अंश माना जाता था। किन्तु आज वह एक स्वतन्त्र शास्त्र बन चुका है। काव्यचर्चा के विषय में भी यही हुआ। वाचिक अभिनय के एक अंश के नाते काव्य-चर्चा नाट्य में थी। वही अब स्वतन्त्र रूप में होने लगी। यह चर्चा स्वतन्त्र होने के लिए क्या प्रयोजन हो सकता था?

संस्कृत और प्राकृत में महाकाव्य, मुक्तक और गद्यप्रबन्धों का बड़े पैमाने पर निर्माण इस स्वतन्त्र चर्चा का कारण था। यह वाङमय इतना विपुल था कि उसकी चर्चा शुरू होते ही, पहले जो नाट्यांगभूत नियम थे उनका स्वतन्त्र शास्त्र में परिणत होना आरम्भ हुआ। दण्डी और भामह, दोनों के ग्रन्थ देखने से अनुमान होता है कि काव्यरसिकों के सम्मुख गद्य, पद्य और मिश्र तीनों प्रकार का वाङमय था (२१)। गद्यवाङ्मय के दो भेद थे – कथा और आख्यायिका। नाटक आदि और चम्पू मिश्र वाङमय था। पद्यवाङमय के दो भेद थे–निबद्ध और अनिबद्ध। निबद्ध अर्थात् महाकाव्य, खंडकाव्य आदि प्रकार के काव्य। अनिबद्ध अर्थात् मुक्त काव्य। मुक्त काव्य के भी अनेक भेद होते थे। चार चरणों का मुक्तक, शरद्–वर्णन, द्रविडवर्णन आदि प्रकार के संघात, परिकथा, खंडकथा आदि और भी कई भेद रसिकों के समक्ष थे। और केवल संस्कृत ही में नहीं, अपितु प्राकृत और अप-भ्रंशों में भी इन सब प्रकारों में विशाल वाङ्मय निर्माण हुआ था। इन सब वाङ्मय प्रकारों में काव्य की विशेषताएँ रसिक जनों को प्रतीत होती थी। उनका वे ऊहापोह कर रहे थे। उनकी इसी विवेचना से काव्यचर्चा का स्वतन्त्र शास्त्र उदित हुआ।

उन्होंने देखा कि वाङ्मय के इन सब भेदों में सर्गबन्ध अर्थात् महाकाव्य का भेद सर्वसंग्राहक था। सर्गबन्ध की चर्चा करने में मुक्तक, संघात आदि का विवेचन

---

२०. उक्तं तदभिनेयार्थमुक्तोऽन्यैस्तस्य विस्तरः—भामह
मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तारः—दण्डी

२१. देखें:–भामह : काव्यालंकार १।१६–१८
दण्डी : काव्यादर्श १।११–३२

सहज ही होता था। इस लिए स्वर्गबन्ध को प्रधान मान कर उन्होंने काव्यरूप का विवेचन किया। किसी हालत में, सर्गबन्ध तो कथाकाव्य ही रहेगा। इस कारण वह नाटच के अधिक निकट था। उसकी रचना, कथावस्तु, विषय, रस आदि सब ही नाटच के समान ही रहते थे। इस लिए सर्गबन्ध का विवेचन करने में उन्होंने नाटच की पूर्व से सिद्ध परिभाषा का ही उपयोग किया। और जहाँ आवश्यक हुआ केवल वहीं नया विवेचन किया। इस तरह नाटचशास्त्र में किए हुए काव्य-विवेचन का ही स्वतन्त्र काव्यचर्चा में उपयोग किया गया।

इस दृष्टि से भामह द्वारा किया गया सर्गबन्ध का वर्णन देखनेलायक है। सर्गबन्ध अर्थात् महाकाव्य का विषय गंभीर होता है। उसका नायक धीरोदात्त रहता है। उसकी भाषा में वैदग्ध्य रहता है। उसकी कथा में निरर्थक बातें रहती नहीं। वह सालंकार रहता है और सदाश्रय भी होता है। मन्त्र, दूत, प्रयाण, युद्ध और अन्त में नायक का अभ्युदय आदि वर्णनों से वह युक्त होता है तथा उसमें समृद्धि अर्थात् ऋतु, चन्द्रोदय, उद्यान, पर्वत आदि का भी रमणिक वर्णन रहता है। यह सब होते हुए भी महाकाव्य व्याख्यागम्य या दुर्बोध नहीं होता। उसमें चतुर्वर्ग का प्रतिपादन होता है और वह नायक तथा प्रतिनायक के संघर्ष के द्वारा किया जाता है; एवं उसमें किया गया उपदेश नित्य अर्थोपदेश होता है, अनर्थोपदेश कभी नहीं। महाकाव्य की रचना पञ्चसन्धि से युक्त होती है। और प्रधानतः ऐसे काव्य में लोकस्वभाव और सभी रस स्फुट रूप से प्रतीत होते हैं (२२)।

महाकाव्य के इस वर्णन की नाटक के वर्णन से तुलना करने पर उनका आत्यंतिक परस्पर साम्य स्पष्ट रूप से प्रतीत होगा। भव्य और गंभीर विषय, उदात्त नायक, चतुर्वर्ग का प्रतिपादन, नायक का अभ्युदय, सदाश्रितत्व, पंचसंधि, लोकस्वभाव और विविध रसों की प्रतीति, ये सब महाकाव्य के लिए जिस मात्रा में आवश्यक हैं उसी मात्रा में नाटक के लिए भी। नाटच की समृद्धि महाकाव्य में चन्द्रोदय, ऋतु आदि के वर्णन में है। नाटक में सीनसीनरी और अभिनय से जो काम लिया जाता है वही महाकाव्य में वर्णनों से। इन वर्णनों का औचित्य भी नाटच के समान ही सँभालना पड़ता है। सारांश, नाटच दृश्य होता है और महाकाव्य श्रव्य होता है। इस एक भेद को छोड़ दिया जाय तो नाटच और महाकाव्य में अन्य कोई भेद नहीं। काव्य के सब प्रकार नाटच से ही कल्पित है (ततोऽन्यभेदप्रक्लृप्तिः।) ऐसा वामन ने स्पष्ट ही लिखा है। और इसी कारण से स्वतन्त्र रूप में काव्य की चर्चा करते समय साहित्य के पंडित नाटच की परिभाषा सही सही उठा ले सके।

---

२२. भामह : काव्यालंकार १।१९–२१

किन्तु नाटचशास्त्र के काव्यविवेचन का इस तरह उपयोग करने में उसकी मूल व्यवस्था में परिवर्तन होना अपरिहार्य था। मूल नाटचशास्त्र में की गई काव्यचर्चा वाचिक अभिनय की आनुषंगिक थी। नाटचगत रसप्रयोग का अर्थात् प्रयोगालंकार का एक विभाग काव्यालंकार था। किन्तु काव्यालंकार के नाम से नाटचशास्त्र में ज्ञात अंश अब स्वतन्त्र हुआ और उसीके आनुषंगिक रूप में अन्य सब अंगों की पुनर्व्यवस्था होना आरम्भ हुआ। इस प्रकार पुनर्व्यवस्था होने में जो एक महत्त्वपूर्ण [illegible] होना। इस रूपान्तर के कारण, अब काव्य की परीक्षा लक्षणमुख से न हो कर अलंकारमुख से होने लगी। एवं शास्त्र की 'काव्यलक्षण' संज्ञा लुप्त होकर 'काव्यालंकार' ही शास्त्रसंज्ञा बन गई। इस प्रकार स्वतन्त्र अलंकारशास्त्र उदित हुआ।

इस विकास का ग्रन्थगत प्रमाण

काव्यचर्चा नाटच की अंगभूत थी और वही नाटच की अंगभूत काव्यचर्चा पृथक् होकर अलंकारशास्त्र के रूप में परिणत हुई यह भामह, दण्डी, उद्भट और वामन के ग्रन्थों से भी स्पष्ट होता है। भामह और दण्डी दोनों नाटचशास्त्र से पूर्णरूपेण परिचित हैं तथा नाटच की विवेचना का स्वतन्त्र वाङमय दोनों भलीभाँति जानते हैं। इन दोनों ग्रन्थकारों ने 'सर्गबन्ध' का आदर्श अपने समक्ष रखा है और उसका वर्णन उन्होंने नाटचशास्त्र की परिभाषा में किया है। !'पंचभिः संधिभिर्युक्तम् भूयसार्थोपदेशकृत्।' युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।' इस तरह नाटच की परिभाषा में ही भामह काव्य का वर्णन करते हैं, और दण्डी भी 'चतुर्वर्गफलोपेतम्', 'चतुरोदात्तनायकम्', 'रसभावनिरन्तरम्', '[illegible]' कहते हैं। यह सब संज्ञाएँ नाटचशास्त्र में से हैं। इन पारिभाषिक संज्ञाओं का स्पष्टीकरण भामह अथवा दण्डी दोनों ने भी किया नहीं, इससे प्रकट है कि यह संज्ञाएँ उन्हों ने नाटचशास्त्र से मूल अर्थ में ही ले ली हैं और काव्यशास्त्र में उनका प्रयोग किया है। वामन तो और भी आगे बढ़कर स्पष्ट ही कहते हैं—"सर्गबन्ध, आख्यायिका आदि भेद, नाटच से ही कल्पित हैं एवं वे दशरूपक ही के विलास हैं (२३)।" दण्डी और वामन ने काव्यगुणों का विवेचन भरत से ही लिया है और दोषविवेचन में भी भरतोक्त दोष लिए हैं। 'चूर्ण', 'उत्कलिकाप्राय', और 'वृत्तगन्धि' ये गद्यभेद वामन ने साक्षात् नाटचशास्त्र से ही लिए हैं। दण्डी, उद्भट और वामन ने भरतोक्त रस निर्देशित किये हैं।[1] दण्डी स्पष्टरूप से कहते हैं कि स्थायीभाव रसपदवीतक पहुँचता

---

२३. ततो दशरूपकभेदात् अन्येषां भेदानां क्लृप्तिः कल्पनम् इति। दशकरूपकस्यैव इदं सर्वं विलसितं यच्च कथाख्यायिके महाकाव्यं च।

है। उद्भट तो नाटचशास्त्र के ही टीकाकार हैं तथा अपनी काव्यचर्चा में उन्होंने नौ रसों को प्रस्तुत किया है। वामन ने भी 'दीप्तरसत्वं कान्तिः।' सूत्र के विवरण में शृंगारादि रसों का निर्देश किया है।

काव्यगत गुणदोषों का विवेचन करने में आलंकारिक नाटचशास्त्र की परिभाषाओं (definitions) का पूरा उपयोग करते थे। मंगल नामक एक आलंकारिक इसी आरम्भ के काल में हुआ। ओजोगुण की विवेचना में भरत का किया हुआ लक्षण देकर वह उससे अपनी मतभिन्नता स्पष्ट करता है (२४)। इससे प्रकट है कि नाटचशास्त्र के मत लेकर आलंकारिक उनपर ऊहापोह करते थे।

केवल रस, अलंकार, गुण, दोष आदि का ही नहीं, तो संध्यंग, वृत्त्यंग, लक्षण आदि का भी उपयोग काव्यचर्चा में आलंकारिक करते थे। (काव्यादर्श २।३६७)। इन्हें भी काव्यचर्चा में दण्डी अलंकारों का स्थान देते हैं। नाटचशास्त्र से किये हुए विचारों के आदान का इससे और निःसंदेह प्रमाण क्या हो सकता है? तो इस हेतु, आरंभ में नाटचशास्त्र में अंग के रूप में स्थित काव्यचर्चा ही आलंकारिकों की पृथक् चर्चा का विषय हुई और उसीका अलंकारशास्त्र बना ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं।

भरत और भामह : भामह का पृथक् सम्प्रदाय नहीं

दण्डी, उद्भट और वामन के विवेचन का नाटचशास्त्र से संबन्ध कैसे आता है यह हमने उनके ग्रन्थों से देखा। आरंभकालीन काव्यशास्त्रकारों ने नाटचशास्त्र में किये गये काव्यविवेचन का आधार किस प्रकार लिया यह इससे स्पष्ट होगा। भामह भी एक आरम्भकालीन शास्त्रकार थे। इस लिए उन्हें भी यह नियम लागू करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। सामान्यतया ऐसा कर भी सकते थे। किन्तु इस प्रसंग में एक नई आपत्ति निर्माण हुई है। डॉ. शंकरन् आदि विद्वानों ने भामह को एक तरह से भरत के विरोधी सम्प्रदाय का [illegible]।

आरंभ में काव्यचर्चा नाटच की आनुषंगिक थी तथा आगे चल कर वह पृथक्

---

२४. 'तत्रावर्गीतस्य हीनस्य वा वस्तुनः शब्दार्थसंपदा यदुदात्तत्वं निषिंचन्ति कवयः तदोजः इति भरतः। अवगीतस्य हीनस्य वा वस्तुनः शब्दार्थयोः संपदा परमुदात्तत्वं निषिंचन्ति कवयः तर्हि तदनोजः स्यात इति मंगलः। (— काव्यप्रकाश की सोमेश्वर कृत टीका) भरत का ओजोगुण का लक्षण यह है — ' अवगीताविहीनोऽपि स्यादुदात्तावभावकः। यत्र शब्दार्थसंपत्त्या तदोजः परिकीर्तितम्॥ (चौखंबा. ना. शा. पृ. २१२)। मंगल के प्रतिभा व्युत्पत्ति आदि विषयों के संबन्ध में मत उत्तरवर्ती आलंकारिकों ने दिये हैं, इससे स्पष्ट है कि भामह आदि के समान वह भी एक आलंकारिक था।

हुई यह सिद्ध करने का हमारा प्रयास है। किन्तु एक मत ऐसा भी है कि संभवत: नाटचचर्चा और काव्यचर्चा दोनों पृथक् और परस्परनिरपेक्ष रूप में आरंभ हुई थी। नाट्य के विवेचक भरत तथा उनके अनुयायियों का एक वर्ग था और काव्य के विवेचक प्राचीन आचार्य दण्डी, भामह आदि थे। इसमें भी जो लोग भामह का समय दण्डी से पूर्व मानते हैं उनकी संमति में तो भामह की काव्यचर्चा केवल स्वतन्त्र ही नहीं अपितु भरत के रसप्राधान्य के विरोध में अग्रसर हुई होगी। डॉ. शंकरन् भामह के संबन्ध में लिखते हैं—

" The attitude of Bhāmaha to Rasa theory is distinctly that of a rival school of criticism; and this is clear from the scanty treatment that he accords to it. He who holds that Alaṁkāras exhaust the chief characteristics of poetry naturally brings Rasa also under an Alamkāra Rasavat (III -6). He further recognises two others–Preyas and Urjaswin–which represent the sentiment of spiritual love and consciousness of superior might (III. 5,7). But he betrays his knowledge of all the Rasas when he says, 'युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् (I-21)– meaning that in the drama all the Rasas should be delineated. " (*Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit,* p. 24).

श्रीरामस्वामी ने भी 'भावप्रकाशन' की प्रस्तावना में ऐसा ही मत प्रकट किया है। वे कहते हैं —

" The attitude of Bhāmaha towards the Rasa theory was not only unfavourable but hostile. He is exponent of a rival school of poetry. " (p. 20).

डॉ. सुशीलकुमार डे की भी संमति यही है। वे भामह को अलंकारवादी कहते हैं। उनका कथन है कि अलंकार रीति आदि मार्ग से चली हुई इस काव्य-चर्चा में आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त आदि ने नाटच की रसचर्चा ला कर इन दोनों विरुद्ध प्रवाहों का मिलन कराया। म. म. डॉ. पां. वा. काणे महोदय ने भरत को रससम्प्रदायी तथा भामह को अलंकारसम्प्रदायी बताया है। अधिकांश आधुनिक अभ्यासकों का यही अभिप्राय है। इस स्थिति में काव्यचर्चा नाटचचर्चा से ही निकली और स्वतंत्र हुई यह कैसे माना जा सकता है ? इस लिए, बिना इस मत की आलोचना किये, आगे कदम बढ़ाया नहीं जा सकता।

भामह ने रस का विरोधी आलोचना संप्रदाय (Rival School of Criticism) खड़ा किया, अपने इस कथन की पुष्टि में डॉ. शंकरन् ने निम्न-लिखित प्रमाण उपस्थित किये हैं—

१. भामह ने अपने ग्रन्थ में रसविचार को थोड़े ही में निपटा लिया।

२. भामह के मन्तव्य में अलंकार ही काव्य का विशेष है; इस लिए रस को भी वह रसवत् अलंकार वनाता है।

इन प्रमाणों की हम जाँच करें—

भामह ने अपने ग्रन्थ में पृथक् रसविवेचन किया नहीं। इतना निर्देश भर उसने किया और काम चलाया। परन्तु इससे भामह को रसों का भान नहीं था या भान हो कर भी वे उन्हें कम मानते थे ऐसा समझने की कोई आवश्यकता नहीं है। वामन ने भी अपने ग्रन्थ में रसों के सम्बन्ध में केवल 'शृंगारादयो रसाः।' इतना ही कहा है। किन्तु एक ही शब्द में रसविवेचन निपटाने पर भी वामन का ठोंस कथन है—"सम्पूर्ण काव्यभेद दशरूपक के ही विकल्प है। "संदर्भेषु दशरूपकं श्रेयः" इस वाक्य से वामन ने नाटच को वाङ्मय के भेदों में मूर्धन्यस्थान दिया है। वे नाटच में रसों का महत्त्व नहीं समझ पाये यह हम कदापि नहीं कह सकते। किन्तु वामन ने भी रसमीमांसा केवल एक ही शब्द में समाप्त की। इस लिए, रसनिर्देश के पद्यों की या पृष्ठों की संख्या से, ग्रन्थकार की रस के विषय में अनुकूल या प्रतिकूल प्रवृत्ति का नाप नहीं लिया जा सकता। भामह ने रस का रसवत् अलंकार में संनिवेश किया यह भी भामह रस को कुछ कम समझता था इस बात का द्योतक नहीं हो सकता। दण्डी ने आठों रसों के स्थायीभाव दे कर उनके रसत्व का विवेचन किया और उदाहरण भी दिये। इनके अतिरिक्त अन्य नाटचांगों का भी उन्होंने उल्लेख किया। इससे प्रकट है कि उनके मत का झुकाव भरत की ओर है। म. म. पां. वा. काणे महोदय भी कहते हैं कि, "भामह को अलंकारवादियों से विशेष समवेदना थी एवं दण्डी भरत के सम्प्रदाय के प्रति अधिक [illegible] थे।" किन्तु भरत के सम्प्रदाय के प्रति श्रद्धा होने पर भी दण्डी रसों का अन्तर्भाव रसवत् अलंकार में ही करते हैं। उद्‌भट तो नाटचशास्त्र के ही एक टीकाकार थे। और भरत के आठ रसों में शान्त रस की भरती करने की धीरता उन्होंने दर्शाई है। किन्तु वह भी काव्यगत रसों का निर्देश रसवत् अलंकार के नाम से ही करते हैं। तो क्या यह समझना ठीक होगा कि भरत के अनुयायी यह सब ही ग्रन्थकार रस के महत्त्व को नहीं समझ पाये थे? तो, दीप्तरस काव्य को रसवत् अलंकार कहने से भी भामह रस के विरोध की भूमिका पर खड़े हैं, यह नहीं कहा जा सकता। रसवत् अलंकार और रस का भी कुछ इतिहास है। वह इतिहास रसवत्-कान्तिगुण-रस इस क्रम से देखना चाहिये। उस इतिहास पर ध्यान देने से इन चिरन्तन ग्रन्थकारों को भी रस की पूर्ण रूप से कल्पना थी और महत्त्व भी ज्ञात था यह स्पष्ट होगा

(२५) । अलंकार शब्द का व्यापक अर्थ जो भामह को अभिप्रेत है— वह डॉ. शंकरन् तथा उनके मन्तव्य के अनुसारी लेखकों ने ध्यान में नहीं लिया। उन्होंने अलंकार का अर्थ आज के सीमित रूप में लिया। इस लिए रसवत् अलंकार देखने पर उनको भ्रान्ति हो गई।

भामह ने स्वतन्त्र रूप में रस का विवेचन नही किया; दण्डी, वामन और उद्भट ने भी वह नही किया; इस का कुछ कारण है। रसव्यवस्था तो पहले ही नाट्यशास्त्र में की गई थी। उसी रसव्यवस्था को उन्हों ने काव्यशास्त्र में ले लिया। काव्यशास्त्र में रसव्यवस्था लेने में इन प्राचीन आचार्यो ने उसका केवल अनुवाद मात्र किया। ऐसे निकट संबन्ध उस समय में काव्य और नाट्य के थे कि इस तरह केवल अनुवाद-मात्र करने से काम चल जाता था। प्राचीन ग्रन्थों में सिद्धानुवाद की इस पद्धति पर ध्यान देने से, उनमें रसचर्चा क्यों नहीं आई इस बात का कारण ध्यान में आता है और फिर उन्हें रस के विरोधी सिद्ध करने का प्रसंग आता नहीं। उन ग्रन्थों में रस का अनुवाद किया है इतना देखने मात्र से काम निकलता है।

भामह के ग्रन्थ में इस प्रकार अनेकशः अनुवाद किया हुआ मिलता है। काव्य का वर्गीकरण करते हुए उन्होंने एक भेद 'अभिनेयार्थ' का दिया है। 'अभिनेयार्थ' का अर्थ है काव्य का वह भेद जिसका अर्थ अभिनीत किया जाता है अर्थात् रूपक। इस काव्यभेद का विचार अन्य ग्रन्थकारों ने पहले ही किया हुआ था। इस लिए इसपर विचार करने की भामह के लिए कोई आवश्यकता नहीं थी। नाट्य की जिन बातों की उन्हें श्रव्यकाव्य की विवेचना के लिए आवश्यकता थी ऐसी बातों को उन्होंने नाट्य से ले लिया और उनका अनुवाद किया। इस तरह अनुवाद करने से ही भामह ने उन बातों को अपनी मान्यता दी है और निःसंदेह रूप में उनका स्वीकार किया है।

सर्गबन्ध का लक्षण करते हुए भामह 'पञ्चसंधि', 'लोकस्वभाव' और 'रस' का अनुवाद करते हैं। उनका कथन है कि महाकाव्य "पञ्चभिः संधिभिः युक्तम्" और "युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्" होना चाहिये। यहाँ उन्होंने नाट्य के 'लोकस्वभाव', 'रस' तथा 'नाट्य की संधियुक्त रचना' आदि सभी का स्वीकार किया है। महाकाव्य का नायक धीरोदात्त होना चाहिये, उनका चतुर्वर्ग से संबन्ध रहना चाहिये इस प्रकार स्पष्ट रूप में कथन करने के पश्चात् क्या यह प्रमाणित नहीं होता कि 'वस्तु, नेता तथा रस' इन सब का भामह ने स्पष्ट रूप में निर्देश किया है? ' सर्गबन्ध अर्थात् महाकाव्य में सभी रस स्पष्ट रूप से प्रतीत होना आवश्यक है इस कथन के बाद भामह का भरत के रस सम्प्रदाय से क्या विरोध हो सकता है?

२५. यह इतिहास उत्तरार्ध में रसप्रकरण में आएगा।

भामह ने रसों का स्पष्टरूप में निर्देश सर्गबन्ध के लक्षण में किया है इस बात को ध्यान में रखना नितान्त आवश्यक है। डॉ. शंकरन् भामह की उपर्युक्त पंक्ति का संबन्ध नाटक से जोड़ते हैं। " But he betrays (!) his knowledge of all the Rasas when he says युक्तं लोकस्वभावेन etc; meaning thereby that in the drama all the Rasas should be delineated. " ऐसा डॉ. शंकरन् कहते हैं, किन्तु इस प्रकार अर्थ करने में डॉ. शंकरन् की बड़ी भूल हुई है। प्रकृत उल्लेख सर्गबन्ध के लक्षण में है, न कि नाटक के लक्षण में। भामह ने सर्गबन्ध का वर्णन पहले परिच्छेद के १९ से २३ तक के श्लोकों में किया है। नाट्य का निर्देश श्लोक २४ में है। प्रकृत पंक्ति २१ वें श्लोक में है। यह पंक्ति और नाटक का निर्देश दोनों के बीच पूरे दो श्लोक हैं। इस लिए डॉ. शंकरन् की ओर से यहाँ अनवधान हुआ है यह भी कहा नहीं जा सकता। डॉ. शंकरन् यहाँ केवल पूर्वग्रह में बह गये हैं और इस लिए उनकी ऐसी गलती हुई है यह प्रकट है। उनका पूर्वग्रह यह है कि, " भामह अलंकारवादी हैं; वह रस का संनिवेश अलंकारों में करते हैं; उन्हें रस के विरोध में सम्प्रदाय प्रस्थापित करना है। "

तो फिर प्रश्न उठता है कि भामह वक्रोक्ति को इतना महत्त्व क्यों देते हैं? इस प्रश्न का उत्तर न दिया गया तो भामह के संबन्ध में यह जो भ्रान्ति है उसकी निष्कृति न होगी। नाट्य का अर्थ है रस। वह अभिनय से युक्त होता है इस लिए भामह ने नाट्य को " अभिनेयार्थ काव्य " कहा है। किन्तु सर्गबंध आदि काव्य में रस अभिनेय नहीं होता। वह शब्दार्थों के द्वारा प्रतीत होता है। किन्तु वह मनचाहे शब्दार्थों के द्वारा भी प्रतीत नहीं होता। काव्य में शब्दार्थ रस की अभिव्यक्ति के लिए समर्थ होने चाहिए। शब्दार्थों में रसाभिव्यक्ति का सामर्थ्य निर्माण करने के लिए उनपर वक्रोक्ति का संस्कार होना आवश्यक है। इसी कारण से भामह को काव्य में रस के साथ शब्दार्थवैचित्र्य की भी अपेक्षा है। काव्य तो रसयुक्त होना ही चाहिये, किन्तु जिनके द्वारा यह रस प्रतीत होता है उन शब्दार्थों का भी उतना ही महत्त्व है ऐसा भामह का कहना है—

> अहृद्यमसुनिर्भेदं रसवत्त्वेऽप्यपेशलम्।
> काव्यं कपित्थमामं यत्केषांचित्सदृशं यथा ।। (५।६२)

कितने ही कवियों का काव्य पाठक के हृदय पर असर नहीं कर पाता (अहृद्य); उसका अर्थ भी सरलता से नहीं लगाया जा सकता (असुनिर्भेदम्); ऐसा काव्य रसयुक्त होने पर भी कठोर ही (अपेशल) होता है। ऐसे काव्य को भामह कठबेल के कच्चे फल की उपमा देते हैं। (कपित्थवत्)। यह तो प्रसिद्ध है कि काव्य में द्राक्षापाक चाहिए, कपित्थपाक नहीं। काव्य में रस के साथ ही शब्दार्थों के वैचित्र्य का भी महत्त्व किस प्रकार है यह इससे स्पष्ट होगा।

इसी कारण से भामह वक्रोक्ति का इतना महत्त्व मानते हैं। वक्रोक्ति अर्थ-संस्कार है। यह संस्कार शब्दार्थों को रसवाहक बनाता है। वक्रोक्ति का विशेष विवेचन अगले अध्याय में किया जायेगा। यहाँ भामह के केवल एक वचन का अर्थ देखें। अतिशयोक्ति अलंकार के विवेचन में भामह कहते हैं—

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेतिशयोक्तिं तामलंकारतया यथा ।। (२।८१)

अतिशयोक्ति का अर्थ है लोकातिक्रान्तगोचर वचन; जनसाधारण की भाषा की शैली से भिन्न शैली की उक्ति। इस प्रकार की उक्ति का जब कवि विशेष कारणवश उपयोग करता है तब अतिशयोक्ति अलंकार होता है। निमित्ततः या हेतुतः उच्चारित लोकातिक्रान्तगोचर अर्थात् असाधारण शैली का वचन "अतिशयोक्ति" है। वर्णनीय वस्तु का गुणातिशय प्रकाशित करना (गुणातिशययोगतः) ऐसी उक्ति का निमित्त होता है। वर्णनीय वस्तु के किसी गुण को प्रकाशित करने के लिए कवि इस प्रकार की लोक-विलक्षण उक्ति का आश्रय करता है। इस प्रकार की उक्ति को ही 'वक्रोक्ति' कहा जाता है। इसी वक्रोक्ति के विषय में भामह कहते हैं—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः, **अनयार्थो विभाव्यते।**
यत्नोऽस्यां कविभिः कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ।। (२।८५)

इस प्रकार काव्य में सर्वत्र वक्रोक्ति ही ओतप्रोत है। इस वक्रोक्ति से ही अर्थ विभावित होता है। भामह की संमति में **लौकिक अर्थ के विभावीकरण अर्थात् विभाव में परिवर्तित होने का साधन वक्रोक्ति ही है**। इसी लिए उनका कथन है कि कवि को वक्रोक्ति के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिये। विना वक्रोक्ति के काव्य में अलंकार अर्थात् सौंदर्य आ ही नहीं सकता। 'अनयाऽर्थो विभाव्यते।' इस चरण का अर्थ श्री ताताचार्य ने 'काव्यार्थः [illegible] क्रियते।' इस प्रकार दिया है, तथा उसीके कारण से काव्य में अलंकारसौंदर्य अर्थात् चारुत्व किस प्रकार निर्माण होता है यह दर्शाने के लिए उन्होंने आनन्दवर्धन का आधार दिया है। अभिनवगुप्त ने भी अनेकशः कहा है कि गुण और अलंकारों से काव्य में लौकिक अर्थों का विभावीकरण होता है (अर्थ विभावित होता है) और उन्होंने इसी कारिका का आधार दिया है। और भी उन्हों ने 'लोचन' में कहा है कि भामह आदि ने शब्दचारुत्व का विवेचन रसानुगामित्व से ही किया है। यह सब ध्यान में लेने पर, स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि "वक्रोक्ति से अर्थों का विभावन होता है" यही भामह का अभिप्राय है। इस अभिप्राय को ध्यान में रखें तो, रसनिर्माण के जो नाटचगत (विभाव आदि) साधन हैं उन सभी का कार्य श्रव्य काव्य में वक्रोक्ति से होता है यह अर्थ प्राप्त होता है। अभिनवगुप्त की भी मान्यता है कि काव्य में

रसनिष्पत्ति की क्रिया है उसमें वक्रोक्ति नाट्यधर्मीस्थानीय है। अर्थ के विभावन का इस तरह से भामह ने किया हुआ स्पष्ट निर्देश तथा वक्रोक्ति और विभावन के उन्हें अभिप्रेत अन्योन्यसंबन्ध पर ध्यान देने के उपरान्त, "भामह को रस के विरोध में सम्प्रदाय स्थापित करना था" इस कथन में क्या सत्य हो सकता है इसका निर्णय स्वयं पाठक ही करें।

शृंगार आदि रसों का निर्देश भामह इस तरह करते हैं—

रसवत् दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसं यथा।
देवी समागमत् (छद्मस्करिण्यतिरोहिते) ।। (३।६)

काव्य में जहाँ शृंगार आदि रसों का स्पष्ट दर्शन होता है वहाँ अलंकार रसवत् हैं। भामह ने यहाँ बड़ा ही सुंदर उदाहरण प्रस्तुत किया है। स्पष्ट है कि भामह का अभिप्राय 'कुमारसंभव' के पाँचवें सर्ग में वर्णित प्रसंग से है। पार्वतीजी की परीक्षा करने के लिए शिवजी बटुवेष धारण कर के आए और उनके समक्ष शिव की अर्थात् अपनी ही मनचाही निन्दा की। पार्वतीजी को उस ब्रह्मचारी का भाषण भाया नहीं और उन्होंने उसे तीखे शब्दों में उत्तर दिया। किन्तु वह ब्रह्मचारी भी कुछ कम न था। वह फिर से कुछ बोलनेवाला ही था कि पार्वतीजी चिढ़कर वहाँ से जाने लगीं। कालिदास इस प्रसंग का वर्णन करते हैं—

इतो गमिष्याम्यथवेति वादिनी
चचाल बाला स्तनभिन्नवल्कला।
स्वरूपमास्थाय च तां कृतस्मितः
समाललम्बे वृषराजकेतनः ।।

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसांगयष्टि-
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ।।

"या तो मैं ही यहाँ से चली जाती हूँ।' यों कह कर वे उठ कर चलने लगीं। उनके स्तन पर पड़ा हुआ वल्कल निःसृत हो गया, किन्तु आवेग के कारण उनका उस तरफ ध्यान भी नहीं गया। उसी क्षण, शिवजी ने अपना सच्चा रूप धारण किया और मुस्कराते हुए उनका हाथ थाम लिया। शिवजी को देखते ही पार्वतीजी के शरीर पर रोमाञ्च भर आए। उनकी देह पर घर्मबिन्दु शोभायमान होने लगे, आगे चलने को उठाया हुआ पैर जहाँ के तहाँ रह गया। जैसे नदी की धारा के मार्ग में पहाड़ आ जाने से वह आकुलित होती है, वही स्थिति इस पर्वतकन्या की भी हुई। वह न तो आगेही बढ़ पाई और न खड़ी ही रह पाई!"

मुग्ध शृंगार का इस से बढ़कर मनोहर प्रसंग क्या हो सकता है ? पार्वतीजी के लज्जा, प्रेम आदि सात्त्विक भाव महाकवि ने यहाँ कितनी मृदुता से अभिव्यक्त किये हैं ! उनके आस्वाद से रसिकजन को शृंगार की प्रतीति भी कैसी हो रही है ! ऐसे प्रसंग से जिस भामह ने ' रसवत् ' काव्य का सौंदर्य दर्शित किया है वह रस के विरोध में सम्प्रदाय प्रस्थापित करना चाहता था यह कहना निरी धृष्टता है ।

परिचयात्मक ग्रन्थ में खंडनात्मक लेखन नहीं होना चाहिये यह बात हमें स्वीकार होने पर भी हमने इस प्रश्न पर कुछ विस्तार से विचार किया है। इसका कारण यह है कि साहित्यशास्त्र में भिन्नभिन्न मतसम्प्रदाय हुए ऐसा समझने की जो आधुनिक अभ्यासकों की प्रवृत्ति है वह हमारे विचार में ठीक नहीं है। भरत का रससम्प्रदाय, भामह का रस के विरोध में अलंकार संप्रदाय, वामन का रीतिसम्प्रदाय, आनन्दवर्धन का [illegible] इतने अधिक परिचित हुए हैं कि इस शास्त्र का कुछ विकास हुआ हो यह कल्पना हमारे मन को स्पर्शतक नहीं करती। हमारा सत्य मत है कि साहित्यशास्त्र की विचारधारा में विकास होता गया है और यह विकास उपलब्ध साहित्य ग्रन्थों के आधार से उपपन्न हो सकता है।

' दण्डी, उद्भट, वामन आदि के ग्रन्थों में किये गए निर्देशों से प्रतीत होता है कि नाट्य की अंगभूत काव्यचर्चा पृथक् हुई ' इस विचार के लिए अब भामह का भी अपवाद नहीं समझा जाना चाहिए। रस के विरोध में सम्प्रदाय निर्माण करने का भामह का प्रयास नहीं है। नाट्य में अर्थों का विभावन अभिनय के द्वारा होता है' भामह को यही दर्शाना है कि काव्य में अर्थों का विभावन वक्रोक्ति के द्वारा होता है। इस प्रयास का अर्थ रस के विरोध में सम्प्रदाय खड़ा करना नहीं होता। तो, नाट्य-शास्त्र और अलंकारशास्त्र में जो संबन्ध हमने दर्शाया है उसे स्वीकार करने में भामह की भी आपत्ति अब नहीं रहनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार का यह संबन्ध स्वीकार करने से ही अलंकारशास्त्र की कतिपय समस्याओं की ठीक प्रकार से उपपत्ति हो सकती है। भरत ने नाट्यशास्त्र में उपमा, दीपक, रूपक और यमक ये चार अलंकार दिये हुए हैं। वैसे ही निन्दोपमा, प्रशंसोपमा, कल्पितोपमा ये उपमा के भेद दिये हैं। भामह ने अपने अलंकारविवेचन के आरंभ में कहा है--

अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे।
इति वाचामलंकाराः पञ्चैवान्यैरुदाहृताः ।। (२।४)

भामह के पूर्व अनेक आलंकारिक हुए। उन्होंने अलंकारों के छोटे छोटे समूह किये थे। उन सब समूहों को एकत्रित करके भामह ने उनका विवेचन किया व स्वयंकृत उदाहरण दिये। इन आलंकारिकों में, अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक, और उपमा ये पाँच ही अलंकार माननेवाला एक आलंकारिक था। स्पष्ट रूप से

प्रतीत होता है कि इस अज्ञात आलंकारिक ने भरत के ही चार अलंकार लिए और उनमें अपना एक अलंकार—अनुप्रास—जोड़ दिया। भामह का ही कथन है कि भामह के पूर्व मेधावी ने यथासंख्य अलंकार अधिक माना था। यमक और अनुप्रास में निकट संबन्ध देखने पर यह कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये की संभवतः यह अज्ञात आलंकारिक मेधावी से भी पूर्वकालिक था। और तो क्या, हो सकता है कि भरत के अलंकारों में सर्वप्रथम अधिक अलंकारों की जोड़ देनेवाला वही हों। इस से भरत → अनुप्रास की जोड़ देनेवाला प्रकृत आलंकारिक → मेधावी, → भामह इस प्रकार से यह क्रम हम निश्चय ही निर्धारित कर सकते हैं। अब शेष रहे भामह के पूर्वकालिक अन्य आलंकारिक। उनमें से 'आशी' लक्षण को अलंकारत्व भट्टि ने दिया। अन्य आलंकारिकों में से कतिपय स्वभावोक्ति का अलंकारत्व मानते थे; कोई हेतु, सूक्ष्म (मनोरथ) और लेश इन लक्षणों का अलंकारत्व स्वीकार करते थे; और कई आलकारिकों ने निन्दोपमा, प्रशंसोपमा आदि भरतकृत विभाग में आशंसोपमा की जोड कर दी थी। इन सभी का विचार भामह ने अपने ग्रन्थ में किया है। यह तो प्रकट है कि इन सभी अज्ञात आलंकारिकों ने भरतकृत लक्षणों के ही अलंकार बनाये। इस लिए, यह निःसंदेह है कि भामह ने जिस सामग्री से अपने ग्रन्थ की रचना की वह सामग्री नाटचशास्त्र से ही पूर्वकालीन आलंकारिकों के द्वारा उत्तराधिकार के क्रम से भामह को प्राप्त हुई। सारांश, नाटचशास्त्र और अलंकारशास्त्र में यह उत्तराधिकार का संबन्ध न माना तो भामह ने निर्देशित किये हुए भामह पूर्व आलंकारिकों का प्रयास उपपन्न नहीं होता।

नाटचशास्त्र के कितने ही लक्षण मूलसंज्ञा लेकर ही उत्तरकालीन अलंकार-ग्रन्थों में अलंकारों के नाम से आए हैं। अलंकार का रूप धारण करने में कतिपय लक्षणों के नाम परिवर्तित हुए। फिर भी उनमें मूल लक्षणों का बीज बना हुआ है। दशरूप के टीकाकार धनिक का कथन है, "भरतकृत लक्षणों का अन्तर्भाव, हर्ष आदि भाव एवम् उपमा आदि अलंकारों में होता है।" नाटचशास्त्र में लक्षणों की दो तालिकाएँ हैं। उनमें उपजाति वृत्त में जो तालिका है उसमें दिये हुए लक्षणों में से अधिकांश लक्षण, हर्ष आदि भावों में आ गए हैं और अनुष्टुप् तालिका के अधिकांश लक्षण अलंकारों में आए हैं (२६)। इस प्रकार लक्षण और अलंकारों में मूलतः ही साम्य है। भेद इतना ही है कि नाटचशास्त्र के समय में 'काव्यलक्षण' के नाम से वे पहचाने जाते थे और उत्तरकाल में वे 'काव्यालंकार' के नाम से पहचाने जाने लगे। काव्यलक्षण से काव्यालंकारतक यह जो शास्त्र का विकास हुआ वह काव्यालंकार के नाटचानुगामित्व से ही उपपन्न होता है।

२६. देखिये: डॉ. राघवन् का लेख: *The History of Lakshana*

इसके अतिरिक्त साहित्यशास्त्र की प्राचीन संज्ञाओं का भी इससे अन्वय लगता है। क्रियाकल्प—काव्यलक्षण—काव्यालंकार—साहित्य ऐसी शास्त्र की संज्ञाओं की परम्परा है। नाटयकृति के लिए "क्रिया" शब्द तो प्राचीन ही है। "अर्थक्रियोपेत" यह नाटचकाव्य का भरतकृत लक्षण है। अर्थात् क्रिया शब्द यहाँ अभिनय का वाचक है। नाट्यशास्त्र में इस क्रिया का 'विकल्पन' बताया है। अतएव नाटचशास्त्र 'क्रियाविकल्पन' का या 'क्रियाकल्प' का ग्रन्थ है। नाटच के या अभिनेयार्थ के प्रायोगिक नियमों की संज्ञा 'क्रियाकल्प' है। काव्यलक्षण की अवस्था में काव्य के उच्चावच अभिप्रायों के वर्गीकरण का प्रयास है। ये हैं लक्षण। शब्दार्थो से लक्षणवैचित्र्य कैसे और किन प्रकारों से प्रतीत होता है इसके अनुसन्धान का प्रयास ही काव्यालंकार की अवस्था है। और 'साहित्य' है रसदृष्टि से शब्दार्थों के परस्पर साहचर्य की खोज का उपक्रम।

इस प्रकार अलंकारग्रंथों के प्रमाणों से ही यह स्पष्ट होता है कि काव्यचर्चा पहले पहल नाटच के आश्रय से होती थी; आलंकारिकों ने उसकी पृथक् रूप में विवेचना आरम्भ की; और इसी उपक्रम से अलंकारशास्त्र परिणत हुआ। इससे काव्यशास्त्र ग्रंथों की अन्य समस्याओं का भी अन्वय ठीक प्रकार से होता है। अतएव यह कहने में कोई आपत्ति नहीं कि, 'स्वांशे चारितार्थ्यं, वचनसिद्धिः, फलमन्यस्थलेष्वपि' के न्याय से यह बात 'ज्ञापितसिद्ध' हुई। भरत की नाटचशास्त्रांगभूत काव्यचर्चा, उससे निकली हुई भामह के पूर्वकालीन शास्त्रकारों की स्वतन्त्र काव्यलक्षणचर्चा और उससे परिणत हुई भामह की अलंकारचर्चा इस प्रकार का यह क्रम सिद्ध होता है तथा इस क्रम पर ध्यान देने से कह सकते हैं कि भामह रस के विरोधी तो हैं ही नहीं बल्कि उपलब्ध आलंकारिकों में भरत के प्रथम उत्तराधिकारी हैं।

प्राचीन बातों का नये उपक्रमों में परिवर्तन

स्वतन्त्र अलंकारशास्त्र के उदय होते ही लक्षणों के अलंकार तो हुए ही, किन्तु इसके अतिरिक्त शास्त्रव्यवस्था में और भी अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। पहली बात यह कि अलंकारशास्त्र अति विस्तृत हुआ। नाटचशास्त्र में काव्यचर्चा नाटच के लिए ही सीमित थी, किन्तु ये नये आलंकारिक, गद्य, पद्य, मिश्र इन भेदों को एवं संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि सब भाषाओं को लेकर अपना विवेचन करने लगे। इस नये ज़माने में पूर्वकालीन शास्त्रव्यवस्था में अनेक परिवर्तन हुए। वे इस प्रकार हैं—

पूर्व काल में काव्यचर्चा काव्य का एक अंग थी। अब नाटच ही काव्य का एक अंग हुआ। अब आलंकारिक कहने लगे कि नाटक या रूपक मिश्रकाव्य का एक भेद है। 'अभिनय' का स्थान शब्दार्थों ने लिया एवं 'नाटक' का स्थान 'महाकाव्य' को प्राप्त हुआ। नाटचशास्त्र में विवेचन नाटच के आश्रय से होता था, वही अब महाकाव्य के आश्रय से होने लगा। काव्यालंकार के काल में महाकाव्य नाटक का प्रतिनिधि कैसे बना यह नाटक और महाकाव्य में तुलना करने से प्रतीत होगा। भामह और दण्डी दोनों ने महाकाव्य के लक्षण दिये हैं। दोनों के किए हुए लक्षणों पर ध्यान देकर महाकाव्य और नाटक में तुलना करने से, नाटच के विविध विशेष अलंकारशास्त्र में किस प्रकार आये यह सरलता से समझ में आएगा। नाटक और महाकाव्य दोनों में कथावस्तु प्रख्यात होती है—अर्थात् वह इतिहास आदि से ली हुई रहती है। दोनों में नायक धीरोदात्त होते हैं। दोनों पंचसंधि से युक्त और रसभावनिरन्तर होते है। दोनों लोकस्वभावयुक्त और चतुर्वर्गफलोपेत होते हैं। और दोनों 'समृद्धियुक्त' होते है। महाकाव्य में समृद्धि का अर्थ है भिन्न भिन्न वैचित्र्ययुक्त वर्णन। भरत का भी नाटचसमृद्धि में [illegible] रचना के अर्थ से ही अभिप्राय है (२७)। सारांश, नाटक और महाकाव्य के विषय, अर्थ, रस और रचना एक ही होती है। भेद इतना ही है कि नाटक में ये सारी बातें अभिनय के द्वारा दर्शाई जाती है और महाकाव्य में उनका वर्णन शब्दों से करना पड़ता है।

इसका अर्थ यह होता है कि नाटकीय आहार्य, आंगिक और सात्त्विक अभिनय महाकाव्य में शब्दों से ही व्यक्त करना पड़ता है। नाटच में जो लोकस्वभाव और अवस्था अभिनय के द्वारा दर्शाई जाती है वह काव्य में शब्दों से ही व्यक्त होती है। नाटच में अर्थ और अभिनय का जोड़ रहता है तथा काव्य में अर्थ और उक्ति का। अतएव नाटचशास्त्र में काव्य का लक्षण '[illegible]नम्' इस प्रकार होता है तो काव्यालंकार में भामह 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इस प्रकार लक्षण करते हैं। भरत मुनि कहते हैं, "अनेकभेदबहुलं नाटचमस्मिन् (अभिनये) प्रतिष्ठितम्" तो दण्डी का कथन है कि "इष्टार्थव्यवच्छिन्नपदावलि" काव्य का स्वरूप है। महाकाव्य और नाटक इनमें इतना निकट संबन्ध होने से ही महाकाव्य को आदर्श रखकर

---

२७. 'समृद्धिमत्' शब्द भामह ने महाकाव्ये के लक्षण में प्रयुक्त किया है। उसमें भरत के 'समृद्धि' लक्षण का अभिप्राय गृहीत है। भामह ने भरत का विरोध नही किया प्रत्युत उनका अनुसरण किया इसका यह एक और प्रमाण है।

की गई काव्यचर्चा में, नाटचशास्त्र के सभी विशेषों का उपयोग आलंकारिक केवल अनुवादमात्र से कर सके (२८)।

भरत का बताया हुआ काव्यस्वरूप दृश्य काव्य के आश्रय से है और भामह आदि का बताया हुआ काव्यस्वरूप श्रव्य काव्य के आश्रय से है। भरत नाटचकाव्य के लिए 'काव्यबन्ध' शब्द का प्रयोग करते हैं तो भामह आदि महाकाव्य को 'सर्ग बन्ध' कहते हैं। नाटक और महाकाव्य में दर्शाये हुए उपर्युक्त साम्य पर ध्यान देने से इन दोनों संज्ञाओं का स्वारस्य और अधिक स्पष्ट रूप में प्रतीत होता है। नाटचसिद्धि होने के लिए अनेक प्रकार के अलंकार ठीक तरह से सिद्ध होने चाहिए। नाटच में नेपथ्यालंकार, नाटचालंकार, पाठचालंकार, वर्णालंकार, एवं काव्यालंकार ये सब 'एकीभूत होकर समुदित' होने पर ही 'प्रयोगालंकार' होता है तो काव्य में वर्णन, पात्रों के व्यापार, वृत्त, नाद, पाठच, शब्दार्थालंकार एवं गुण इन सब का औचित्ययुक्त मेल होने से काव्यालंकार होता है। इस काव्यालंकार को ही प्राचीन शास्त्रकारों ने 'प्रबन्धगुण' और भोज ने 'प्रबन्धालंकार' कहा है।

इस दृष्टि से अलंकारशास्त्र की ओर देखने से नाटचशास्त्र के किन विशेषों का अलंकारशास्त्र में किस रूप में परिवर्तन हुआ यह अविलम्ब ध्यान में आता है। नाटच में नेपथ्यालंकार ही काव्य में वर्णनों के द्वारा सिद्ध किया हुआ विभावौचित्य है; नाटच में नाटचालंकार ही काव्य में पात्रव्यापार के वर्णनों से सिद्ध किया हुआ अनुभावों का औचित्य है; पाठचालंकार ही काव्य में पाठचगुण है; वर्णालंकार ही छन्दों तथा वृत्तों का एवं परुष, नागरक, ग्राम्य वृत्तियों का औचित्य है, नाटच के लक्षण और अलंकार ही काव्य में शब्दार्थालंकार हैं; नाटच के गुणदोष ही काव्य के भी गुणदोष हैं; नाटच का 'प्रयोगालंकार' ही काव्य का 'प्रबन्धालंकार', 'प्रबन्धगुण' अथवा 'काव्यालंकार' है। नाटचांगों का 'एकीभूय समुदय' ही काव्य में सब काव्यांगों का "औचित्य" है। नाटच के विघ्न काव्य में रसदोष है एवं नाटचसिद्धि ही काव्य में रस की अभिव्यक्ति है। नाटचसिद्धि के लिए ही मुनि भरत 'रसप्रयोग' शब्द का उपयोग करते हैं। काव्य में भी कवि 'रसप्रयोग' ही करता है। अभिनवगुप्त का कथन है कि "काव्येऽपि सर्वो नाटचाय-

---

२८. महाकाव्य के लक्षण में आलंकारिकों ने केवल बाह्य अंगों का ही वर्णन किया ऐसा दूषण आधुनिक आलोचक प्राचीन शास्त्रकारों पर लगाते हैं। भामह या दण्डी की दस पाँच पंक्तियों को ही देखने से यह धारणा होना संभव है। किन्तु जहाँ 'अनूदित' अंश हो वहाँ अनुवादस्थल में अनूदित शास्त्र के सम्पूर्ण विवेचन का ग्रहण अपेक्षित होता है। शास्त्रविवेचन का यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त स्मरण रहना आवश्यक है। अनूदित अंश के साथ लक्षणों का विचार करने से उपर्युक्त दूषण के लिए अवकाश रहता नहीं।

मान एवार्थः". भामह कहते हैं—"अनयाऽर्थो विभाव्यते।" और भट्टतौत ने तो स्पष्ट ही कहा है कि "काव्य में जबतक प्रयोगत्व नहीं आता तबतक रसास्वाद संभव ही नहीं, इस रसास्वाद के लिए काव्य के वे वे भाव (पदार्थ) प्रत्यक्षवत् स्फुटता से प्रतीत होना आवश्यक है और इस हेतु कवि को वे पदार्थ प्रौढोक्ति द्वारा औचित्य-युक्त रीति से उपस्थित करने पड़ते हैं। (२९) यहाँ की प्रौढोक्ति ही भामह की 'वक्रोक्ति' है और "प्रत्यक्षवत् स्फुटता" ही "विभावन" है। "अनयाऽर्थो विभाव्यते" इस भामहवचन का अर्थ अब स्पष्ट होगा। सारांश, भरत का "रस-प्रयोग" ही काव्य में "आस्वादसंभव" या "रसाभिव्यक्ति" है।

नाट्य की लोकधर्मी और नाट्यधर्मी ही काव्य में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति है। नाट्य में चार वृत्तियाँ होती हैं—भारती, सात्त्वती, आरभटी और कैशिकी। काव्य शब्दमय होने के कारण उसमें केवल भारती वृत्ति ही होती है। किन्तु काव्य में भारती वृत्ति अन्य वृत्तियों से संमिश्र होती है। कैशिकीयुक्त भारती ही काव्य में "वैदर्भी रीति" या "सुकुमार मार्ग" है और आरभटीयुक्त भारती ही "गौडी रीति" या विचित्र मार्ग है। 'सात्त्वती' मनोवृत्ति कवि तथा रसिकों के मनो-व्यापार से प्रतीत होती है।

नाट्य का दर्शक ही काव्य का पाठक है तथा नाट्य का पताका देनेवाला प्राश्निक ही काव्य का आस्वादक सहृदय है। विमलप्रतिभा से युक्त सहृदय ही रसास्वाद का सच्चा अधिकारी है (अधिकारी चात्र विमल प्रतिभानशाली सहृदयः। —अभिनवगुप्त) और वही काव्यशास्त्र का भी निर्माता है।

---

२९. प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसंभवः।
वर्णनोत्कलिकाभोगप्रौढोक्त्या सम्यगर्पिताः॥
उद्यानकान्ताचन्द्राद्याः भावाः प्रत्यक्षवत् स्फुटाः॥

—काव्यकौतुक

अ ध्या य चौ था

काव्यचर्चा का नया संसार व नई अड़चनें

नई काव्यचर्चा का क्षेत्र

नाट्य से काव्यचर्चा पृथक् होते ही उसका क्षेत्र विस्तृत हुआ। इस विस्तार की कल्पना भामह और दण्डी दोनों ने अपने ग्रन्थों में दी है। जिस काव्य का यह शास्त्र है वह काव्य संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं का काव्य है। उसमें सर्गबन्ध व मुक्तक आदि पद्यभेद, कथा–आख्यायिका आदि गद्यवाङ्मय एवं चम्पू, नाटक आदि गद्यपद्ययुक्त वाङ्मय इन सभी का अन्तर्भाव होता है। सारांश, इस काव्यचर्चा में उस काल की सभी भाषाओं के वाङ्मय की आलोचना करने का यत्न किया गया है। काव्यचर्चा के ग्रन्थ संस्कृत में लिखे जाने पर भी वह शास्त्र केवल संस्कृत के लिए सीमित नहीं रहा (१)।

भामह और दण्डी ने इन सारी भाषाओं का वर्गीकरण आरम्भ में किया है। ये सारे वाङमयभेद अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार भिन्न थे। किन्तु फिर भी उन सभी का एक सामान्य लक्षण उनके ध्यान में आया। यह लक्षण सभी काव्यभेदों के लिए समान तो था ही, किन्तु और एक बात यह भी थी कि वह वाङ्मय के अन्य भेदों से अर्थात् शास्त्रों से काव्य की भिन्नता भी दर्शाता था। यह विशेष स्वरूप निर्धारित करने का उन्होंने प्रयास किया।

अन्वयव्यतिरेक की शैली

इसके लिए उन्होंने अन्वयव्यतिरेक की शैली का अवलंब किया। काव्य से होनेवाला परिणाम और काव्य में कथित अर्थ ही अन्य प्रकार से कथन करने पर

---

१. साहित्यशास्त्र के व्यापक क्षेत्र की कल्पना मैंने अन्यत्र दी है — देखिए – 'मातृभूमि' (मराठी) दीपावलि अंक, १९५४

होनेवाला परिणाम इन दोनों में उन्होंने तुलना की और दोनों में जो भेद प्रतीत होता है उस भेद का संबन्ध उन्होंने उस अर्थ के कथन की शैली से जोड़ दिया। दण्डीने काव्यादर्श में कहा है—

कन्ये कामयमानं त्वां न त्वं कामयसे कथम्।
इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते ।।
कामं कंदर्पचाण्डालो मयि वामाक्षि निर्दयः।
त्वयि निर्मत्सरो दिष्टचेत्यग्राम्योऽर्थो रसावहः।। (१।६३,६४)

किसी युवक ने किसी युवति से पूछा, "हे युवति, मैं तुम्हारे लिए इतनी अभिलाषा रखता हूँ फिर भी तुम मुझे चाहती नहीं हो, ऐसा क्यों?" उसी समय, अन्यत्र कोई दूसरा प्रेमी अपनी प्रेमिका से कह रहा था, "हे वामाक्षि, यह दुर्जन मदन मुझ से निर्दयता का व्यवहार भले ही करें। परन्तु भाग्य की बात है कि वह अभीतक तुम्हारा मत्सर नही कर रहा है।" दोनों के कहने का मतलब एक ही है। परन्तु परिणाम कितना भिन्न है! परिणाम में यह भेद होने का कारण क्या है? दण्डी कहते है—" पहले अर्थ का स्वरूप ग्राम्य है (इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा।), दूसरा अर्थ अग्राम्य है (अग्राम्योऽर्थः); पहले अर्थ से वैरस्य आता है, दूसरा अर्थ रसावह है। काव्य में अन्य विशेष कितने ही अच्छे क्यों न हों, यदि उसमें ग्राम्यता है तो निश्चय ही रसहानि होती है। इसके विपरीत काव्य में अन्य कुछ भी न हों और केवल अर्थ अग्राम्य हों तो भी काव्य रसवत् होता है। दण्डी ने अन्वयव्यतिरेक से देखा कि काव्य की विशेषता अग्राम्यता है, अतएव उन्होंने कहा है कि, "सभी प्रकार के अलंकार अर्थ को रसयुक्त बनाते तो हैं ही, किन्तु सरसता का अधिकांश भार अग्राम्यता पर ही होता है (२)।"

अग्राम्यता, माधुर्य, वक्रोक्ति

अग्राम्यता शब्द नकारात्म है। इस शब्द से किसी खास बात का बोध तो होता नहीं, परन्तु माधुर्य का लक्षण करते हुए दण्डी ने इस शब्द का प्रयोग किया है। काव्य के लिए माधुर्य गुण आवश्यक है। माधुर्य का अर्थ है काव्यगत रसवत्ता। इस माधुर्य के कारण ही रसिक जन काव्य पर भ्रमर के समान लुब्ध होते हैं (३)। काव्य की रसवत्ता के लिए सब से अधिक बाधक वस्तु है ग्राम्यता। दण्डी का कथन है कि, "ग्राम्यता वैरस्य लाती है, अग्राम्यता रसावह होती है।" माधुर्य का अर्थ रसवत्ता ही है। अतएव माधुर्य अग्राम्यता में प्रतिष्ठित है।

---

२. कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिंचति।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा॥ (१।६२)

३. मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥ (१।५१)

अग्राम्यता ग्राम्यता के विरुद्ध है। ग्राम्यता के विरुद्ध अर्थ का दर्शक विधायक पद है—'विदग्धता'। विदग्धता का अर्थ है विदग्धजन की व्यवहारपद्धति। दण्डी ने दिये हुए उदाहरणों में पहला युवक ग्राम्य (अनाड़ी) है, और दूसरा युवक विदग्ध है। दूसरे युवक के भाषण में विदग्धता अर्थात् अग्राम्यता है। इसी कारण वह रसावह होता है ऐसा दण्डी का अभिप्राय है।

विदग्ध जन की भाषण की शैली ही काव्य की शैली है ऐसा कुल अर्थ यहाँ निष्पन्न हुआ। इस शैली के भाषण को काव्यशास्त्र में 'वैदग्ध्यभङ्गिभणिति' कहते हैं यही वक्रोक्ति का लक्षण है। वैदग्ध्यभङ्गिभणिति का ही दूसरा पर्याय है 'उक्ति-वैचित्र्य' और वामन का कथन है कि उक्तिवैचित्र्य का अर्थ माधुर्य है (उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्)।

दण्डी का कथन है कि माधुर्य अग्राम्यता में प्रतिष्ठित है। अग्राम्यता का अर्थ है वैदग्ध्य। वैदग्ध्यभङ्गिभणिति वैदग्ध्य की द्योतक है। ऐसी भणिति ही वक्रोक्ति है। भामह कहते हैं कि वक्रोक्ति ही काव्यसौंदर्य का घटक (अलंकार) है। वक्रोक्ति का अर्थ है उक्तिवैचित्र्य। उक्तिवैचित्र्य का अर्थ माधुर्य है ऐसा वामन का कथन है। और इन सब का अर्थ है भाषण की जनसाधारण से भिन्न शैली। इसी को 'उक्ति-विशेष' की संज्ञा है। काव्य और शास्त्र में शब्द और अर्थ तो समान रहते हैं। किन्तु उन्हीं शब्दार्थों को उक्तिविशेष के कारण काव्यत्व प्राप्त होता है ऐसा राजशेखर का कथन है (४)।

वक्रोक्ति के विरुद्ध ग्राम्यता है, स्वभावोक्ति नहीं

भाषण की जनसाधारण से भिन्न शैली को ही भामह ने वक्रोक्ति कहा है। विदग्धता और वक्रोक्ति में अव्यभिचारी संबन्ध है। प्रायः वक्रोक्ति के विरुद्ध स्वभावोक्ति समझी जाती है। किन्तु यह ठीक नहीं। क्यों कि स्वभावोक्ति के लिए भी विदग्धता आवश्यक होती है।

> चलापांगां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
> रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
> करं व्याधुन्वन्त्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
> वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥

कालिदास के इस प्रसिद्ध श्लोक में भ्रमरस्वभावोक्ति है। किन्तु भ्रमर का यह कविकृत वर्णन कुछ जीवशास्त्रज्ञ ने वर्णित भ्रमरव्यापार नहीं है। विदग्धजन का वह [illegible] है। अथवा—

---

४. अत्थविसेसा ते च्चिअ सद्दा ते चेअ परिणमन्ता व।
उत्तिविसेसो कव्वं भासा जा होइ ता होदु॥

बध्नन्नङ्गेषु रोमाञ्चं कुर्वन् मनसि निर्वृतिम्।
नेत्रे निमीलयन्नेषः प्रियस्पर्शः प्रवर्तते ।।

प्रियास्पर्श सुखकारी होता है इस बात की प्रतीति यह गुणस्वभावोक्ति करा देर्त है; इसमें भी एक माधुरी है, एक विदग्धता है। हमें तत्काल प्रतीत होता है कि इस प्रकार बोलनेवाला व्यक्ति बड़ा चतुर होना चाहिये। स्वभावोक्ति में भी बिना विदग्धता के काव्य नहीं हो सकता। यदि ऐसा न हों, तो मानना पड़ेगा कि—

गोरपत्यं बलीवर्दः, घासमत्ति मुखेन सः।
मूत्रं मुंचति शिस्नेन, अपानेन च गोमयम् ।।

इस पद्य में भी काव्य है। इस पद्य में भी बैल के व्यापार का वर्णन यथासत्य है। किन्तु वह ग्राम्य है अतएव उसमें काव्य नहीं है। वक्रोक्ति से वैदग्ध्य प्रतीत होता है; एवं स्वभावोक्ति के लिए भी वैदग्ध्य आवश्यक होता है। अतएव साहित्यशास्त्र में, वक्रोक्ति के विरुद्ध अर्थ का दर्शक शब्द स्वभावोक्ति न होकर 'ग्राम्यता' है। यदि वक्रोक्ति काव्य का प्राण है तो ग्राम्यता काव्य का प्राणघाती दोष है।

विदग्धगोष्ठी में चलती हुई चर्चा से ही आरम्भकालीन ग्रन्थ निर्माण हुए

वक्रोक्ति ही वैदग्ध्यभङ्गिभणिति है यों कहते ही विदग्धता से संबन्धित अनेक कल्पनाएँ एकत्रित होती हैं। वात्स्यायन का नागरक विदग्धजन है इस बात का स्मरण होता है। नागरक का नाम लेते ही उसका गोष्ठीसमवाय याद आता है। नागरक विदग्ध है अतएव यह गोष्ठीसमवाय भी विदग्धजनों का ही होना चाहिये। यह कल्पना मनमें आते ही दण्डी की 'विदग्ध गोष्ठी' सम्मुख उपस्थित होती है। "काव्यशास्त्र के अध्ययन से व्यक्ति विदग्धगोष्ठी में विहार करने में समर्थ होता है।" दण्डी का यह वचन स्मरण होते ही राजशेखर की बताई हुई काव्यगोष्ठी याद आती है। और वात्स्यायन के ये विदग्ध नागरक प्रतिमास या प्रतिपक्ष नियत दिन छोटा-सा सम्मेलन करते थे। इस संमेलन को 'समाज' कहा जाता था तथा उसमें भाग लेनेवाले 'सामाजिक' कहलाते थे (५)। सामाजिक का नाम लेते ही काव्य का रसिक सम्मुख उपस्थित होता है, क्योंकि साहित्यशास्त्र में ये दोनों पर्याय शब्द है।

---

५. कामसूत्र १।४।२७ पर जयमंगला देखने लायक है। "पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः।" इस पर जंयमंगलाकार यशोधर कहते है, "सरस्वती व नागरकाणां विद्याकलासु अधिदेवता, तस्या आयतने नियुक्तानां–नायकेन पूजोपचारकत्वे प्रतिपक्षं प्रतिमासं च ये नियुक्ताः नागरकनटाद्यो नर्तितुम्, तेषां समाजः स्वव्यापारानुष्ठानेन मिलनं, यस्मिन् प्रवृत्ते नागरकाः सामाजिका भवन्ति ॥"

और इन सारी कल्पनाओं को एकत्रित करने पर प्रतीत होता है कि इन काव्य-गोष्ठियों में या विदग्धगोष्ठियों में काव्यचर्चा होना निश्चय ही स्वाभाविक है। इस प्रकार की चर्चाओं में से अनेक वाद निकले होंगे; अनेकों बार मतभेद हुए होंगे; और उन्हीं से काव्यशास्त्र के लिए आवश्यक कच्चा माल (raw material) प्राप्त हुआ होगा। कई नागरक अपनी चर्चा काव्यपरीक्षण और रसग्रहणतक ही सीमित रखते होंगे; दूसरे कोई खण्डन-मण्डन आदि भी करते होंगे; और कुछ इनेगिने नागरक काव्यचर्चा के कारण ही अन्य शास्त्रों के क्षेत्र में प्रवेश करते हुए ऊहापोह करते होंगे। इस प्रकार की इस काव्यचर्चा में पूर्वाचार्यों का कथन, समकालीन लोगों के मत, अपने उनसे मतभेद आदि सभी विषयों की चर्चा चलती होगी। समय समय पर आधार के लिए अथवा उदाहरणों के लिए शास्त्रग्रंथ और काव्यग्रन्थ दोनों का उपयोग किया जाता होगा। संभवतः इस प्रकार की काव्यचर्चा से ही भामह-दण्डी आदि के ग्रन्थ निर्माण हुए हों।

भामह के ग्रन्थ का नाम 'काव्यालंकार' है और दण्डी का ग्रन्थ 'काव्यादर्श' है। शायद काव्यालंकार के साथ ही भामह ने कलाओं पर भी किसी ग्रन्थ की रचना की थी। क्योंकि भामह के नाम से 'कलासंग्रहकारिका' मिलती है। दण्डी भी कलापरिच्छेद का निर्देश करते हैं। भामह के 'काव्यालंकार' और 'कलासंग्रह-कारिका' एवं दण्डी के 'काव्यादर्श' और 'कलापरिच्छेद' इन युग्मों पर ध्यान देने से विचार होता है कि इन ग्रन्थकारों का नागरिक गोष्ठियों से और भी निकट संबन्ध था। यह तो प्रकट है ही कि वात्स्यायन के नागरकाधिकरण का नागरक गोष्ठियों से संबन्ध है। उसमें दी हुई विविध कलाएँ भामह के कला-संग्रह में भी हैं। हो सकता है कि दण्डी का 'कलापरिच्छेद' भी इसी प्रकार का एक ग्रन्थ था। इस प्रकार भामह और दण्डी का नागरक गोष्ठियों से साक्षात् संबन्ध होना असंभव नहीं। इस प्रकार का संबन्ध संभवनीय है यह स्वीकार होने से, इन ग्रन्थकारों की काव्यविवेचना का मूलस्रोत भी काव्यगोष्ठी या काव्यविवेचना में है यह भी अनायास माना जा सकता है। विदग्धगोष्ठी और काव्यशास्त्र का अध्ययन इन दोनों में दण्डी ने जो संबन्ध बताया उस पर ध्यान देने से तो इस विषय में कोई संदेह भी नहीं रहता। (६)।

भामह और दण्डी (सन् ६०० से ७५० ईसवी).

भामह और दण्डी यह दोनो ग्रन्थकार काव्यचर्चा के स्वतन्त्र युग के उपलब्ध ग्रन्थकारों में से आरम्भकालीन ग्रन्थकार हैं। दोनों भी खिरस्ताब्द ६०० से

६. तदस्ततंद्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु सूक्तिमिच्छुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥ (का. द. १।१०५)

७५० नक के काल में हुए। इन दोनों में से पहले कौन हुआ इस विषय में विद्वानों में एकमत नही है। प्रकृत विवेचना की दृष्टि से हम ख्रि. ६०० से ७५० तक के डेढ़ सौ वर्ष के काल के एक कालखण्ड़ की कल्पना करेंगे और इन दोनों ग्रन्थकारों के ग्रन्थों से यह समझने का यत्न करेंगे कि इस कालखण्ड़ में काव्यचर्चा का स्वरूप क्या होगा।

दोनों के दृष्टिकोण में अंतर

भामह और दण्डी दोनों के ग्रन्थों की सामग्री काव्यगोष्ठियों की चर्चा से प्राप्त हुई है। फिर भी दोनों की विवेचना में काफी भेद है। दण्डी के ग्रन्थ में काव्य-मार्ग और अलंकार का ऊहापोह है। भामह के ग्रन्थ में इसके साथ ही अन्य शास्त्र-कारों से — विशेषरूप में वैयाकरण और नैयायिकों से —- वाद किये हुए है। दण्डी ने इस प्रकार वाद नहीं किये। काव्यमार्ग और अलंकारों का ठीक स्वरूप समझा देना यही दण्डी का प्रयोजन प्रतीत होता है; तो अन्य शास्त्रों से समान प्रतिष्ठा काव्य को भी प्राप्त करा देना इस प्रकार का दोहरा उद्देश्य भामह का प्रतीत होता है। उद्दिष्ट की इस भिन्नता के कारण दण्डी और भामह दोनों का विषय एक होने पर भी विवेचना के स्वरूप में आरंभ से ही भेद है।

आरंभिक सरस्वतीवंदना के उपरान्त, वाणीका ठीक प्रकार से उपयोग एवं काव्य की निर्दोषता के विषय में दण्डी कहते हैं –"सुप्रयुक्त वाणी तो इष्ट वस्तु प्रदान करनेवाली कामधेनु ही है। किन्तु यदि वाणी का दुष्प्रयोग किया गया तो वही वाणी सूचित करती है कि वक्ता ठेठ बैल है। इस लिए, कवि को काव्य में अल्प दोष की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। शरीर कितना भी सुंदर क्यों न हो, कोढ़ के एक ही दाग से भी विरूप दीखता है। किन्तु ये गुणदोष शास्त्रज्ञान के बिना समझना संभव नहीं। रंग रंग में भेद का निर्णय करने का अधिकार अंध को कैसे प्राप्त हो सकता है ?" (७)। सारांश, दण्डी के काव्य का उद्देश्य है कवि और रसिक दोनों को काव्यशास्त्र का ज्ञान करा देना एवं उसकी सहाय्यता से उन्हें कवित्व तथा रसिकत्व का अधिकार प्राप्त कराना।

---

७. गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति ॥
तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कदाचन।
स्याद्वपुः सुंदरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥
गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते जनः।
नह्यंधस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु ॥ (१।६-८)

इसके विपरीत भामह के ग्रन्थ का आरम्भ देखिये। मंगलाचरण के अनन्तर भामह कहते हैं—"सत्काव्य का निर्माण पाठक को चतुर्विध पुरुषार्थ एवं कलाओं में विचक्षण तो बनाता है ही, और भी आनंद तथा कीर्ति का भी लाभ करा देना है (८)।" स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि काव्य का चतुर्विध पुरुषार्थ के साथ संबन्ध स्थापित करने में भामह का उद्देश्य काव्य को शास्त्र से समानता देने का—इतना ही नहीं शास्त्र से काव्य को श्रेष्ठ सिद्ध करने का है। शास्त्र तो केवल चतुर्विध पुरुषार्थों का ही ज्ञान करा देता है। काव्य से यह तो होता है ही; और इसके अतिरिक्त कलाओं में निपुणता एवम् आनंद और कीर्ति का भी उससे लाभ होता है। इतने पर भी भामह नहीं रुकते। उनका कथन है कि बिना कवित्व की संगत के केवल शास्त्रज्ञान का भी कोई मूल्य नहीं है।" जिस प्रकार धन के अभाव में दातृत्व का कोई मूल्य नहीं, जिस प्रकार बिना पौरुष के अस्त्रविद्या का कोई मूल्य नहीं या अज्ञ पुरुष की प्रगल्भता में कोई अर्थ नहीं उसी प्रकार बिना कवित्व के शास्त्रज्ञान में भी कोई लाभ नहीं। विनय न हो तो ऐश्वर्य का क्या कोई मूल्य है? चन्द्रमा के न होने पर रात्रि की क्या कोई रम्यता है? इसी प्रकार, कवित्व न हो तो वाणी पर प्रभुता होने से क्या लाभ?" (९)। भामह कहना चाहते हैं कि अपना प्रभाव स्थिर करने में शास्त्र को भी कवित्व का साथ आवश्यक है। इसके अगले श्लोक में तो शास्त्रज्ञ से भी कवि का श्रेष्ठत्व भामह स्पष्ट शब्दों में बताते हैं—"शास्त्र की क्या बात? गुरु के निकट पढ़ पढ कर मन्दबुद्धि पुरुष भी उसको ग्रहण कर सकता है। काव्य ऐसा नहीं होता। अगर कर सका तो कोई बिरला प्रतिभावान् व्यक्ति ही काव्य का निर्माण कर सकता है (गुरु से पाठ लेकर कवि नहीं बन सकते, इसके लिए तो मूल प्रतिभा ही चाहिये।)" (१०)। ग्रन्थ के आरम्भ में भामह का यह लक्ष्य देखने से उनका उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। काव्य के विषय में तुच्छता से बोलनेवाले शास्त्रज्ञों का एक वर्ग उनके सम्मुख है। भामह उन्हें बड़ा तीखा जवाब दे रहे हैं। भामह के कथन का लक्ष्य देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें काव्य को शास्त्रों से समान प्रतिष्ठा प्राप्त करानी है।

---

८. धर्मार्थकाममोक्षेषु, वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिंच साधुकाव्यनिबंधनम्॥ (१।२)

९. अधनस्यैव दातृत्वं, क्लीबस्यैवास्त्रकौशलम्।
अज्ञस्यैव प्रगल्भत्वमकवेः शास्त्रवेदनम्॥
विनयेन विना का श्रीः का निशा शशिना विना।
रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता॥ (१।३,४)

१०. गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जातु जायेत कस्यचित्प्रतिभावतः॥ (१।५)

इसी कारण से प्रत्यक्ष विषय का आरम्भ करने में भी भामह की विजिगीषु प्रवृत्ति ही दिखाई देती है। दण्डी की तुलना में तो वह और भी अधिक प्रतीत होती है। दण्डी विषय का उपन्यास इस प्रकार करते हैं— "अतएव, लोक व्युत्पन्न हों इस उद्देश्य से पूर्वसूरियों ने वैचित्र्यपूर्ण मार्गों से प्रकट होनेवाली वाणी का (काव्य का) क्रियाविधि बताया। उसमें उन्होंने काव्य का शरीर क्या है और अलंकार कौनसे हैं यह बताया। इष्ट अर्थ से व्यवच्छिन्न पदों का समूह ही काव्य का शरीर है (११)।"— जनता को व्युत्पन्न करना (प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसंधाय), उसे काव्यगत गुण और दोष समझने में समर्थ करना यही दण्डी की दृष्टि में शास्त्र का प्रयोजन है। इसके विपरीत भामह का विषयोपन्यास देखिए—

[illegible] ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ।।
रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे ।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वांच्छन्त्यलंकृतिम् ।।
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।
शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ।।
शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्—

भामह के समय में साहित्यपंडितों में दो वाद प्रचलित थे। कतिपय पंडितों की संमति थी कि रूपक आदि अलंकारों को काव्य के अन्तरंग में स्थान है। " वनितामुख स्वभावतः सुंदर होने पर भी बिना अलंकारों के शोभायमान होता नहीं।" ऐसा उनका मन्तव्य था। किन्तु साहित्यिकों का दूसरा भी एक वर्ग था। रूपक आदि अलंकारों को वह बाह्य अर्थात् अनावश्यक मानता था। काव्य में सुप्तिङ्व्युत्पत्ति अर्थात् व्याकरणशुद्धता होना ही काफी है। व्याकरण की शुद्धि ही काव्य का एकमात्र अलंकार है ऐसा इस दूसरे वर्ग का कहना था। भामह को यह [illegible] नहीं था। सुप्तिङ्व्युत्पत्ति तो केवल सौशब्द्य अर्थात् शब्दव्युत्पत्ति है: शब्दव्युत्पत्ति तो कोई अर्थव्युत्पत्ति नही होती। दोनों भिन्न हैं। शब्दार्थालंकारों में भी भेद है। काव्य के लिए इन दोनों की भी (सुप्तिङ्व्युत्पत्ति तथा अर्थालंकार) समान आवश्यकता है। क्योंकि, शब्द और अर्थ दोनों के योग से काव्य होता है, ऐसी भामह की संमति थी।

इस प्रकार, विषय का आरम्भ ही भामह वाद से करते हैं। वाद के द्वारा

---

११. अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसंधाय सूरयः।
वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्।।
तैः शरीरं च काव्यानामलंकाराश्च दर्शिताः।
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावलिः।। (१।९,१०

साहित्य के प्रमेय प्रस्तुत करने में एक ओर काव्य के विरोधक और दूसरी ओर कविब्रुव दोनों की कड़ी आलोचना करनी पड़ती है। इसी कारण उनकी आलोचना में प्रखरता है। 'मन्यन्ते सुधियोऽपरे', 'नमोस्तु तेभ्यो विद्वद्भ्यो' इस प्रकार समय पर उपहास करने में भी वे हिचकिचाते नहीं।

भामह का शास्त्रकारों द्वारा विरोध

भामह के विरोधियों में दो प्रमुख थे—वैयाकरण और नैयायिक। पंडितों के इन दो वर्गों का साहित्य के पंडितों के साथ परम्परा से वैर चलता आया था। ध्वनिकार तथा क्षेमेन्द्र ने भी इन दोनों की आलोचना की है। ध्वनिकार कहते हैं, 'केवल शब्द-विद्या से या तर्क के पांडित्य से काव्य के अर्थ का आकलन नहीं होता' (१२); तो क्षेमेन्द्र का कविशिष्यों से अनुरोध है कि, 'यदि तुम्हें सत्कवि बनना है तो किसी शब्द-पंडित या तर्कपंडित को गुरु मत करो; पढ़ाने पर भी वे काव्य नहीं समझ सकते (१३)।' ध्वनिकार तथा क्षेमेन्द्र के काल में साहित्यशास्त्र लब्धप्रतिष्ठ हुआ था। ऐसे समय में भी यदि वे तार्किकों की एवं शाब्दिकों की आलोचना करते हैं तो भामह को उनकी ओर से कितना विरोध हुआ होगा?

फिर भी एक दृष्टि से भामह को यह विरोध हुआ यह ठीक ही हुआ। क्योंकि उसी कारण काव्य की विशेषता का शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन होना आरंभ हुआ एवम् उसीसे काव्यन्यायनिर्णय (Logic of Poetry) और काव्यशब्दसाधुत्व (Grammar of Poetry) निर्माण हुआ। भामह ने इन दोनों की अपने ग्रन्थ में चर्चा की है (१४)। इस चर्चा का स्वरूप हम संक्षेप में देखेंगे। सर्वप्रथम शब्दसाधुत्व के विषय में उनके विचार हम देखेंगे।

---

१२. शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥

१३. कुर्वीत साहित्यविदः सकाशे श्रुतार्जनं काव्यसमुद्भवाय।
न शाब्दिकं केवलतार्किकं वा कुर्यात् गुरुं सूक्तिविकासविघ्नम्।
यस्तु प्रकृत्याश्मसमान एव कष्टेन वा व्याकरणेन नष्टः।
तर्केण [illegible] वाप्यविद्धकर्णः [illegible]ः।
न तस्य वक्तृत्वसमुद्भवः स्यात् शिक्षासहस्रैरपि सुप्रयुक्तैः॥

१४. भामह के ग्रंथ में विषयविभाग इस प्रकार है।
षष्ट्या शरीरं निर्णीतं, शतषष्ट्या त्वलंकृतिः।
पंचाशता दोषदृष्टिः, [illegible] न्यायनिर्णयः॥
षष्ट्या शब्दस्य शुद्धिः स्यात् इत्येवं वस्तुपंचकम्।
उक्तं षड्भिः परिच्छेदैः भामहेन क्रमेण वः॥

इनमें न्यायनिर्णय=काव्यन्यायनिर्णय और शब्दशुद्धि=काव्यशब्दशुद्धि हैं। येही नाम उन्होंने परिच्छेदों के दिये हैं।

काव्यशब्दसाधुत्व (Grammar of Poetry)

शब्दव्युत्पत्तिवादियों का कहना यह है, काव्य में शब्दशास्त्र की दृष्टि से निर्दोषता होना इतना भर काफी है। वही वास्तव में अलकार है। रूपक आदि अलंकारों की काव्य के लिए कोई आवश्यकता नही है; वे तो बाह्य हैं। इसपर भामह का प्रत्युत्तर है कि शब्दव्युत्पत्ति तो केवल सुशब्दता है। वह केवल शब्द-संस्कार है। किन्तु केवल [illegible] से काव्य नहीं होता। उसे अर्थसंस्कार भी आवश्यक है। शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य होता है। शब्दसंस्कार व्याकरण से होता है; अर्थसंस्कार वक्रोक्ति से होता है। अतएव, केवल व्याकरण की दृष्टि से रचना ठीक है इस लिए वह काव्य है ऐसी बात नहीं। वह तो वार्तामात्र होगी। अतएव अभिप्रेत अर्थ के लिए कवि को शब्द चुनना पड़ता है।

अर्थात् व्याकरणस्थित शब्दसाधुत्व और काव्यस्थित शब्दसाधुत्व दोनों में भेद होता है। व्याकरण में शब्दसाधुत्व सुप्तिङव्युत्पत्ति से होता है; किन्तु अर्थ-व्युत्पत्ति के लिए वक्रोक्ति की आवश्यकता होती है। भामह को [illegible] नहीं है; उन्हें भी व्याकरण उतना ही प्रमाण है जितना कि वह वैयाकरण को हो। किन्तु व्याकरण की शुद्धि होने से ही कोई भी शब्द उनके लिए स्वीकार्य नहीं है। कवि के चुने हुए शब्दों से उसका वैदग्ध्य प्रतीत होना चाहिये। "पश्यति स्त्री" और "विलोकयति कान्ता" दोनों वचन व्याकरण की दृष्टि में समान हैं; काव्य की दृष्टि में नहीं। "मार्जन्त्यधररागं ते पतन्तो बाष्पबिन्दवः" (६।३१)। यही अर्थ 'मृजन्त्यधररागं ते" इस प्रकार भी कहा जा सकता है। शब्दव्युत्पत्ति के अनुसार उसमें कोई भेद नहीं होगा किन्तु कवि की दृष्टि में उसमें निश्चय ही भेद होगा। 'मार्जन्ति' और 'मृजन्ति' दोनों 'मृज्' धातु के ही रूप हैं। किन्तु 'मार्जन्ति' के उच्चारण में जो कोमलता, सफाई और मृदुता है वह 'मृजन्ति' के उच्चारण में नहीं। और जिस अवसर पर कवि यह प्रयोग कर रहा है वह अवसर भी उतना ही कोमल है। रूठ कर अश्रुपात करती हुई प्रिया को मनाते हुए कवि कहता है, 'अब तो मान जाओ; यह टपकते हुए अश्रु तुम्हारे होंठों का रंग भी धुला रहे हैं।" ऐसे प्रसंग में 'मृजन्ति' की अपेक्षा 'मार्जन्ति' पद काव्य की दृष्टि में उचित है। शब्दों का उच्चारण ही केवल नहीं, तो अनुपद आये हुए दो वर्णों की संधि भी अपनी उक्ति के लिए पोषक हैं या नहीं यह देखना भी कवि के लिए आवश्यक हो जाता है। 'एतत् + श्याम' इन पदों की सन्धि 'एतच्छ्याम' होती है। व्याकरण की दृष्टि से इसमें कोई दोष नहीं है। किन्तु "यथैतच्छ्याममाभाति वनं वनजलोचने" इस पंक्ति में इसी सन्धि के कारण श्रुतिकटुत्व आया हुआ है। अतएव व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होने पर भी काव्य की दृष्टि से यह सन्धि दुष्ट है। और इसी लिए भामह को

'न तवर्गं शकारेण क्वचित्संयोगिनं वदेत्' (६।६०) 'वाला काव्यगत शब्द-शुद्धि का नियम बताना पड़ता है।

इसी हेतु भामह ने 'काव्यशब्दशुद्धि' नामक छठा परिच्छेद लिखा है। उसमें वे कहते हैं—

वक्रवाचां कवीनां ये प्रयोगं प्रति साधवः ।
प्रयोक्तु ये न युक्ताश्च तद्विवेकोऽयमुच्यते ।। (६८।२३)

[illegible] काव्य की दृष्टि से कौनसे शब्द प्रयोगार्ह हैं और कौनसे शब्द प्रयोगार्ह नहीं हैं इसका विवेचन करना—अर्थात् काव्य की दृष्टि से शब्दों का साधुत्व और असाधुत्व निर्धारित करना, यह इस परिच्छेद का प्रयोजन है। भाषा में हरएक शब्द के साधुत्व तथा असाधुत्व का निर्धारक शास्त्र जैसे भाषा का व्याकरण है वैसे ही काव्य में शब्दों के साधुत्व तथा असाधुत्व का निर्धारक शास्त्र काव्य का व्याकरण है।

और भामह ने यह परिच्छेद भी ऐसा लिखा है कि 'काव्य का व्याकरण' की संज्ञा सार्थक हो जाती है। परिच्छेद के आरम्भ में ही भामह कहते हैं कि व्याकरण का ज्ञान होना कवि के लिए नितान्त आवश्यक है। केवल दूसरों के प्रयोग देख कर लिखनेवाला कवि 'अन्यसारस्वत' है (अन्यसारस्वता नाम सन्त्यन्योक्तानुवादिनः।); भामह का स्पष्टरूप से कथन है कि ऐसा कवि सिद्धसारस्वत नहीं हो सकता। इसके अनन्तर, शब्द क्या है इस विषय में अनेक मतों का परीक्षण करते हुए, शब्दों का संकेत लोकव्यवहार के आधार से ही कैसे निर्धारित करना पड़ता है इसका भामह विवेचन करते हैं। भामह का मत है कि शब्दों के संकेतित अर्थ को ही परम अर्थ समझने वाले मंद हैं। उपरान्त, महाभाष्यकार के जात्यादिवाद के आधार से शब्दों के भेद बताते हुए काव्यप्रयोग की दृष्टि से 'साधु' तथा 'असाधु' आदि कतिपय शब्दों का वे विवेचन करते हैं। 'प्रयोगं प्रति साधवः' में 'साधवः' शब्द [illegible] का है और उसी अर्थ में भामह ने भी उसका प्रयोग किया है। इतना ही नहीं, विशेष ध्यान देने की बात यह है कि, काव्यगत शब्दों का साधुत्व और असाधुत्व निर्धारित करने में भामह ने क्रम भी पाणिनीय अष्टाध्यायी से ही लिया है। इस प्रकार केवल तात्पर्यतः ही नहीं, तो स्वरूपतः भी भामह ने काव्य का व्याकरण बनाया है (१५)।

वक्रोक्ति का आश्रय न लेकर केवल अपना शब्दपांडित्य दर्शाने के लिए दुर्बोध

---

१५. पाणिनीय अष्टाध्यायी 'वृद्धिरादैच्' सूत्र से आरंभ होती है तो भामह का शब्द-साधुत्वनिर्णय 'वृद्धिपक्षं प्रयुंजीत' इस प्रकार 'वृद्धि' शब्द से ही आरंभ होता है। और इसके बाद के शब्द भी अष्टाध्यायी के क्रम से ही आते हैं।

और व्याख्यागम्य काव्य लिखने वाले अनेक कवि भामह के समय में थे। व्याख्यागम्य काव्य के उदाहरणस्वरूप भामह ने रामशर्म कवि के 'अच्युतोत्तर' नामक काव्य का उल्लेख किया है। संभवतः, आधुनिक काल में प्रसिद्ध भट्टिकाव्य भी भामह के सम्मुख था (१६)। ऐसे काव्यों का समर्थन करनेवाला साहित्यमीमांसकों का एक वर्ग भामह के समय में था। भामह का इस वर्ग से बिलकुल ही नहीं बनता था। ऐसे किसी काव्यमीमांसक का भामह ने नाम से तो निर्देश नहीं किया, किन्तु ग्रन्थान्तर से प्रतीत होता है कि भामह के इन विरोधियों में 'मंगल' नामक साहित्यपंडित था (१७)। मंगल के मतों के यत्रतत्र जो उल्लेख मिलते हैं उन्हें एकत्रित करने से इस वर्ग के मतों की कुछ कल्पना की जा सकती है। इन लोगों की संमति में 'काव्य-पाक' तो केवल 'सुपां तिङां श्रवः।' अर्थात् शब्दव्युत्पत्ति है (१८)। इन के विचार में प्रतिभा से भी व्युत्पत्ति श्रेयस्कर है। काव्य के लिए प्रतिभा आवश्यक नहीं। प्रतिभा के अभाव की पूर्ति व्युत्पत्ति से हो सकती है। इस लिए केवल वैचित्र्य और वैदग्ध्य पर बल देनेवाली काव्यरचना इनकी भी संमति में त्याज्य है (१९)। यह सब भामह को पूर्णरूपेण अस्वीकार था। सुप्तिङव्युत्पत्ति तो केवल सौशब्द्य है, काव्य नहीं; काव्य तो किसी प्रतिभावान् को ही स्फुरित होता है ऐसा भामह का कथन था। मंगल के वचन और भामह की संबन्धित कारिकाओं में परस्पर तुलना करने से, ग्रंथ के आरंभ में ही भामह किसका प्रतिवाद कर रहे हैं यह शीघ्र समझ में आ जाता है।

---

१६. "व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामयम्। हता दुर्मेधसाश्चास्मिन् विदुषां प्रीतये मया॥" ऐसा भट्टि ने अपने काव्य के विषय में लिखा है। प्रतीत होता है कि भामह ने भी "काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्। उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः॥" वाली कारिका लिखकर, भट्टि के शब्दों में ही उनका प्रत्याख्यान किया है।

१७. राजशेखर : काव्यमीमांसा।

१८. "कः पुनरयं पाकः?" इत्याचार्याः। 'परिणाम' इति मङ्गलः। कः पुनरयं परिणामः' इत्याचार्याः। 'सुपां तिङां च श्रवः, यैषा व्युत्पत्तिः' इति मङ्गलः। "सौशब्द्यमेतत्, पदनिवेशनिष्कंपता पाकः" इत्याचार्याः। का. मी. पृ. २०.

१९. 'व्युत्पत्तिः श्रेयसी' इति मङ्गलः।
'कवेः संव्रियतेऽशक्तिः व्युत्पत्त्या काव्यवर्त्मनि।
वैदग्धीचित्रचित्तानां हेया शब्दार्थगुंफना॥' (का. मी. १।११६)
इसपर भामह ने उत्तर तो दिया है ही किन्तु ध्वन्यालोक से प्रतीत होता है कि प्रतिभावादियों ने भी 'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।' इस प्रकार व्युत्पत्ति-वादियों के शब्दों में ही उत्तर दिया है।

भामह का काव्यन्यायनिर्णय (Logic of Poetry)

काव्य के लिए शब्दव्युत्पत्ति के साथ ही अर्थव्युत्पत्ति अर्थात् वक्रोक्ति की आवश्यकता है यह सिद्ध करने में भामह को शब्दपंडितों से वाद करना पड़ा और वक्रोक्ति की सत्यता प्रस्थापित करने के लिए उन्हें तार्किकों से झगड़ना पड़ा। 'काव्य-न्यायनिर्णय' नामक पाँचवें परिच्छेद में उन्होंने इस विषय की चर्चा की है।

भामह का विवेचन समझने के लिए हम कुछ उदाहरण लें—कोई प्रियतम अपनी प्रेमिका से कहता है—

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं
किमभिधानमसावकरोत्तपः।
सुमुखि, येन तवाधरपाटलं
दशति बिम्बफलं शुकशावकः ।।

"हे सुमुखि, इस तोते ने कौनसे पर्वत पर तप किया हो? कितने समय तक किया हो? और वह तप भी क्या हो कि तुम्हारे अधर के समान रक्तवर्ण इस बिम्बफल का वह आस्वाद ले रहा है?" इस पद्य में अभिव्यक्त हुआ वक्ता का अभिप्राय और इस वाक्य का केवल वाच्यार्थ इन दोनों में सबन्ध न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों से नहीं सिद्ध हो सकता। अथवा—

भ्रमर, भ्रमता दिगन्तराणि
क्वचिदासादितमीक्षितं श्रुतं वा।
वद [illegible] पक्षपातं
यदि जातीकुसुमानुकारि पुष्पम् ।।

"हे भ्रमर, तुम दसों दिशाओं में भ्रमण कर आये हो। अब, बिना पक्षपात किये मुझे बताओ कि जातीपुष्प के समान पुष्प तुमने पाया है, देखा है या सुना भी है?" नायिका की सखी ने नायक से पूछे इस प्रश्न का व्यङ्ग्य नायक की ओर कैसे होता है यह न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों से नहीं समझा जाता। उपर्युक्त उदाहरणों में बोलने की जो रीति है वही यदि वक्रोक्ति है तो वह तर्कविद्या को स्वीकार होना कतई संभव नहीं। इसी लिए काव्य में असत्य होता है ऐसा तार्किक कहेंगे। नैयायिकों के इस [illegible]
का निर्णय कर रहे हैं।

भामह का आशय यह है—विश्व के पदार्थों की सत्यता प्रमाणों से निर्धारित करनी पड़ती है। प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण हैं। उनमें व्यक्ति या विशेष का

ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है। तथा सामान्य का ज्ञान अनुमान से होता है (२०)। किन्तु प्रत्यक्ष क्या है, और उससे होनेवाले ज्ञान का स्वरूप क्या है इस विषय में तार्किकों में ही तो एकमत नही है। दिङ्नाग का कथन है कि—'[illegible]' तो अन्य कतिपय तार्किक कहते हैं—'ततोऽर्थाद् यद् भवति तत् प्रत्यक्षम्।' अनुमान के संबन्ध में भी यही हाल है। कोई कहते हैं—'त्रिरूपाल्लिंगतो ज्ञानम् अनुमानम्।'; तो कोई दूसरे तार्किक कहते है कि 'नान्तरीयार्थदर्शन' ही अनुमान है। अनुमान के तीन अवयव होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, और दृष्टान्त। इस प्रकार का तर्क शास्त्रगर्भ काव्य में पाया जाता है और वहाँ वह इष्ट भी है। तर्क की काव्य से अनबनी है ऐसा समझने की कोई आवश्यकता नहीं है। काव्य तो शास्त्रीय तर्क को औचित्य के अनुरूप स्थान देता ही है। लेकिन काव्य में न्याय का यही एक भेद होता है ऐसी बात नहीं। इससे भिन्न दूसरे प्रकार का भी न्याय काव्य में होता है और न्याय का यह दूसरा भेद काव्य के भिन्न आश्रय के अनुकूल मूलतः भिन्न है। काव्य लोकाश्रित है तो तत्त्वदर्शन ही शास्त्र का प्रयोजन है (२१)। इससे काव्यप्रत्यक्ष और शास्त्रप्रत्यक्ष एवं काव्यानुमान और शास्त्रानुमान इनमें भेद हो जाता है। और इन प्रमाणों से सिद्ध होनेवाले काव्यगत और शास्त्रगत सत्य में भी भेद हो जाता है।

काव्यप्रत्यक्ष—कितनी ही बार काव्यगतप्रत्यक्ष और शास्त्रगतप्रत्यक्ष भिन्न भिन्न होते हैं। किन्तु इसी कारण से काव्यप्रत्यक्ष असत्य है ऐसा कहना ठीक न होगा। काव्यगतप्रत्यक्ष का स्वरूप निम्न उदाहरण से भामह स्पष्ट करते हैं—

असिसंकाशमाकाशं, शब्दो दूरानुपात्ययम्।
तदेव वारि सिन्धूनाम्, अहो स्थेमा महार्चिषः॥

आकाश खड्ग के समान नीलवर्ण है; शब्द दूर से सुनाई दे रहा है; नदियों का जल भी वही जल है; आकाश में महाज्योतियाँ भी स्थिर हैं; इस प्रकार के वर्णन काव्य में पाये जाते हैं (२२)। उपर्युक्त वर्णन शास्त्रतः सत्य नहीं है। शास्त्र का कथन है कि आकाश का कोई रंग-रूप नहीं है। आकाश का नीलवर्ण तो केवल आभास मात्र

---

२०. सत्त्वादयः प्रमाणाभ्यां प्रत्यक्षमनुमा च ते।
असाधारण-सामान्य-विषयत्वं तयोः किल॥ (५।५)

२१. अपरं वक्ष्यते न्यायलक्षणं काव्यसंश्रयम्।
तज्ज्ञैः काव्यप्रयोगेषु तत्प्रादुष्कृतमन्यथा॥ (५।३०)
तत्र लोकाश्रयं काव्यमागमास्तत्त्वदर्शिनः॥ (५।३३)

२२. संभवतः भामह ने ये उदाहरण प्रसिद्ध काव्यों से लिए है। "आकाशमसिश्याम-मुत्प्लुत्य परमर्षयः।" ऐसा आकाश का वर्णन कुमारसंभव में मिलता है। अत एव अन्य तीन उदाहरण भी प्रसिद्ध काव्यों से है ऐसा तर्क करने में कोई आपत्ति नहीं।

है। शब्द भी दूर से सुनाई नहीं देता; वह तो कर्ण शष्कुली में ही होता है। नदियों का पानी प्रतिक्षण बदलता रहता है; और आकाश में ग्रहगोल तो क्षणभर के लिए भी स्थिर नहीं होते, ऐसा शास्त्र का कथन है। अतएव उपर्युक्त वर्णन शास्त्र की दृष्टि में (यथार्थतः) असत्य है। किन्तु लोकव्यवहार और लोकानुभव से उपर्युक्त वर्णनों की सत्यता हमारे लिए प्रमाणित होती है। शास्त्रतः जो 'आभास' निर्धारित है वह कई बार लोकव्यवहार तथा लोकानुभव की दृष्टि से सत्य सिद्ध होता है। काव्य का आधार लोकानुभव है। काव्य लोकानुभव का अनुवाद करता है। इस लिए काव्यगत वर्णन भी लोकानुभव की दृष्टि में सत्य होते हैं। यही काव्यन्याय में प्रत्यक्ष है। काव्यस्थित इस प्रत्यक्ष को शास्त्रनियमों से नहीं [illegible] ने पड़तालना है'(२३)।

काव्यगत अनुमान —— अर्थसिद्धि का दूसरा प्रमाण है अनुमान। अनुमान के तीन अग —— प्रतिज्ञा, हेतु तथा दृष्टान्त —— काव्यगत अनुमान मे भी होते है। किन्तु उनकी काव्यगत सत्यता लोकाश्रित ही होती है। इन सभी का उदाहरणों के साथ उत्कृष्ट विवेचन भामह ने पाँचवे परिच्छेद में ३५ से ६० तक की कारिकाओं में किया है। जिज्ञासु वह मूल में ही देखें। केवल एक उदाहरण यहाँ हम प्रस्तुत करते है——

यथाभितो वनोभोगमेतदस्ति महत्सरः।
कूजनात् कुररीणां च कमलानां च सौरभात् ।। (५।४६)

कुररी का कूजन सुनाई दे रहा है और कमलों की सुगन्ध महक रही है, अत एव अनुमान होता है कि इस वन में पास ही कहीं सरोवर होना चाहिये। यहाँ 'सरोवर का अस्तित्व' साध्य है और उसका साधक हेतु 'कूजन' और 'सौरभ' है। न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार देखें तो यहाँ हेतु ठीक नहीं है। क्योंकि 'कूजन' और 'सौरभ' उस प्रदेश के धर्म न होने के कारण 'पक्षे सत्त्व' या 'पक्षधर्मता' यह धर्म यहाँ नहीं है। किन्तु ऐसा होनेपर भी यह अनुमान लोकानुगामी है और 'अन्यधर्मोऽपि तत्सिद्धि सम्बन्धेन करोत्ययम्।' इस भामह के वचन के अनुसार सत्य है। इसके विपरीत शास्त्रतः शुद्ध अनुमान भी लोकानुभव से संवादी न हों तो काव्य की दृष्टि से वह दोष होगा। उदाहरणार्थ ——'काशा हरन्ति हृदयममी कुसुमसौरभात्।' —— पुष्पों की सुगन्ध से यह काश मन को आकृष्ट करते हैं, यह अनुमान तन्त्र की दृष्टि से (Technically) निर्दोष है, किन्तु लोकानुभव से संवादी नहीं है। काश के फूल ही नही होते इस बात का कवि को विस्मरण हुआ और इसी लिए काव्य की दृष्टि से यह हेत्वाभास मात्र है।

---

२३. काव्यप्रत्यक्ष का अधिक विवेचन अनुपद किया जावेगा।

इस प्रकार काव्यगत प्रत्यक्ष और काव्यगत अनुमान का स्वरूप भामह ने लोकानुभव के आश्रय से विशद करते हुए, शास्त्रीय न्याय से वह कैसे भिन्न है यह दर्शाया है और उससे वक्रोक्ति की सत्यता सिद्ध की है। इस सम्पूर्ण विवेचन को उन्हों ने 'काव्यन्यायनिर्णय' की संज्ञा दी है। उनका यह न्यायनिर्णय Logic of Poetry ही है यह कहने में कोई आपत्ति नहीं।

इस प्रकार भामह ने अर्थसंस्कार की अर्थात् वक्रोक्ति की सत्यता का प्रतिपादन किया है और वह काव्य का अन्तरंग (अबाह्य) किस प्रकार हैं यह भी दर्शाया है। न्याय तथा व्याकरण दोनों शास्त्रों के क्षेत्रों में प्रवेश करते हुए उन्होंने शास्त्रकारों को काव्य का महत्त्व प्रमाणित कर दिखाया। इस सम्पूर्ण विवेचना में उनका प्रकाण्डपांडित्य प्रतीत होता है। किन्तु भामह केवल पंडित ही न थे। उनके शास्त्रज्ञान का रसिकता से मिलाप हुआ था। पांडित्य और वैदग्ध्य दोनों उनमें अविरोध से थे। अतएव तर्ककर्कश नैयायिक एवम् शब्दपंडित वैयाकरण दोनों के सम्मुख काव्य की ओर से प्रतिवाद करने में वे अत्यन्त सफल रहे। भामह ने काव्यशास्त्र को अन्य शास्त्रों से समान प्रतिष्ठा प्राप्त करा दी यह भामह का साहित्य के रसिकों पर बड़ा भारी उपकार है। उत्तरवर्ती साहित्यमीमांसकों ने उनके इस उपकार का समय समयपर कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किया है।

भामह के ग्रन्थ में जो विवेचन है इस प्रकार का विवेचन दण्डी के ग्रन्थ में नहीं पाया जाता। दण्डी को इस विवेचन की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। 'विचार: कर्कश: प्रायस्तेनालीढेन किं फलम्' इतना कह कर वे विराम लेते हैं। दण्डी का उद्देश्य कविशिष्यों को और विदग्धगोष्ठी में नागरकों को कवित्व के तथा रसिकत्व के पाठ देने का था, अन्य शास्त्रकारों से वाद करने का नहीं, इस बात पर ध्यान देने से कह सकते हैं कि उनका कहना उनके उद्देश्य के अनुकूल ही था। भामह तथा दण्डी में यह भेद देखने पर लगता है कि भामह कविता का वकील है तो दण्डी कविता का अध्यापक है।

काव्य का निर्भीक आलोचक

भामह जिस काव्य की ओर से वकालत कर रहे हैं उस काव्य की कुछ विशेष इयत्ता उन्हें अपेक्षित है। भामह सत्काव्य और सत्कवि के रसिक हैं। साथ ही कुकाव्य और कविब्रुव दोनों का तिरस्कार करते हैं। सत्काव्य और सत्कवि का महत्त्व अन्य शास्त्रकारों को प्रमाणित कर दिखाने में भामह ने काव्यन्याय और काव्य का व्याकरण बनाया। किन्तु उसी विषय में उन्होंने कवियों से जो कहा है उससे उनकी वक्रोक्ति का रूप स्पष्ट हो गया। भामह कवियों ने कहते हैं—सत्कवि काव्यरूप शरीर से चिरकाल जीवित रहते हैं। किन्तु कवित्व का अर्थ केवल पदरचना मात्र

नहा हाता । कावत्व एक तपस्या ह । कावत्व क लिए व्याकरण, छन्द, अभिधान-कोष, इतिहास, लोकव्यवहार, युक्ति, कला आदि से परिचय आवश्यक है । सत्काव्य का पठन तथा विद्वानों का उपासन भी उसके साथ होना चाहिये । यह तो सही है कि बिना प्रतिभा के काव्य का सर्जन नहीं होता, किन्तु उस पर व्युत्पत्ति का अध्ययन-पूर्वक संस्कार न हों तो वह प्रतिभा प्रकाशित नहीं होती; और इतने परिश्रमों के बाद भी कोई बिरला ही 'महाकवि' के नाम से प्रसिद्ध होता है । एक सत्कवि के साथ अनेक कविब्रुव निर्माण होते हैं । 'गणयन्ति नापशब्दं, न वृत्तभंगं, क्षयं न वार्ऽर्थस्य ।' इस प्रकार वेश्यापति से समानता प्राप्त करनेवाले कविब्रुवों से भामह स्पष्ट रूप में कहते हैं—'भाईयों, कवित्व न भी हो तो चल सकता है; कवित्व न होने से अधिक से अधिक क्या होनेवाला है? अधर्म होगा, व्याधि होगा या दण्ड होगा । किन्तु कुकवित्व तो साक्षात् मृत्यु ही हैं (२४) ।"

इसी लिए भामह ने काव्यग्रन्थों की कड़ी जाँच की है । काव्य के लिए वक्रोक्ति की आवश्यकता है यह तो ठीक है, किन्तु वक्रोक्ति की भी कुछ सीमाएँ हैं इस बात को भामह खूब जानते हैं । वक्रोक्ति का अतिशयित मात्रा में उपयोग करने से कवि काव्य की क्या हानि करते हैं यह भामह ने भिन्न भिन्न काव्यों के उदाहरणों से स्पष्ट किया है । भामह कहते हैं—"अभिधेयवक्रता और शब्दवक्रता वाणी के भूषण तो है ही, किन्तु वक्रोक्ति की सीमाओं का पालन न किया तो महान् दोष होते हैं । महाकवि ये दोष नहीं होने देते । परन्तु कुकवि इस बात की ओर ध्यान ही नहीं देते । इस लिए उनके काव्य नेयार्थ, क्लिष्ट, अवाचक और अयुक्तिमत् होते हैं (२५) ।" काव्य में अयुक्तता का भामह ने बड़ा ही सुंदर उदाहरण दिया है । कालिदास ने 'मेघदूत' लिखा । ऐसा तो था नहीं कि वास्तव में मेघ दौत्य नही कर सकता इस बात को कालिदास का यक्ष जानता नहीं था । किन्तु विरह की उत्कण्ठा का उसके मन पर ऐसा प्रभाव जम गया था कि चेतन और अचेतन का उसे कोई भान ही नहीं रहा । इस लिए मेघ का दौत्यकर्म रसिक मान लेता है और उसमें उसे रुचि भी होती है । उसमें कुछ भी अयुक्त प्रतीत नहीं होता । कालिदास की यह अर्थवक्रता हमें आकृष्ट करती है । किन्तु कालिदास के मेघदूत के बाद 'दूतकाव्यों' की एक फैशन ही निकली। इन्दुदूत, वायुदूत, चक्रवाकदूत, आदि काव्य निर्माण हुए । कालिदास के समान

२४. अकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा ।
कुकवित्वं पुनः [illegible] ॥ (१।१२)

२५. नेयार्थं [illegible] ।
गूढशब्दाभिधानं च कवयो न प्रयुञ्जते ॥ (१।३७)

इन कवियों ने युक्तता का ध्यान नही रखा। इस लिए उनकी वक्रोक्ति का टेढ़ेपन में रूपांतर हुआ। भामह ने ऐसे कवियों की कड़ी आलोचना की है (१।४२-४४)।

भामहकालीन साहित्यपंडितों में और भी एक वाद का प्रश्न था। काव्य के वैदर्भ काव्य और गौड काव्य इस प्रकार भेद करते हुए वैदर्भ काव्य को श्रेष्ठ माननेवाला रसिकों का एक वर्ग था। काव्य में इस प्रकार के भेद भामह को स्वीकार न थे। इन रसिकों की वे कड़ी आलोचना करते हैं। वे कहते हैं—'वैदर्भ काव्य और गौड काव्य ऐसे भेद भी किस सिद्धान्त के आधार पर कर सकते हैं? केवल गतानुगतिक न्याय से एक की भलाई और दूसरे की बुराई करने में क्या धरा है? काव्य तो अलंकारवत्, अग्राम्य, अर्थवत्, न्याय्य और अनाकुल होना चाहिये। इन गुणों से यदि काव्य युक्त है तो गौडीय होने पर भी ग्राह्य है; और यदि ये गुण न हों तो वैदर्भ काव्य भी हेय है। केवल देश के नाम से काव्य अच्छा या बुरा नहीं हो सकता।'

दण्डी ने काव्यादर्श में वैदर्भ मार्ग और गौड मार्ग की विवेचना की है। इस पर से कतिपय विद्वानों ने तर्क किया है कि भामह की आलोचना का लक्ष्य दण्डी होगा किन्तु यह तर्क ठीक नहीं है। दण्डी ने इन दो मार्गों का कथन करने में न एक की भलाई की है न दूसरे की बुराई। "वाणी के अनेक मार्ग हैं। प्रत्येक में एक अपनी मधुरता है। उनमें से वैदर्भ और गौड ये दो 'प्रस्फुटांतर' होने से उनका भेदपूर्वक वर्णन किया जा सकता है; वह मैं करूँगा।" इतना ही दण्डी ने कहा है।

वक्रोक्ति और अभिनय

'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।' अथवा 'वाचां शब्दार्थवक्रोक्तिरलंकाराय कल्पते।' ऐसा भामह ने स्पष्टरूप से कहा है। इसमें जो अभिप्राय है वह देखने का हम प्रयास करें। उपर्युक्त दोनों वचनों में से प्रथम वचन का अर्थ अभिनवगुप्त ने ऐसा किया है—'शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेण अवस्थानम्।'—शब्द तथा अर्थ की लोकोत्तर रूप में काव्य में स्थिति ही वक्रोक्ति का स्वरूप है। शब्द तथा अर्थ के इस लोकोत्तर अवस्थान से ही काव्यार्थ का विभाजन होता है (अनयाऽर्थो विभाव्यते)। अर्थों का विभावन करना ही अलंकारों का कार्य है। अतएव काव्य के लिए वक्रोक्ति आवश्यक है। भामह के समक्ष महाकाव्य का आदर्श है। नाट्य से जो सौंदर्य प्रतीत होता है वही महाकाव्य से भी होना है। किन्तु सौंदर्य के आविर्भाव के दोनों के साधन भिन्न भिन्न हैं। नाट्य में सौंदर्य के आविर्भाव के लिए वेष, दृश्य संगीत आदि अनेकों साधनों की सहायता मिलती है। काव्य में इन सब का कार्य शब्दों से ही कराना पड़ता है। 'कुमारसंभव' की कथावस्तु लेकर यदि कालिदास ने नाटक रचा होता तो उसमें वसंत ऋतु

का दृश्य समक्ष प्रस्तुत किया होता। एवं शिव तथा पार्वती के भावाभिप्राय अभिनय के द्वारा प्रकट हुए होते । किन्तु वही कार्य कालिदास अपनी वक्रोक्ति की सहायता से काव्य में भी सिद्ध करता है । और वह संपूर्ण प्रसंग दर्शकों के समक्ष 'प्रत्यक्षवत्' स्फुट रूप में उपस्थित करता है । यह सब कैसे होता है ?

इसपर भामह का उत्तर है कि भाविकत्व गुण से यह सब होता है । "भाविकत्व काव्य का एक ऐसा गुण है कि जिससे भूतकालीन या भविष्यत्कालीन अर्थ हमें प्रत्यक्षवत् दिखाई देते है (२६) ।" किन्तु यह गुण कवि अपने काव्य में कैसे लाता है? भामह का इसपर कहना यह है—

चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं, **कथायाः स्वभिनीतता ।**
शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते ।। (३।५४)

चित्र, उदात्त और अद्भुत काव्यार्थ होना तो कथा में भलीभांति अभिनीत होने की क्षमता होना, और शब्दों में प्रसन्नता (प्रसाद) होना, ये तीन समुच्चय से भाविकत्व के कारण होते हैं।' कथायाः स्वभिनीतता' अत्यंत महत्त्वपूर्ण शब्दप्रयोग है । **काव्य में भी अर्थ अभिनीत ही होता है ।** अभिनवगुप्त कहते हैं—'काव्येऽपि सर्वो नाटचायमान एवार्थः' यह अभिनय हम देखें कैसे ? भामह का कथन है कि अलंकारों से या वक्रोक्ति से वह रसिक को प्रतीत होता है ।

अभिनय अच्छा रहा तो नाटचार्थ ठीक प्रकार से प्रतीत होता है। अभिनय अच्छा न रहा तो नाटक असफल होता है । ऐसा ही काव्य का भी है । वक्रोक्ति का ठीक उपयोग हुआ तो काव्यार्थ स्वभिनीत होता है । इसके विपरीत वक्रोक्ति का अयुक्त उपयोग होने से वही दुरभिनीत होता है एवं उससे वैरस्य आता है । "कुमारसंभव" का तीसरा और पाँचवाँ सर्ग वक्रोक्ति से अर्थ के स्वाभिनीत होने के उत्तम उदाहरण हैं । स्थल के अभाव के कारण यहाँ उनकी स्वल्प कल्पना भी देना असंभव है । पाठक उन्हें मूल में देखें । वक्रोक्ति के अयुक्त उपयोग से होने-वाली अर्थहानि का भामह ने यह उदाहरण दिया है—

क्वचिदग्रे प्रसरता क्वचिदापत्यनिघ्नता ।
शुनेव सारंगकुलं त्वया भिन्नं द्विषां बलम् ।। (२।५४)

राजा के विक्रम वर्णन के प्रसंग में कवि कहता है, "क्या आप के विक्रम का बखान करें ! आप अकेले और शत्रु असंख्यात । किन्तु कभी अचानक आक्रमण करते हुए या कभी अकस्मात् प्रहार करते हुए—कुत्ता जैसे हीरनों को खदेड़ता है उसी

२६. भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबंधविषयं गुणम् ।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः ॥ (३।५३)

प्रकार आप ने शत्रुओं को मार भगाया!" यहाँ कवि ने अपनी वक्रोक्ति से विक्रम-शाली रणवीर के स्थानपर कुछ दूसरा ही चित्र उपस्थित किया है। यही काव्य की दुरभिनीतता है। उत्तरवर्ती आलंकारिकों ने इसे ही अलंकारदोष कहा है।

सारांश, नाट्यार्थ आहार्यादि अभिनयों से अभिनीत होता है, तो काव्य में वही अर्थ वक्रोक्ति से अभिनीत होता है। नाट्यार्थ अभिनय से विभावित होता है तो काव्यार्थ वक्रोक्ति से विभावित होता है। नाट्य अभिनय में प्रतिष्ठित है तो काव्य अलंकारों में प्रतिष्ठित है। अभिनय नाट्यधर्मी है तो अलंकार वक्रोक्ति है। नाट्यधर्मी के द्वारा लोकधर्मी प्रतीत होना नाट्य है तो वक्रोक्ति के द्वारा लोकानुभव प्रतीत होना काव्य है। नाट्यधर्मी का आधार लोकधर्मी है तो वक्रोक्ति भी लोकाश्रित ही है। नाट्यधर्मी ही नाट्यालंकार है; इधर वक्रोक्ति ही काव्यालंकार है। इसी लिए भामह कहते हैं—

> सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
> यत्नोऽस्यां कविभिः कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥ (२।८५)

अ ध्या य पाँ च वाँ
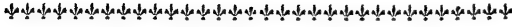
अलंकारशास्त्र का मार्गक्रमण

शब्दसंस्कार के समान ही अर्थसंस्कार भी होता है।

शब्द के ग्राम्य अथवा संस्कृत रूप के समान अर्थ के भी ग्राम्य अथवा संस्कृत रूप होते हैं। शब्दसंस्कार को शब्दव्युत्पत्ति या सौशब्द्य कहते है; अर्थसंस्कार को अर्थ-व्युत्पत्ति या वक्रोक्ति कहा जाता है। भामह ने वक्रोक्ति के पर्याय के रूप में 'अर्थव्युत्पत्ति' शब्द का प्रयोग किया है। शब्दव्युत्पत्ति का शास्त्र 'व्याकरण' है; अर्थव्युत्पत्ति का शास्त्र 'अलकार' है। व्याकरण शिष्टप्रयोगशरण होता है; अलंकारशास्त्र भी कविप्रयोगशरण होता है। 'शिष्टाः शब्देषु प्रमाणम्।' ऐसा महाभाष्यकार ने कहा है तो भामह का कहना है– 'कि च काव्यानि नेयानि लक्षणेन महात्मनाम्।' (२।४५); और एक महाकवि ही कहता है कि महाकवियों के काव्य का स्वरूप लोकातिक्रान्त होता है (१)। जब पाणिनि कहते हैं—

> उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
> यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागात् गलितं न लक्षितम्।।

या कालिदास लिखते हैं—

> अंगुलीभिरिव केशसंचयं संनियम्य तिमिरं मरीचिभिः।
> कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी।।

---

१. अतह ट्ठिए वि तहसण्ठिए व्व हिअअम्मि जा णिवेसेइ।
अत्थविसेसे सा जअइ विकड कइगोअरा वाणी।।

अचेतन भावों को भी मानों सचेतन करते हुए उन्हें रसिक हृदय में संक्रान्त करनेवाली असीम सामर्थ्यशाली कविवाणी की जय हों।

तब वद्यप्रतिपदा की, चन्द्रमा के उदय की पार्थिव घटना प्रणयी युगुल के अपार्थिव प्रेमव्यवहार में परिणत होते हुए रसिकहृदय में संक्रान्त होती है और इस प्रकार के अपार्थिव आकार के तथ्य के विषय में हम क्षणभर के लिए भी संदेह नहीं करते, बल्कि प्रकट रूप में उसका स्वीकार करते हुए रसास्वाद के आनन्द का अनुभव करते हैं। यह चमत्कार वक्रोक्ति की जादुगरी से होता है।

काव्य का सौंदर्य इस प्रकार वक्रोक्ति में प्रतिष्ठित है। वैयाकरणों की शब्द-व्युत्पत्ति मात्र से या तार्किकों के अनुमान मात्र से इस सौंदर्य का आकलन नहीं होता। उसके लिए वक्रोक्ति का ही आश्रय लेना पड़ता है ऐसा भामह का कथन है। भामह का यह एक कथन मात्र है। किन्तु केवल इस कथनमात्र से वक्रोक्ति की शास्त्रीय उपपत्ति स्पष्ट रूप में समझ में नही आती। यह उपपत्ति सिद्ध करने का कार्य उत्तरवर्ती आलंकारिकों ने किया।

वक्रोक्ति, समाधिगुण और लक्षणा

वक्रोक्ति का बीज कहाँ है इस प्रश्न का उत्तर, विवेचन के क्रम में दण्डी ने ही दिया था, भले ही उसकी उपपत्ति न दी हो। दण्डी का कथन है कि काव्य में गौण-वृत्ति का आश्रय किया हुआ रहता है (२)। दण्डी ने वैदर्भी रीति के प्राणभूत गुणों में 'समाधि' नामक गुण दिया है। दण्डी का कहना है कि समाधिगुण कवि के काव्य का सर्वस्व है (३)। गौणवृत्ति का उपयोग ही यह समाधिगुण है। समाधिगुण का लक्षण दण्डी ने इस प्रकार किया है—

> अन्यधर्मास्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
> सम्यगाधीयते यत्र समाधिः स स्मृतो यथा॥
> कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिषन्ति च।
> इति नेत्रक्रियाध्यासात् लब्धा तद्वाचिनी श्रुतिः॥ (१।९३,९४)

लोकमर्यादा का अतिक्रम न करते हुए, एक वस्तु के धर्म का जहाँ अन्य वस्तु पर आरोप किया होता है वहाँ समाधिगुण रहता है। उदा० कुमुदों का निमीलन हो रहा है और कमलों का उन्मीलन हो रहा है। यहाँ कुमुद एवं कमलों पर नेत्र-क्रिया का अध्यास हुआ है। इस अध्यास को आधार है कुमुद एवं कमल तथा नेत्र इनमें अभेदप्रतीति का। अध्यास का अर्थ है अन्यत्र अन्यधर्मारोप (शांकरभाष्य) इसी अर्थ में दण्डी ने यहाँ इस शब्द का प्रयोग किया है। उत्तरकालमें राजशेखर

. नैऽनी प्रयोगमार्गेषु गौणवृत्तिव्यपाश्रयाः ; अत्यंतसुन्दराः—(१।९५)

. तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः।
कविसार्थः समग्रोऽपि तमेनमुपजीवति॥ (१।१००)

ने इसीके लिए 'प्रतिभास' शब्द का प्रयोग करते हुए, "न प्रतिभानः वस्तुनि तादात्म्येनावतिष्ठते।" इस प्रकार भिन्न शब्दो में उसका स्वरूप बताया है।

यह अध्यास अर्थात् "अन्यत्र अन्यधर्मारोप" भाषिक व्यवहार में लक्षणा-द्वारा प्रवृत्त होता है। यही शब्दों की गौणवृत्ति है और यही वक्रोक्ति का बीज है। अब हम कह सकते है कि काव्य में वक्रोक्ति होती है इसका अर्थ है काव्य में "अन्यत्र अन्यधर्मारोप" अर्थात् गौणवृत्ति अर्थात् लक्षणा होती है।

भामह के उत्तरवर्ती काल में वक्रोक्ति का अमुख्यवृत्तिद्वारा विवेचन

संभव है कि काव्य में लक्षणा का कैसा विलास है इसका विवेचन उद्भट के भामहविवरण में आया हुआ हो।' 'भामहविवरण' भामह के ग्रन्थ का उद्भट ने किया हुआ व्याख्यान है। यह ग्रन्थ अभी उपलब्ध नही है। किन्तु इससे अनेक ग्रन्थकारों ने उद्धरण लिये हुए हैं, उनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है। उद्भट की संमति में शब्द से अभिमान भिन्न है। उस अभिधान के अर्थात् अभिधा-व्यापार के दो भेद हैं—मुख्य तथा गुण वृत्ति। काव्य में अमुख्य अर्थात् गुणवृत्ति का ही उपयोग किया हुआ होता है (४)। उद्भट के उपलब्ध 'काव्यालंकार-सारसंग्रह' से भी यह अनुमान स्थिर होता है। उक्त ग्रन्थ में दिये हुए रूपक तथा पर्यायोक्त के लक्षण देखने से उद्भट के विचार में काव्यस्थित व्यापार वाच्यवाचक या श्रुतिसंबन्ध से किस प्रकार भिन्न है एवं वह गुणवृत्तिप्रधान ही कैसे होता है यह ध्यान में आ जाता है। वामन ने तो वक्रोक्ति को "सादृश्याल्लक्षणा" ही कहा है एवम् "उन्मिमील कमलं सरसीनां कैरवं च निमिमील मुहूर्तात्" इस प्रकार दण्डी के समाधिगुण के उदाहरण के समान उदाहरण दिया है; तथा "अत्र नेत्रधर्मौ उन्मीलननिमीलने सादृश्यात् विकाससंकोचौ लक्षयतः।" इस प्रकार वह विशद किया है। माधुर्यगुण को तो उन्होंने 'उक्तिवैचित्र्य' ही कहा है। सारांश, दण्डी तथा भामह के उत्तरवर्ती उद्भट और वामन इन दोनों ग्रन्थकारों ने काव्यस्थित वक्रोक्ति का विवेचन अमुख्यवृत्ति अर्थात् लक्षणा के रूप में किया है।

अलंकारशास्त्र की मधुपवृत्ति

नैयायिक एवं वैयाकरण दोनों को काव्यस्थित वक्रोक्ति का महत्त्व स्वीकार न था, क्योकि दोनो को लक्षणा स्वीकार न थी। नैयायिक लक्षणा का अन्तर्भाव

४. भामहेनोक्तं—'छन्दः शब्दोऽभिधानार्थाः' इति। अभिधानस्य शब्दात् भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे—शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारः मुख्यो गुणवृत्तिश्च—अभिनवगुप्तःलोचनटीका। इसी स्थान पर अभिनवगुप्त ने और भी कहा है कि काव्य में आमुख्यवृत्ति का ही व्यवहार होता है ऐसा उद्भट, वामन आदि का विचार है।

अनुमान में करते थे और प्राचीन वैयाकरण लक्ष्यार्थ को वाच्यार्थ के अन्तर्गत मानते थे (५)। इस कारण से, काव्यस्थित अमुख्य वृत्ति की विवेचना के लिए काव्यशास्त्र ने मीमांसा का आश्रय लिया। काव्यचर्चा के इतिहास में, साहित्य के पंडितों ने मधुप वृत्ति का अंगीकार किया हुआ दिखाई देता है। साहित्यशास्त्र का मूल आधार व्याकरण है। साहित्य के पंडितों ने 'पूर्वे विद्वांसः' कह कर वैयाकरणों का आदर किया है। भामह ने अपने ग्रन्थ में व्याकरण की महत्ता का गान किया है। इतना होने पर भी काव्यशास्त्र व्याकरण का दास नहीं बना। उनके विचार में काव्यचर्चा की दृष्टि से व्याकरण में जो कुछ उपयुक्त था वह उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक ले लिया। व्याकरण का 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः।' यह सिद्धान्त उन्होंने स्वीकार किया। किन्तु लक्षणावृत्ति के सम्बन्ध में उनकी व्याकरण से न बनी। लक्षणा की सिद्धि के लिए उन्होंने मीमांसा का आश्रय लिया। किन्तु मीमांसक व्यञ्जना मानते नहीं यह देखते ही उन्होंने मीमांसा को भी छोड़ दिया और स्वतन्त्र मार्ग अपनाया। रसविवेचन में भी उन्होंने न्याय, मीमांसा, सांख्य, वेदान्त आदिका जहाँ जिस प्रकार उपयोग हो सकता था कर लिया, किन्तु अपनी स्वतन्त्रता खोई नहीं। जैसे भ्रमर फूल फूल में से मधुकण लेता है उसी प्रकार की साहित्यशास्त्र की प्रवृत्ति रही। इसी लिए साहित्यविद्या, 'सर्वविद्यानां निष्यन्दः' के गौरव की पात्र रही।

काव्यचर्चा लक्षणा के आश्रय से होने लगी तब उसपर मीमांसा का बड़ा प्रभाव हुआ। वह बहुत कालतक—आनन्दवर्धन के कालतक—रहा। व्यंजना के प्रस्थापन में आनन्दवर्धन के सब से बड़े विरोधी मीमांसक ही थे। 'भाक्तमाहुस्तमन्ये।' इस प्रकार ध्वनिकार ने जिनका निर्देश किया है वे मीमांसक ही हैं। तात्पर्यवादी, दीर्घ-अभिधावादी तथा अन्विताभिधानवादी आदि सब ही ध्वनि के विरोधक मीमांसक ही थे। इनके विरोध में आनन्दवर्धन को व्यञ्जना की प्रस्थापना करनी पड़ी। भामह के समय में न्याय तथा व्याकरण की प्रणाली से साहित्यचर्चा होती थी। और भामह के बाद आनन्दवर्धन के समयतक वह मीमांसा की प्रणाली से होती रही इस प्रकार (६) काव्यचर्चा में हुआ स्थित्यंतर संक्षेप में बताया जा

---

५. प्राचीन वैयाकरणों को लक्षणा स्वीकार न होने का कारण ज्ञानेन्द्रसरस्वती ने तत्त्वबोधिनी में 'द्रोणो व्रीहिः' पर किये हुए विवेचन में दिया है। जिज्ञासु देखें।

६. व्याकरण, न्याय तथा मीमांसा का काव्यचर्चा पर हुआ प्रभाव देखने से मुकुलभट्ट के निम्न वचन का रहस्य स्पष्ट हो जाता है—

पद-वाक्य-प्रमाणेषु यदेतत्प्रतिबिम्बितम्।
यो योजयति साहित्ये तस्य वाणी प्रसीदति ॥

सकता है। इस समय के उपलब्ध ग्रन्थकारों में उद्भट, वामन और रुद्रट ये महान ग्रन्थकार हुए।

उद्भट और वामन (लगभग सन ८०० ईसवी)

दण्डी तथा भामह के बाद उद्भट तथा वामन दोनों ने काव्यचर्चा को आगे बढाया। उद्भट ने भामह के अलंकारों को ठीक आकार दिया। और वामन ने दण्डी के काव्यमार्गों को रीति की शास्त्रीय भित्तिपर स्थिर करने का प्रयास किया। इन दोनों को साहित्य के क्षेत्र में इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई कि उनकी तुलना में दण्डी और भामह लुप्तप्राय हो गये। इन दोनों ने काव्यचर्चा में क्या कार्य किया यह अब देखेंगे (७)।

उद्भट के विशेष मत

'काव्यालंकारसारसंग्रह' में उद्भट ने अलंकारों का विवेचन किया है। कुछ थोड़े परिवर्तन छोड़ दिये तो उद्भट का अलंकारक्रम भामह से मेल रखता है। भामह के यमक, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षावयव आदि कतिपय अलंकार उद्भट ने छोड़ दिये हैं और पुनरुक्तवदाभास, संकर, काव्यहेतु तथा काव्यदृष्टान्त अधिक लिये हैं। उद्भट ने अपने लक्षण भामह के ही आधार से किये हैं किन्तु उनका स्वरूप विशेष ठीक किया है। उद्भट ने अलंकारों को दिया हुआ शास्त्रीय स्वरूप लेने की उत्तर काल में मम्मट की भी इच्छा हुई इसीमें उद्भट के ग्रन्थ की योग्यता स्पष्ट होती है।

उद्भट के ग्रन्थ से उनके कुछ विशेष विचार प्रतीत होते हैं। संक्षेप में ही क्यों न हो, उनका परिचय कर लेना इष्ट है।

(१) श्लेष अलंकार के संबन्ध में उनका मत है कि बाह्यतः शब्द एकरूप

---

७. विद्वानों का अनुमान है कि संभवतः उद्भट और वामन समकालीन थे। उद्भट काश्मीर के राजा जयापीड के सभापति थे। उद्भट का 'काव्यालंकारसारसंग्रह' नामक एक ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त भामह के ग्रन्थपर 'भामहविवरण' नामक टीका एवं नाट्यशास्त्रपर एक टीका उन्होंने लिखी है। ये ग्रन्थ उपलब्ध नहीं। डॉ. राघवन् का कथन है कि नाट्यशास्त्र के आठ रसों में एक और शान्त रस उद्भट ने सिद्ध किया। इनका 'कुमारसंभव' नामक एक काव्य भी था। 'काव्यालंकारसारसंग्रह' के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज का कथन है कि सारसंग्रह के उदाहरण इसी काव्य से लिए गये हैं। वामन का एक ही ग्रन्थ — 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति'— उपलब्ध है। राजतरंगिणीकार का कथन है की राजा जयापीड का वामन नामक एक मन्त्री था। यह वामन और काव्यालंकारसूत्रवृत्तिकार वामन यदि एक ही हो तो संभव है कि उद्भट और वामन समसामयिक ही नहीं, एक दूसरे से परिचित भी थे। और यद्यपि ऐसा न भी हो, तो भी उनके समसामयिक होने के विषय में अन्य काफी प्रमाण उपलब्ध हैं।

दीखनेपर भी अगर उनके अर्थ में भेद है तो वे शब्द भी भिन्न हैं (८)। साधारण रूप में जैसा हम समझते हैं कि श्लेप में एक शब्द के दो अर्थ होते है, ऐसी बात नहीं है, अपितु दो शब्द समरूप होने से उनके एक होने का आभास होता है। श्लेप का अलंकारत्व इसी मत से उपपन्न होता है। उद्‌भट का यह मत उत्तरवर्ती आलंकारिकों को स्वीकार हुआ। किन्तु उन्होंने श्लेष का शब्दश्लेप और अर्थश्लेप इस प्रकार विभाग करते हुए भी, दोनों का भी अर्थालंकारों में ही अन्तर्भाव किया इस बात की उत्तरकाल में आलोचना की गई।

(२) उद्‌भट को गुण और अलंकार यह भेद स्वीकार न था। उनके विचार में दोनों शब्दार्थों में समवाय वृत्ति से रहते हैं तथा दोनों काव्यसौंदर्य निर्माण करने वाले धर्म है। दोनों में भेद केवल इतना ही है कि गुण संघटनाश्रित होते हैं और अलंकार शब्दार्थाश्रित होते हैं।

(३) प्रेयस्, रसवत् आदि अलंकारों के संबंध में भी उनकी एक अपनी विशिष्ट दृष्टि है। आगे चलकर 'ध्वन्यालोक' में उपलब्ध रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि का बीज उद्‌भट की विवेचना में मिलता है। इस विपय में उद्‌भट की की हुई विवेचना भामह तथा दण्डी से बहुत आगे बढ़ी हुई पाई जावेगी। उद्‌भट के मन्तव्य में भाव चार प्रकारों से एवं रस पाँच प्रकारों से काव्य में आविर्भूत होते हैं (९)। उसमें जो रस का स्वशब्दनिवेदितत्व बताया गया था वह आनन्दवर्धन की आलोचना का विषय हुआ। उद्‌भट नाट्य में भी नौ रस मानते हैं। उद्‌भट का रस के संबन्ध में विवेचन उत्तरार्ध में आवेगा।

(४) काव्यस्थित शब्दव्यापार के विषय में भी उनका अपना एक विशेष मत है। उनका विचार है कि काव्य में वैभक्त, शाक्त तथा शक्तिविभक्तिमय इस प्रकार त्रिविध व्यापार होता है। तथा उनके द्वारा शब्दों की अमुख्य वृत्ति अर्थात् गुणवृत्ति प्रवर्तित होती है। काव्य में व्यापार अमुख्यवृत्ति का होता है यह कहने में उद्‌भट शब्दव्यापार के क्षेत्र में बहुत ही आगे बढ़ गये हैं। आनन्दवर्धन कहते हैं–अमुख्य वृत्ति का स्वीकार करते हुए, अनजाने क्यों न हों, उद्‌भट ने ध्वनितत्त्व को ही स्पर्श किया है (१०)।

(५) काव्यन्याय के विवेचन में उद्‌भट ने विचारितसुस्थ तथा अविचारित-रमणीय इस प्रकार दो भेदों में अर्थ का विभाग करते हुए कहा है कि शास्त्र का अर्थ

---

८. अर्थभेदेन तावत् शब्दाः भिद्यंते इति भट्टोद्भटस्य सिद्धान्तः। प्रतिहारेन्दुराज.

९. चतूरूपा भावाः। पञ्चरूपा रसाः।

१०. १।१ पर वृत्ति, काव्यमीमांसा पृ. २२। ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत।

विचारितसुस्थ होता है तो काव्य का अर्थ अविचारितरमणीय होता है। उद्भट के इस विचार की राजशेखर ने आगे चलकर आलोचना की है।

(६) उद्भट का प्रेयस्वत् अलकार का लक्षणविशेष रूप में विचारार्ह है। उद्भट का कथन है कि जिस काव्य में अनुभाव आदि से रति आदि भावों का सूचन होता है वह काव्य प्रेयस्वत् काव्य है। प्रेयस्वत् काव्य का यह लक्षण भावकाव्य का ही लक्षण है। उद्भट का टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज तो इस कारिकापर "एवं भावकाव्यस्य प्रेयस्वत् इति लक्षणया व्यपदेशः।" इस प्रकार स्पष्ट रूप में टिप्पणी देता है। हमारी भावकाव्य की आधुनिक कल्पना प्रेयस्वत् से कुछ खास भिन्न न होगी; और इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि यहाँ प्रतिहारेन्दुराज आजकल रूढ हुए भावकाव्य शब्द का ही प्रयोग कर रहा है।

उद्भट का प्रभाव

उद्भट के यह मत उत्तरवर्ती आलंकारिकों को पूर्ण रूपेण स्वीकार न थे। किन्तु इससे उद्भट के कार्य का महत्त्व कम नहीं होता। बल्कि उसीसे उसकी महत्ता ध्यान में आती है। उत्तरकाल में हुए कोई भी आलंकारिक अपना मत प्रस्तुत करने में बिना उद्भट के मत का परामर्ष किए आगे बढ़ नहीं सका। काव्यविवेचना का एक भी अंग ऐसा न था जिसपर कि उद्भट ने कुछ कहा न हो। रस, गुण, अलंकार, शब्दार्थ तथा नाटच – सभी के विषय में उन्होंने कुछ न कुछ विशेष बात कही है। इसीमें उद्भट के कार्य की महत्ता है। भामह ने काव्य का एवं अलंकार का स्वतन्त्र क्षेत्र है यह सिद्ध किया। एवं काव्यचर्चा के लिए व्याकरण आदि शास्त्रों से समान स्थान प्राप्त करा दिया। किन्तु स्वतन्त्र हुए काव्यशास्त्र की सोपपत्तिक रचना करने के लिए आवश्यक अवसर उन्हें प्राप्त न हुआ। वह कार्य उद्भट ने किया। इससे उत्तरवर्ती काव्यचर्चा में उद्भट का एवं वामन का भी (वामन के कार्य का वर्णन आगे आवेगा) इतना प्रभाव रहा कि उन्हें असंख्यात अनुयायी मिले एवं वे 'औद्भटाः', 'वामनीयाः' आदि नामों से पहचाने जाने लगे। इतना ही नहीं, उत्तरवर्ती साहित्यचर्चापर आनन्दवर्धन का अनन्यसाधारण प्रभाव होने के बाद भी उद्भट के ही मत का आग्रहपूर्वक प्रतिपादन करनेवाला प्रतिहारेन्दुराज एवं वामनीय विवेचना को प्रचलित करनेवाला प्रतिहारेन्दुराज का गुरु भट्ट मुकुल निर्माण हुए, इस तथ्य को भी भुलाया नहीं जा सकता।

'रीतिरात्मा काव्यस्य'

अब हम वामन का कार्य क्या रहा यह देखेंगे। वामन का नाम लेते ही "रीतिरात्मा काव्यस्य" इस वचन का स्मरण हो आता है। भामह रसविरोधी

है ऐसा कह कर आधुनिक अभ्यासकों ने जिस प्रकार भामह से अन्याय किया है, उसी प्रकार वामन की 'रीति' शब्दार्थों की साफ़ रचना मात्र है ऐसा कह कर उन्होंने वामन से भी अन्याय किया है। वास्तव में काव्यचर्चा के विकास में वामन का स्थान बहुत ऊँचा है। सौंदर्यप्रतीति ही काव्य का रहस्य है ऐसा वामन ने कहा है (११)। गुण तथा अलंकारों का स्पष्ट विवेक करते हुए उन्होंने काव्यचर्चा को बहुत ही आगे बढ़ाया। वामन का विवेचन काव्यशास्त्र में अन्तिम निर्णय नहीं यह तो सत्य है। किन्तु वे उसके बहुत ही समीपवर्ती हैं इसमें कोई संदेह नहीं। काव्य का सवाल हल करने में वामन केवल आखिरी पद (Stage) में कुंठित हुए।

वामन का गुणालंकारविवेक

वामन के मत में सौंदर्य ही काव्य का प्राणभूत अलंकार है। दोषों का त्याग एवं गुण तथा अलंकारों का उपादन इन साधनों द्वारा यह शोभा काव्य को प्राप्त होती है। गुण काव्यशोभा के कारक हेतु हैं एवं अलंकार काव्यशोभा के वर्धक हैं; अतएवं गुण नित्य होते हैं, अलंकार नित्य नहीं होते (१२)। गुणों का शब्द गुण एवं अर्थगुण इस प्रकार विभाग किया जाता है किन्तु वास्तव में गुण काव्यबन्ध के अर्थात् रीति के धर्म हैं। केवल लक्षणा से उन्हें शब्दार्थों के धर्म कहा जाता है (१३)। गुणालंकारों का भेद एवं उनकी नित्यानित्यता दर्शाने के लिए वामन युवती का दृष्टान्त लेते हैं और कहते हैं, "युवती का रूप मूलतः शुद्ध गुणों से युक्त हो तो अलंकार-विहीन अवस्था में भी वह सुंदर दीखता है। उसी प्रकार शुद्ध गुणों से युक्त काव्य भी रसिकों को आनन्द देता है। इसी बीच, यदि उन दोनों को अलंकार प्राप्त हुए तो उनका सौंदर्य और भी अधिक अच्छे प्रकार से प्रतीत होगा इसमें कोई संदेह नहीं। लेकिन युवती के लावण्यहीन शरीर के समान यदि काव्य भी गुणहीन हो तो उस पर कितने ही लोकप्रिय अलंकारों की रचना क्यों न की जायँ, वे अलंकार रोते ही हैं (१४)।" अतएव गुण जिस प्रकार काव्य के नित्य धर्म होते हैं उस प्रकार अलंकार नहीं होते। भरत से प्राप्त हुए और दण्डी ने विवेचित किये हुए गुणों को वामन ने और भी व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है। अभिनवगुप्त ने भी नाटचशास्त्र में गुणों का विवेचन

---

११. काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः। का. सू. वृ. १।१।१२.

१२. काव्यशोभायाः कर्तारो गुणाः। तदतिशयहेतवः अलंकाराः॥

१३. गुणा वस्तुतो रीतिनिष्ठा अपि उपचारात् शब्दधर्मा इत्युक्तम्—कामधेनु.

१४. युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरंतराभिः सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमंगनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते॥

करने में वामनीय विवेचना का भलीभाँति उपयोग कर लिया है, इसीमें वामन के कार्य का महत्त्व स्पष्ट है। उत्तरवर्ती साहित्यचर्चा में वामन के कथित दश गुणों में से केवल तीन ही शेष रहे, इससे वामन की विवेचना का महत्त्व कम समझने की आवश्यकता नहीं। उत्तरकालीन विवेचना में वामनीय गुणों का निरास नहीं हुआ; हुआ इतनाही कि उनकी पुनर्व्यवस्था हुई (१५)।

वामन का अलंकारविवेचन

वामन की अलंकारविवेचना में भी विशेषता है। वामन ने एक अध्याय में उपमा का विवेचन किया और दूसरे अध्याय में अन्य अलंकारों का विवेचन करते हुए वे सभी अलंकार उपमा का ही प्रपंच हैं यह दर्शाया (१६)। उपमा की सीमाएँ भी उन्होंने ठीक पहचानी थीं। उनका कथन है उपमान को भी लोक में प्रसिद्धता होनी चाहिये। कुमुद और कमल दोनों सुंदर तो हैं किन्तु 'मुखकमल' वाली उपमा जिस प्रकार अच्छी लगती है उस प्रकार 'मुखकुमुद' नहीं लगती। इसका अर्थ यह नहीं कि काव्य में नए उपमान आने ही नहीं चाहिये। वामन ने उपमा के लौकिक और कल्पित इस प्रकार विभाग किये हैं।' मुखकमल', 'नरव्याघ्र', 'पुरुषसिंह' आदि लौकिक उपमाएँ हैं। परंतु किसी नए उपमान का प्रयोग करते हुए कवि जब रसिक को विस्मित करता है तब कल्पित उपमा होती है। लौकिक उपमाएँ भी आरंभ में कल्पित ही थीं; किन्तु वे अब इतनी घुल गई हैं कि उन्हे लौकिक रूप प्राप्त हुआ है। क[illegible]ीं। [illegible]मन ने कल्पित उपमा का [illegible] किया है — '[illegible]।' यह नारंगी का वर्णन है। नारंगी का लाल रंग मदिरा से मत्त हूण के 'सद्योमुण्डित' डाढ़ी से स्पर्धा कर रहा था। ऐसा वर्णन यहाँ कवि ने किया है। पहले तो हूण का चेहरा हि लाल रंग का तिस पर उसने मद्यपान किया हुआ और फिर अभी अभी डाढ़ी बनाई हुई। फिर नारंगी उस रंग की क्यों न दीखें?

काव्य का वामनकृत वर्गीकरण

काव्य का वर्गीकरण करने में भी वामन की अपनी विशेषता है। पूर्वसूरियों के अनुसार वे भी काव्य का गद्य और पद्य में विभाग करते हैं। किन्तु भरत के अनुसार गद्य के 'वृत्तिगन्धि', 'चूर्ण' और 'उत्कलिका' ये भेद दर्शानेवाला वामन ही पहला उपलब्ध ग्रन्थकार है। पद्य के 'अनिबद्ध' और 'निबद्ध' ये दोनों भेद भी

---

१५. 'केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात् परे श्रिता :।—मम्मट.

१६. शब्दवैचित्र्यगर्भेऽयनुपमैव प्रपंचिता।

उन्होंने दण्डी से ही लिये हैं। किन्तु इन भेदों की विवेचना में उन्होंने अपनी विशेषता दर्शाई है! अनिबद्ध पद्य का अर्थ है मुक्त पद्य। इन पद्यों के विषय में वे कहते हैं,–"असंकलित अर्थात् मुक्त कविता में काव्यचारुत्व पूर्णरूपेण प्रतीत नहीं होता। परमाणु तेजोयुक्त होने पर भी विलग्न अवस्था में प्रकाश नहीं देते (१७)।" उनका कथन है कि निबद्ध अर्थात् सदर्भ काव्य में भी दशरूप अर्थात् नाट्य ही सब से उत्कृष्ट भेद है। सर्गबंध आदि अथवा कथा-आख्यायिका आदि नाट्य के ही विलास हैं। अतएव, उनका कथन है कि इनके भिन्न भेद मानने की आवश्यकता नही है (१८)।

दशरूप को श्रेष्ठ बतानेवाले वामन के ग्रन्थ में रसविवेचन नहीं है इस बातपर आश्चर्य करने का कोई कारण नही। कान्तिगुण के विवेचन में उन्होंने रस का अनुवाद किया है और कान्तिगुणहीन काव्य 'पुराणचित्रच्छाया' (पुरानी तस्वीर) के अनुसार निस्तेजस्क होता है ऐसा कहा है। इसके अतिरिक्त, समाधिगुण की विवेचना में उन्होंने काव्यार्थ की 'भाव्यता' तथा 'वासनीयता' भी वर्णन की है।

वामन के समय में कवि कहलानेवालों के झुंड; वामन ने सत्काव्य की प्रतिष्ठा का रक्षण किया

वामन का कहना है कि कवित्व के लिए अधिकार आवश्यक है। वामन के समक्ष कवियों के दो वर्ग थे। एक वर्ग के कवि विवेक रखते थे। काव्य के सदोष होने पर भी गुण एवं दोष ध्यान में आनेपर वे दोषों का निरास करने में दक्ष रहते थे। किन्तु दूसरा वर्ग ऐसा था कि उनको गुणदोषों का कोई विवेक था ही नही। विवेकशील कवियों को वामन 'अरोचकी'—अर्थात् ऐसे लोग जिन्हें रुचि है किन्तु किसी कारण से वह नष्ट हो गई है—संज्ञा देते हैं। परन्तु विवेकहीन कवियों को वे 'सतृणाभ्यवहारी'—अर्थात् 'तुसी के साथ अनाज खानेवाले' कहते थे। अरोचकी अर्थात् विवेकशील कविशिष्यों का काव्य आरंभ में सदोष होने पर भी, शास्त्रज्ञान

---

१७. असंकलितरूपाणां काव्यानां नास्ति चारुता।
न प्रत्येकं प्रकाशन्ते तैजसाः परमाणवः॥

१८. महाकाव्य, कथा आदि को दशरूप का विलसित बताने में वामन ने इन भेदों की अन्तर्गत रचना का ही प्रत्यक्ष निर्देश किया है और इसके लिए नाट्यशास्त्र की ओर ही अंगुलिनिर्देश किया है। इसीमें महाकाव्य के विषय, पात्र, स्वभावपरिपोष, रचना आदि सभी का विवेचन गृहीत है। इतना होने पर भी डॉ. वाटवे महोदय का कथन है कि संस्कृत ग्रन्थकारों ने महाकाव्य के वर्णन में उसके अन्तरंग का स्वरूप बताया नहीं, केवल बाह्य वर्णन किया। (देखिये–संस्कृत काव्याचे पंचप्राण–मराठी)। प्रकट है कि शास्त्रलेखन में सिद्धानुवाद के नियम का ध्यान न रहने से डॉ. वाटवे महोदय की यह धारणा हुई है।

होने के बाद अपने दोषों को टालने की वे यत्नपूर्वक चेष्टा करते हैं। किन्तु सतृणाभ्यवहारी अर्थात् विवेकहीन कवियों के पास मूलतः विवेक ही न होने के कारण शास्त्र पढ़ने से भी उनके लिए कवित्व प्राप्त करना असंभव होता है। बेचारे शास्त्र का तो इसमें कोई दोष नहीं। जिनके पास विवेक ही नही उन्हें शास्त्र भी कहाँ तक सिखलायेगा? वामन कहते हैं—कतक नाम का फल कुछ मैले-से पानी में डालने से पानी शुद्ध होता है; किन्तु इस हेतु यदि वह कीचड़ में डाला गया तो कीचड़ को क्या शुद्ध करेगा? (न हि कतकं पंकप्रसादनाय) (१९)।

इनमें से विवेकी शिष्य ही कवित्व के लिए एवं काव्यशास्त्र के लिए अधिकारी होते हैं। ऐसे शिष्यों के लिए वामन ने अपना ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ के लेखन में उन्होंने एक विशिष्ट पद्धति का अवलंबन किया हुआ है। हरेक विषय में उन्होंने उदाहरण प्रत्युदाहरण दिये हैं। गुणों के विवेचन में उन्होंने महाकवियों के काव्यों से चुने हुए उदाहरण दिये है तथा प्रत्युदाहरण देने के समय स्थान स्थान पर कहा है कि ऐसे सदोष पद्य प्रचुर मात्रा में एवं सुलभता से मिलते है। 'प्रत्युदाहरणं तु भूयः सुलभं च'।

इन सारी बातों पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि वामन के समय में कविब्रुवों का (कवि कहलानेवालों का) एक झुंड ही निर्माण हुआ था। अर्थव्यक्ति गुण का नामोनिशान तक जिसमें नहीं ऐसा काव्य उन्हें जिधर देखो दिखाई दिया। काव्य के क्षेत्र में ऐसे कवियों ने तहलका मचा रक्खा था और तिस पर भी वे संतुष्ट न थे। उनका कहना था कि हमारा यह काव्य समझने की तुम लोगों में कुछ पात्रता ही है नहीं। उन्होंने तो रसिकों का ही 'अरोचकी' और 'सतृणाभ्यवहारी' ऐसा भेद किया (२०)। इन सारी बातों का परिणाम यह निकला कि हर कोई अपने आप की योग्यता कालिदास के समान ही समझने लगा और महाकवियों की प्रतिष्ठा डगड़ौर हो गई। ऐसे समय में वामन का यह ग्रन्थ निर्माण हुआ है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' इस वामनीय वचन की पृष्ठ भूमि इस प्रकार की है। इस पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करने से यह भी ध्यान में आता है कि उन्ही बातों का एक स्थान में शब्दगुण कह कर एवं एक स्थान में अर्थगुण कह कर वामन ने विवेचन क्यों किया। इस पृष्ठभूमि से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अपने ग्रन्थ में वामन ने कविसमय एवं शब्दशुद्धि के प्रकरण क्यों लिखे? कविसमय में वामन ने होनहार कवियों को सूचित किया है और शब्दशुद्धि के अध्याय में महाकवियों के प्रयोगों का समर्थन करते हुए उनकी प्रतिष्ठा की

---

१९. अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च कवयः। पूर्वे शिष्याः विवेकित्वात्। नेतरे तद्विपर्ययात् न शास्त्रमद्रव्येष्वर्थवत्। न कतकं पंकप्रसादनाय। (१।२।१–५)

२०. काव्यमीमांसा, पृ. १२४

रक्षा की है। महाकवियों के काव्यों में यत्र तत्र बिखरे हुए, रस की दृष्टि से उचित किन्तु व्याकरण के नियमों के अन्तर्गत ठीक ठीक न आनेवाले कतिपय शब्दप्रयोग लेकर वामन ने उनका जो समर्थन किया है वह नितान्त अध्ययनयोग्य है। "सितं सितिम्ना सुतरां मुनेर्वपुः। विसारिभिः सौधमिवाथ लम्भयन्।", (माघ) 'लज्जालोलं वलन्ती,' 'विम्बाधरः पीयते,' 'मन्दं मन्दं नुदति पवनः' (कालिदास) आदि प्रयोगों का उन्होंने व्याकरण की दृष्टि से किया हुआ समर्थन, वैसे ही "लावण्य प्रसरतिरस्कृतांगलेखाम्" और "राज्ञा तिरस्कृतः" इनमें किया हुआ अर्थभेद भी देखनेयोग्य है। आज हम इन प्रयोगों के विषय में वामन का ही आधार देकर काम चलाते है। परन्तु वामन के समय में इन समर्थनों में जो नवीनता प्रतीत होती थी वह ध्यान में आने के लिये उस समय के वैयाकरणों के [illegible] होता है। सस्कृत काव्य के उत्कर्ष की अन्तिम अवस्था एवं अपकर्ष की प्रथम अवस्था की संधिपर वामन स्थित हैं, इस बात को ध्यान में रखते हुए वामन के ग्रन्थ का अवलोकन करने से उनकी रीतिविवेचना की पृष्ठभूमि ध्यान में आती है।

वामन के पूर्ववर्ती भामह तथा दण्डी और वामन के उत्तरवर्ती रुद्रट इन सभी ने लक्षणों के साथ उदाहरण भी (अधिकांश) अपने बनाये हुए दिये हैं। किन्तु वामन ने अधिकांश उदाहरण प्रसिद्ध काव्यों से दिये हैं इस बात का मर्म अब स्पष्ट होगा। वामन हर समय उदाहरण महाकवियों के देते हैं 'ए[illegible] के उदाहरण अज्ञात कवियों के देते हैं इसका अर्थ यही है कि उन्हें होनहार कवियों के समक्ष महाकवियों का आदर्श प्रस्तुत करना है। मनुष्य को अपने कवित्व का भान होने पर उसने अगर विवेक और संयम न रखा तो वह मनचली काव्यरचना करता है या कल्पनाओं की मनचाही खींचातानी करता है। ऐसे कवियों को उन्होंने गुणालंकारविवेक कर दिखाया है।

वामन का विरोध

ऐसा समझना ठीक नहीं कि वामन का यह विवेचन कवियों ने या शास्त्रकारों ने सरलतापूर्वक मान लिया। कई ऐसे थे जो वामनीय गुणों को पाठधर्म कहते थे और कई ऐसे भी थे जो कहते थे कि वामन का यह पागलपन है। इन आक्षेपकों को वामन ने यह उत्तर दिया है—"कोई ऐसा कहेंगे कि वामन ने अपनी कल्पना से इन गुणों का सर्जन किया है, वास्तव में उनका कोई अस्तित्व नहीं है। किन्तु यह आक्षेप ठीक नहीं है। इन गुणों का अस्तित्व है। क्योंकि ये सहृदयसंवेद्य हैं और सहृदयों की संवेदना भ्रांति नहीं है। वह प्रत्यय है। कारण यह है कि यह संवेदना निष्कंप है; वह बाधित नहीं होती। यह केवल पाठधर्म भी नहीं है। क्योंकि यदि वे पाठधर्म होते तो वे सर्वत्र उपलब्ध हुए होते। किन्तु ऐसा नहीं है। काव्य के वे विशेष

धर्म है एवं 'विशेष' ही गुणों का स्वरूप होने से गुणों को स्वीकार करना आवश्यक है (२१)। वामन का यह विवेचन देखने पर 'ध्वन्यालोक' की पहली कारिका तथा उस पर वृत्ति का स्मरण हो आता है एवं ध्वनिकार के लिए भूमिका कैसे बन रही थी यह स्पष्ट हो जाता है।

वामन के ग्रन्थ के इस स्वरूप पर ध्यान देने से उनके ग्रन्थ के विषय में प्रचलित किम्वदन्ती का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। वामन के ग्रंथ का सहदेव नामक टीकाकार बताता है कि वामन का ग्रन्थ कुछ काल तक प्रचार में नहीं रहा था। कुछ समय के बाद मुकुलभट्ट को इस ग्रन्थ की एक प्रति उपलब्ध हुई तब उन्होंने इस ग्रन्थ को फिर से प्रचारित किया (२२)। वामन के ग्रन्थ का स्वरूप देखने से प्रतीत होता है कि तत्कालीन कविजन (?) इस ग्रन्थ को आसानी से नहीं अपना सके। विशेषतः उनका गुणालंकारविवेक तो निश्चय ही उन्हें भाया नहीं होगा। क्योंकि इस गुण-विवेचना के निमित्त से वामन ने काव्यपाक के सिद्धान्त की ही विवेचना की थी एवं आम्रपाक और वृन्ताकपाक में भेद निर्भीकता से दर्शाया था (२३)।

वामनकृत विवेचना की यह पीठिका ध्यान में लेने से स्पष्ट होगा कि वामन केवल पदों की रचना पर बल देनेवाले शास्त्रकार न थे। उनके बन्धगुणों की चर्चा करने का यहाँ प्रयोजन नहीं है (२४)। किन्तु उनकी गुणविवेचना का कुल निष्कर्ष इस प्रकार हो सकता है—"वह शब्दार्थबन्ध काव्य है जिस बन्ध में वैदग्ध्य प्रतीत हो कर रसदीप्ति सहजता से होती है।" शब्दों में कान्तिगुण न हों तो बन्ध में नवीनता नहीं आती। वह काव्य केवल 'पुराणचित्र' के समान दीखता है। अर्थ में कान्तिगुण हों तो काव्य में आस्वाद्यता नही आती ऐसा उनका स्पष्ट कथन है (२५)।

---

२१. का. सूत्रवृत्ति ३।१।२६-२८ और इसीपर वृत्ति।

२२. वेदिता सर्वशास्त्राणां भट्टोऽभून्मुकुलाभिधः।
लब्ध्वा कुतश्चिदादर्शं भ्रष्टाम्नायं समुद्धृतम्॥
काव्यालंकारशास्त्रं यत् तेनैतद्वामनोदितम्।
असूया तत्र कर्तव्या विशेषालोकिभिः क्वचित्॥

२३. गुणस्फुटत्वसाकल्यं काव्यपाकं प्रचक्षते।
चूतस्य परिणामेन स चायमुपमीयते॥
सुप्तिङ्संस्कारमात्रं यत् क्लिष्टवस्तुगुणं भवेत्।
काव्यं वृन्ताकपाकं तत् जुगुप्सन्ते जनास्ततः॥

२४. वामनीय गुणों का विवेचन प्रकृत लेखक के "वैदर्भी रीति" प्रबन्ध में देखें।

२५. वामन की इस भूमिका को ध्यान में न लेते हुए डॉ. डे आदि विद्वानों ने रीति है एक ढाँचे में ढली हुई लेखनपद्धति ऐसा मत स्थिर किया है (Sanskrit Poetics, Vol. II, p. 116)। आधुनिक अभ्यासकों ने डॉ. डे का ही अनुसरण करते हुए "रीति व रेखा' में भेद विशद करने का प्रयास किया है।

रुद्रटकृत काव्यविवेचन (लगभग सन् ८५० ईसवी)

वामन के पश्चात् प्रसिद्ध ग्रन्थकार रुद्रट हैं। रुद्रट का समय सन् ८०० से ८५० ई. तक का है। इनका 'काव्यालंकार' नामक ग्रन्थ है जिसमें काव्य के रससहित सभी अंगों की चर्चा की है। इस ग्रन्थ के कुल सोलह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में काव्यप्रयोजनों का वर्णन है। कीर्ति, प्रीति तथा व्युत्पत्ति के साथ रुद्रट ने अर्थ तथा अनर्थोपशम भी काव्य के प्रयोजन बताये हैं। यह देखते ही हमें मम्मट की प्रसिद्ध 'काव्यं यशसेऽर्थकृते—' आदि कारिका का स्मरण हो आता है। काव्य का लक्षण उन्होंने 'शब्दार्थौ काव्यम्' ऐसा ही किया है। वैदर्भी, पांचाली, लाटी तथा गौड़ी इस प्रकार चार रीतियों का उन्होंने निर्देश किया है। किन्तु वे वामनीय गुणों का निर्देश या विचार भी नहीं करते। प्रत्युत रीतियों को 'संनिवेशचारुत्व' बतलाकर वे उनका संबन्ध रसों के साथ जोड़ देते हैं। अनुप्रासविवेचना में वे ललिता, प्रौढा, परुषा आदि पंचवृत्तियाँ बताते हैं, एवं रस की दृष्टि से वृत्तिरीतियों का वर्गीकरण करते हैं। रसानुकूल भाषाविशेष की दृष्टि से रुद्रट का यह विवेचन महत्त्वपूर्ण है। काव्य दीप्तरस होना चाहिये यह तो वामन ने कहा था, किन्तु रसोचित संनिवेश के भेद रुद्रट ने ही सर्वप्रथम बताये है। तत्पश्चात् वे शब्दालंकारों का विस्तरश: विवेचन करते हैं, और अन्तत: कवियों को चेतावनी देते हैं कि शब्दालंकारों के अधीन न होते हुए औचित्य से ही उनका प्रयोग करना चाहिये। अर्थविवेचना में भी उन्होंने कतिपय महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये हैं। "केवल रसपरतन्त्र हो कर [illegible] नें, देश काल आदि से नियमित जाति, द्रव्य, आदि पदार्थों के स्वरूप में मनचाही उथलपुथल नहीं करनी चाहिये। सत्कविपरंपरा से जितना अन्यथा वर्णन निर्दोष माना गया हो उतना ही करना चाहिये (२६)।" रुद्रट यहाँ यही सूचित करते हैं कि वक्रोक्ति लोकमर्यादा से बद्ध हुई होती है। वामन ने भी यही चेतावनी 'अलंकारों में असंभवदोष' के रूप में दी है।

अलंकारों में विवक्षा

रुद्रट ने अलंकारों के 'वास्तवमौपम्यमतिशय: श्लेष:' इस प्रकार चार वर्ग किये हैं। अलंकारों के व्यवस्थित रूप में वर्गीकरण करने का उपलब्ध ग्रन्थों में यही पहला प्रयास है। अलंकारों की पृष्ठभूमि में कवि की विवक्षा होती है यह महत्त्वपूर्ण

---

२६. सर्वं स्वं स्वं रूपं धत्तेऽर्थो देशकालनियमं च।
तं च न खलु बध्नीयात् निष्कारणमन्यथाति रसात्॥
सुकविपरंपरयाचिरमविगीततया यथा निबद्धं यत्।
वस्तु तदन्यादृशमपि बध्नीयात् तत्प्रसिद्ध्यैव॥ (७।७,८)

तथ्य रुद्रट ने इस अध्याय में बताया है। कवि नें दी हुई उपमा से भी उसकी विवक्षा प्रतीत होती है। रुद्रट का स्पष्ट रूप में कथन है कि सत्कवि के काव्य में निष्प्रयोजन अलंकार मिलते नहीं (२७)। रुद्रट ने सूचित किये हुए इसी तथ्य को आगे चलकर राजशेखर ने विशद रूप में प्रस्तुत किया है।

रुद्रटकृत दोषविवेचन

रुद्रटकृत दोषविवेचन अनेक दृष्टियों से अध्ययनयोग्य है। विशेष करके, 'ग्राम्यत्व' तथा 'विरस' के दोषों के संबन्ध में उनका कथन हर कवि को ध्यान में रखना चाहिये। वे कहते हैं कि ग्राम्यत्व माधुर्य का विरोधी है। उनका विचार है कि ग्राम्यत्व का उद्गम अनौचित्य में है। इसी कल्पना को आगे चल कर आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में, "अनौचित्यादृते नान्यद्, रसभंगस्य कारणम्" इस कारिका में प्रस्तुत किया है। विरस दोष के सम्बन्ध में भी उनका विवेचन महत्त्वपूर्ण है। एक रस के प्रसंग के मध्य दूसरे अनपेक्षित रस का आविर्भाव या रस की अपेक्षा से ज्यादा विस्तार करना 'विरस' दोष है। रुद्रटकृत इस विवेचना की आनन्दवर्धन की ३।१८, १९ कारिकाओं से तुलना करने से आनन्दवर्धन की विवेचना की पृष्ठभूमि किस प्रकार रची जा रही थी यह स्पष्ट होता है एवम् सम्प्रदायपद्धति के अनुकूल विवेचना करने से विकास का क्रम समझने में आनेवाली अड़चनें धीरे धीरे कम होने लगती हैं।

रुद्रट के रसविषयक मत

रसविवेचन के आरंभ में ही रुद्रट कहते हैं—"सरस प्रवृत्ति के जन को चतुर्वर्गों का ज्ञान काव्य के द्वारा सुलभता से एवं मृदुता से उपलब्ध होता है। नीरस शास्त्रों से वे ऊब जाते हैं। अतएव काव्य निरन्तर रसयुक्त होना चाहिये। अन्यथा वे काव्य से भी विमुख हो जावेंगे (२८)। यही काव्य में अपेक्षित "कान्तासंमितोपदेश" है।

अलंकारग्रन्थों में रसविवेचन करनेवाला रुद्रट ही प्रथम ग्रन्थकार हैं। शान्त तथा प्रेयान् मिलाकर वे दस रस मानते हैं। किन्तु रसों की संख्या वे दस तक ही

---

२७. सम्यक् प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति।
वस्त्वंतरमभिदध्यात् वक्ता यस्मिन् तदौपम्यम्॥ (७।१०)
इसपर नामिसाधु ने लिखा है — "यो यादृशो वक्ता येन स्वरूपेण वस्तुमिच्छति तादृशमेव वस्त्वंतरमभिदध्यात्, तदौपम्यम्॥

२८. ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च नीरसेभ्यः ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः॥
तस्मात् तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
उद्वेजनमेतेषां शास्त्रवदेवान्यथा भवति॥ (१२।१,२)

सीमित नहीं रखते। उनका विचार है कि आस्वाद्यता की अवस्था को प्राप्त होनेवाली कोई भी वृत्ति रस हो सकती है (२९)। रसविवेचन के साथ ही उन्होंने और भी दो महत्त्वपूर्ण तथ्य बताये हैं। रस के निर्माण में, संसार की ओर से आँखें मूँद लेने से कवि का काम नहीं चल सकता। "अभियुक्त महाकवियों ने अपनी विवेक दृष्टि से जीवन के सिद्धान्त खोज निकाले हैं तथा त्रिभुवन की जनता का चित्र काव्य में निबद्ध किया है। उनका भलीभाँति अध्ययन करना चाहिये एवं उन्हीके मार्ग का अनुसरण हमें करना चाहिये (३०)।" इस प्रकार उनका समकालीन कवियों से अनुरोध है। चतुर्वर्ग का ज्ञान करा देनेवाले काव्य में भी कवि कभी ऐसी बात निबद्ध करता है जो आपातत: आक्षेपार्ह लगती है। इस संबन्ध में रुद्रट का कथन है—"ऐसी बातें काव्य में निबद्ध करने में कवि का उद्देश्य उस बात का उपदेश करने का नहीं होता या उसके कहने का अर्थ यह भी नहीं होता कि काव्य में दर्शित उपाय हमने भी अपनाने चाहिये। केवल काव्य के अंग के नाते रसिकों के मनोविनोद के लिए ऐसी कोई बात काव्य में आती है एवं वह लोकवृत्ति के अनुकूल ही होती है। इसीके कारण कवि का दोष बताने की कोई आवश्यकता नही है (३१)।"

शब्दार्थ और रस परस्परसंमुख हुए

रुद्रट के रसविवेचन से शब्दार्थ और रस परस्परसंमुख हुए। 'काव्य है शब्दार्थ;' ये शब्दार्थ रसयुक्त होने चाहिये ऐसा उसने स्पष्ट रूप में कहा है। भामह एवं दण्डी का 'रसैश्च सकलै: पृथक्' अथवा 'रसभावनिरन्तरम्' यह कथन और रुद्रट का 'तस्मात् तत्कर्तव्यम् यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्' यह वचन, इन दोनों में आशय में भेद है। वह भेद यह है कि भामह तथा दण्डी रसवत् काव्य को भी अलंकृत काव्य

---

२९. रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः॥ (१२।४)

३०. सुकविभिरभियुक्तैः सम्यगालोक्य तत्त्वं
त्रिजगति जनताया यत्स्वरूपं निबद्धम्॥
तदिहमिति समस्तं वीक्ष्य काव्येषु कुर्यात्
कविरविरलकीर्तिप्राप्तये तद्वदेव॥ (१४।१७)

३१. न हि कविना परदारा एष्टव्या नैव चोपदेष्टव्याः।
कर्तव्यतयान्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्याः॥
किन्तु तदीयं वृत्तं काव्यांगतया स केवलं वक्ति।
आराधयितुं विदुषः तेन न दोषः कवेरत्र॥ (१४।१२, १३)

कहते हैं तो रुद्रट रस को काव्य का गुण मानता है (३२)। भामह-दण्डी से रुद्रट तक काव्यचर्चा का प्रवाह क्रम से विकसित हुआ दिखाई देता है। शास्त्र एवं काव्य दोनों में समान शब्दार्थ होने पर भी काव्य में ऐसी क्या विशेषता है जिससे कि काव्य आनन्ददायी होता है? इस प्रश्न पर विचार करने पर शास्त्रकारों को 'सौंदर्य' काव्य का विशेष धर्म उपलब्ध हुआ। यह सौंदर्य शब्दार्थों में किस कारण से आता है इसका विचार करने पर अर्थसंस्कार अर्थात् वक्रोक्ति यह कारण भामह को उपलब्ध हुआ। उसके लिए भामह ने 'अलंकार' की भरतकालीन संज्ञा का ही उपयोग किया। इससे वाङमय के अन्य प्रकारों से काव्य का व्यवच्छेद हुआ। भामह-दण्डी के पश्चात् इसीको लेकर और विचार चलता रहा; तब यह प्राप्त हुआ कि पूर्वाचार्यों के अलंकारों में कुछ एक सौंदर्यनिर्माण के लिए आवश्यक हैं एवं कुछ एक केवल पोषक हैं। यही गुणालंकारविवेक का आरंभ है। शब्दार्थसंस्कार सौंदर्य का पोषक तो है किन्तु यह होने के लिए उनका ठीक ठीक बन्ध होना चाहिये। गुण काव्यबन्ध का विशेष है। इन बन्धगुणों में भी रसदीप्ति अर्थात् कान्ति भी एक गुण था। रस-दीप्ति के विचार के साथ ही काव्यचर्चा का रूप सूक्ष्म होता गया, एवं यह पाया गया कि काव्य का सौंदर्य रस में है। रुद्रट ने अपना विचार स्पष्ट रूप में बताया है कि रस न होने से काव्य भी शास्त्र के समान ही शुष्क होता है।

किन्तु शब्दार्थों से रसनिष्पत्ति किस प्रकार होती है इस प्रश्न का उत्तर अभी मिला नहीं था। काव्यवस्तु का विश्लेषण पूरा हो चुका था। शब्दार्थ, अलंकार, गुण, रस ये घटक उसमें पाये गये। ये घटक विवेच्य थे। किन्तु विभाज्य न थे। लेकिन इनमें संबन्ध किस प्रकार का था यह प्रश्न अभी अनुत्तरित था। शास्त्र के विकास में Classification एवं Analysis का कार्य समाप्त हुआ था। अब यह चर्चा Synthesis एवं Explanation के क्षेत्र में प्रवेश कर रही थी। अनेक मत-मतान्तरों का (Hypothesis) ताँता-सा बन्धा रहा। उनमें ध्वनिकार आनन्द-वर्धन ने भी अपना एक मत प्रस्तुत किया। वह मत ऐसा था जिससे कि काव्यचर्चा में एक अनोखी क्रान्ति हो गई, एवं काव्यालंकार का साहित्यशास्त्र में रूपान्तर हुआ।

३२. अथ अलंकारमध्ये एव रसः किं नोक्ताः? उच्यते — काव्यस्य हि शब्दार्थौ शरीरम् तस्य वक्रोक्तिवास्तवादयः कटकुण्डलादय इव कृत्रिमा अलंकाराः। रसास्तु सौंदर्यादय इव सहजाः गुणाः इति भिन्नः तत्प्रकरणारंभः। नामिसाधु. रुद्रट. १२।२ पर टीका.

अध्याय छठा
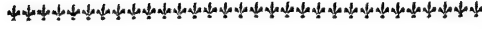
शब्दार्थों का साहित्य

रुद्रट जिस काल में अपना ग्रन्थ 'काव्यालंकार' लिख रहे थे उसी काल में या तत्पश्चात् कुछ समय से ध्वनिकारिकाएँ बन रही थीं (१)। ध्वनितत्त्व का प्रतिपादन आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में किया है। इस ग्रन्थ की महत्ता के विषय में महामहोपाध्याय पां. वा. काणे महोदय लिखते हैं—"अलंकार-शास्त्र के इतिहास में 'ध्वन्यालोक' एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। व्याकरणशास्त्र में पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' का जो महत्त्व है, अथवा वेदान्तशास्त्र में 'वेदान्त-सूत्रों' का जो महत्त्व है, कह सकते है कि वही महत्त्व अलंकारशास्त्र में 'ध्वन्यालोक' का है। इस ग्रन्थ में ग्रन्थकर्ता ने अपनी गंभीर विद्वत्ता एवं सूक्ष्म आलोचनबुद्धि का परिचय दिया है। उनकी भाषा स्पष्टार्थक एवं समर्थ है तथा उसमें पदे पदे स्वतन्त्र बुद्धि की मुद्रा दिखाई देती है। ध्वनिकार आलंकारिकों के मार्ग के प्रस्थापक हैं (ध्वनि-कृतामालंकारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात्) ऐसा रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ ने कहा है वह पूर्णरूप से सत्य है। 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' नामक टीका अभिनव-गुप्त ने लिखी है। व्याकरण शास्त्र में पतञ्जलि के 'महाभाष्य' का या वेदान्त में 'शांङ्करभाष्य' का जो स्थान वही स्थान साहित्यशास्त्र में 'लोचन' को दिया जाना चाहिये।" 'ध्वन्यालोक' तथा उसकी टीका 'लोचन' दोनों में ध्वनितत्त्व का

---

१. ध्वनिकारिकाएँ किस की लिखी हों इस विषय में मतभेद है। म. म. काणे, डॉ. डे आदि विद्वानों के मत में कारिकाकार आनन्दवर्धन से भिन्न है। इधर, कारिका एवं वृत्ति दोनों आनन्दवर्धन की है ऐसा डॉ. शंकरन्, डॉ. शर्मा आदि का मत है। ध्वनिकारिकाएँ आनन्दवर्धन की नही हैं, किन्तु कारिकाकार भी कोई नहीं हुआ। ये कारिकाएँ पूर्व काल से साहित्यकारों में अव्यवस्थित रूप में प्रचलित थी। आनन्दवर्धन ने उन्हें एकत्रित करते हुए वृत्ति में उनका ग्रथन किया ऐसा मत अभी अभी प्राध्यापक आष्टीकर महोदय ने प्रस्तुत किया है। [युगवाणी (मराठी), १९५२]।

परमतखण्डनसहित विवेचन आया है। 'लोचन' के पश्चात् ध्वनितत्त्व पर जो आक्षेप उपस्थित किये गये उनका खण्डन मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में किया एवं ध्वनितत्त्व की साहित्यशास्त्र में चिरन्तन प्रतिष्ठापना की।

साहित्यचर्चा का उत्कर्ष

आनन्दवर्धन का समय ८४० से ८७० तक का निर्धारित किया गया है। अभिनव-गुप्त का लेखनकाल ९९० से १०२० तक का था एवं 'काव्यप्रकाश' ख्रि. ११००ई. के लगभग लिखा गया है। सारांश, ख्रि. ८५० से ख्रि. ११०० तक के २५० वर्षों के काल में ध्वनितत्त्व की प्रस्थापना हुई। यह २५० वर्षों का काल साहित्यचर्चा के उत्कर्ष का काल है। ध्वनितत्त्व के विवेचक असाधारण तो थे ही, किन्तु ध्वनितत्त्व के विरोधक भी साधारण व्यक्ति न थे। मुकुल, भट्टनायक, कुन्तक, धनंजय, महिमभट्ट, भोज आदि ध्वनि के विरोधक इसी काल में हुए हैं। राजशेखर भी इसी काल में हुए। औचित्यविचार करनेवाला क्षेमेन्द्र अभिनवगुप्त का शिष्य था। इनके अतिरिक्त रसचर्चा करनेवाले लोल्लट, शंकुक, भट्टतौत आदि हैं। सारांश, यह काल साहित्य-चर्चा का परम उत्कर्ष का काल है।

आनन्दवर्धनकृत उपपत्ति (सन् ८४० से ८७० ईसवी)

उत्तरार्ध में ध्वनि के विवेचन के विषय में एक सम्पूर्ण अध्याय तो रहेगा ही, किन्तु साहित्यचर्चा का विकास दर्शाने के लिए यहाँ कुछ एक प्रमाण देने चाहिये। उद्भट ने कहा है—काव्यव्यवहार अमुख्यवृत्ति से अर्थात् गुणवृत्ति से होता है। वामन ने कहा है कि गुण काव्यसौंदर्य के कारक धर्म होते है, एवं रुद्रट का अनुसंधान है कि काव्यसौंदर्य रसाश्रित होता है। किन्तु यहाँ अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। शब्द की मुख्य वृत्ति का त्याग करते हुए कवि अमुख्य वृत्ति का आश्रय करता है तो क्यों करता है? यदि गुण काव्यशोभा के कारक हेतु हैं तो शब्दार्थाश्रित गुण रस का निर्माण कैसे कर पाते हैं? शब्दार्थमय काव्य से रस निर्माण होता है इसका अर्थ क्या है? इन प्रश्नों का समाधान न किया तो काव्यचर्चा पूरी नहीं हो सकती। आनन्दवर्धन ने यह कार्य किया। उनका विचार इस प्रकार है—

(१) मुख्यार्थ का बाध करते हुए कवि लक्ष्यार्थ अर्थात् अमुख्य वृत्ति का आश्रय करता है तो किसी कारण के बिना नहीं करता। उसके पीछे कवि का कुछ प्रयोजन (हेतु) होता है। यह प्रयोजन उन शब्दार्थों के द्वारा अभिव्यक्त होता है। इस कारण से वह व्यङ्ग्य है। शब्दार्थों के द्वारा कवि अपना यह प्रयोजन अर्थात् व्यङ्ग्य ही रसिक हृदय में संक्रामित करता है।

(२) अतएव काव्यगत शब्द के वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य इस प्रकार तीन अर्थ होते हैं। इन अर्थों की अपेक्षा के हेतु शब्द को वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक कहा जाता है। शब्द की इस अर्थबोधन की शक्ति को ही क्रम से अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना की संज्ञाएँ है।

(३) अपना प्रयोजन अर्थात् व्यङ्ग्य परिणामकारी रूप में अभिव्यक्त करने के लिए ही कवि वक्रोक्ति का आश्रय करता है। इस दृष्टि से ही अलंकारों का काव्य में स्थान है। लौकिक शब्दार्थों को व्यंजक बनाना—व्यंग्यव्यंजनक्षम बनाना—यही अलंकारों का कार्य है। व्यंग्यरूप प्रयोजन के विरहित वक्रोक्ति का उपयोग केवल वाग्विकल्प मात्र है।

(४) व्यंग्य अर्थ का अत्यन्त सुंदर रूप 'रस' है। 'रस' चर्वणारूप चित्तवृत्ति है और वह स्वसंवेद्य है। मन की दृति, दीप्ति एवं विस्तार इन अवस्थाओं पर रस का आस्वाद अवलंबित होता है। मन की इन्हीं अवस्थाओं को साहित्यशास्त्र में क्रमशः माधुर्य, ओजस् एवं प्रसाद कहा है। ये गुण हैं।

(५) अर्थात् ये गुण रस में समवाय वृत्ति से रहते हैं। काव्यगत शब्दार्थों के संयोग से मन की ये अवस्थाएँ उदित होती हैं, अतएव गुण शब्दार्थों के हैं यह केवल उपचार से कहा जाता है। गुण तथा विशेष रूप की पदसंघटना इनमें अव्यभिचारी संबन्ध नहीं होता।

(६) काव्यगत शब्दार्थों के संयोग से रसिक के मन की विशेष अवस्था उदित होती है। एवं वह उस अवस्था का आस्वाद लेता है यह अनुभव है। आस्वाद की अवस्था ही रस की अभिव्यक्ति है। रस की अभिव्यक्ति करनेवाली शब्दार्थों की इस शक्ति को 'व्यंजनाव्यापार' की संज्ञा है।

(७) महाकवियों के काव्य में शब्दों का व्यंजनाव्यापार ही प्रधान होता है। काव्य में पाये जानेवाले व्यापार का विशेष 'व्यंजना' ही है। काव्य में शब्दार्थों का संबन्ध वाच्यवाचकरूप अथवा लक्ष्यलक्षकरूप न होकर व्यंग्यव्यंजकरूप होता है।

(८) अतएव व्यंग्यव्यंजकरूप शब्दार्थसंबन्ध ही काव्यगत शब्दार्थों का साहित्य है, इस संबन्ध को ही 'ध्वनि' संज्ञा है। इसी कारण से ध्वनि काव्य की आत्मा है। ध्वनि शब्द से व्यंग्य, व्यंजक और व्यंजना तीनों का बोध होता है।

(९) काव्यगत शब्दार्थों का पर्यवसान रस के आस्वाद में होता है। काव्य में रस ध्वनित होता है। वक्रोक्ति अथवा अलंकारों के कारण ही शब्दार्थों में रस ध्वनित करने का सामर्थ्य आता है।

(१०) रस के आस्वाद के लिए रसिक की योग्यता भी अपेक्षित है। यह योग्यता केवल व्याकरण के ज्ञान से अथवा तर्क के ज्ञान से नहीं आती। उसके लिए

रनिक के पास प्रज्ञा की विमलता एवं वैदग्ध्य होना आवश्यक है। रसिक के यह गुण उसके चित्त की दृति-दीप्ति-विस्तार से अभिव्यक्त होते हैं। ये ही गुण है। इन गुणों के कारण ही हृदयसंवाद होकर काव्य आस्वाद्य होता है।

(११) अतएव काव्यगत शब्दार्थसाहित्य केवल कविगत व्यापार नहीं है, केवल शब्दार्थगत व्यापार नहीं है या केवल रसिकगत व्यापार भी नहीं है; वह कविसहृदयगत अखण्डानुभवरूप व्यापार है। अतएव अभिनवगुप्त ने कहा है कि सरस्वती का तत्त्व कविसहृदयरूप है।

आनन्दवर्धन की इस उपपत्ति का साहित्यशास्त्र के इतिहास में अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण स्थान है। इस उपपत्ति का एक महान् विशेष यह है कि कवि से रसिक तक आनेवाली प्रतीति की अखण्डता पर यह उपपत्ति आधारित है। इसी कारण से काव्य के सभी अंगों की इसमें ठीक ठीक व्यवस्था की जा सकी। और आनन्दवर्धन के पूर्व उत्पन्न हुई सभी विचारधाराएँ इस उपपत्ति में विलीन हुई तथा नवीन विचार-धाराएँ इस उपपत्ति से प्रवाहित हुई। भामह की वक्रोक्ति, दण्डी के काव्यशोभाकर धर्म, उद्भट की अमुख्य वृत्ति, वामन की रीति, रुद्रट की वृत्ति; संक्षेपतः पूर्वकाल के सभी 'काव्यप्रस्थानों' पर विचार करते हुए आनन्दवर्धन ने अपनी उपपत्ति में उनकी अविरोधेन व्यवस्था की। अपनी उपपत्ति का सूत्ररूप में कथन उन्होंने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इस प्रसिद्ध वचन से किया है। (२)। इस वचन के दो अर्थ किये गये। एक अर्थ यह कि रसध्वनि काव्य की आत्मा है एवं दूसरा अर्थ यह कि ध्वनन अर्थात् व्यंजनाव्यापार ही काव्यगत शब्दार्थों की आत्मा है। इनमें से रस का काव्यात्मत्व सभी साहित्यपंडितों को स्वीकार हुआ। किन्तु ध्वनन व्यापार के विषय में पंडितों में मतभेद हुए। इन मतभेदों से ही ध्वनिविरोधक उदय हुए एवं काव्यचर्चा का रुख ही वदल गया। जयरथ का कथन है कि ध्वनितत्त्व के विरोधियों के कुल बारह भेद थे। इन विरोधियों के विचार उत्तरार्ध में दर्शाये जायेंगे। यहाँ इतना ही कहना है कि इन विरोधियों की चर्चा-प्रतिचर्चा में एक ही प्रश्न का ऊहापोह हो रहा था। वह प्रश्न यही था कि काव्यगत शब्दार्थों का रसास्वाद में पर्यवसान होता है तो कैसे होता है? इस विषय में अनेक विद्वानों ने अनेक उपपत्तियाँ बताई। भट्ट लोल्लट का कहना था कि शब्दार्थों से रस निर्माण होता है; श्रीशंकुक एवं महिमभट्ट का विचार था कि रस अनुमित होता है। मुकुल ध्वनि को लक्षणा के अन्तर्गत मानते थे; तो भट्ट

२. काव्यस्यात्मा ध्वनिः" यह कारिकाकार का वचन है। वृत्तिकार का नहीं। किन्तु 'ध्वन्यालोक' आनन्दवर्धन का ग्रन्थ है और इस ग्रन्थ में कारिका भी अन्तर्गत हैं, इस दृष्टि से ही इसे आनन्दवर्धन का वचन कहा है। 'ध्वन्यालोक' के किये हुए निर्देशों में सर्वत्र यही अभिप्राय है।

नायक भोगीकरण का सिद्धान्त उपस्थित करते थे। कुन्तक ध्वनि को वक्रोक्ति का ही भेद मानते थे तो धनंजय एवं धनिक उसे तात्पर्यार्थ समझते थे। भोज तात्पर्यार्थ और ध्वनि में मेल करने की चेष्टा करते थे। परन्तु इन सभी के समक्ष एक ही प्रश्न था। वह था—"किमेतत् (शब्दार्थयोः) साहित्यम् ?"। "कोऽसौ अलंकारः ?" का प्रश्न अब पिछड़ गया था। इसीमें से "काव्यालंकार" का "साहित्य" में रूपांतर हुआ। उसका स्वरूप अब हम देखेंगे।

आनन्दवर्धन से मम्मट तक हुए कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकार और उनके ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

(१) राजशेखर—काव्यमीमांसा (सन् ९२० ईसवी)
(२) मुकुलभट्ट—अभिधावृत्तिमातृका (सन् ९२० ईसवी)
(३) भट्टतौत—काव्यकौतुक (सन् ९५०-९९० ईसवी)
(४) भट्टनायक—हृदयदर्पण (सन् ९५०-१००० ईसवी)
(५) अभिनवगुप्त—लोचन, अभिनवभारती (सन् ९९०-१०२५ ईसवी)
(६) कुन्तक—वक्रोक्तिजीवित (सन् ९२५-१०२५ ईसवी)
(७) धनंजय, धनिक—दशरूप व अवलोक (सन् ९७५ ईसवी)
(८) महिमभट्ट—व्यक्तिविवेक (सन् १०२०-१०६० ईसवी)
(९) भोज—सरस्वतीकंठाभरण, शृंगारप्रकाश (सन् १०१५-१०५५ ईसवी);
(१०) क्षेमेन्द्र—औचित्यविचारचर्चा (सन् १०५० ईसवी)
(११) मम्मट—काव्यप्रकाश (सन् ११०० ईसवी)।

इनके अतिरिक्त संभव है कि भट्ट लोल्लट और श्रीशंकुक ये नाटचशास्त्र के दो टीकाकार भी इसी काल में हो गये। इनमें भट्टतौत, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र और मम्मट ध्वनिकार के अनुयायी हैं। मुकुलभट्ट लक्षणावादी हैं; धनंजय और धनिक तात्पर्य-वादी (अभिहितान्वयवादी) तथा भट्टलोल्लट अन्विताभिधानवादी मीमांसक हैं। इन्हें व्यंजनावृत्ति स्वीकार नहीं है। भोज भी तात्पर्यवादी ही है किन्तु वे तात्पर्य-वाद और ध्वनि में सामंजस्य लाना चाहते हैं। उनका विचार है कि, "तात्पर्य-मेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये।" श्रीशंकुक और महिमभट्ट अनुमानवादी हैं। इनके मन्तव्य के अनुसार रस अनुमित होता है। इन्हें लक्षणा एवं व्यंजना दोनों वृत्तियाँ स्वीकार नहीं है एवं दोनों को अनुमान के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। कुन्तक वक्रोक्ति-वादी हैं। वे ध्वनि को अर्थवक्रता का ही एक भेद मानते हैं। राजशेखर का ग्रन्थ पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है; इस लिए ध्वनि के विषय में उनका क्या विचार था यह समझने के लिए कोई साधन नहीं। भट्टनायक भोगीकृतिवादी हैं। उन्हें भी व्यंजना स्वीकार नहीं है।

काव्य कविकर्म है। कवि से आरंभ होनेवाला एवं रसिक के रसास्वाद में पर्यवसित होनेवाला वह एक व्यापार (activity) है। इस दृष्टि से उपर्युक्त ग्रन्थकारों का वर्गीकरण किया तो उनके तीन वर्ग हो सकते हैं। ध्वनिकार एवं उनके अनुयायी कवि-रसिकमुख से काव्य की विवेचना करते थे। राजशेखर, कुन्तक और भोज, कविव्यापारमुख से विवेचना करते हैं। अन्य सभी विवेचक रसिक व्यापार-मुख से विवेचना करते हैं। रसिकव्यापार के विवेचकों का मन्तव्य उत्तरार्ध में रस-विवेचन में विस्तरशः आवेगा। कविव्यापारमुख से विवेचना करनेवालों का कहना क्या है हम यहाँ देखेंगे। इससे साहित्य की कल्पना विशेष रूप से विशद होगी।

राजशेखर (सन् ९२० ईसवी)

'काव्यमीमांसा' राजशेखर का एक अपूर्व ग्रन्थ है। यह पूर्णरूप में उपलब्ध नहीं है। आरंभ में ग्रन्थकार ने दिये हुए अनुक्रमणिका के प्रमाण से देखें तो ग्रन्थ १८ अधिकरणों का होना चाहिये। इनमें से केवल प्रथम कविरहस्य नामक अधिकरण उपलब्ध है। अन्य १७ अधिकरण राजशेखर ने पूरे लिखे या नहीं इसका कोई पता नहीं चलता। उपलब्ध अंश में ही १८ अध्यायों में साहित्य के विषय में इतनी विपुल एवं विविध सूचनाएँ हैं कि यह कहने में कोई अतिशयोक्ति न होगी कि सम्पूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध हुआ तो वह साहित्यशास्त्र का एक विश्वकोष ही होगा।

'काव्यमीमांसा' के प्रथम अधिकरण में ही इतने विषय आये हैं कि सभी विषयों की स्थूलमान से कल्पना देना भी स्थलाभाव के कारण असंभव है। साहित्यकल्पना का विकास दर्शाने के लिए आवश्यक प्रमाण ही यहाँ प्रस्तुत करेंगे। पहली तो बात यह है कि यह "कविरहस्य" कवियों को पथप्रदर्शन हों इस दृष्टि से ही लिखा गया है; अतएव इसमें कवि की दृष्टि से शास्त्रविवेचन एवं व्यावहारिक सूचनाएँ (Suggestions) दी गई हैं। साहित्यविद्या अर्थात् अलंकारशास्त्र को राज-शेखर सातवाँ वेदांग या पाँचवीं विद्या मानता है। "शब्दार्थयोः यथावत् सहभाव"— "शब्दार्थों का परस्परोचित सहावस्थान साहित्य है।" वह रस को काव्य की आत्मा मानता है। तीसरे अध्याय में काव्यपुरुष का वर्णन करते हुए उसने कहा है— "शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहू, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। समः, प्रसन्नो, मधुर, उदार, ओजस्वी चासि। उक्तिचणं च ते वचोः,रस आत्मा,......अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति"। इसमें उसने सभी काव्यांगों को अन्तर्भूत करते हुए उनकी व्यवस्था सूचित की है। इस काव्यपुरुष का उसने साहित्य-विद्यावधू से विवाहसंपन्न किया है। इससे वह काव्य एवं काव्यचर्चा का अविभाज्य संबन्ध ही सूचित करता है। उसका विचार है कि शक्ति ही काव्य का एकमात्र

कारण है। उसका कथन है कि इस शक्ति से ही प्रतिभा और व्युत्पत्ति का आविर्भाव होता है। उपरान्त वह काव्यपाक अर्थात् कवित्व की परिणत दशा का अर्थ बताकर, "गुणवदलंकृतं च वाक्यमेव काव्यम्।" ऐसा काव्यलक्षण देता है। प्रतीत होता है कि उसका काव्यलक्षण एवं काव्यपाकविवेचन वामन के अनुसार ही हुआ है।

काव्यविवेचन एवं उसकी सत्यता के विषय में उसका विवेचन महत्त्वपूर्ण है। काव्यपर आरोप लगाया जाता था कि काव्य में विषय एवं वर्णन असत्य होते हैं। उसका निर्देश करते हुए राजशेखर ने उसका खण्डन किया है। इस प्रसंग में उसने काव्यप्रत्यक्ष का स्वरूप विशद किया है। भामह के काल में भामह ने इस प्रश्न का किस प्रकार समाधान किया है यह हम पूर्व देख चुके हैं। शास्त्रीय न्याय भिन्न होता है एवं लोकाश्रित न्याय भिन्न होता है इस प्रकार विवेक करते हुए भामह ने काव्यप्रत्यक्ष का स्वरूप दर्शाया। भामह के पश्चात् उद्भट ने इस विषय पर विवेचन किया। उद्भट के विचार के अनुसार अर्थ के दो भेद होते हैं। एक अर्थ 'विचारितसुस्थ' अर्थात् विचार के व्यवस्थित रूप से सिद्ध होता है एवं दूसरा अर्थ 'अविचारित रमणीय' होता है; जिसमें कार्यकारणादि विवेक के लिए विशेष स्थान नहीं होता; केवल रमणीकता ही देखी जाती है। इनमें से प्रथम अर्थात् 'विचारितसुस्थ' अर्थ शास्त्र का विषय है; और अविचारितसुस्थ अर्थ काव्य का विषय है (३)। उद्भट के इस विचार का निर्देश महिमभट्ट ने भी अपने 'व्यक्ति-विवेक' में किया है।

उद्भट का यह मन्तव्य राजशेखर को स्वीकार नहीं है। यह अर्थविभाग स्वीकार करने से काव्य के असत्य निर्धारित होने की आपत्ति होती है। अर्थ के विचारित एवं अविचारित इस प्रकार विभाग किये तथा विचारित की सत्यता स्वीकार की (और वह तो स्वीकार करनी पड़ती ही है) तो अविचारित अर्थ आप ही असत्य हो जाता है। राजशेखर का मत है कि उद्भट का यह विभाग ही उपपन्न नहीं होता। शास्त्र का अर्थ एवं काव्य का अर्थ, दोनों की कक्षाएँ मूलतः भिन्न हैं। अतएव एक को सत्य और दूसरे को असत्य बताना असंभव है। विश्व में विषय जैसे होते है उसी प्रकार उनका विवरण करने का शास्त्र का प्रयास होता है। किन्तु इस प्रकार स्वरूपवर्णन करना काव्य का प्रयोजन नहीं होता। विश्व में विषय जैसे दीखते है अथवा प्रतीत होते हैं उसी प्रकार काव्य में कवि उनका वर्णन करता है। शास्त्रीय वर्णन 'स्वरूपनिबन्धन' होता है, तो काव्य में वर्णन 'प्रतिभासनिबन्धन' होता है।

---

३. अस्तु निःसीमा अर्थसार्थः किन्तु द्विरूप एवासौ, विचारितसुस्थोऽविचारितरमणीयश्च इति। तयोः पूर्वमाश्रितानि शास्त्राणि तदुत्तरं काव्यानि इति औद्भटाः। (का. मी. पृ. ४४)

कालिदास आकाश को 'असिश्याम' कहते हैं और वाल्मीकि उसीको 'नीलोत्पलद्युति' कहते हैं। यह आकाश का स्वरूपवर्णन नहीं है, प्रतिभासनिबद्ध वर्णन है। कवि को जैसा वह प्रतीत हुआ वैसा ही उसने उसे प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त, प्रतिभास का वस्तुओं से तादात्म्य संबन्ध नहीं होता। यदि ऐसा होता तो हमारी आँखें जो सूर्य के या चन्द्रमा के बिम्ब को थाली के आकार के देखती हैं वे बिम्ब शास्त्र में पृथ्वी के या उससे भी बड़े आकार के हैं ऐसा नहीं बताया जाता। वस्तुओं के इन यथाप्रतिभास रूपों का शास्त्र में भी महत्त्व होता है। काव्य में वर्णन तो पूर्णरूपेण प्रतिभासनिबन्धन होते हैं (४)।

वस्तु का यह प्रतिभास अथवा प्रतीति वस्तु से तादात्म्यसंबन्धबद्ध नहीं होती इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह प्रतीति असत्य होती है। कवि की वह प्रतीति लोकव्यवहार से अथवा लोकानुभव से संवादी होती है। अतः उसमें सत्यता भी होती है। राजशेखर ने यहाँ शास्त्रीय प्रत्यक्ष और काव्यप्रत्यक्ष में भेद ठीक ठीक दर्शाया है। काव्य में वर्णन प्रतिभासनिबन्धन होने से कल्पित होता है एवं शास्त्रीय सत्य स्वरूपनिबन्धन होने से कल्पनापोढ होता है।

यहाँ ध्यान में रखना आवश्यक है कि यह प्रतिभास भ्रम नहीं होता। प्रतिभास को ही वस्तुस्वरूप समझ कर यदि कोई तदनुकूल कार्य करें तो वह भ्रम की अवस्था होगी। मृगमरीचिका दीखना या सीप चाँदी के समान चमकती हुई दीखना यह भ्रम नहीं है, यह तो प्रतिभान है। किन्तु मृगजल देखकर यदि हम पानी पीने की अभिलाषा से उसकी ओर दौड़ते है या चाँदी का टुकड़ा समझ कर सीप को उठाने के लिए हाथ बढ़ाते है तो वह प्रतिभास भ्रम में रूपांतरित होता है। क्यों कि, उस समय हम प्रतिभास का उस वस्तु से तादात्म्यसंबन्ध जोड़ने की चेष्टा करते हैं। कानून में Appearance और Mistake में माना हुआ भेद प्रतिभास एवं भ्रम को ठीक लागू होता है।

प्रतिभास और अलंकार

काव्यस्थित वर्णनों को प्रतिभासनिबन्धन कहने में राजशेखर केवल अपना पांडित्य दर्शाना नहीं चाहता; वह सम्पूर्ण अलंकारवर्ग की उपपत्ति स्थिर करता है।

---

४. न स्वरूपनिबंधनमिदं रूपमाकाशस्य सलिलादेर्वा, किन्तु प्रतिभासनिबन्धनम्। न हि प्रतिभासः वस्तुनि तादात्म्येनावतिष्ठते। यदि तथा स्यात् सूर्याचन्द्रमसोर्मण्डले दृष्टया परिच्छिद्यमानद्वादशांगुलप्रमाणे पुराणाद्यागमनिवेदितधरावलयमात्रे न स्तः इति यायावरीयः। यथाप्रतिभासं च वस्तुनः स्वरूपं शास्त्रकाव्ययोर्निबंधोपयोगी...काव्यानि पुनरेतन्मयान्येव। (का. मी. पृ. ४४)

प्रतिभास एक प्रतीति है तथा एक प्रतीति की दृष्टि से उसे उसके क्षेत्र में सत्यता है। शब्द की वाच्यार्थवोधक शक्ति की—अभिधा की वास्तव सत्यता है; परन्तु लक्षणा की भी—वह अभिधा से भिन्न होने पर भी—सत्यता है; क्यों कि वह भी एक प्रतीति ही है (अभिधेया [illegible])। प्रतिभास-रूप काव्यप्रत्यक्ष एवं लक्षणा, दोनों की प्रतीतिनिष्ठ सत्यता की सीमाएँ भी समान हैं। काव्यप्रत्यक्ष लोकाश्रित अर्थात् लोकानुभव से संवादी होना चाहिये; लक्षणा भी लोकाश्रित ही होनी चाहिये (लक्षणाऽपि लौकिकी एव–शबरस्वामी)। यह प्रतिभासनिवन्धनत्व ही अलंकारों का मूल है, एवं शब्दों में उसका विलास लक्षणा-शक्ति के द्वारा हुआ दिखाई देता है। इस लिए प्रतिभास एवं लक्षणा दोनों की सीमाएँ अलंकारों को भी लागू होती हैं। वामन ने उपमा के लिए एक ओर लोक-प्रसिद्धत्व का एवं दूसरी ओर असंभवदोष टालने का बन्धन दिया है, इसका मूल लोकाश्रितता की कल्पना है। लोकाश्रितता एवं संभवनीयता की दो सीमाओं के मध्य प्रतिभास स्फुरित होता है। इस प्रतिभास की विविधता अलंकारभेदों का मूल है। अलंकारभेद प्रतिभासप्रतीति की विविधता से उपपन्न होते हैं। अनेक अलंकार सादृश्यमूल तो हैं, किन्तु सादृश्यप्रतीति की विविधता के कारण वे भिन्न होते हैं। आलंकारिकों ने यह समयसमय पर स्पष्ट रूप में बताया है। दो भिन्न पदार्थों में केवल सादृश्यप्रतीति हो तो वह उपमा होगी; सादृश्य के कारण संदेह-प्रतीति हो तो वह ससंदेह होगा; संदेह की उत्कटकोटिक प्रतीति हो तो वह उत्प्रेक्षा होगी; अभेदप्रतीति हो तो वह रूपक होगा; तादात्म्यप्रतीति हो तो अतिशयोक्ति होगी; अन्यथाप्रतीति हो तो वह अपह्नुति होगी; एवं अन्यथाप्रतीति के कारण निष्पन्न क्रिया से कर्ता के मिथ्या अध्यवसाय की प्रतीति हो तो वह भ्रान्तिमान् होगा। ये सब प्रतीतियाँ प्रतिभासरूप ही हैं। कवि इस प्रतीतिभेद के कारण ही वैचित्र्य निर्माण करता है। यही उसकी अलौकिक सृष्टि है। इस प्रतीतिवैचित्र्य के कारण ही, विषय के घिसे होने पर भी, कवि की वाणी 'प्रतिक्षण नई रुचि' पैदा करती है। आनन्दवर्धन 'विषमबाणलीला' में कहते हैं– "प्रिया के विभ्रम की एवं सुकवि की वाणी के अर्थ की कोई सीमाएँ तो हैं ही नहीं; और उनकी कभी पुनरुक्ति हुई नज़र नहीं आती (५)।"

काव्यार्थ की सत्यता का स्वरूप कथन करने के पश्चात् वह उनकी रसवत्ता के विषय में लिखता है। इसमें उसने भट्ट लोल्लट के मत का परीक्षण किया है। भट्ट लोल्लट का मन्तव्य इस प्रकार है– "विश्व में असंख्यात अर्थ हैं। किन्तु उनमें

५. न अ ताण घडइ ओही, ण ह ते दीसंति कहइ पुनरुत्ता
जे विब्भमा पिआणं, अत्था या सुकइवाणीणम् ॥

से जो अर्थ रसवत् है उन्हीं का निबन्धन कवि अपने काव्य में करता है। नीरस अर्थों का नहीं करता।" राजशेखर इसपर कहता है— "ठीक है। इसमें कोई संदेह नहीं कि [illegible] के काव्यों में वर्णित अर्थ रसवत् होते हैं। परंतु अर्थों में यह रसवत्ता कहाँ से आती है? संसार के अर्थों में से कुछ अर्थ मूलतः रसवत् एवं कुछ अर्थ मूलतः नीरस होते हैं ऐसा निश्चय कैसे किया जायँ? और ऐसा अर्थ स्वीकार किया तथा स्त्री, चंदन आदि अर्थ मूलतः रसवत् होते हैं यह मान भी लिया तो भी ऐसा तो नहीं कि ऐसे सरस अर्थों को भी अपने बेढंगे वर्णनों से नीरस बनानेवाले कवि होते ही नहीं। इसके विपरीत श्मशान आदि भीषण पदार्थों में भी अपनी वाणी से रसवत्ता भर देनेवाले कवि भी होते ही हैं। तो काव्य की सरसता या नीरसता भी वस्तुगत नहीं होती; वह तो कविवचन पर ही अवलंबित होती है, एवं कविवचन भी कवि की प्रतीति का ही द्योतक होता है। अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिए राजशेखर बौद्ध साहित्य पंडित पाल्यकीर्ति का वचन देता है— "प्रिया के साथ जिसकी हेमन्त ऋतु की रातें भी क्षण के समान व्यतीत होती हैं उसे चन्द्रमा भी अमृत के समान शीतल प्रतीत होगा तो विरहाकुल व्यक्ति को वही चन्द्रमा उल्का के समान तापदायक होता है। किन्तु हम जैसे लोगों को— जिनके कोई प्रिया भी नहीं है और विरह भी नही है—चन्द्रमा केवल दर्पण के समान दीखेगा, वह शीत भी नहीं प्रतीत होगा और उष्ण भी नहीं प्रतीत होगा (६)।" सारांश, काव्यार्थ की सत्यता जिस प्रकार कवि-प्रतीतिनिष्ठ होती है उसी प्रकार उसकी रसवत्ता भी कविप्रतीतिनिष्ठ ही होती है। मूलतः पदार्थ सरस भी नहीं होते या नीरस भी नहीं होते। राजशेखर के इस विवेचन से आनन्दवर्धन के निम्न पद्यों का स्वाभाविक स्मरण हो आता है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तते।।
शृंगारी चेत् कविर्जातं सर्वं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेत् नीरसं सर्वमेव तत्।।

इस कविप्रतीति का आविर्भाव कविवचनों में होता है। यही आविर्भाव शब्दों के द्वारा यथार्थ रूप में होना राजशेखर के विचार में शब्दार्थों का यथावत् सहभाव अर्थात् साहित्य है।

---

६. येषां वल्लभया समं क्षणमिव स्फारा क्षपा क्षीयते
तेषां शीततरः शशी विरहिणामुल्केव संतापकृत्।
अस्माकं तु न वल्लभा न विरहस्तेनोभयभ्रंशिना–
मिन्दू राजति दर्पणाकृतिरयं नोष्णो न वा शीतलः।।

कुन्तककृत साहित्यविवेचन (सन ९२५–१०२५ ईसवी)

राजशेखर साहित्य को शब्दार्थों का यथावत् सहभाव कहता है तो कुन्तक उसीको शब्दार्थों का अन्यूनातिरिक्तत्व से अवस्थान कहता है। कुन्तक का 'वक्रोक्तिजीवित' नामक ग्रन्थ उपलब्ध है; उसका लेखनकाल ख्रि. ९२५ से १०२५ के मध्य आता है। कुन्तक और अभिनवगुप्त समसामयिक थे; संभवत: वे सहाध्यायी भी थे ऐसा डॉ. लाहिरी का विचार है।

"साहित्य क्या है?" इस प्रश्न से ही कुन्तक ने विवेचन का आरंभ किया है। "शब्दार्थों का सहभाव नित्य व्यवहार में भी पाया जाता है। फिर साहित्य में शब्दार्थों का सहभाव चाहिये यह कहने में क्या विशेषता है? (७)" इस प्रकार प्रश्न उपस्थित करते हुए कुन्तक कहता है— "यह तो ठीक है कि शब्दार्थों का वाच्यवाचक सहभाव सर्वत्र होता है, किन्तु यह भी सत्य है कि इस सहभाव का परमार्थ काव्यमार्ग में ही पाया जाता है (८)।" काव्य में शब्दार्थों की रमणीयता की दृष्टि से अन्यून एवं अनतिरिक्त अवस्थिति होती है (९)। शब्द और अर्थ का, शब्द और शब्द का, एवं अर्थ और अर्थ का पारस्परिक शोभा बढ़ानेवाला सौंदर्यशाली अवस्थान ही काव्य में अभिप्रेत साहित्य है। काव्य में शब्दार्थों की परस्पर रमणिकता बढ़ाने में मानों स्पर्धा चलती है। इस प्रकार की स्पर्धा जिनमें परिस्फुरित होती है ऐसे वाक्यविन्यासों के द्वारा प्रतीत होनेवाला सौंदर्य ही काव्यगत शब्दार्थसाहित्य है। साहित्य के विषय में अपनी कल्पना कुन्तक ने परिकर श्लोक में संक्षेपत: एकत्र प्रस्तुत की है—

मार्गानुगुण्यसुभगः माधुर्यादिगुणोदयः।
अलंकरणविन्यासः वक्रतातिशयान्वितः॥
वृत्त्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम्।
स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि॥
सा काऽप्यवस्थितिस्तद्विदानन्दस्पन्दसुंदरा।
पदादिवाक्परिस्पन्दसारः साहित्यमुच्यते॥

---

७. शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा।
सहिताविति तावेव किमपूर्वं विधीयते॥ (१।१६)

८. वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धमपि यद्यपि।
तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोऽयमेतयोः॥ (१।८)

९. साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥ (१।१७)

" मार्ग (रीति) के लिए उचित सिद्ध होनेवाला माधुर्य आदि गुणों का उदय, वक्रता का (वैचित्र्य का) अतिशय द्योतित करनेवाला अलंकारविन्यास, एवं रसों का वृत्तियों के औचित्य से निष्पन्न मनोहर परिपोष ये सभी जिसमें एक दूसरे से स्पर्धा करते दिखाई देते हैं ऐसीं रसिकों के मन में आह्लाद निर्माण करनेवाली शब्दार्थों की अवस्थिति साहित्य है। इस प्रकार के साहित्य का ही पर्यवसान अन्ततोगत्वा रसास्वाद में होता है।" कुन्तक का कथन है—

अपर्यालोचितेऽप्यर्थे बन्धसौन्दर्यसंपदा।
गीतवत् हृदयाह्लादं तद्विदां विदधाति यत्॥
वाच्यावबोधनिष्पत्तौ पदवाक्यार्थवर्जितम्।
यत्किमप्यर्पयत्यन्तः पानकास्वादवत् सताम्॥
शरीरं जीवितेनेव स्फुरितेनेव जीवितम्॥
विना निर्जीवतां येन वाक्ये याति विपश्चिताम्॥
यस्मात् किमपि सौभाग्यं तद्विदामेव गोचरम्।
सरस्वती समभ्येति तदिदानीं विचार्यते॥

" वाक्य के अर्थ पर ध्यान न देने पर भी केवल बन्धसौंदर्य के कारण जो रसिक के मन में संगीत के समान आह्लाद निर्माण करती है; तथा वाक्यार्थ समझ लेने के उपरान्त उन पदवाक्यार्थों से भिन्न एवं उनसे अतीत, पानकास्वाद के समान आस्वाद-रूप अनुभव रसिक के हृदय में समर्पित करती है, जीवित के बिना शरीर या स्फुरण के बिना जीवित जैसा हो उसी प्रकार जिसके बिना शब्दार्थमय वाक्य रसिकों को केवल निष्प्राण प्रतीत होता है, तथा जिसके होने से रसिक अलौकिक सुख का—आनंद का—अनुभव करते हैं उस अवस्थातक कविवाणी किस प्रकार जा सकती है इसका अब विचार करेंगे।" कविवाणी का पर्यवसान रसास्वाद में होता है; केवल इतना ही नहीं, रसास्वाद कविवचन का जीवित है; वह न हो तो काव्य निष्प्राण होता है, यही कुन्तक यहाँ कहते हैं। इन परिकर श्लोकों के शब्दों का ध्वनिकारिका एवं अभिनवगुप्त के वचनों से अत्यंत साम्य है। पानकरस का दृष्टान्त तो अभिनवगुप्त ने भी रसास्वाद के लिए लिया है।

काव्य में किसी स्थान पर न खटकते हुए शब्दार्थों का रसास्वाद में पर्यवसान होना ही शब्दार्थसाहित्य का गमक है। कल्पना अथवा अलंकारों की झपट में आकर कवि रसभंग करता है तब साहित्य नष्ट होता है। इसी को कुन्तक ने 'साहित्य-विरह' कहा है।काव्य में अलंकारों की रचना स्वभाविक एवं सुंदर रूप में होनी चाहिये। कवि अगर यत्न से अलंकारविन्यास करें तो उसमें औचित्यहानि होने से साहित्यविरह होगा। अपने काव्य में अलंकारों की तृष्णा से केवल कल्पना की

उड़ान रचनेवाले कवियों से कुन्तक कहते हैं, "व्यसनितया प्रयत्नविरचने हि प्रस्तुतौचित्यपरिहाणेः वाच्यवाचकयोः परस्परस्पर्धित्वलक्षणसाहित्यविरहः पर्यवस्यति।"

कुन्तक का यह साहित्यविवेचन हमें औचित्यविचार के बहुत ही समीप ले जाता है। कुन्तक का कथन है कि प्रस्तुतौचित्यहानि के कारण साहित्य विरह होता है। रसोचित शब्दार्थसंदर्भ न हो तो साहित्यविरह होना ही चाहिये। सारांश शब्दार्थों का साहित्य रसोचित शब्दार्थविन्यास में है। कुन्तक ने साहित्य का लक्षण करते हुए, "परस्परसाम्यसुभगावस्थान" ऐसा प्रयोग किया है। इसीको राजशेखर 'शब्दार्थों का यथावत् सहभाव' कहता है, तथा भोज भी इसीको, 'सम्यक् प्रयोग' कहता है। सब का कुल अर्थ एक ही है, और वह है '[illegible]'। यही औचित्य कहलाता है। औचित्य की चर्चा क्षेमेन्द्र ने की है; और आनन्दवर्धन का कथन है कि रसादि औचित्य से वाच्य तथा वाचक का उपयोग करना ही महाकवि का प्रधानकर्म है एवं औचित्य ही रस के परिपोष का एकमात्र रहस्य है (१०)। एवं राजशेखर तथा अवन्तिसुन्दरी का कथन है कि यही काव्यपाक है (रसोचित-शब्दार्थसूक्तिनिबन्धनं पाकः)।

कुन्तककृत विवेचन कविव्यापारमुख से किया गया है। भट्टनायककृत विवेचन रसिकव्यापारमुख से किया गया है। काव्य से रसिक किस प्रकार रसास्वाद लेता है यह उसने विशद रूप में बताया। इन सभी साहित्यपंडितों ने सभी काव्यांगों पर विचार किया है। गुणालंकारों के कारण साधारणीकरण किस प्रकार होता है यह भट्टनायक ने बताया है; एवं गुणालंकारों की प्रस्तुतौचित्य से योजना कवि किस प्रकार करता है यह कुन्तक ने स्पष्ट किया है। गुणालंकारसंस्कृत शब्दार्थों का पर्यवसान अन्ततः रस में ही कैसे होता है यह आनन्दवर्धन ने दर्शाया है एवं इसी दृष्टि से शब्दार्थ, गुणालंकार, रीति, वृत्ति आदि काव्य के सभी अंगों की व्यवस्था की है। ध्वनिपूर्वकालीन आचार्यों का मन्तव्य था कि शब्दार्थों को काव्यसंज्ञा प्राप्त होने के लिए गुण एवं अलंकार आवश्यक धर्म हैं। अर्थात्, सभी आचार्य साहित्य की ही चर्चा करते हैं। "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" इस वचन का विशेष अभिप्राय बताते हुए समुद्रबन्धनामक 'अलंकारसर्वस्व' का टीकाकार लिखता है—

"इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापार-मुखेन व्यंङ्ग्यमुखेन वा इति त्रयः पक्षाः। आद्येऽपि अलंकारतो गुणतो वा इति

१०- वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत् मुख्यं कर्म महाकवेः॥ (ध्व. ३।३२)
अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥ (परिकर श्लोक)

वविध्यम् द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोगीकृत्त्वेन वा इति द्वैविध्यम् इति पंचसु पक्षेषु आद्यः उद्भटादिभिरंगीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पंचमः आनन्दवर्धनेन।" समुद्रबन्ध का कथन आलेख के रूप में इस प्रकार होगा—
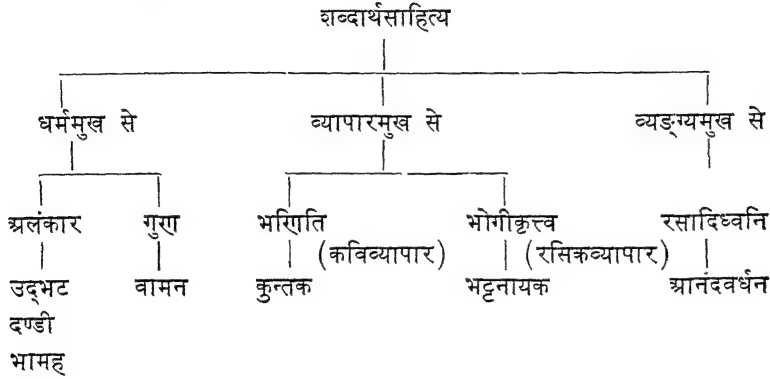
भोजकृत साहित्यविवेचन (सन् १००५ से १०५० ईसवी)

कुन्तक का लेखनकाल ख्रिस्ताब्द की दसवीं शताब्दी के अन्त में आता है तो भोज का राज्यकाल ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आता है। भोज के नाम से दो ग्रन्थ हैं—'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'शृंगारप्रकाश'। एक दृष्टि से 'शृंगारप्रकाश' कण्ठाभरण' का विस्तार ही है। 'शृंगारप्रकाश' में भोज ने साहित्यविवेचन किया है। आरंभ में ही भोज कहते हैं:—

"तत् (काव्यं) पुनः शब्दार्थयोः साहित्यम् आमनन्ति। तद्यथा—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" इति। कः पुनः शब्दः? येन उच्चरितेन अर्थः प्रतीयते।...कोऽर्थः? यः शब्देन प्रत्याय्यते।...किं साहित्यम्? यः शब्दार्थयोः सम्बन्धः। स च द्वादशधा—अभिधा, विवक्षा, [illegible] व्यपेक्षा, सामर्थ्यम्, अन्वयः, एकार्थीभावः, दोषहानम्, गुणादानम्, अलकारयोगः, रसावियोगश्च इति।"

साहित्य का अर्थ है शब्दार्थों का संबन्ध। भोज के विचार से इसके बारह भेद हैं। इनमें से प्रत्येक भेद का भोज ने विस्तृत विवेचन किया है। यह विवेचन ही 'शृंगारप्रकाश' ग्रंथ है। इस विवेचन की हमें यहाँ आवश्यकता नहीं है। इन बारह भेदों में से प्रथम आठ व्याकरणाश्रित हैं तथा शेष चार काव्याश्रित हैं। डॉ. राघवन् ने ये सब भेद आलेख (Table) के रूप में दिये हैं। वे देखने से भोज के विवेचन का स्वरूप तत्काल ध्यान में आ जाता है।
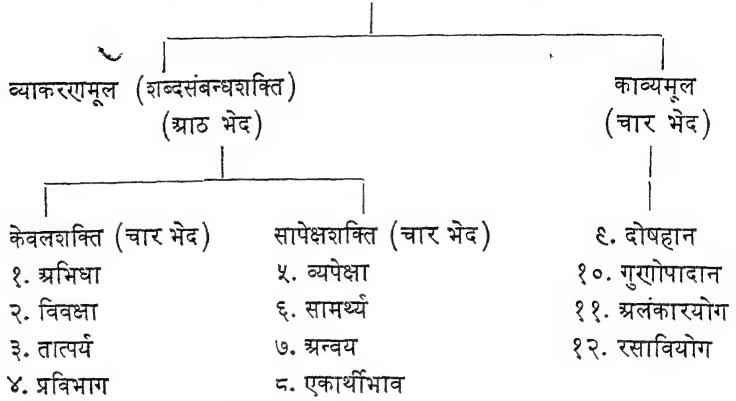
काव्यदृष्टि से इन भेदों की आवश्यकता प्रतिपादन करते हुए भोज ने कहा है–"कोई भी वाक्य प्रयोगार्ह है या नहीं यह अभिधा, विवक्षा आदि आठ संबन्धों से समझा जाता है; किन्तु वाक्य का सम्यक् प्रयोग तब ही उपपन्न हो सकता है, जब वह वाक्य निर्दोष, गुणवत्, सालंकार तथा रसवत् होगा (११)।" प्रथम आठ संबन्ध शास्त्र तथा काव्य दोनों को समान है। परन्तु अन्तिम चार भेद केवल काव्य में ही हो सकते हैं। तात्पर्य यह कि, दोष, गुण अलंकार एवं रस का विवेचन शब्दार्थ-साहित्य का ही विवेचन है (१२)।"

---

११. तत्र अभिधाविवक्षादिभिः निरूपिते शब्दार्थयोः साहित्ये वाक्यस्य प्रयोगयोग्यता प्रयोगार्नहता च निश्चीयते।... सम्यक्प्रयोगश्च तदा उपपद्यते यदा दोषहानम्, गुणोपादानम्, अलंकारयोगः, रसावियोगश्च भवति।"

१२. शब्दार्थ साहित्य के विवेचन में शब्दसंबंधशक्तियों के विवेचन के लिए 'शृंगारप्रकाश' के आठ अध्याय देने पड़े हैं। भोज को यह विवेचन व्याकरण के आधार से करना पड़ा। साहित्यशास्त्र के विवेचन में व्याकरण के प्रकृतिप्रत्यय घुसेड़ दिये हैं इस प्रकार डॉ. राघवन् ने भोज पर अप्रत्यक्षरूप में दोष लगाया है। उनका कहना है कि भोज पर व्याकरणशास्त्र का, विशेष रूप में वाक्यपदीय का बड़ा भारी संस्कार हुआ था। इसीसे उसने इस प्रकार का विवेचन किया होगा। डॉक्टर महोदय का यह कथन विशेष समर्थनीय नहीं है। भोज पर वाक्यपदीय का संस्कार था यह तो हमें भी स्वीकार है, किन्तु साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों का संस्कार भी उस पर कम न था यह उसके ग्रन्थों पर एक सरसरी निगाह डालने से भी ध्यान में आ जाता है। इसके अतिरिक्त, अर्थसंस्कार की दृष्टि से वाक्यपदीय का संस्कार होना आवश्यक ही है। भोज तो क्या, अन्य ग्रन्थकारों के भी साहित्यशास्त्रविषयक ग्रन्थों में व्याकरण के विषय प्रसंग के

(आगे देखिये)

काव्यशास्त्र के संस्कृत ग्रन्थों में विवेचन के इसी प्रकार चार भाग किये हुए मिलेंगे। इस कारण से, वह काव्य का और साथ साथ शब्दार्थसाहित्य का भी विवेचन है। यह ध्यान में लेने से, काव्यशास्त्र को साहित्यशास्त्र एवं काव्य को साहित्यसंज्ञा क्यों दी गई यह स्पष्ट हो जावेगा। काव्यगतशब्दार्थो का साहित्य क्या है इस प्रश्न पर प्रत्यक्ष रूप में विचार ध्वनिकार से आगे आरंभ हुआ, और पूर्वकाल के काव्यालंकार का साहित्यशास्त्र में परिवर्तन हुआ।

मम्मट : काव्यप्रकाश (लगभग सन ११०० ईसवी)

भोज का साहित्यविवेचन ध्यान में लेने से मम्मट के काव्य लक्षण का महत्त्व विस्पष्ट होता हैं। मम्मट लगभग भोज के ही समय में हुए किन्तु भोज से कुछ उत्तरवर्ती हैं। "तददोषौ शब्दार्थो सगुणावनलंकृती पुनः क्वाऽपि" इस प्रकार मम्मट ने काव्यलक्षण किया है। मम्मटकृत लक्षण की विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि उत्तरकालीन ग्रन्थकारों ने कड़ी आलोचना की है; न्याय के अवच्छिन्नावच्छेदक-वाले दृष्टिकोण से उस लक्षण को दोषयुक्त निर्धारित किया, परन्तु साहित्यशास्त्र की दृष्टि से देखने पर इस लक्षण में शब्दार्थसाहित्य के अथवा सम्यक् प्रयोग के चारों धर्म उपलब्ध हैं यह विदित होगा। 'अदोषौ' तथा 'सगुणौ' में 'दोषहान' एवं गुणोपादान' के दो साहित्यधर्म गृहीत हैं। 'अनलंकृती पुनः क्वाऽपि' पर स्वयं मम्मट का ही व्याख्यान "**सर्वत्र सालंकारौ** क्वाऽपि स्फुटालंकारविरहेऽपि न: काव्यत्वहानिः" इस प्रकार है। इससे निःसंदेह प्रमाणित होता है कि अलंकार-योग का साहित्यधर्म भी उन्हें अपेक्षित था। रस का, जो कि काव्यात्मा के नाम से प्रसिद्ध है, इस लक्षण में निर्देश नहीं है ऐसा आक्षेप इस लक्षण पर सभी ने उपस्थित किया है। परन्तु मम्मट ध्वनिवादी हैं एवं उनकी दृष्टि से 'रस' काव्यार्थ ही है। उनका स्पष्टरूप में कथन है कि शब्दार्थो को यदि काव्य की संज्ञा देनी हो तो वे शब्दार्थ 'व्यङ्ग्यव्यंजनक्षम' शब्दार्थ होने चाहिये। स्पष्टरूप में विदित होता है कि 'अर्थ' शब्द से उनका अभिप्राय 'व्यंग्यार्थ' से एवं व्यंग्य का सर्वश्रेष्ठ भेद

(पूर्व पृष्ठ से)

अनुकूल आये है। आज इन ग्रन्थों के पठन पाठन में मध्य में ही कहीं व्याकरण आने से हम त्रास मानते हैं, इसका कुछ कारण है। जिस काल में ये ग्रन्थ हुए उस काल से हम इतने दूर हो गये हैं कि उस समय के साहित्यकारों को प्रतीत होनेवाली उपसर्ग, तद्धित, कृदन्त, अव्यय आदि की अर्थच्छटाएँ आज हम नहीं समझ पाते। उनकी व्यंजकता आज हमारे ध्यान में तत्काल नहीं आती। किन्तु आज भी यदि हम वही शब्दार्थसाहित्य मराठी के उदाहरणों के द्वारा विवेचन करने का निश्चय करें तो मराठी के प्रत्यय, अव्यय, रूप आदि की व्यंजकता निःसंदेह हमें बतानी पड़ेगी और उसके लिए व्याकरण का ही आधार लेना पड़ेगा।

रस ने ही है। इसके अतिरिक्त अपने ग्रन्थ की रचना उन्होंने जिस प्रकार की है उस प्रकार की ओर ध्यान देने से 'अर्थ' शब्द के प्रयोग में उनका अभिप्राय रस से ही है इस विषय में तनिक भी आशंका नहीं रहती। अपना सम्पूर्ण ग्रन्थ इस लक्षण का स्पष्टीकरण है यह बात, 'इति सम्पूर्णमिदं काव्यलक्षणम्।' इस ग्रन्थसमाप्ति के वाक्य मे वे निर्देशित करते है। इससे, 'रसावियोग' का साहित्यधर्म भी उनके लक्षण में अभिप्रेत है यह स्पष्ट हो जाता है। अब मम्मट के बनाये लक्षण का स्वारस्य स्पष्ट होगा। काव्यचर्चा का विकास जिस क्रम से हुआ नज़र आता है उस क्रम पर ध्यान देने से विदित होता है कि मम्मटकृत काव्यलक्षण उस चर्चा का तर्कगम्य (Logical) पर्यवसान है तथा उस लक्षण का साहित्यशास्त्रीय महत्त्व भी ध्यान में आता है।

"मम्मटकृत लक्षण दोषयुक्त होने पर भी पूर्वकालिक भिन्न भिन्न वादों का समन्वय करने का प्रयास उसमें स्पष्ट है।" इस प्रकार डॉ. डे, मम्मटकृत लक्षण का समर्थन करते हैं। यह उस लक्षण का साहित्यशास्त्रीय समर्थन नहीं हो सकता। साहित्यशास्त्र के स्वरूप के विषय में जो वाद थे वे तो आनन्दवर्धन ने ही समाप्त कर दिये थे। अभिनवगुप्त ने तो "रस एव वस्तुत आत्मा" ऐसा स्पष्ट ही कहा था। अतः, भिन्न भिन्न वादों का समन्वय करने का कोई सवाल नहीं था। मम्मट के समय में वाद थे लेकिन वे काव्य के स्वरूप के संबन्ध में न होकर रसास्वाद के संबन्ध में एवं ध्वनि के विरोध में थे। उन वादों की उन्होंने अच्छी आलोचना की है एवं ध्वनि की श्रेष्ठता भी प्रतिपादन की है। इस लिए, ऐसा कहने में कोई अर्थ नहीं कि, यह लक्षण दोषयुक्त होने पर भी पूर्वकालीन वादों के समन्वय की दृष्टि से उसे ग्राह्य मान लेना चाहिये। मम्मटकृत लक्षण की पूर्वपीठिका हमें विकासमुख से ही ढूँढ़ना पड़ता है और इनके लिए वामन–राजशेखर–भोज–मम्मट इस क्रम से ही जाना पड़ता है। वामन ने "सौन्दर्यमलंकारः" कहने के पश्चात् "स [illegible]भ्याम्" का एक सूत्र दिया है। वामन का कथन है कि शब्दार्थों का सौंदर्य दोषहान, गुणोपादान एवं अलंकारोपादान से ही संपन्न होता है। राजशेखर ने 'गुणवदलंकृतं च वाक्यमेव काव्यम्' इस प्रकार काव्यलक्षण किया है। भोज ने राजशेखर के ग्रन्थ का बहुत उपयोग किया है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में उन्होंने––

'निर्दोषं गुणवत् काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥'

इस प्रकार काव्यलक्षण किया है एवं उपर्युक्त कारिका का ही अर्थ वह, "दोषहान, गुणोपादान, अलंकारयोग एवं रसावियोग सम्यक् प्रयोग के (साहित्य के) धर्म है।" इन शब्दों में 'शृंगारप्रकाश' में देता है। इसी को मम्मट ने "तद-

दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वाऽपि" इन शब्दों में कहा है। मम्मटकृत लक्षण की पूर्वपीठिका इस प्रकार की प्रतीत होती है। काव्यगत शब्दार्थसाहित्य में जो कुछ अपेक्षित है वह सब इस लक्षण में है।

मम्मट के 'काव्यप्रकाश' से शब्दार्थसाहित्य के विवेचन की पूर्णता हुई। वह इस प्रकार कि उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने उसीकी पद्धति का अनुसरण किया। 'काव्यप्रकाश' को साहित्यशास्त्र के इतिहास में अपूर्व स्थान प्राप्त हुआ है। म. म. पां. वा. काणे महोदय का कथन है, "शताब्दियों से साहित्यशास्त्र के अनेकानेक अंगों का विकास हो रहा था। उस विकास का विचार इसमें किया हुआ है एवं उसका सार इसमें संगृहीत है। वह (मम्मट) स्वयम् भी साहित्यशास्त्रविषयक अनेक मतों का उद्गमस्थान हुआ था।...भावी काव्यमीमांसापद्धति एवं तद्विषयक सभी बातों का उद्गम इसमें उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ का विशेष गुण यह है कि इस में विवेचन पूर्ण एवं सर्वांगीण होने पर भी, जहाँ तक हो सकें, संक्षेप में किया गया है।" नाटच छोड़कर काव्य के सभी अंगों का 'काव्यप्रकाश' में विचार किया गया है एवं काव्य के सभी अंगों की उसमें व्यवस्था की गई है। स्वयं ग्रन्थकार ही कहता है—

'इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्।
न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग् विनिर्मिता संघटनैव हेतुः॥'

'काव्यप्रकाश' साहित्यचर्चा का उत्कर्षबिन्दु है। एक शताब्दी में ही इस ग्रन्थ को ऐसी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई कि साहित्यपंडित मम्मट को 'वाग्देवतावतार' कहने लगे। काव्यप्रकाश की आजतक जितनी टीकाएँ हुई हैं उतनी दूसरे किसी साहित्यग्रंथ की नहीं हुई। साहित्यचर्चा के क्षेत्र में मम्मट के पश्चात् जो कुछ परिवर्तन हुए वे केवल विवरण (Details) के विषय में ही थे।

अध्याय सातवाँ

मम्मट के परवर्ती ग्रन्थकार

साहित्यमीमांसा की जिस पद्धति को मम्मट ने प्रवर्तित किया उसीको उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने अपनाया। मम्मट से जगन्नाथ तक लगभग साढ़े पाँचसौ वर्षो के कालखंड में (ख्रि. ११०० से १६५०) साहित्यचर्चा की पद्धति में कोई मूलग्राही परिवर्तन नहीं हुआ। इस काल के लगभग सभी साहित्यपंडित ध्वनिकार के ही अनुगामी हुए। इसका अर्थ यह नहीं कि नवीन विचार इस काल में उदय ही नहीं हुए। नवीन विचार हुए अवश्य; किन्तु या तो वे हिम्मत ने प्रस्तुत नहीं किये गये या उनके अनुगामियों की संख्या अत्यल्प थी। इन विचारों में से कुछ महत्त्वपूर्ण विचार इस प्रकार हैं—

(१) नारायण का केवलाद्भुतवाद,
(२) रामचंद्र-गुणचंद्र का सुख-दु:खवाद,
(३) नव्यन्याय के अनुगामियों की रसप्रक्रिया,
(४) मधुसूदनसरस्वती का भक्तिरसविवेचन,
(५) प्रभाकर का चमत्कारवाद,
(६) जगन्नाथपंडित का पुनर्विवेचन करने का प्रयास।

इनमे से जगन्नाथ पंडित ही ऐसे थे जिन्होंने कि मम्मट के पश्चात् साहित्य के पण्डितों के मन पर कुछ प्रभाव डाला। इस अध्याय में काल के अनुक्रम से सभी के इतिहास हम देखेंगे।

बारहवीं शताब्दी

मम्मट के पश्चात् एक ही शताब्दी में (बारहवीं शताब्दी में) रुय्यक, वाग्भट और हेमचंद्र ये लब्धप्रतिष्ठ ग्रंथकार हुए। रुय्यक का लेखनकाल ख्रि. ११३५ से

११५५, वाग्भट का लेखनकाल ख्रि. ११२२ से ११५६ एवं हेमचंद्र के 'काव्यानु-शासन' का काल ख्रि. ११५० स्थिर हुआ है।

रुय्यक :—रुय्यक ने 'अलंकारसर्वस्व' नामक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ में उसने अलंकारों का वर्गीकरण करते हुए लगभग ७५ अलंकारों का विवेचन किया। वह ध्वनिमत का एकनिष्ठ अनुयायी था। उसका कथन है कि गुणदोष एवं अलंकारों का विभाग अन्वयव्यतिरेक की पद्धति से नहीं बल्कि आश्रयाश्रयिभाव से करना चाहिये। अलंकारों का वर्गीकरण करने में उसकी सूक्ष्म बुद्धि प्रकट हुई है। इसके अलकारविवेचन का प्रभाव पीछे हुए आलंकारिकोंपर हुआ प्रतीत होता है। उन्होंने अलंकारों की विवेचना में मम्मट से भी रुय्यक का ही आधार विशेषरूप में लिया है। विश्वनाथ के अलंकारविवेचन पर तो रुय्यककृत विवेचन का प्रभाव प्रत्यक्ष है। 'अलंकारसर्वस्व' के अतिरिक्त रुय्यक ने '[illegible]', 'काव्यप्रकाश-संकेत', 'नाटकमीमांसा', 'व्यक्तिविवेकविचार', 'साहित्यमीमांसा' एवं 'सहृदय-लीला' इ. ग्रन्थ लिखे हैं। 'सहृदयलीला' ग्रन्थ है तो छोटा-सा ग्रन्थ किन्तु है बड़ा मज़ेदार। इसमें स्त्रियों के नैसर्गिक एवं कृत्रिम अलंकारों का वर्णन है।

हेमचंद्र :—हेमचंद्र इसी शताब्दी का एक अन्य श्रेष्ठ ग्रन्थकार है। वाग्भट और हेमचंद्र दोनों ने 'काव्यानुशासन' नाम के ही ग्रन्थ लिखे। दोनों ग्रन्थ संग्राहात्मक ही हैं। किन्तु हेमचंद्र के संबन्ध में कुछ लिखना आवश्यक है। हेमचन्द्र की ग्रन्थसंख्या विस्तृत है। 'सिद्ध हेमचंद्र' अथवा 'शब्दानुशासन' नामक व्याकरणग्रन्थ, 'देशी-नाममाला' नामक प्राकृत कोष, एवं '[illegible]' नामक साहित्यग्रन्थ की रचना उसने की है। '[illegible]' ग्रन्थ संग्रहात्मक होने पर भी उसकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। सर्वप्रथम, छात्रों की दृष्टि से हेमचंद्र ने इस ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक', 'लोचन', 'अभिनवभारती', 'काव्यप्रकाश' एवं राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' पर आधारित है। पूर्व आचार्यों के मतों को इसमें विशद रूप में प्रस्तुत किया गया है एवं रसविवेचन संक्षेप में हो कर भी गंभीर एवं सोपपत्तिक है। 'काव्यानुशासन' पर हेमचन्द्र ने ही 'विवेक' नाम्नी टीका लिखी है। हेमचंद्रकृत ध्वनि का वर्गीकरण एवं अलंकारविवेचन देखनेलायक हैं। मम्मट के किये हुए अनेक ध्वनिभेद, भिन्न प्रकार से वर्गीकरण करते हुए हेमचन्द्र ने संक्षिप्त किये है और अलंकार भी साठ से छत्तीस तक कम किये हैं। '[illegible]' के अध्ययन में, पाठक आरंभ में ही पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष के जाल में फँसता नहीं। इससे विषय का मानचित्र तत्क्षण ध्यान में आ जाता है। इस कारण, आधुनिक दृष्टि से पाठ्यग्रन्थ (Text Book) के नाते 'काव्यानुशासन' ग्रन्थ का महत्त्व है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से 'काव्यप्रकाश' में सुलभ प्रवेश होता है तथा 'काव्यप्रकाश' की दुर्बोधता कुछ अंश में कम होती है।

रामचन्द्र और गुणचन्द्र :—ये दोनों ग्रन्थकार हेमचंद्र के शिष्य थे। इन दोनों ने 'नाटयदर्पण' नामक ग्रन्थ लिखा। रामचन्द्र प्रबन्धशतकर्ता के नाम से प्रसिद्ध था। इन दोनों ने "सुखदुःखात्मको रसः" के मत का उपन्यास किया। इनका कथन है कि शृंगार, हास्य, वीर, अद्‌भूत एवं शान्त ये पाँच रस सुखात्मक हैं तथा करुण, रौद्र, बीभत्स एवं भयानक ये चार रस दुःखात्मक हैं। इनके पूर्व शारदातनय नामक ग्रन्थकार हुआ था। शांतरस नाटयरस नहीं है ऐसा मत उसने अपने 'भावप्रकाश' नामक ग्रन्थ में प्रतिपादन किया था। 'नाटयदर्पण'कार इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनकी संमति में शांत भी नाटयरस है।

तेरहवीं शताब्दी

तेरहवीं शताब्दी में साहित्यविचार में कोई विशेष परिष्कार हुआ दिखाई नहीं देता। इस शताब्दी में जयदेव, भानुदत्त और विद्याधर प्रसिद्ध ग्रन्थकार हुए। जयदेव (पीयूषवर्ष) का 'चन्द्रालोक' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में सौ अलंकारों का विवेचन किया हुआ है। भानुदत्त के दो ग्रन्थ 'रसमंजरी' और 'रस-तरंगिणी' केवल रसविचार के हैं। विद्याधर का 'एकावलि' नामक ग्रन्थ है। इसके उदाहरण लेखक के ही रचे हुए है और उसमें उड़ीसानरेश नृसिंहदेव की स्तुति है।

चौदहवीं शताब्दी

इस शताव्दी में दो प्रसिद्ध ग्रन्थकार विद्यानाथ और विश्वनाथ हुए। संभव है द्वितीय वाग्भट भी इसी समय हुआ हो।

विद्यानाथ :— विद्यानाथ का 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' नामक ग्रन्थ है। उदाहरणों में ग्रन्थकार ने काकतीय वंश के राजा प्रतापरुद्र का वर्णन किया है। इस ग्रन्थ में नाटय का भी विवेचन है एवं नाटय के नियम विशद करने के लिए ग्रन्थकार ने 'प्रतापरुद्रकल्याण' नामक नाटक भी इस ग्रन्थ में सम्मिलित किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ पर मम्मट का एवं अलंकारविवेचन पर रुय्यक का प्रभाव स्पष्टरूप में दिखाई देता है।

विश्वनाथ :— विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' इस शताब्दी का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। पाठय ग्रन्थ के नाते 'काव्यप्रकाश' के बाद 'साहित्यदर्पण' का ही महत्त्व है। इस ग्रन्थ का अधिकतर प्रसार बंगाल में रहा। इसमें काव्य के नाटयसहित सभी अंगों का विवेचन है। नाटयविवेचन में 'नाटयशास्त्र' एवं 'दशरूप' के बाद 'साहित्यदर्पण' का ही प्रामाण्य है। काव्य की 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की सर्वदूर प्रचारित परिभाषा विश्वनाथ की ही है। विश्वनाथ ने नऊ रसों में दसवाँ वत्सलरस भी माना है। केवलानन्दवाद का इसने प्रबल समर्थन किया। 'साहित्य-

दर्पण' में विवेचन सरल एवं विशद है। शब्दशक्ति का विषय इस ग्रन्थ से अच्छी प्रकार आकलन किया जा सकता है।

सोलहवीं शताब्दी

पन्द्रहवीं शताब्दी में साहित्यशास्त्र में कुछ नया लिखा गया उपलब्ध ग्रन्थों से तो प्रतीत नहीं होता। साहित्यचर्चा की दृष्टि से सोलहवीं शताब्दी का महत्त्व है। इस शताब्दी के दो विशेष बतलाये जा सकते हैं– 'भक्तिरस की चर्चा' एवं 'चमत्कार-वाद का प्रतिपादन'।

भक्तिरसचर्चा :— रूपगोस्वामी तथा **मधुसूदनसरस्वती** भक्तिरसविवेचक दो ग्रन्थकार हुए। रूपगोस्वामी चैतन्यसम्प्रदाय के वैष्णव साधु थे। वे चैतन्य महाप्रभु के शिष्य थे। इनका काल ख्रि. १५०० से १५६० का स्थिर हुआ है। इन्होंने दो ग्रन्थ लिखे–'भक्तिरसामृतसिन्धु' और 'उज्ज्वलनीलमणि' इनके विचार से मुख्य रस पाँच हैं–शान्ति, प्रीति, प्रेयस्, वत्सल एवं उज्ज्वल (मधुर)। भक्तिरस का श्रेष्ठ भेद मधुरभक्ति उज्ज्वलरस है। मधुर भक्ति को ग्रन्थकर्ता ने 'भक्तिरसराट्' कहा है। रूपगोस्वामी का कथन है कि नायक श्रीकृष्ण तथा उनकी वल्लभाओं के शृंगार-वर्णन से भक्त के मन में मधुर रति का प्रकर्ष होता है और वह आस्वाद्य होती है, यही भक्तिरस है (१)। तात्पर्यतः यह शृंगार ही है। परिणामतः, इस ग्रन्थ में भक्तिरसविवेचन में परिभाषा भी शृंगाररस की ही है।

भक्तिरसपर दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ **मधुसूदनसरस्वती** का 'भक्तिरसायन' है। इस ग्रन्थ में भक्तिरस का सर्वांगीण एवं सोपपत्तिक विवेचन है। इन्होंने भक्ति अथवा भगवदाकारता को मोक्ष से भिन्न पंचम पुरुषार्थ स्वीकार किया है, तथा इस आधार पर शान्तरस से भक्ति का भिन्न एवं स्वतन्त्र स्थान निर्देशित किया है।

> दृतस्य भगवद्धर्मात् धारावाहिकतां गता।
> सर्वेशे मनसो वृत्तिः भक्तिरित्यभिधीयते॥

भगवद्गुणश्रवण से दृतावस्था को प्राप्त चित्त की भगवद्विषयक अखण्ड वृत्ति ही भक्ति है। अर्थात् भक्ति है भगवदाकारता। इसी वृत्ति की आस्वाद्यमानता [illegible] मधुसूदनसरस्वतीजी ने अभिनवगुप्त की शैली में वर्णन की है। अतः भक्तिरस के शास्त्रीय ग्रन्थ के नाते इस ग्रन्थ का ही निर्देश करना होगा। [illegible] के समसामयिक तथा उनके सुहृत् थे। अतः उनका

---

१. वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः स्वाद्यतां मधुरा रतिः।
नीता भक्तिरसः प्रोक्तः शृंगाराख्यो मनीषिभिः॥

समय सोलहवीं शती का उत्तरार्ध हो सकता है। मधुसूदनसरस्वती गंभीर वेदान्ती, रससिद्ध कवि एवं महान् भगवद्भक्त थे। "अद्वैतसिद्धि" नामक वेदान्तग्रन्थ, 'भक्तिरसायन' नामक साहित्यग्रन्थ एवं 'आनन्दमन्दाकिनी' नामक रसपरिप्लुत स्तोत्रकाव्य ये तीन अमर उपहार उन्होंने हमें दिये हैं।

साहित्य में चमत्कारवाद :—'काव्य का विशेष चमत्कार अथवा चमत्कृति है' इस प्रकार के विचार को सोलहवीं शती में प्रभाकर नामक ग्रन्थकार ने प्रवर्तित किया। वैसे तो अद्‌भुत रस के विवेचन के रूप में इस प्रकार की विचारधारा चौदहवीं शताब्दी में ही प्रसृत हुई थी। काव्य में अनुभव होनेवाली आस्वाद्यता के लिए 'चमत्कार' अथवा 'चमत्कृति' शब्द का प्रयोग आनन्दवर्धन व अभिनवगुप्त ने भी स्थान स्थान पर किया हुआ पाया जाता है। क्षमेन्द्र ने तो कविकण्ठाभरण में चमत्कार के दश भेद उदाहरणसहित दिये हैं। किन्तु चमत्कार की दृष्टि से काव्य-विवेचन करने की चेष्टा मम्मट के पश्चात् ही हुई है। विश्वनाथ के परदादा नारायण के मन्तव्य के अनुसार तो चमत्कार ही काव्य का प्राण होने के कारण विस्मयमूल अद्‌भुत ही एकमात्र रस होता था (२)। विश्वेश्वर चमत्कारवाद का एक अन्य पुरस्कर्ता ग्रन्थकार था। यह चौदहवीं शताब्दी में हुआ। इसने 'चमत्कार-चन्द्रिका' नामक ग्रन्थ लिखा है। काव्य के पठन से सहृदय को होनेवाला आनन्द ही चत्मकार है एवं गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, शय्या एवं अलंकार उसके सात आलंवन हैं ऐसा उसने इस ग्रन्थ में कहा है (३)। सोलहवीं शताव्दी के उत्तरार्ध में प्रभाकर ने 'रसप्रदीप' नामक ग्रन्थ लिखा। उस ग्रन्थ में उसने काव्य की परिभाषा 'चत्मकारविशेषकारित्वं, सुखविशेषकारित्वं वा।' इस प्रकार की है। उसका विचार है कि रस चमत्कार का विशेष घटक है। नारायण के अद्‌भुतवाद का इसने खण्डन किया है। 'रसप्रदीप' एक छोटा-सा ग्रन्थ है और प्रभाकर ने उन्नीस वर्ष की अवस्था में इसकी रचना की। इस ग्रन्थ का प्रभाव उस काल में बहुत रहा। डॉ. वाटवे महोदय का कथन है कि जगन्नाथ जैसे पंडित पर भी इसका प्रभाव दिखाई देता है।.

---

२. रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्‌भुतो रसः॥
तस्मादद्‌भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्॥
इस प्रकार नारायण के विषय में धर्मदत्त का वचन विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में दिया है।

३. चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत्।
गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्यामलंकृतिम्
सप्तैतानि चमत्कारकारणं ब्रुवते बुधाः॥

सत्रहवीं शताब्दी

अप्पय्य दीक्षित :—अप्पय्य दीक्षित और पंडितराज जगन्नाथ सत्रहवीं शती के प्रधान ग्रन्थकार हैं। दोनों समकालीन थे। किन्तु अप्पय्य दीक्षित जगन्नाथ पडित से उमर में कुछ बड़े थे। दीक्षित ने तीन साहित्यग्रन्थों की रचना की है—'कुवलयानन्द', 'वृत्तिवार्तिक' और 'चित्रमीमांसा'। 'कुवलयानन्द' एक 'बालानां सुखबोधाय' अलंकारग्रन्थ है। इसमें १२४ अलंकार दिये हैं एवम् इसमें दिये हुए अनेक अलंकार-लक्षण 'चन्द्रालोक' से ही लिए हैं। 'वृत्तिवार्तिक' ग्रन्थ 'शब्दव्यापार' पर लिखा है, इसमें अभिधा और लक्षणा इन दोनों वृत्तियों पर विवेचन है। 'चित्रमीमांसा' में [illegible]। यह ग्रन्थ अपूर्ण है। 'चित्रमीमांसा' में निर्देशित मतों का जगन्नाथ ने खंडन किया है; वह 'चित्रमीमांसाखंडन' नाम से प्रसिद्ध है।

जगन्नाथ :—सत्रहवीं शताब्दी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं साहित्यशास्त्र के विकास की दृष्टि से अन्तिम ग्रन्थ पंडितराज जगन्नाथ का 'रसगंगाधर' है। यह ग्रन्थ अपूर्ण है। किन्तु इस अवस्था में इसकी योग्यता यह है कि इसे 'ध्वन्यालोक', 'लोचन', 'काव्यप्रकाश' आदि ग्रन्थों की पंक्ति में स्थान देना उचित होगा। तर्क है कि 'रसगंगाधर' के संभवतः पाँच आनन थे। किन्तु उनमें से प्रथम आनन एवं द्वितीय आनन का कुछ अंश इतना ही ग्रन्थ उपलब्ध है।' 'रमणीयार्थप्रतिपादक-शब्दः काव्यम्', इस प्रकार जगन्नाथ ने काव्य की परिभाषा की है। वास्तव में जगन्नाथ अभिनवगुप्त के अनुगामी हैं; किन्तु आँखें मूँद कर किसीका अनुसरण वे नहीं करते। हर विषय में उनका अपना कुछ कथन रहता ही है। उनकी विवेचक [illegible] थी। अपना ग्रन्थ उन्होंने न्यायघटित भाषा में लिखा है। रसमीमांसा में अभिनवगुप्त के पश्चात् उत्पन्न हुई विचारधाराएँ इसी ग्रन्थ में हम देख सकते हैं। 'रसगंगाधर' में पांडित्य और वैदग्ध्य का अपूर्व समन्वय पाया जाता है।

साहित्यशास्त्र के पुनर्लेखन का जगन्नाथ का प्रयास

साहित्यविकास की दृष्टि से मम्मटोत्तर काल में 'रसगंगाधर' ही महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ है। साहित्यशास्त्र के पुनर्लेखन का प्रयास उसमें स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित होता है। स्वयं ग्रन्थकार ही कहता है कि "आजतक हुई साहित्यमीमांसा का सम्पूर्णतया आलोचन करते हुए एव उस पर श्रमपूर्वक मनन करने के पश्चात् यह ग्रन्थ मैंने लिखा है, और अन्य सभी अलंकारग्रन्थों से यह अच्छा है (४); " और अभ्यासक भी अनुभव करते हैं कि यह कथन यथार्थ है।

४. निमग्नेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरुदरं
मयोन्नीतो लोके ललितरसगंगाधरमणिः।
हरन्नन्तर्ध्वान्तं हृदयमधिरूढो गुणवता—
मलङ्कारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु।

'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' इस प्रकार पूर्व आचार्यों से भिन्न रूप में काव्य की परिभाषा जगन्नाथ ने की; केवल इतनाही नहीं, तो काव्य के भेदों से लेकर सभीका पुनर्लेखन उन्होंने किया। उनका कथन है कि काव्य का एकमात्र कारण प्रतिभा है (तस्य च कारणं केवलं कविगता प्रतिभा।) उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम एवं अधम इस प्रकार काव्य के चार भेद उन्होंने किये। जहाँ व्यंग्यार्थ' प्रधान होता है वह उत्तमोत्तम काव्य, जहाँ व्यंग्यार्थ प्रधान न होने पर भी चमत्कारकारण है वह उत्तम काव्य, जहाँ व्यंग्यचमत्कार से भी वाच्यचमत्कार विस्पष्ट एवं उत्कृष्ट है वह मध्यम काव्य, एवं जहाँ अर्थचमत्कृति शब्दचमत्कृति में लीन होती है वह अधम काव्य है, इस प्रकार काव्य के विविध भेदों का स्वरूप उन्होंने बताया है। एकाक्षर पद्य, अर्धावृत्ति यमक, पद्मबन्ध आदि पद्यों में अर्थचमत्कृतिहीन शब्द-चमत्कृति पाई जाती है; किन्तु इनमें शब्दों में रमणीयार्थ प्रतिपादकता न होने के कारण ऐसे पद्य काव्यसंज्ञा के पात्र नहीं है ऐसा जगन्नाथ का कथन है। महाकवियों के काव्यों में ऐसे पद्य पाये जाते हैं इसी आधार से ऐसे पद्यों का काव्यत्व समझना ठीक नहीं है। उन महाकवियों ने केवल परम्परा के अनुकूल ही ऐसी रचना की है। कौन कहेगा कि जगन्नाथ ने की हुई शब्दचित्र की यह आलोचना यथार्थ नहीं है?

जगन्नाथकृत विवेचन अभिनवगुप्त के अनुकूल होने पर भी अभिनवगुप्त-कृत विवेचन से बहुत आगे बढ़ा हुआ है। 'काव्यप्रकाश' में रस के संबंध में चार मत हैं और 'रसगंगाधर' में ग्यारह हैं इतना ही इसका अर्थ नहीं। 'रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः' यह रसविवेचन को उनकी अति अमूल्य देन है। उनका गुणविचार एवं भावध्वनिपर विवेचन भी मर्मग्राही, नवीन एवं सूक्ष्म है। तत्तद् गुणों की अभिव्यंजक रचना भी उन्होंने पूर्णतया नवीन शैली में विवेचित की है। मम्मट आदि के इस संबन्ध में विहित किये हुए नियम अब लागू नहीं होते थे यह जगन्नाथ ने पहचान रक्खा था। अतएव गुणव्यंजकता की दृष्टि से उन्होंने नवीन नियमों की रचना की। उन की भावध्वनि की विवेचना भी सूक्ष्म है। और विशेष यह है कि रस, भाव आदि को पूर्व आचार्य केवल असंलक्ष्यक्रम ही मानते थे, किन्तु रस, भाव आदि संलक्ष्यक्रम भी हो सकते हैं यह जगन्नाथ ने बड़ी मार्मिक शैली से दर्शाया है।

पदरचना एवं पदव्यंजकता के संबन्ध में भी, किसी ऊँचे दर्जे के संगीत के जानकार के समान जगन्नाथ का 'कान तैयार' था। इसी लिए, अन्य कवियों की रचनाओं का परीक्षण करने में वे अपना मत विशद रूप में समझा सकते हैं। इसी गंभीर अध्ययन के कारण, उनके समय के पंडितों को शिरोधार्य श्रीहर्षकृत 'नैषधीय चरित' की रचना को भी वे 'क्रमेलकवत् विसंष्ठुल' कह सकते हैं। जगन्नाथ का और

भी एक विशेष है; रचना के दोष वे दर्शाते है इतना ही नहीं, तो वे उसमें सुधार भी कर सकते हैं। यथा—

उपासनामेत्य पितुः स्म रज्यते दिने दिने सावसरेषु वन्दिनाम् ।।
पठत्सु तेषु प्रतिभूपतीनलं विनिद्ररोमाऽजनि शृण्वती नलम् ।।

'नैषधीयचरित' का यह पद्य, उसके दोष वर्जित करके जगन्नाथ इस प्रकार लिखते हैं—

उपासनार्थ पितुरागतापि सा निविष्टचित्ता वचनेषु बन्दिनाम् ।
प्रशंसता द्वारि महीपतीनलं विनिद्ररोमाजनि शृण्वती नलम् ।।

और इन दोनों पद्यों में तुलना करते हुए वे प्रमाणित कर दिखाते है कि श्रीहर्ष का ऊँट के समान बेढंगा (क्रमेलकवत् विसंष्ठुल) मूल पद्य, सुधार करने के बाद रमणी की अंगयष्टि के समान कैसे सुदर लगता है।

जगन्नाथ के साहित्य विवेचन में नवीन विचारों का एवं हिन्दी वाङ्मय के विशेषों का प्रभाव स्पष्टरूप मे दृष्टिगोचर होता है। भक्तिरस की विशिष्टता उन्हें प्रतीत होती है; भक्तिरस के स्वतन्त्र विवेचन का भी वे निर्देश करते हैं; इतनाही नहीं, भगवद्गुणसंकीर्तन के समय उदित होनेवाले, भक्तों के भाव भी वे समझ सकते हैं; परन्तु उन्हें भक्ति का रसत्व स्वीकार नही है। उनके लिए यह बड़ा कठिन कार्य हो गया है; किन्तु भरतमुनि की की हुई व्यवस्था आकुलित होगी केवल इसी कारण से वे भक्ति का रसत्व स्वीकार नहीं करते। जगन्नाथ के पूर्व, मधुसूदन-सरस्वती के तथा तुलसीदास, सूरदास आदि कवियों के काव्यों का प्रभाव उस समय के साहित्य पर हुआ था यह बात जगन्नाथ की श्रेणि के परिश्रमी आलोचक के दृष्टि से ओझल नहीं हो सकती थी। जगन्नाथ के दिये हुए कितने ही पद्य, बिहारीकृत 'सत्तसई' के दोहे संस्कृत में रूपांतरित प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ—

"छिप्यो छबीलो मुँह लसै नीले आँचल चीर।
मनों कलानिधि झलमलै कालिदीके नीर।।

बिहारी के इस पद्य की, जगन्नाथ के निम्न पद्य से तुलना कीजिये—

नीलाञ्चलेन संवृतमाननमाभाति हरिणनयनायाः।
प्रतिबिम्बित इव यमुनागभीरनीरान्तरेणाङ्कः।।

किम्वदन्ती है कि, बिहारी के कुलपति मिश्र नामक भाँजे ने पंडितराय जगन्नाथ के पास साहित्यशास्त्र का अध्ययन किया था। यदि यह सत्य हो तो जगन्नाथ के समक्ष बिहारी की 'सत्तसई' रहना असंभव नही (म. म. मथुरानाथ)।

यहाँ एक और बातपर ध्यान देना चाहिये। जगन्नाथ ने उदाहरण अपने रचे हुए दिये है। इस बात पर उन्हें गर्व भी है। इसे आत्मप्रशंसा समझ कर अच्छा नहीं माना जाता। किन्तु इस प्रकार निश्चय करने के पूर्व कुछ सोचना चाहिये। अलंकार

अर्थव्यक्ति की एक वैचित्र्यपूर्ण शैली है। हिन्दी भाषा में इस शैली की जो नवीनता प्रतीत हो रही थी उसे जगन्नाथ ने संस्कृत में लाया। उनकी अलंकार विवेचना में केवल पिष्टपेषण नहीं है, या भेदों का केवल सूक्ष्म दर्शन भी नहीं है; उसमें वक्रोक्ति का एक नवीन विलास है।

> श्यामं सितं च सुदृशो न दृशोः स्वरूपं
> किन्तु स्फुटं गरलमेतदथामृतं च।
> नो चेत् कथं निपतनादनयोस्तदैव
> मोहं मुदं च नितरां दधते युवानः ।।

इस पद्य पर उनका किया हुआ विवेचन वक्रोक्ति के नवीन विलास की दृष्टि से द्रष्टव्य है। इस संस्कृत पद्य का मूल—

> अमी हलाहल मद भरे स्वेत स्याम रत नार।
> जियत मयत झुकि झुकि परत जिहि चितवत इक बार ।।

इस भाषापद्य में है, यह ध्यान में लेने से वक्रोक्ति का यह नवीन विलास उन्होंने हिन्दी से या तत्कालीन भाषासाहित्य से संस्कृत में लाया यह विस्पष्ट हो जाता है।

रसगंगाधर में तत्कालीन नवीन संकेत भी कई प्रकार के दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिए निम्न पद्य देखिए—

> निरुद्ध्य यान्तीं तरसा कपोतीं
> कूजत्कपोतस्य पुरो दधाने।
> मयि स्मितार्द्रं वदनारविन्दं
> सा मन्दमन्दं नमयांबभूव ।।

यहाँ लज्जाभाव का बिभाव कपोतक्रीडा के रूप में है। कपोतों की क्रीडा का वर्णन करने की यह पद्धति जगन्नाथकालीन है, पूर्वकालीन नहीं यह विज्ञों को समझाने की आवश्यकता नहीं।

सारांश, पूर्वकालीन ग्रन्थकारों के किये हुए विवेचन को लेकर तथा स्वकालीन साहित्य में वक्रोक्ति के नवीन विलास एवं संकेतों का विचार करते हुए 'रस-गंगाधर' में साहित्यशास्त्र का पुनर्लेखन करने का जगन्नाथ का प्रयास स्पष्टरूप से प्रतीत होता है। रसगंगाधर ग्रन्थ अपूर्ण है। यदि पूर्ण रूप में ग्रन्थ उपलब्ध रहता तो सभी विषयों में जगन्नाथ ने साहित्यशास्त्र को किस प्रकार विकसित किया था यह स्पष्ट हो जाता।

अपनी ग्रन्थरचना से साहित्यशास्त्र को कुछ नया विचार प्रदान करनेवाला जगन्नाथ ही अन्तिम ग्रन्थकार है। जगन्नाथ के पश्चात् निर्माण हुए ग्रन्थ केवल संग्रहरूप हैं। अतएव साहित्यशास्त्र के विकास का इतिहास जगन्नाथ तक ही समाप्त होता है यह कहने में कोई आपत्ति नहीं।

अध्याय आठवाँ.

साहित्यशास्त्र का विकास

यहाँ तक हम ने भरत से जगन्नाथ तक साहित्यचर्चा का संक्षिप्त वर्णन किया है। साहित्यचर्चा के विकास का यह काल ख्रि. पू २०० से ख्रि. पू. १७०० तक अर्थात् लगभग दो सहस्र वर्षों का है। 'नाटचशास्त्र' का काल ख्रि. २०० मानने पर भी १७०० वर्ष होते हैं। इस काल में साहित्य-शास्त्र परिणत हुआ। साहित्यशास्त्र के इस विकास की अवस्थाएँ निम्न रूप में दर्शाई जा सकती है—

१. **क्रियाकल्प** :— उपलब्ध साहित्यग्रन्थों में भरत का 'नाटचशास्त्र' ही प्राचीनतम ग्रन्थ है। नाटचप्रयोग सफलता से किस प्रकार करना चाहिये यह दर्शाना ही इस ग्रन्थ का प्रयोजन है। अतः नाटचमंडप की रचना से लेकर नाटचसिद्धि तक नाटच के सभी अंगों पर इसमें विवेचना की गई है। **इस ग्रन्थ का स्वरूप प्रयोगप्रधान है एवं सिद्धान्तों की चर्चा तथा क्रियाविधान इसमें मिश्र रूप में हैं**। नाटचकाव्य की चर्चा इस ग्रन्थ में वाचिक अभिनय की आनुषंगिक है एवं उसमें काव्यलक्षण, अलंकार तथा गुण और दोषों का स्वरूप बताया गया है। संभव है कि भरत के दिये हुए काव्यलक्षण, निरुक्त, मीमांसा आदि में दिये गये वैदिक लक्षणों से ही आये हुए हों। भरत का नाटचशास्त्र काव्यचर्चा में **क्रियाकल्प** की अवस्था दर्शाता है।

२. **काव्यलक्षण** :— भरत से लेकर भामह-दण्डी तक का काल काव्यचर्चा की दूसरी अवस्था है। इस काल में काव्यचर्चा नाटच के अंग के रूप में न रहकर स्वतन्त्र होने लगी थी। कह सकते हैं कि काव्यलक्षणों का अलंकारों में रूपांतर होना इस काल की चर्चा का सामान्य रूप था। सम्भवतः इस काल

में काव्यचर्चा को '**काव्यलक्षण**' कहते थे। काव्यलक्षण का काल लगभग ख्रि. ६०० तक का हो सकता है।

३. **काव्यालंकार** :— भामह-दण्डी से लेकर रुद्रट तक का काल विकास की तीसरी अवस्था है। इस काल में काव्य के अलंकार, गुण, रस आदि अंगों का स्वरूप क्रमशः विशद होता गया। काव्यगत सौन्दर्यधर्म के लिए इस काल में 'अलंकार' का नाम रूढ़ हुआ था। एवं सौन्दर्य निर्माण के साधन के नाते काव्य के अंगों की चर्चा इस काल में होती थी। काव्यचर्चा को इस काल में '**काव्यालंकार**' संज्ञा थी। लगभग ख्रि. ६०० से ख्रि. ८०० तक का यह काल है।

४. **साहित्य** :— इस के पश्चात्, आनन्दवर्धन से लेकर मम्मट तक के काल की अवस्था है। शब्दार्थों का साहित्य क्या है? काव्यगत शब्दार्थों के विशेष क्या है? आदि प्रश्नों का विवेचन ही इस काल में चर्चा का सामान्य स्वरूप था। काव्यचर्चा के विकास में यह उत्कर्ष का काल था। इस काल में ही काव्यालंकार का **साहित्यशास्त्र** में रूपांतर हुआ। ख्रि. ८०० से ११०० तक क यह काल है।

५. **साहित्यपद्धति** :— मम्मट के पश्चात् उसके बताये मार्ग से ही उत्तर-वर्ती ग्रन्थकार चले है। मम्मट के पश्चात् नई रीती सें तत्त्वविचार हुआ प्रतीत नहीं होता। इस काल के अन्तिम ग्रन्थकार जगन्नाथ ने पुर्नविचार का प्रयास किया; किन्तु शैली मम्मट की ही थी। ख्रि. ११०० से १६५० तक का यह काल है। साहित्यचर्चा की इस अवस्था वो '**साहित्यपद्धति का काल**' यह संज्ञा देना उचित होगा।

इस क्रम से काव्यचर्चा का विकास हुआ प्रतीत होता है। किसी वस्तु के अन्तरंग का अनुसंधान करने में एक एक बाहरी छिलका निकलता जावें और सूक्ष्म आन्तर धर्मो का बोध होता जावें ऐसा ही यह हुआ है। रसिकों का अनुभव था कि विविध नाटचांग एकत्र होने पर रस का जो आविर्भाव होता है, ठीक वही आविर्भाव केवल शब्दार्थो के द्वारा भी होता है। यह अनुभव कैसे होता है? शास्त्र में एवं काव्य में शब्दार्थ समान होने पर भी शास्त्र का पर्यवसान आनन्द में होता नहीं। इसके विपरीत काव्य का पर्यवसान आनन्द में होता है। ऐसा क्यों? इन दोनों प्रश्नों का समाधान करने के लिए काव्यमीमांसा की प्रवृत्ति हुई। केवल न्याय अथवा व्याकरण की सहायता से इन प्रश्नों का समाधान असंभव था। व्याकरण शब्दसंस्कार का शास्त्र है। अर्थसंस्कार के विषय में उससे कुछ नहीं बनता था। शब्द एवं उनके रूढ़ संकेतों से ही काव्यसौंदर्य सीमित नहीं यह

स्पष्ट हुआ। रूढ़ संकेतों को लाँघकर गयी हुई शब्दार्थों की यह उड़ान कैसी है यह देखने के प्रयास से ही भामह की वक्रोक्ति, दण्डी का समाधिगुण एवं उद्भट की अमुख्य वृत्ति निर्माण हुई है। इनका स्वरूप स्पष्ट करने के लिए उन्होंने मीमांसा की लक्षणा का आश्रय किया एवं लक्षणा के आश्रय से वक्रोक्ति प्रतिष्ठित की। किन्तु कवियों का एक वर्ग ऐसा भी था जो वक्रोक्ति को टेढ़ेपन में बदल दे सकते थे। अतएव वामन ने काव्यसौंदर्य का पुनर्विवेचन किया और दर्शाया कि काव्य-सौंन्दर्य अलंकारों पर अधिष्ठित न होकर गुणों पर अधिष्ठित है; और वामन के पश्चात् रुद्रट ने काव्य का विशेष गुण-रस स्वतंत्ररूप में विवेचन किया।

दण्डी-भामह से लेकर रुद्रट तक की विवेचना में इस प्रकार भेद होने पर भी उन सभी की एक विषय में समानता थी। वह यह है कि सभी को स्वीकार था कि शब्दार्थों में गुणालंकारों का विशिष्ट धर्म होता है तथा उसीके कारण रस निष्पन्न होता है। सारांश, इन सभी का विवेचन धर्ममुख से चल रहा था। किन्तु आनन्दवर्धन ने इस विचारधारा को तोड़ दिया, फलतः काव्यविवेचन का रुख ही बदल गया। काव्यविवेचन अब व्यापारमुख से तथा फलमुख से होने लगा। फलमुख से विवेचन केवल आनन्दवर्धन ने ही किया। उनका कथन है कि रस यह निर्मित या अनुमित न होकर अभिव्यक्त ही होता है, अतएव काव्यगत शब्दार्थों का पर्यवसान व्यङ्ग्य में (रस में) होना चाहिये एवं इसी दृष्टि से काव्य के अंगों की शास्त्र में व्यवस्था करनी चाहिये। व्यापारमुख से विवेचन करनेवालों में कुन्तक और भट्टनायक प्रमुख थे। कुन्तक ने कविव्यापारमुख से एवं भट्ट नायक ने रसिक व्यापारमुख से साहित्यविवेचन किया। विवेचन के इन सभी प्रकारों की पूर्णता अभिनवगुप्त के विवेचन में एवं तत्पश्चात् मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में हुई दिखायी देती है। साहित्यशास्त्र के विकास की पाँच अवस्थाओं में से 'काव्यालंकार' तथा 'साहित्य' की अवस्थाओं में जो विचारधाराएँ थीं उनकी संगति इस प्रकार है।

किसी भी शास्त्र का जब विकास होता है तो उस विकास में एक विशेष यह प्रतीत होता है कि विकास के क्रम में, अवस्था में परिवर्तन होते ही शास्त्र की कक्षा के अन्तर्गत विषयों का वर्गीकरण भिन्न प्रकार से होना आरंभ होता है। वर्गीकरण करने का ऐसा ही एक भिन्न प्रयत्न ध्वन्यालोक में दिखायी देता है। भामह से रुद्रट तक काव्य का वर्गीकरण गद्य-पद्य, निबद्ध-मुक्त, सर्गबन्ध-अभिनेयार्थ इस प्रकार का है। इस प्रकार का वर्गीकरण 'ध्वन्यालोक' में नहीं है। काव्यवस्तु वही है; किन्तु उसका वर्गीकरण अब व्यङ्ग्य, गुणीभूत व्यङ्ग्य तथा चित्र इस प्रकार से होना प्रारंभ हुआ है। यह वर्गीकरण पहले वर्गीकरण की

अपेक्षा शास्त्रीय एवं व्यापक होने के कारण उससे अच्छा एवं ग्राह्य हुआ। इस वर्गीकरण में पहले वर्गीकरण प्रकारों की व्यवस्था हुई; इतना ही नहीं, तो उसे शास्त्रीय अधिष्ठान भी प्राप्त हुआ। किसी शास्त्र के विकास का यह एक निश्चित ज्ञापक होता है और यह ज्ञापक [illegible] के विकास में भी पाया जाता है।

काव्य के अंगों का इस प्रकार भिन्न वर्गीकरण होने से चर्चा की पद्धति में भी परिवर्तन हुआ। यह परिवर्तन मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। 'ध्वन्यालोक' से आरंभ हुई काव्यचर्चा की फलश्रुति हमें 'काव्यप्रकाश' में उपलब्ध होती है। किन्तु मम्मट के पश्चात् चर्चा की इस पद्धति में कोई परिवर्तन हुआ नहीं। अतएव मम्मट के पश्चात ऐसा कोई परिवर्तन दिखायी नहीं देता। किन्तु चर्चा की पद्धति में परिवर्तन न होने पर भी यह स्पष्ट है कि चर्चा सूक्ष्मतर होती गयी। आनन्दवर्धन ने ध्वनि का त्रिप्रकारत्व विशद किया। इसी त्रिप्रकारत्व को लेकर, "रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते" इस प्रकार अभिनवगुप्त ने उनकी आन्तरिक व्यवस्था सिद्ध की; मम्मट ने विवेचन में रस का 'अंगी' के नाते निर्देश किया; तथा विश्वनाथ ने "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" वचन से रस का काव्यात्मत्व स्पष्ट रूप में कथन किया। विश्वनाथ ने इसमें कोई नवीनता नहीं दर्शाई, किन्तु निश्चय ही सूक्ष्मता दर्शाई है। जगन्नाथ का वर्गीकरण भी मम्मटानुसारी ही है; किन्तु चित्रकाव्य के अर्थचित्र एवं शब्द-चित्र इस प्रकार स्वतन्त्र भेद करते हुए काव्य के कुल चार भेद स्वीकार करने में उसने भी सूक्ष्मता का परिचय दिया हुआ है; और चित्रबन्ध, एकाक्षरबन्ध आदि भेद काव्य ही नहीं है ऐसा कहने से तो वह निश्चयही पुरोगामी सिद्ध हुआ है।

भामह से जगन्नाथ तक चर्चा के उदाहरणों में भी कुछ विशेषताएँ दिखायी देती हैं। वामन का अपवाद वर्ज्य करके, भामह से रुद्रट तक सभी के दिये हुए उदाहरण संस्कृत एवं स्वरचित है। इस के विपरीत, आनन्दवर्धन से आगे, उदाहरण प्रसिद्ध कवियों के ग्रन्थों से उद्धृत हैं। इससे प्रतीत होता है कि, आनन्दवर्धन के पूर्व शास्त्रविरचना (formation) का काल है एवं आनन्दवर्धन से आगे, शास्त्र की पुनर्व्यवस्था एवं तत्त्वपरीक्षा (Systematization & application) का काल है। पूर्वाचार्यों ने खोज निकाले हुए तत्त्वों की पर्याप्तता जाँचने के प्रयत्न से ध्वनितत्त्व उदय हुआ है; और इसमें एक विशेष यह है कि इस जाँच पड़ताल में आनन्दवर्धन ने इस चर्चा को संस्कृत के साथ प्राकृत काव्य के लिए भी उपयोग में लाया है। 'ध्वन्यालोक' में प्राकृत उदाहरण प्रचुर मात्रा में हैं, केवल इतना ही नहीं, ध्वनि की सूक्ष्म छटाएँ दर्शाने में उन्होंने प्राकृत काव्य

का भी प्रचुर उपयोग किया है । इस बात की हम उपेक्षा नहीं कर सकते ' ध्वन्यालोक ' से ' काव्यप्रकाश ' तक प्राकृत पद्यों की संख्या विपुल तो है ही; किन्तु तत्पश्चात् भी चौदहवीं शताब्दीतक यह पद्धति दिखायी है। हेमचन्द्र ने ग्राम्य अपभ्रंश के उदाहरण दिये हैं और विश्वनाथ ने भी प्राकृत उदाहरण दिये हैं । किन्तु रूपगोस्वामी, मधुसूदन सरस्वति, अप्पय दीक्षित तथा जगन्नाथ पंडित के ग्रन्थों में प्राकृत उदाहरण नहीं मिलते । रूपगोस्वामी तथा मधुसूदन सरस्वती के सम्बध में एक समाधान यह दिया जा सकता है कि उन्हें भक्तिरस को प्रतिष्ठित करना था, इस लिए उन्होंने श्रीमद्भागवत के आधार से अपने ग्रन्थों की रचना की, अतएव उनमें प्राकृत पद्य नहीं है । किन्तु अप्पय दीक्षित या जगन्नाथ पंडित के सम्बध में यह नहीं कहा जा सकता । यह भी नहीं कह सकते कि जगन्नाथ उस समय की प्राकृत कविता को नहीं समझ सकते थे; क्यों कि प्रतीत होता है कि उन्होंने प्राकृत पद्यों के रूपान्तर किए हुए हैं । तो फिर यह पद्धति खण्डित क्यों हुई ?

इसका एक समाधान हो सकता है । जगन्नाथ का समय पांडित्य का समय है । जगन्नाथ को पांडित्य के क्षेत्र में अनेक स्पर्धक थे । साहित्य के क्षेत्र में उनका सबसे बड़ा प्रतिस्पर्धी अप्पय दीक्षित था । इन पंडितों को कुण्ठित करने के लिए जगन्नाथ ने अर्थ की अभिव्यक्ति की, नयी नयी छटाएँ उनके सामने कैसी प्रस्तुत की है यह रसगंगाधर में देखना बड़ा मनोरंजक है । संस्कृत में ये नवीन छटाएँ मूलत: हिंदी या फारसी से लायी गयी हैं यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है । जगन्नाथ शाहजहाँ के आश्रय में थे। शाहजहाँ का लड़का दारा शिकोह् उपनिषदों का अभ्यासक था । शाहजहाँ की पंडितसभा में हिंदी, फारसी तथा संस्कृत पंडितों की गोष्ठियाँ होना असंभव नहीं है । ऐसी सभाओं में जगन्नाथ जैसा प्रतिभावान् कवि एवं सूक्ष्मदर्शी पंडित अगर दिलचस्पी लेता है तो वह बिलकुल स्वाभाविक है । उन्होंने इन नयी अर्थच्छटाओं को आत्मसात् किया। उन्हें संस्कृत में रूपांतरित किया एवं अपने कवित्व से तथा पांडित्य से तत्कालीन संस्कृत पंडितों को निष्प्रभ किया ।

जगन्नाथ ने इस प्रकार प्राकृत का संस्कृतीकरण कर के संस्कृत कविता को नि:संदेह समृद्ध किया । किन्तु एक विचार आप ही मन में आता है कि यदि जगन्नाथ ने प्रतिपक्षी विद्वानों को निष्प्रभ करने की ईर्ष्या न रखते हुए, अर्थ की विविध छटाएँ दर्शाने के लिए मूल पद्य ही दिये होते तो – शायद साहित्य चर्चा एक नयी दिशा में चलती–तथा उसकी धारा खण्डित–सी न लगती । यह नयी दिशा कैसे और किस प्रकार की हो सकती थी यह कहने का अधिकार प्रकृत लेखक का नहीं है ।

संप्रदाय नहीं; विकास का क्रम

साहित्यशास्त्र के विकास का यह क्रम देखने से एक प्रश्न आप ही उपस्थित होता है। आजकल हम, साहित्यशास्त्र में सम्प्रदाय थे इस मन्तव्य को स्वीकार करते हैं। भरत का रससंप्रदाय, भामह का अलंकारसंप्रदाय, वामन का रीतिसंप्रदाय, आनन्दवर्धन का ध्वनिसंप्रदाय, कुन्तक का वक्रोक्तिसंप्रदाय तथा क्षेमेन्द्र का औचित्यसंप्रदाय इस प्रकार हम व्यवहार करते है। हमें सोचना चाहिये कि, यह कहाँ तक उचित है। सम्प्रदाय की कल्पना में एक महत्त्वपूर्ण विशेष यह है, कि हम जिस बात का पुरस्कार करते हैं उसका प्रतिपादन करने में अन्य सारी बातों का अभाव सिद्ध करना पड़ता है। किन्तु इन आलंकारिकों में से ऐसा किसी ने नहीं कहा। भामह का रस या गुणों से विरोध नहीं है। वामन का रस या अलंकारों से विरोध नहीं है; आनन्दवर्धन का भी गुण या अलंकारों से विरोध नहीं है। तीनों को ये तीनों बातें स्वीकार है। ध्वनि के विरोधक भी केवल इतना ही कहते हैं कि व्यंजनाव्यापार को स्वतंत्र सत्ता मानने का कोई प्रयोजन नहीं; व्यंजना का अन्तर्भाव अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य या अनुमान में ही होता है। मम्मट के पश्चात् ध्वनि का कोई विरोधक ही नहीं रहा। सभी ने व्यंजना को स्वीकार किया।

साहित्यशास्त्र का इतिहास देखने से पता चलता है उसमें विचार उत्तरोत्तर सूक्ष्म होता गया। पूर्वकालीन आचार्यों के मतों का यथावत् ज्ञान कर लेने के पश्चात् उत्तरकालीन आचार्यों ने वे अधिक सूक्ष्मरूप में विवेचित किये हैं। काव्यगत पदार्थों का विशिष्ट धर्म कौनसा है इस प्रश्न पर विचार करने में, स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने का शास्त्रकारों का एक अखण्ड प्रयत्न प्रतीत होता है। काव्य-विवेचन में स्वीकृत जीवशरीर व्यवहार का रूपक अथवा अंगांगिभाव की कल्पना भी इसी ओर संकेत करती है। शास्त्र के इस प्रकार के विकास में संप्रदाय की कल्पना ठीक जँचती नहीं।

सत्य यह है कि, साहित्यचर्चा का इतिहासमुख से अध्ययन करने का प्रयत्न हमारे देश में आरंभ हुआ तब पाश्चात्य ग्रन्थकारों ने Schools शब्द का प्रयोग किया और हम लोगों ने भी उन्हींका अनुसरण करते हुए Schools के सम्प्रदाय बनाये। इस सम्प्रदाय कल्पना की दृष्टि से साहित्यशास्त्र को देखने से अनेक ग्रन्थकारों के विवेचन दोषयुक्त हुए हैं। साहित्यशास्त्र का विचार करने में हमें इस सम्प्रदाय की कल्पना का त्याग करना चाहिये। तभी इस शास्त्र का सम्पूर्ण मानचित्र हमारी दृष्टि के समक्ष उपस्थित हो सकता है।

यहाँतक साहित्यशास्त्र का विकास इतिहासमुख से दर्शाया। डेढ़ से दो सहस्राब्दी के विचारमंथन से जो साहित्यविषयक सिद्धान्त उपलब्ध हुए उनका परिचय करा लेना आवश्यक है। यह कार्य हम उत्तरार्द्ध में करेंगे। ● ● ●

भारतीय साहित्यशास्त्र

उत्तरार्द्ध

अध्याय नौवाँ

काव्यशरीर – शब्दार्थ विचार

साहित्यशास्त्र काव्य के स्वरूप का विश्लेषण करने के हेतु ही प्रवृत्त हुआ है। साहित्य के अन्य प्रकारों के समान काव्य भी शब्दार्थमय होता है। काव्य में शब्दार्थ प्रत्यक्ष सिद्ध होते हैं, वे हमारे समक्ष ही होते हैं। काव्य का पर्यवसान रसास्वादन में होता है; रसास्वादन अनुभवसिद्ध है। काव्य के ये दो घटक इस प्रकार स्वतंत्र रूप में सिद्ध हैं। इन दोनों के साथ काव्य के विवेचकों को तीसरी भी एक बात प्रतीत हुई, वह यह कि शब्दार्थों का रसास्वादन में पर्यवसान होने के लिये काव्यगत शब्दार्थों में कुछ विशेषताएँ होनी चाहिए। ये विशेषतायें हैं, गुण और अलंकार। अतएव वामन का कथन है कि गुणालंकारों से संस्कृत शब्दार्थों को ही काव्य की संज्ञा है। गुणालंकारों का स्वरूप आलंकारिकों ने अन्वयव्यतिरेक पद्धति से निश्चित किया है। इस प्रकार काव्य में शास्त्रतः विवेच्य किंतु व्यवहारतः अविभाज्य (Logically distinguishable but actually inseparable) तीन घटक होते हैं – शब्दार्थ, रस और अलंकार। काव्यशास्त्र इनका स्वरूप एवं परस्पर संबन्ध बताता है। काव्यशास्त्र के सभी सिद्धान्त इन तीनों घटकों के अन्तर्गत आते हैं। अतः हम भी क्रम से इन घटकों की विवेचना करेंगे।

'व्याकरणस्य पुच्छम्'

शब्दार्थों की विवेचना करने में व्याकरण, न्याय, और मीमांसा शास्त्र सम्मुख आते हैं। अपने मंदिर की सजाने में काव्यशास्त्र ने इन तीनों में से आवश्यक वस्तुएँ अपनायी हैं। किन्तु उनमें भी व्याकरणशास्त्र से काव्यशास्त्र का जितना संबन्ध रहा है उतना न्याय और मीमांसा से नहीं रहा। सभी महत्त्वपूर्ण बातों में काव्यशास्त्र ने व्याकरण का आश्रय किया है। सभी आलंकारिकों ने वैयाकरणों का 'बुध' कहकर

आदर किया है। भामह से नागेशभट्ट तक के किसी भी आलंकारिक का ग्रन्थ देखने से व्याकरण का ऋण हर पृष्ठ पर प्रत्यक्ष होगा।

अतएव कहा जाता है कि अलंकारशास्त्र व्याकरण का पुच्छ है। एक अर्थ में यह ठीक भी है। 'व्याकरणस्य पुच्छम्' का अर्थ है व्याकरण का परिशिष्ट। व्याकरण शब्दों का साधुत्व और असाधुत्व निर्धारित करता है, परंतु अलंकारशास्त्र उसके भी आगे बढ़कर शब्दों की 'सम्यक् प्रयोगयोग्यता' निर्धारित करता है। व्याकरण-शास्त्र ने शुद्ध निर्धारित किये शब्दों में से, विशिष्ट संदर्भ में कौनसा शब्द प्रयोगयोग्य है तथा कौनसा शब्द प्रयोगयोग्य नहीं है इस संबन्ध में नियम और निर्बंध अलंकार-शास्त्र बनाता है। श्रुतिकटु शब्द रौद्र में ठीक होगा किन्तु शृंगार में नहीं। 'रव' और 'नाद' दोनों शब्द समानार्थक हैं इस आधार पर 'सिंहरव' और 'मंडूकनाद' नहीं कहा जा सकता। रणित, कूजित, भणित, गर्जित आदि शब्द 'आवाज' के एक ही अर्थ में हैं किन्तु उनका प्रयोग करने में रुद्रट की निम्न कारिका का—

> 'मंजीरादिषु रणितप्रायान् पक्षिषु च कूजितप्रभृतीन्।
> भणितप्रायान् सुरते मेघादिषु गर्जितप्रायान्।'

ध्यान रखना आवश्यक है। सारांश, सम्यक् प्रयोग की दृष्टि से शब्दों की योग्यता एवं अयोग्यता निर्धारित करने का कार्य अलंकारशास्त्र करता है, अतएव वह व्याकरण का परिशिष्ट है।

इतना होने पर भी काव्यशास्त्र सर्वथा व्याकरण के अधीन नहीं रहा। जहाँ तक बन सका उसका व्याकरण से मेल रहा। जहाँ नहीं बना वहाँ उसने व्याकरण का साथ छोड़ दिया एवम् अन्य शास्त्र की सहाय्यता से या स्वतंत्र रूप से अपना मार्ग निर्धारित किया। अन्ततः वह राह इतनी सही निकली कि व्याकरण को भी काव्य-शास्त्रान्तर्गत सिद्धान्तों को स्वीकार करना पड़ा। काव्यशास्त्र ने अभिधा के लिये व्याकरणशास्त्र का आश्रय लिया किन्तु व्याकरण को लक्षणा स्वीकार न होने से लक्षणा विचार में उसने मीमांसा से सहाय्यता ली। मीमांसा और न्याय को व्यंजना स्वीकार नहीं है, प्रत्युत काव्यशास्त्र व्यंजना वृत्ति मानता है। अतः व्यंजना की सिद्धि के लिये उसने अपने स्वतंत्र मार्ग का अवलंब किया। व्याकरण की आरंभकालीन स्थिति में व्यंजना का दर्शन नहीं होता। किंतु काव्यशास्त्र ने व्यंजना की सिद्धि करने पर व्याकरण को भी उसे मानना पड़ा। नागेशभट्ट की 'परमलघुमंजूषा' से यह स्पष्ट हो जाता है। "शक्तिर्द्विविधा–प्रसिद्धा, अप्रसिद्धा च। आमन्दबुद्धिवेद्यात्वं प्रसिद्धात्वं, सहृदयमात्रवेद्यात्वम् अप्रसिद्धात्वम्" स्पष्ट है कि इस वचन में कही गयी

अप्रसिद्धा शक्ति व्यंजना ही है। अप्रसिद्ध शक्ति की विवेचना में ही "ननु व्यंजना नाम कः पदार्थः" इस प्रकार प्रश्न उपस्थित करते हुए नागेश ने व्यंजना की काव्यशास्त्र-संमत परिभाषा दी है और यह भी दर्शाया है कि भर्तृहरि आदि वैय्याकरणों ने निपातों की द्योतकता एवं स्फोट की व्यंजकता किस प्रकार बतायी है और अंत में स्पष्ट रूप से अपना मत अंकित किया है कि, "[illegible] स्वीकारः आवश्यकः।" नागेशभट्ट एक निपुण वैय्याकरण थे, साथ साथ वे एक रसिक आलंकारिक भी थे। अतः उनके इस मत का विशेष महत्त्व है। उन्होंने साहित्यशास्त्र में व्याकरण का महत्त्व पहचाना और उसी तरह साहित्यशास्त्रीय सिद्धान्त का व्याकरण की दृष्टि से क्या महत्त्व है इसकी भी जाँच की। अतएव केवल व्याकरण के अधीन होकर अलंकार के नीरस भेद करने वाले आलंकारिकों पर वे दोष लगाते हैं, और उसी प्रकार वैय्याकरणों को भी साहित्यशास्त्रीय व्यंजना का महत्त्व समझाते हैं। मंजूषा में नागेशकृत व्यंजनानिरूपण तो अलंकारशास्त्र की व्याकरण पर अन्तिम विजय है।

साहित्यशास्त्र में पदवाक्यविवेक

व्याकरण के अनुसार काव्यशास्त्र ने भी पदवाक्यविचार किया है। उसे देखने से व्याकरण की [illegible] का विशेष महत्त्व ही [illegible] हो [illegible] है। साहित्य दृष्टि से पदवाक्यविवेक करते हुए राजशेखर [illegible] में कहते हैं— व्याकरण-शास्त्र द्वारा साधु निर्धारित किया गया शब्द अभिधानादि कोषों में निर्दिष्ट होता है। किसी शब्द का जो अभिधेय है वह उस शब्द का अर्थ है। वह शब्द तथा उसका अर्थ दोनों मिलकर पद होता है (१)"। पद की यह परिभाषा व्याकरणशास्त्रीय नहीं है। न्यायशास्त्रीय है। व्याकरण कहता है— 'सुप्तिङन्तं पदम्' परंतु न्यायशास्त्र का पद के संबन्ध में कथन, 'शक्तं पदम्'—अर्थयुक्त शब्द ही पद है। काव्य में प्राप्त पदों के पाँच भेद होते हैं—सविभक्तिक, समास, तद्धित, कृदन्त एवं क्रियापद। कतिपय कवियों के काव्य में विशिष्ट पदों के प्रयोग करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। राजशेखर ने ऐसी कुछ प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। वैदर्भीय कवि सुप् विभक्ति से अर्थ कथन करना पसद करते है; गौड समासप्रिय होते है; दाक्षिणात्य अधिकतर तद्धितों का प्रयोग करते हैं; उत्तर के लेखक कृदन्त रूप पसंद करने हैं और इष्ट धातुओं का प्रयोग तो सभी करते हैं। इन पाँच प्रवृत्तियों का उपयोग कवि जब किसी विशेष के अनुसार करता है तभी वाक्य में शोभा आती है। महाकवि और काव्यज्ञों की रचना

१. व्याकरणस्मृतिनिर्णीतः शब्दः निरुक्तनिघंटाभिर्निर्दिष्टः। तदभिधेयोऽर्थः। तौ पदम्
—का. मी. पृ. २१

में इस प्रकार की विशेषताएँ पग पग पर पायी जाती हैं। इतना ही नहीं और तो और उनकी इस प्रकार की विशिष्ट रचना के कारणहि भाषा के सौंदर्य में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। (२)

वह पदसंदर्भ (पदरचना)—जिसमें वक्ता का आशय ग्रथित रहता है—वाक्य है। (पदानामभिधित्सार्थग्रथनाकरः संदर्भः वाक्यम्) । वाक्य में क्रियापदों की संख्या एवं उनके स्थानों को लेकर राजशेखर ने वाक्यों के दस भेद दिये हैं। उन भेदों की विवेचना का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है, किन्तु उदाहरण के लिए निम्न एक भेद देखिए : "समुद्रमंथन समाप्त होने पर देवों ने तथा असुरों ने ब्रह्माजी का जयजयकार किया, उनकी पूजा की, सम्मान किया, उन्हें अग्रेसर के रूप में स्वीकार करते हुए उनकी वंदना की (३)"। यहाँ पाँच क्रियापद मिलकर एक वाक्य हुआ है। 'जितने क्रियापद उतने ही वाक्य' वाला व्याकरणशास्त्र का नियम यहाँ लागू नहीं होता। क्रियापद कितने ही क्यों न हो, कारकसमूह यदि एकाकार है और सब कारक मिलकर वक्ता का एक हि आशय पूर्ण रूपसे ग्रथित होता है तो वह एक ही वाक्य है (४)। उपर्युक्त उदाहरण में देवासुरों की पाँच भिन्न भिन्न क्रियाएँ पाँच क्रियापदों से दर्शायी गयी हैं। किन्तु इन सब के द्वारा श्रम की सार्थकता का आनन्द – यह एक ही अर्थ प्रतीत हो रहा है। अत एव यहाँ क्रियापद पाँच होने पर भी वाक्य एक ही रहा है।

वाक्य के स्वरूप के संबन्ध में ये दो मत भोज ने 'शृंगारप्रकाश' में विस्तार से विवेचित किये हैं, और उसमें से 'एकतिङ्' वाक्य की अपेक्षा एकार्थपर वाक्य वाला मत ही उपादेय क्यों है इसकी विवेचना की है। वाक्य के संबन्ध में स्वयम् वैय्याकरणों में ही एकाख्यात (एकतिङ्) वाक्य और अनेकाख्यात वाक्य इस प्रकार दो भेद पाये जाते हैं। अधिकांश वैय्याकरण तथा वार्तिककार 'एकतिङ् वाक्यम्' अर्थात् जितने क्रियापद उतने वाक्य होते हैं इस मत के थे, किन्तु स्पष्ट है कि स्वयम्

---

२. विशेषलक्षणविदां प्रयोगाः प्रतिभान्ति ये ।
आख्यातराशिस्तैरेव प्रत्यहं ह्युपचीयते ॥—का. मी. पृ. २२

३. देवासुरास्तमथ मन्थगिरां विरामे पद्मासनं जयजयेति बभाषिरे च ।
द्राग् भेजिरे च परितो बहुमेनिरे च स्वाग्रेसरं विदधिरे च ववन्दिरे च ॥ का. मी. पृ. २३

४. "आख्यातपरतंत्रा वाक्यवृत्तिः अतो यावदाख्यातमिह वाक्यानि" इत्याचार्याः, एकाकारतया कारकग्रामस्य, एकार्थतया च वाचोवृत्तेः, एकमेवेदं वाक्यम् इति यायावरीयः।—
का. मी. पृ. २३

प्राचीन आचार्यों का विचार था कि जितने क्रियापद होते हैं उतने ही वाक्य भी होते हैं, और राजशेखर की राय है कि एक अभिप्राय से एक वाक्य बनता है।

पाणिनि का अनेकाख्यात वाक्य से भी अभिप्राय था (५)। भोज ने पाणिनि और वार्तिककार के मतों का ऊहापोह करके निर्णय किया कि वार्तिककार का 'एकतिङ् वाक्यम्' यह वाक्यलक्षण स्वरूपतः केवल पारिभाषिक है। इस लक्षण से लौकिक व्यवहार सिद्ध नहीं होता। अतः व्यवहार दृष्टि से उसकी उपेक्षा करनी चाहिए (६)। व्यवहार में अनेकाख्यात वाक्य भी देखा जाता है, अतः काव्यशास्त्र में भी इसीसे अभिप्राय है। अतएव भोज का कथन है की काव्य की दृष्टि से वाक्य का लक्षण "एकार्थपरः पदसमूहः वाक्यम्।" अर्थात् जिससे एक आशय प्रकट होता है वह एक वाक्य (फिर उसमें कितने ही तिङन्त क्यों न हो) इस प्रकार ही करना चाहिए।

पद और वाक्य के संबन्ध में इस काव्यशास्त्रीय विवेचन पर ध्यान देने से एक तथ्य स्पष्टतया विदित होता है। काव्यशास्त्र में किया गया यह लक्षण व्याकरण-शास्त्रीय न होकर न्यायशास्त्रीय (Logical) है। काव्यस्थित वाक्य पारिभाषिक अर्थ में वाक्य (Sentence) नहीं होता, प्रत्युत वह अभिधान (Predication, Statement) होता है। उसमें पद सुबन्त या तिङन्त न होकर वाक्यावयव है। जितनी कल्पना या जितना आशय कवि एक साथ प्रकट करना चाहता हो उतने आशय को व्यक्त करने वाला पदसंदर्भ या पदरचना ही वाक्य है। काव्यस्थित वाक्यार्थ होता है – एक संपूर्ण विचार या संपूर्ण कल्पना। एक संपूर्ण विचार का अथवा कल्पना का वाचक एक वाक्य होता है, परिभाषा की दृष्टि से उसमें आख्यात कितने ही क्यों न हो। न्यायशास्त्र में कहा जाता है 'Judgement is a unit of thought.' काव्यशास्त्र में भी कहा जा सकता है कि 'An idea is a unit of thought.' तर्कशास्त्र में वाक्य Judgement का वाचक होता है, तो काव्य में वाक्य का अभिधेय Idea होती है। काव्य में प्रयुक्त इस प्रकार के वाक्य के लिए ही वचन शब्द है। (वाक्यं वचनं व्याहरन्ति)। वचन का अर्थ है उक्ति। काव्यशास्त्र में वाक्य, वचन, उक्ति समानार्थक हैं। इस उक्ति में यदि कोई विशेष हो तो वह काव्य होता है। (उक्ति विशेषः काव्यम्)।

---

५. 'तिङतिङः' (८।१।२८) इस पाणिनीय सूत्र पर भाष्य देखिये। 'शृंगारप्रकाश' के तृतीय प्रकाश में भी इस पर विवेचन है।

६. 'तदेवं' सूत्रकारस्य भाष्यकारस्य च दर्शनेऽस्ति क्रियायाः क्रियान्तरेण संबंधः। वार्तिककारस्तु युष्मदस्मादादेशनिघाताद्यर्थम्, आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्,' 'एकतिङ् वाक्यम्' इत्यन्यदेव लौकिकात् पारिभाषिकं वाक्यलक्षणमारभते। न च तेन लौकिको व्यवहारः सिध्यति, इत्युपेक्ष्यते। —'शृंगारप्रकाश'

वाक्यगत पदों के वैशिष्ट्य

वक्ता, का आशय ग्रथित करनेवाला अथवा एक संपूर्ण अर्थ कथन करनेवाला पदों का संदर्भ अथवा समूह, इसीको काव्य की दृष्टि से वाक्य की संज्ञा है। इस पद-संदर्भ में या पदसमूह में कतिपय विशेष होना आवश्यक है। जिन पदों का वाक्य बना है उनमें योग्यता, आकांक्षा तथा सन्निधि के धर्म अपेक्षित हैं। वाक्य में जो पद प्रयुक्त होते हैं उनके अर्थ एक दूसरे के लिए योग्य होने चाहिए। उन वस्तुओं को एकत्रित करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। अन्यथा वह वाक्य नहीं होगा। उदाहरणार्थ 'अग्निना सिञ्चति' यह वाक्य नहीं है, क्योंकि 'अग्नि' यह वस्तु और सेचन क्रिया इन दोनों में सामंजस्य नहीं है। किन्तु 'पयसा सिञ्चति' यह वाक्य है, क्यों कि उसमें निर्दिष्ट वस्तुएँ एक दूसरे के लिए योग्य सिद्ध होती हैं, बाधक नहीं। योग्यता को पदों में परस्परसंवाद कहा जा सकता है। शास्त्रकारों ने योग्यता का लक्षण "पदानां परस्परसंबन्धे बाधाभावः" अथवा 'अर्थाबाधः' किया है। (वाक्यार्थ की पूर्ति के लिए) पदों में जो परस्पर आवश्यकता होती है वह है आकांक्षा। वक्ता के मन में जो अर्थ है उसे समझने के लिए जितने पद आवश्यक हैं वही साकांक्ष होते हैं। श्रोता की जिज्ञासा (प्रतिपत्तुर्जिज्ञासा) को आकांक्षा कहते हैं। वाक्य में जिस पद का अभाव होने पर श्रोता की जिज्ञासा बनी रहेगी (प्रतीतिपर्यवसानविरहः) तथा उस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए जिस पद की आवश्यकता होगी वह पद साकांक्ष होता है। इस दृष्टि से मीमांसकों का वाक्यलक्षण देखना ठीक होगा। जैमिनि कहते हैं—"अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद्विभागे स्यात्"। जिस पदसमूह के द्वारा अर्थ की एकता की प्रतीति होगी उसी पदसमूह का वाक्य बनता है, फिर उसमें कितने ही पद आवश्यक क्यों न हो। (अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्) किन्तु अमुक संख्या में ही पद वाक्य के लिए आवश्यक है यह निश्चय कैसे किया जाय? इस पर जैमिनी का कथन है कि उस पदसमूह का विभाग करने पर यदि उसका एक एक अंश अर्थतः अधूरा रहा तथा पूरा होने के लिए उसे अलग किये हुए अंश की आवश्यकता प्रतीत हुई (साकांक्षं चेत् विभागे स्यात्) तो समझना चाहिऐ कि वे सभी पद उस वाक्य के लिए आवश्यक हैं। साकांक्ष पद वाक्य का अंश है, इसके विपरीत निराकांक्ष पद वाक्य की दृष्टि से अनावश्यक हैं। वाक्य के लिए आवश्यक तीसरी बात है 'सांनिध्य'। वाक्यगत पदों का योग्य और साकांक्ष होना तो आवश्यक है ही किन्तु उनका अविलंब उच्चारण भी आवश्यक है (पदानामविलंबेनोच्चारणं संनिधिः); अन्यथा वाक्यार्थ की प्रतीति में खण्ड होगा एवं वाक्य के लिए आवश्यक प्रतीति की एकता न रहेगी। अतएव शास्त्रकारों ने आसत्ति का लक्षण 'आसत्तिः बुद्ध्यविच्छेदः" किया है।

उपर्युक्त तीन धर्मों में से 'सांनिध्य' पदों का साक्षात् धर्म है। योग्यता और आकांक्षा साक्षात् पदधर्म नहीं है। योग्यता पदार्थों का धर्म है, पदों का नहीं। आकांक्षा श्रोता का आत्मधर्म है। वह पदों का या पदार्थों का धर्म नहीं है। किन्तु उपचार से योग्यता एवं आकांक्षा भी पदों के धर्म माने जाते है (७)।

वाक्य और महावाक्य

पूर्व जिस वाक्य का स्वरूप हमने देखा वह पदोच्चयरूप या पदसमूहरूप वाक्य है। किन्तु वाक्य का इससे भिन्न और भी एक प्रकार है। उसे 'महावाक्य' कहते हैं। जिस प्रकार आकांक्षा, योग्यता तथा सांन्निध्य के धर्मो से पद युक्त होते हैं उसी प्रकार वाक्य भी परस्पर युक्त हो सकते हैं। उपर्युक्त तीन धर्मों से युक्त पद-समूह का जिस प्रकार वाक्य बनता है एवं उसमें अर्थैकत्व होता है उसी प्रकार इन धर्मो से युक्त वाक्य समुच्चय में भी अर्थैकत्व होता है। अतएव ऐसे वाक्यसमुच्चय के लिए 'महावाक्य' की संज्ञा है। विश्वनाथ कहते हैं:—

> वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासक्तियुक्त पदोच्चयः।
> वाक्योच्चयो महावाक्यमित्थं वाक्य द्विधा मतम्॥ (२।१)

महावाक्य के उदाहरण के रूप में विश्वनाथ ने रामायण, रघुवंश आदि काव्यों का निर्देश किया है। इसका अर्थ यह होता है कि सम्पूर्ण काव्य एक महावाक्य ही है।

राजशेखर ने कहा है कि वक्ता के मन के अर्थ को ग्रथित करने वाला पदों का संदर्भ वाक्य है; इसके अनुसार कह सकते हैं कि कवि के मन के अर्थ को ग्रथित करने-वाला वाक्यसंदर्भ महावाक्य है। वामन ने तो काव्य, नाटय आदि के लिए 'संदर्भ' शब्द का ही प्रयोग किया है। (संदर्भेषु दशरूपकं श्रेयः)। संपूर्ण काव्य में कवि किसी एक ही अर्थ को कथन करता है। उस एक अर्थ की दृष्टि से जब हम उस काव्य में स्थित अन्यान्य तत्त्वों की जाँच करते है तब हम उनमें पारस्परिक योग्यता एवं आकांक्षा की ही अपेक्षा करते है। पदों की योग्यता एवं आकांक्षा के कारण हमें वाक्यार्थ का बोध होता है। इसी प्रकार वाक्यों की परस्पर योग्यता एवं आकांक्षा के कारण महा-वाक्यार्थ का बोध होता है। वाक्य में प्राप्त पद पृथक् रूपमें भिन्न अर्थ के होते हैं, किन्तु वाक्य में जब उनका समुच्चय होता है तब उस समुच्चय के द्वारा उन सभी पदार्थों के अतिरिक्त एक विशिष्ट वाक्यार्थ हमें ज्ञात होता है। इसी प्रकार भिन्न

७. आकांक्षायोग्यतयोरात्मधर्मत्वेऽपि पदोचयधर्मत्वमुपचारात्। साहित्यदर्पण २।१ वृत्ति

भिन्न वाक्यों के समुच्चय के द्वारा उन वाक्यों के अर्थों से सर्वथा भिन्न एक महावाक्यार्थ प्रतीत होता है। काव्यशास्त्रस्थित महाकाव्य की यह कल्पना साहित्य पंडितों की मनगढ़न्त बात नहीं है। उन्होंने यह मीमांसकों से ली है (८)। एवं काव्यशास्त्र में उसका उपयोग किया है। इस कल्पना का काव्यशास्त्र की रचना में बहुत बड़े प्रमाणपर उपयोग हुआ। महावाक्यस्थित तत्त्वों की 'योग्यता' वही है जो काव्यस्थित तत्त्वों की 'संभवनीयता' है। एवं आकांक्षा उन तत्त्वों की अपरिहार्यता है। काव्य के तत्त्वों की संभवनीयता एवं अपरिहार्यता का विवेचन ही उचितानुचित विवेक है, तथा इस प्रकार का विवेक करना ही काव्यशास्त्रान्तर्गत गुणदोष प्रकरणों का प्रयोजन है।

नैयायिकों की पद की व्याख्या–'शक्तं पदम्' आलंकारिकों ने भी अपनायी। शक्त का अर्थ है बोधक शक्ति से युक्त। वर्णसमुदायरूप शब्द में अर्थ का बोध कराने वाली जिस शक्ति का अनुभव होता है उसीको शक्ति, वृत्ति या व्यापार कहते हैं। साहित्यशास्त्र के संस्कृत ग्रन्थों में इस वृत्ति पर विचार हुआ है। (९)

काव्यशास्त्र में शब्द की अर्थबोधक शक्ति–अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना इस प्रकार त्रिरूप मानी गयी है। इनकी विवेचना आगे प्रकरणशः की जावेगी। इनके अतिरिक्त तात्पर्य नामक एक चौथी वृत्ति भी कतिपय मीमांसक और साहित्यिक मानते हैं। अभिधा आदि तीन वृत्तियों से शब्दों का अर्थ ज्ञात होता है, तो तात्पर्य वृत्ति से वाक्यों का अर्थ ज्ञात होता है। शब्दों का अपना स्वतंत्र अर्थ होता है। शब्दों से जब वाक्य बनता है तो वाक्य का भी एक स्वतंत्र अर्थ होता है। यह वाक्यार्थ वाक्यगत शब्दों के द्वारा ही संपन्न होता है किन्तु फिर भी वह उन शब्दार्थों से भिन्न तथा स्वतंत्र होता है। अर्थात् यह वाक्यार्थ केवल शब्द संबद्ध अभिधा आदि व्यापारों के द्वारा ज्ञात नहीं होता है। उसके [illegible]। वाक्य के अर्थ की बोधक यह शक्ति 'तात्पर्यवृत्ति' है। हम पूर्व देख चुके हैं कि वाक्यबोध के लिए आकांक्षा, योग्यता एवं सांनिध्य के धर्म आवश्यक हैं। इन तीन धर्मों के योग से तात्पर्यवृत्ति होती है। आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि के कारण पदार्थों का

---

८. प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्ट ने महावाक्य के संबन्ध में कहा है–
स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गांगित्वव्यपेक्षया।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते॥

हम व्यवहार में 'एकवाक्यता' शब्द का प्रयोग करते हैं, इस में भी यही अभिप्राय है।

९. 'काव्यप्रकाश,' 'साहित्यदर्पण' एवं 'रसगंगाधर' – इन ग्रंथों में वृत्तियों पर विचार हैं। इनके अतिरिक्त स्वतंत्र रूप में इस विषय पर दो ग्रन्थ और हैं, मुकुलभट्टकृत 'अभिधावृत्तिमातृका' तथा मम्मटकृत 'शब्दव्यापारविचार'।

समन्वय होने पर वाक्यार्थ प्रकट होता है, जो उन पदार्थों से पृथक् होता है एवं जिसका एक विशेष स्वरूप होता है (१०)। सारांश, तात्पर्यवृत्ति का कार्य है–अभिधा आदि शब्दवृत्तियों के द्वारा जिनका बोध हुआ है ऐसे पद–अर्थों में पारस्परिक संबन्ध दर्शा कर तद्द्वारा वाक्यार्थ का बोध कराना अर्थात्-वाक्यार्थ ही तात्पर्यार्थ है एवं वाक्य तात्पर्यार्थ का वाचक है (११)।

वाक्यार्थबोध : अभिहितान्वयवाद

भाट्टमीमांसक, नैयायिक तथा वैशेषिक तात्पर्यवृत्ति स्वीकार करते हैं। उनका विचार इस प्रकार है। शब्दों से हमें शब्दशक्ति के द्वारा पद-अर्थों का ज्ञान होता है। शब्दों से ज्ञात हुए (अभिहित) पद-अर्थों का अन्वय होता है और इस अन्वय के द्वारा हमें वाक्यार्थ ज्ञात होता है (१२)। इनका कहना ठीक तरह से समझने के लिए एक उदाहरण लें। 'घटं करोति' यह एक वाक्य है। मीमांसकों के मत के अनुसार हर वाक्य का पर्यवसान क्रियाबोध में होता है, अर्थात् हर वाक्य किसी क्रिया के विषय में कुछ बताता है। अतः उपर्युक्त वाक्य का अर्थ हुआ घट रूप कर्म से संबद्ध क्रिया (घटाश्रयकर्मत्वाश्रिता क्रिया)। इस वाक्य में भी दो अंश हैं। 'घटम्' तथा 'करोति'। 'करोति' पद क्रिया का वाचक है। 'घटम्' पद के भी दो अंश हैं। 'घट' यह प्रकृति और 'अम्' प्रत्यय। इनमें से घट शब्द से 'घड़ा' नामक वस्तु का ज्ञान होता है। 'अम्' प्रत्यय कर्मत्व का या कर्म का वाचक है। अतः 'घटम्' पद का अर्थ हुआ 'घटाश्रित कर्मत्व' अथवा घट रूप कर्म। इस प्रकार 'घटम्' अर्थात् 'घटाश्रित-कर्मत्व' एवम् 'करोति' अर्थात् क्रिया ये दो अर्थ ज्ञात होने पर, इन दोनों पदार्थों में ('घटाश्रितकर्मत्व' तथा 'क्रिया' इन दोनों में) संबन्ध दर्शाने के लिए इस वाक्य में कोई शब्द नहीं है। उन उन पदों के उन उन अर्थों का ज्ञान हमें अभिधावृत्ति के द्वारा हुआ। यहाँ अभिधा का काम समाप्त हुआ। फिर यह संबन्ध कैसे ज्ञात होगा? अभिहितान्वयवादियों का कहना है कि यह संबंध 'तात्पर्य' नामक स्वतंत्र वृत्ति से ज्ञात होता है। यह तात्पर्यवृत्ति योग्यता, आकांक्षा एवं संनिधि के द्वारा प्रवृत्त होती है तथा पदों के द्वारा बोधित पदार्थों में जो संबन्ध है उसका बोध कराती है। तात्पर्य-

१०. आकांक्षा-योग्यता-संनिधिवशात् पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुः आपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसति।– काव्यप्रकाश

११. तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकम्॥ —साहित्यदर्पण, (२।२०)

१२. "अभिहितानां स्वस्ववृत्त्या प्रतिपादितानामर्थानाम् अन्वयः इति वदन्ति ये ते अभिहितान्वयवादिनः"। इस प्रकार इनका अन्वर्थक नामाभिधान है।

वृत्ति से बोधित होनेवाला यह अर्थ 'तात्पर्यार्थ' है एवं वाक्य इस 'तात्पर्यार्थ' का बोधक होता है (१३)।

अभिहितान्वयवाद के दो विशेष ध्यान में रखने चाहिए। इनके मत में पदों के द्वारा केवल जाति का बोध होता है। 'घटं करोति' इस वाक्य में 'घटम्' पद के द्वारा यह घट या वह घट ऐसा बोध नहीं होता प्रत्युत घटत्व जाति का बोध होता है। 'करोति' पद के द्वारा भी सामान्य क्रिया का ही बोध होता है। तात्पर्यवृत्ति के द्वारा इन सामान्य अर्थों में संबन्ध बतलाया जाता है। दूसरी एक बात यह भी है कि तात्पर्य-वृत्ति पदार्थों में संबन्ध दर्शाती है; पदों में पारस्परिक संबन्ध नहीं दर्शाती। 'घट' प्रकृति और 'अम्' प्रत्यय इन दोनों में आश्रयाश्रयिभावसंबन्ध है। यह संबन्ध तात्पर्यवृत्ति से ज्ञात नहीं होता अपितु प्रकृति और प्रत्यय की समीपता से ही ध्यान में आता है (१४)।

वाक्यार्थबोध : अन्विताभिधानवाद

उपर्युक्त मत के ठीक विपरीत अर्थ प्राभाकर मीमांसकों का है। वे तात्पर्य-वृत्ति को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन इस प्रकार है—हमारे ध्यान में शब्दों का अर्थ आता है तो स्वतंत्र रूप से नहीं आता, अतएव पहले पदार्थों का स्वतंत्र रूप में बोध तथा उसके अनन्तर उन पदार्थों में परस्पर अन्वय समझने के लिए तात्पर्यवृत्ति ऐसी प्रक्रिया मानना ठीक नहीं। हम पदार्थों का जो अर्थ समझते है वह अन्वित दशा में ही समझते हैं। अपने कथन की पुष्टि के लिए वे वृद्धव्यवहार के अनुभव का उदाहरण उपस्थित करते हैं! कोई वृद्ध किसी युवक से कहता है कि 'बैल को ले आओ'। वृद्ध का यह कहना बालक भी सुनता है। साथ ही वह बालक देखता है कि वह युवक किसी विशिष्ट रूप वाले प्राणी को ला रहा है। इस बात को देख कर बालक मन में यह समझता है कि वृद्ध के कहने का अर्थ वह बैल को लाने की क्रिया है। कुछ समय के बाद वृद्ध कहता है, 'बैल को ले जाओ, घोड़े को ले आओ।' इन वाक्यों को भी वह बालक सुनता है एवं इन वाक्यों के अनुसार होनेवाली क्रियाएँ भी उस बालक के

---

१३. अभिधायाःएकैकपदार्थबोधनाविरमात् वाक्यार्थरूपस्य पदार्थान्वयस्य बोधिका तात्पर्यं नाम वृत्तिः। तदर्थश्च तात्पर्यार्थः। तद्बोधकं च वाक्यम्। इति अभिहितान्वयवादिनां मतम्।— साहित्यदर्पण, २।२० वृत्ति

१४. कुमारिल भट्ट और उनके अनुयायी तात्पर्यवादी हैं। उन्होंने अपने मत के लिए 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः अर्थस्य तन्निमित्तत्वात्' (१-१-२५) इस मीमांसासूत्र के शाबरभाष्यपर आधारित है।

समक्ष होती रहती हैं। वाक्य वाक्य का एक एक क्रिया रूप संबन्ध उसे इस प्रकार ज्ञात होता रहता है और उसीसे उसे बैल, घोड़ा आदि पदार्थों का भी ज्ञान होता रहता है। किन्तु यह ज्ञान अथवा पदार्थबोध उसे केवल सामान्य रूप में होता है यह बात नहीं तो वह किसी क्रिया से संबन्धित या अन्वित दशा में ही होता है। अब बात यह है कि किसीको भी किसी क्रिया में प्रवृत्त करना हो या उससे निवृत्त करना हो तो वाक्य का ही प्रयोग करना पड़ता है। केवल शब्दों से या पदों से वह प्रवृत्ति या निवृत्ति नहीं होती। अतएव शब्दों का अर्थ जो हम समझते है वह स्वतंत्र रूप में शब्दों के द्वारा न समझ कर, वाक्य में उनका जो प्रयोग एवं संबन्ध है उसीके द्वारा समझते हैं। इसी लिये प्रभाकर का कथन है कि पदार्थबोध अन्वित अवस्था में ही होता है पहले पदार्थ समझ कर बाद में उसका अन्वय ज्ञात होता है, ऐसी बात नहीं। अतएव अन्वयबोध के लिए तात्पर्यवृत्ति मानने का भी कोई कारण नहीं है (१५)। इन मीमांसकों को अन्विताभिधानवादी कहते हैं क्योंकि इनका मत है वाक्य में अन्वित पदार्थों का ही शब्दों के द्वारा अभिधान होता है (१६)।

इन दोनों मतों का समुच्चय

'अभिधावृत्तिमातृका' में मुकुल भट्ट ने एवं 'शब्दव्यापारविचार' में मम्मट ने इन दोनों मतों का समन्वय किया है और उसे 'तत्समुच्चय' कहा है। इस समुच्चय का स्वरूप इस प्रकार है—'पदों का अपना अपना सामान्यभूत वाच्य अर्थ होता है। किन्तु वाक्यों में पदार्थ परस्परान्वित ही होते हैं। इस प्रकार केवल पदों की अपेक्षा से अभिहितान्वयवाद उपपन्न होता है, तो वाक्य की अपेक्षा से अन्विताभिधानवाद उपपन्न होता है (१७)।

वाक्यार्थबोध : अखण्डार्थवाद

वाक्यबोध के विषय में वेदान्तियों की अपनी अलग उपपत्ति है। वेदान्त में महावाक्य परब्रह्म का बोध कराते हैं। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'एकमेवाद्वितीयं

---

१५. काव्यप्रकाश, पंचमोल्लास

१६. अन्वितस्य अर्थान्तरसंबद्धस्य अर्थस्य अभिधानं प्रतिपादनं शब्देन क्रियते इति ये वदन्ति ते अन्विताभिधानवादिनः।

१७. अन्येषां मते तु पदानां तत्तत्सामान्यभूतो वाच्योऽर्थः। वाक्यस्य तु परस्परान्विताः पदार्थाः। इति पदापेक्षया अभिहितान्वयः, वाक्यापेक्षया तु अन्विताभिधानम्। एवं च तयोः अभिहितान्वयान्विताभिधानयोः समुच्चयः इति।—अभिधावृत्तिमातृका

वृत्ति से बोधित होनेवाला यह अर्थ 'तात्पर्यार्थ' है एवं वाक्य इस 'तात्पर्यार्थ' का बोधक होता है (१३)।

अभिहितान्वयवाद के दो विशेष ध्यान में रखने चाहिए। इनके मत में पदों के द्वारा केवल जाति का बोध होता है। 'घटं करोति' इस वाक्य में 'घटम्' पद के द्वारा यह घट या वह घट ऐसा बोध नहीं होता प्रत्युत घटत्व जाति का बोध होता है। 'करोति' पद के द्वारा भी सामान्य क्रिया का ही बोध होता है। तात्पर्यवृत्ति के द्वारा इन सामान्य अर्थों में संबन्ध बतलाया जाता है। दूसरी एक बात यह भी है कि तात्पर्य-वृत्ति पदार्थों में संबन्ध दर्शाती है; पदों में पारस्परिक संबन्ध नहीं दर्शाती। 'घट' प्रकृति और 'अम्' प्रत्यय इन दोनों में [illegible] है। यह संबन्ध तात्पर्यवृत्ति से ज्ञात नहीं होता अपितु प्रकृति और प्रत्यय की समीपता से ही ध्यान में आता है (१४)।

वाक्यार्थबोध : अन्विताभिधानवाद

उपर्युक्त मत के ठीक विपरीत अर्थ प्राभाकर मीमांसकों का है। वे तात्पर्य-वृत्ति को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन इस प्रकार है—हमारे ध्यान में शब्दों का अर्थ आता है तो स्वतंत्र रूप से नहीं आता, अतएव पहले पदार्थों का स्वतंत्र रूप में बोध तथा उसके अनन्तर उन पदार्थों में परस्पर अन्वय समझने के लिए तात्पर्यवृत्ति ऐसी प्रक्रिया मानना ठीक नहीं। हम पदार्थों का जो अर्थ समझते है वह अन्वित दशा में ही समझते हैं। अपने कथन की पुष्टि के लिए वे वृद्धव्यवहार के अनुभव का उदाहरण उपस्थित करते हैं! कोई वृद्ध किसी युवक से कहता है कि 'बैल को ले आओ'। वृद्ध का यह कहना बालक भी सुनता है। साथ ही वह बालक देखता है कि वह युवक किसी विशिष्ट रूप वाले प्राणी को ला रहा है। इस बात को देख कर बालक मन में यह समझता है कि वृद्ध के कहने का अर्थ वह बैल को लाने की क्रिया है। कुछ समय के बाद वृद्ध कहता है, 'बैल को ले जाओ, घोड़े को ले आओ।' इन वाक्यों को भी वह बालक सुनता है एवं इन वाक्यों के अनुसार होनेवाली क्रियाएँ भी उस बालक के

---

१३. अभिधायाःएकैकपदार्थबोधनाविरमात् वाक्यार्थरूपस्य पदार्थान्वयस्य बोधिका तात्पर्यं नाम वृत्तिः। तदर्थश्च तात्पर्यार्थः। तद्बोधकं च वाक्यम्। इति अभिहितान्वयवादिनां मतम्।– साहित्यदर्पण, २।२० वृत्ति

१४. कुमारिल भट्ट और उनके अनुयायी तात्पर्यवादी हैं। उन्होंने अपने मत के लिए 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः अर्थस्य तन्निमित्तत्वात्' (१–१–२५) इस मीमांसासूत्र के शाबरभाष्यपर आधारित है।

समक्ष होती रहती हैं। वाक्य वाक्य का एक एक क्रिया रूप संबन्ध उसे इस प्रकार ज्ञात होता रहता है और उसीसे उसे बैल, घोड़ा आदि पदार्थों का भी ज्ञान होता रहता है। किन्तु यह ज्ञान अथवा पदार्थबोध उसे केवल सामान्य रूप में होता है यह बात नहीं तो वह किसी क्रिया से संबन्धित या अन्वित दशा में ही होता है। अब बात यह है कि किसीको भी किसी क्रिया में प्रवृत्त करना हो या उससे निवृत्त करना हो तो वाक्य का ही प्रयोग करना पड़ता है। केवल शब्दों से या पदों से वह प्रवृत्ति या निवृत्ति नही होती। अतएव शब्दों का अर्थ जो हम समझते हैं वह स्वतंत्र रूप में शब्दों के द्वारा न समझ कर, वाक्य में उनका जो प्रयोग एवं संबन्ध है उसीके द्वारा समझते हैं। इसी लिये प्रभाकर का कथन है कि पदार्थबोध अन्वित अवस्था में ही होता है। पहले पदार्थ समझ कर बाद में उसका अन्वय ज्ञात होता है, ऐसी बात नहीं। अतएव अन्वयबोध के लिए तात्पर्यवृत्ति मानने का भी कोई कारण नहीं है (१५)। इन मीमांसकों को अन्विताभिधानवादी कहते हैं क्योंकि इनका मत है वाक्य में अन्वित पदार्थों का ही शब्दों के द्वारा अभिधान होता है (१६)।

इन दोनों मतों का समुच्चय

'अभिधावृत्तिमातृका' में मुकुल भट्ट ने एवं 'शब्दव्यापारविचार' में मम्मट ने इन दोनों मतों का समन्वय किया है और उसे 'तत्समुच्चय' कहा है। इस समुच्चय का स्वरूप इस प्रकार है–'पदों का अपना अपना सामान्यभूत वाच्य अर्थ होता है। किन्तु वाक्यों में पदार्थ परस्परान्वित ही होते हैं। इस प्रकार केवल पदों की अपेक्षा से अभिहितान्वयवाद उपपन्न होता है, तो वाक्य की अपेक्षा से अन्विताभिधानवाद उपपन्न होता है (१७)।

वाक्यार्थबोध : अखण्डार्थवाद

वाक्यबोध के विषय में वेदान्तियों की अपनी अलग उपपत्ति है। वेदान्त में महावाक्य परब्रह्म का बोध कराते हैं। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'एकमेवाद्वितीयं

---

१५. काव्यप्रकाश, पंचमोल्लास

१६. अन्वितस्य अर्थान्तरसंबद्धस्य अर्थस्य अभिधानं प्रतिपादनं शब्देन क्रियते इति ये वदन्ति ते अन्विताभिधानवादिनः।

१७. अन्येषां मते तु पदानां तत्तत्सामान्यभूतो वाच्योऽर्थः। वाक्यस्य तु परस्परान्विताः पदार्थाः। इति पदापेक्षया अभिहितान्वयः, वाक्यापेक्षया तु अन्विताभिधानम्। एवं च तयोः अभिहितान्वयान्विताभिधानयोः समुच्चयः इति।—अभिधावृत्तिमातृका

ब्रह्म,' 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि श्रुति वाक्यों से उत्पन्न अखण्ड बुद्धि के द्वारा इन वाक्यों का परब्रह्मात्मक अर्थ ज्ञात होता है (१८)। अखण्ड बुद्धि का अर्थ है अखण्ड ज्ञान। वह अखण्ड ज्ञान अखण्ड वाक्य से ही निर्माण होता है। वास्तव में वाक्य ही अर्थ का बोधक है। वाक्य के पद, वर्ण, आदि विभाग कल्पना मात्र हैं (१६)।

अखंडार्थ बोध का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार बताया जा सकता है। 'गाम् आनय'। इस वाक्य में 'गाम्' तथा 'आनय' इन पदों के अर्थ स्वतंत्र रूप में उपस्थित होने पर आकांक्षा, योग्यता एवं संनिधि के कारण जो वाक्यार्थ ध्यान में आता है उसीको वेदान्त में 'संसर्ग' कहा है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का अर्थ करने में इस संसर्ग का कोई उपयोग नहीं। 'नीलं महत् सुगन्धि उत्पलम्'। इस वाक्य का अर्थ है नीलत्वादि विशिष्ट उत्पल का बोध। इस प्रकार के वाक्य से विशिष्ट पदार्थ का बोध होता है। किन्तु श्रुतिगत महावाक्यों के संबन्ध में यह प्रकार नहीं होता। श्रुतिगत महावाक्यों का अर्थ अखण्डैकरस अर्थात् स्वगतादिभेदशून्य लेना पड़ता है। इस संबन्ध में आचार्य वाक्यवृत्ति में कहते हैं:

> संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र संमतः।
> अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः।।

इस अखण्डैकरसवृत्ति में स्वतंत्र पदों के या उनके अन्वय के (अभिहितान्वय-वाद) अथवा विशिष्ट पदार्थों के (अन्विताभिधानवाद) अस्तित्व का या स्वतंत्र सत्ता का वास्तव में भान ही नहीं होता है। अखण्डैकरसत्व ही ब्रह्मानुभाव का स्वरूप होने से, संसर्ग अथवा विशिष्ट वृत्ति के लिए जिन स्वगतादि भेदों को स्वीकार करना पड़ता है वे कल्पित ही होते हैं अतएव तद्बोधक पद भी कल्पित ही होते हैं। जिस प्रकार पदों की दृष्टि से वर्णों की अनित्यता होती है उसी प्रकार वाक्यों की दृष्टि से पदों की अनित्यता होती है।

वेदान्तियों के इस अखण्डार्थबोध को स्फोटवादी वैय्याकरणों ने स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि से अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्य स्फोट ही वास्तव में वाक्यार्थ है और वही

१८. अविशिष्टमपर्यायानेकशब्दप्रकाशितम्।
एकं वेदान्तनिष्णाताः तमखण्डं प्रपेदिरे ।।

१९. "अनवयवमेव वाक्यं अनाद्यविद्योपदर्शितालीकपदवर्णाविभागम् अस्याः निमित्तम्।" इस प्रकार श्री व्यासजी ने कहा है।

सत्य भी है। ऐसे वाक्य का व्याकरण में जो पदपदार्थविभाग या प्रकृतिप्रत्यय विभाग किया जाता है वह व्युत्पत्तिद्योतक ही सीमित है और कल्पना मात्र है। भर्तृहरि 'वाक्यपदीय' में कहते हैं:

> ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले।
> देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युर्निरर्थका ।।

ब्राह्मणकंबल का अर्थ है ब्राह्मण के लिए लाया हुआ कम्बल। इस शब्द का उच्चारण करते ही हमारे समक्ष कंबल उपस्थित होता है। किन्तु कम्बल के साथ साथ ब्राह्मण उपस्थित नहीं होता। इस समय ब्राह्मण संबन्ध विशिष्ट कम्बल इस प्रकार का हमारा अखण्ड प्रत्यय होता है। इसी प्रकार 'देवदत्तः गच्छति' इस वाक्य से देवदत्त संबन्धी गमन की अखण्ड प्रतीति हमें होती है। यह देवदत्त, यह उसका गमन और यह इन दोनों का संबन्ध ऐसी हमारी प्रतीति नहीं होती। इस अखण्ड प्रतीति का जब हम विश्लेषण करते हैं तब हम पद-प्रकृति-प्रत्यय आदि की–जिनकी वास्तव में स्वतंत्र सत्ता नहीं है–कल्पना करते हैं, और शिष्यों को उस अखण्ड प्रत्यय क अंगरूप समझाते हैं। भर्तृहरि कहते हैं:

> उपायाः शिक्ष्यमाणानां [illegible]।
> असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ।।

जिस प्रकार स्वयं को भासमान द्वैत में से मार्गक्रमण करता हुआ साधक आन्तम एकता का बोध कर लेता है, उसी प्रकार पद-प्रकृति-प्रत्यय के काल्पनिक मार्ग से जाते हुए ही विद्यार्थी को अन्ततोगत्वा वाग्ब्रह्म का आकलन होता है। अखण्ड स्फोट ही शब्द ब्रह्म है एवं व्याकरण में वर्णित विविध प्रक्रिया ही अविद्या का विश्लेषण है। (शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते।)

यहाँ अखण्डबुद्धि क्या है यह बताना आवश्यक है। वाक्य का अर्थ करने में क्रियाकारक भाव पर ध्यान दे कर जो हमें भान होता है वह खण्डबुद्धि है। किन्तु क्रियाकारकों का दर्शक विभाग न करते हुए भी जो एकात्मक वाक्यार्थ बोध होता है वह है अखण्डबुद्धि। क्रियाकारक भाव के लिए धर्मधर्मिभाव की अपेक्षा होती है। यह धर्मधर्मि भाव ब्रह्म में उत्पन्न नहीं होता। अतएव अर्थबोध विना अखण्ड-बुद्धि के नहीं होता। किन्तु इस पर भी अविद्यादशा (व्यवहार दशा) में वेदान्ती एवं स्फोटवादियों को पदपदार्थभेद मानना पड़ता ही है।

वाक्यार्थबोध के संबन्ध में जो भिन्न भिन्न मत ऊपर दिये गये है उनका साहित्य-चर्चा में अनेकश: संबन्ध आया है। इन मतों के अनुसार हमारे ज्ञान के क्षेत्र में लक्षणा का स्थान क्या और कैसा है, इन मतों के अनुसार व्यञ्जनावृत्ति का स्वीकार किया जा सकता है या नहीं एवं व्यञ्जनावृत्ति का स्वीकार करने पर इन मतों को काव्य चर्चा में कहाँ तक स्थान रहता है आदि प्रश्न साहित्यशास्त्र मे उपस्थित हुए है। इनकी विवेचना यथा स्थान की जाएगी। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि रसानुभव अखण्ड प्रतीति रूप होने पर भी इस अनुभव विश्लेषण करने में साहित्यशास्त्र ने अनेकश: अभिहितान्वयवाद का उपयोग किया है।

तात्पर्यवृत्ति और उसके प्रसंग से वाक्यार्थबोध के विषय में भिन्न भिन्न मतों का निदर्शन किया । अब शब्दों की अन्य वृत्तियों के संबन्ध में अगले अध्याय में विवेचना करेंगे।

अध्याय दसवाँ

शब्दबोध : वाच्यार्थ, वाचकशब्द और अभिधा

शब्द की तीन वृत्तियाँ

साहित्यशास्त्र में शब्द व्यापार के तीन भेद माने गये हैं – अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। शब्द के उच्चारण के साथ ही जिस अर्थ का बोध होता है वह उस शब्द का मुख्य अथवा वाच्य अर्थ है। मुख्य अर्थ और उसके बोधक अर्थ में वाच्य-वाचक संबंध होता है। अर्थ वाच्य है, शब्द वाचक है। और जिस वृत्ति के कारण इन दोनों में वाच्य-वाचक संबंध उत्पन्न होता है वह है 'अभिधाव्यापार'। उदाहरणस्वरूप 'पुरुष' शब्द लीजिए। इस शब्द का उच्चारण करते ही मानववंश के अन्तर्गत नर का हमें तत्क्षण बोध होता है। 'मानववंश के अन्तर्गत नर' यह 'पुरुष' शब्द का मुख्य अर्थ हुआ। मानववंश के अन्तर्गत नर व्यक्ति अथवा जाति यह पदार्थ और पुरुष शब्द इन दोनों में वाच्यवाचक संबन्ध है एवं यह संबन्ध शब्द के मुख्य व्यापार अर्थात् अभिधा के कारण हमें ज्ञात हुआ है। किन्तु दैनिक जीवन में हम शब्द के मुख्य अर्थ का ही व्यवहार करते है ऐसा नहीं कहा जा सकता। कई बार यह होता है कि शब्द के मुख्य अर्थ ही को लेकर निर्वाह नही हो पाता। तब इस मुख्य अर्थ से भिन्न किन्तु उससे संबंधित अर्थ को लेकर हमारा काम चलता है। ऐसे अर्थ को लाक्षणिक अर्थ या लक्ष्यार्थ कहा जाता है। इस लाक्षणिक अर्थ का बोध हमें जिस शब्द के द्वारा होता है उस शब्द को 'लक्षक' की संज्ञा है। लक्ष्यार्थ एवं तद्बोधक शब्द में लक्ष्यलक्षक संबन्ध होता है और यह संबन्ध जिस वृत्ति के कारण ज्ञात होता है उसे लक्षणा कहते हैं। उदाहरण के लिए–

कृतं पुरुषशब्देन जातिमात्रावलंबिना
योऽङ्गीकृतगुणैः श्लाघ्यः सविस्मयमुदाहृतः।
अनमानमिवोजांसि सहसा गौरवेरितम्
नाम यस्याऽभिनन्दन्ति द्विषोऽपि स **पुमान् पुमान्**॥ (किरात११।७२,७३)

इस पद्य में पुमान् शब्द मुख्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। पहला पुमान् शब्द जातिवाचक है एवं दूसरा पुमान् शब्द गुणवाचक है। यह गुण रूप अर्थ पुमान् शब्द का मुख्य अर्थ नहीं है, लक्ष्य अर्थ है। यहाँ पुमान् शब्द का पौरुषगुणयुक्त अर्थ पुमान् शब्द के उच्चारण के साथ ही नहीं ज्ञात होता। वह तो अर्थतः उपपन्न होता है। अतएव वह लक्ष्य है (१)।

अभिधा और लक्षणा को दोनों शब्दवृत्तियों में से नैयायिक शब्द की केवल अभिधा वृत्ति का स्वीकार करते हैं। लक्षणा को वे अनुमान के अन्तर्गत मानते हैं। प्रस्तुत मीमांसकों को अभिधा और लक्षणा ये दोनों शब्दवृत्तियाँ अभिमत हैं।

व्यंजनाव्यापार काव्य मे ही होता है

किन्तु साहित्य शास्त्र में शब्द का और भी एक अर्थ माना गया है। वह अर्थ है व्यङ्ग्यार्थ। व्यङ्ग्य अर्थ का वोध जिस शब्द से होता है वह उस अर्थ का व्यञ्जक होता है एवं उस अर्थ तथा उस शब्द में [illegible] संबन्ध होता है। जिस शब्द व्यापार से इस संबध का ज्ञान होता है वह है व्यञ्जनाव्यापार। सीता के निष्पाप होते हुए भी राम ने मात्र लोकापवाद के कारण उनका त्याग किया। इसके उपरान्त बारह वर्षों का समय बीत जाने पर एक निरपराध शूद्र तपस्वी का वध करने का कर्तव्य उन्हें निबाहना पड़ा। उस शूद्र पर खड्ग उद्यत करने में उनका हाथ हिचकिचाने लगा। तब राम कहते हैं: "रे, मेरे दक्षिण हस्त, मृत ब्राह्मण पुत्र के संजीवन के लिए इस निरपराध शूद्र तपस्वी पर बिना किसी विकल्प के प्रहार कर। यों हिचकता क्यों है? अरे, तू उसी रामही का जो हाथ है न, जिसने गर्भ भार से श्रान्त सीता का विवासन किया (२)। यहाँ राम शब्द का 'दशरथपुत्र' रूप मुख्यार्थ से अभिप्राय नहीं है प्रत्युत विना किसी हिचकिचाहट के क्रूर [illegible] है। और इस छंद का अर्थ इस लक्ष्य अर्थ में ही विश्रान्त नहीं होता। 'मैंने सीता के प्रति अन्याय किया है' यह राम के मन की भावना, इस कारण अपने प्रति उनकी आत्म-भर्त्सना की प्रतीति तथा उनके मन के गहराई में छिपा हुआ दुःख आदि अर्थ भी

१. शब्दव्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता।
अर्थावसेयस्य पुनः लक्ष्यमाणत्वमुच्यते॥
—अभिधावृत्तिमातृका

२. हे हस्त दक्षिण मृतस्य शिशोर्द्विजस्य
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम्।
रामस्य वाहुरसि निर्भरगर्भखिन्न—
सीताविवासनपटो करुणा कुतस्ते॥ —उत्तररामचरित २।१०

इस छन्द में प्रयुक्त 'राम' शब्द द्वारा हमारी समझ में आते हैं। हमें प्रतीत होनेवाला यह भिन्न अर्थ व्यङ्ग्यार्थ है तथा इस अर्थ का व्यंजक इस जगह राम शब्द है। 'राम' रूप व्यंजक शब्द से जिस व्यापार के कारण हमें यह व्यङ्ग्यार्थ ज्ञात होता है वह व्यंजना-व्यापार है। साहित्यशास्त्र ने व्यङ्ग्यार्थ, व्यङ्ग्य-व्यञ्जक संबन्ध तथा व्यञ्जना-व्यापार को स्वीकार किया है। और तो क्या यही साहित्यशास्त्र की अन्य शास्त्रों से विशेषता है। अतएव 'स्याद् वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा' इसपर वृत्ति में 'अत्रेति काव्ये' ऐसी टिप्पणी मम्मट ने लिखी है। उनका अभिप्राय है कि काव्य में शब्द के तीन भेद होते हैं--वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक। और ये तीनों भेद काव्य में ही हो सकते हैं।

वृत्तिभेद से शब्द के वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक ऐसे तीन भेद होते हैं, इस का अर्थ यह नहीं कि कुछ शब्द केवल वाचक, कुछ केवल लाक्षणिक और कुछ केवल व्यञ्जक ही होते है। इस कथन का अर्थ यह है कि वृत्तिभेद से एक ही शब्द वाचक, लाक्षणिक अथवा व्यञ्जक हो सकता है। उदाहरण के लिए माँ शब्द लीजिये, माँ शब्द का उच्चारण करते ही हम क्या समझते हैं? माँ का अर्थ है जन्म देनेवाली स्त्री (जन्मदात्री), यह मुख्यार्थ हुआ। 'रामचन्द्रजी की माँ कौसल्या' इस वाक्य में इसी मुख्यार्थ से अभिप्राय है। इसके विपरीत "Necessity is the mother of invention" जैसे वाक्यों में माँ (Mother) शब्द का मुख्यार्थ लेने से काम नहीं चलता। यहाँ इस शब्द का लक्ष्यार्थ 'उत्पत्ति का कारण' लेना आवश्यक हो जाता है। और जब आर्त भक्त भगवान् को माँ कहकर पुकारता है अथवा नामदेवजी जब श्री विठ्ठल से "तू माझी माउली, मी वो तुझा तान्हा (अर्थात् तुम तो मेरी माँ हो और मैं तुम्हारा बेटा।) इस प्रकार कह उठते हैं, तब नामदेवजी कि आर्तता के एवं प्रेम के जो भाव हमें उन शब्दों के द्वारा प्रतीत होते हैं वे भाव 'माँ' शब्द का व्यङ्ग्यार्थ है। यह व्यङ्ग्यार्थ माँ शब्द के मुख्यार्थ से या लक्ष्यार्थ से सर्वथा भिन्न है। शब्द के मुख्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ में कितना अन्तर हो सकता है यह देखने के लिए अधिक प्रयास की आवश्यकता नहीं। अपनी सुप्रसिद्ध कविता 'आई' में कवि यशवंत हमारे समक्ष जो प्रेममयी मूर्ति उपस्थित करते हैं उसमें और 'गर्भधारणप्रसवादिसामान्यावच्छेदकावच्छिन्न स्त्रीविशेष' इस प्रकार की नैयायिक परिभाषा के द्वारा हमारे दृष्टि के समक्ष उपस्थित माँ की मूर्ति में तुलना करने से एक ही शब्द से बोधित होनेवाले दो अर्थों में कितना अंतर हमें प्रतीत होता है। काव्य की विशेषता है व्यङ्ग्यार्थ और व्यञ्जनाव्यापार। अन्य वाङमय प्रकारों से साहित्य की भिन्नता दर्शानेवाला यही भेदक लक्षण है। शास्त्र तथा काव्य में भेद दर्शाते हुए भट्टनायक कहते हैं:

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः ।
अर्थे तत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः ।।
द्वयोर्गुणत्वे **व्यापारप्राधान्ये** काव्यगीर्भवेत् ।।

यहाँ व्यापारप्राधान्य का अभिप्राय व्यञ्जनाव्यापार प्राधान्य से ही है । व्यङ्ग्यार्थ ही काव्य का परमार्थ है । यह नहीं कि मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का काव्य में कोई स्थान ही नहीं । जैसा कि वाङ्मय के अन्य भेदों में है काव्य में भी शब्दों का प्रयोग मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ में तो होता ही है; किन्तु साथ ही काव्य में एक और अर्थ प्रतीत होता है जिसमें मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ पर्यवसित होते हैं । काव्यगत शब्दव्यापार केवल अभिधा में या लक्षणा में न रुक कर, और आगे बढ़ता है, एवं एक अन्य ही व्यापार में विश्रान्त होता है । इसीको काव्य में 'शब्दार्थ-साहित्य' का पर्यवसान कहते हैं । आनन्दवर्धन इसीको 'ध्वनि' कहते हैं, तो कुन्तक इसीको 'शब्दार्थ साहित्य का परमार्थ' की सज्ञा देते हैं । साहित्यशास्त्र में शब्द की तीन वृत्तियों का सूक्ष्म विचार हुआ है । उसका आकलन न हुआ तो साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों का ज्ञान होना असंभव हो जाता है । इसलिये संक्षेप में हम उसका परिचय कर लें ।

अभिधा और वाच्यवाचक संबन्ध

वाचक शब्द, वाच्य अर्थात् मुख्य अर्थ तथा अभिधाव्यापार यह एक संज्ञावर्ग है । अमुक एक अर्थ का वाचक अमुक एक शब्द है यह हम कैसे समझें । मम्मट का इस पर कथन है—'**साक्षात् संकेतित**' योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः' उच्चारण करते ही जो शब्द 'साक्षात् संकेतित' अर्थ का बोध कराने में समर्थ होता है, वह उस शब्द का वाचक शब्द है। जिस शब्द में संकेत का योग नहीं वह शब्द अर्थ का बोध नहीं करा सकता।

संकेत का अर्थ क्या है ?

"अस्मात् [illegible]दयमर्थो बोद्धव्यः इति ईश्वरेच्छा संकेतः।" ऐसा नैयायिकों ने कहा है । किन्तु संज्ञाओं का संकेत ईश्वरेच्छा से उत्पन्न नहीं होता; उसे तो हम ही उत्पन्न करते हैं । अतएव नव्य नैयायिकों ने '**इच्छामात्रं संकेतः**' इस प्रकार संकेत का स्वरूप बताया है ।

किन्तु नैयायिकों के इस मत को स्फोटवादी वैय्याकरण स्वीकार नहीं करते। नागेशभट्ट ने 'परमलघुमंजूषा' में इस विषय को लेकर विवेचन किया है । नागेश का कथन संक्षेप में इस प्रकार किया है । इच्छा चाहे वह ईश्वर की हो या नर की—

शब्दार्थों में संबन्ध निर्माण नहीं कर सकती । अमुक शब्द का अमुक अर्थ ही समझा जायें इस प्रकार की इच्छा भले ही की गयी तो भी यह कहना तो बड़ा कठिन है कि उस प्रकार वह अर्थ लिया ही जायगा । इच्छा में संबन्धत्व ही न होने के कारण ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वह शब्दार्थों का संकेत है ।

तो यह संकेत निर्धारित कैसे होता है? इस पर नागेश का कथन है: पद और पदार्थ में वाच्य-वाचक भाव पाया जाता है । इतरेतराध्यास [illegible] के कारण यह वाच्यवाचक संबन्ध निर्माण होता है । अमुक एक शब्द अमुक एक अर्थ का वाचक होता है इसका कारण यह है कि उन दोनों में हमें तादात्म्य की प्रतीति होती है । यह तादात्म्य उन दोनों के परस्पर अध्यास के कारण होता है । 'शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकर: (३।१७)' ऐसा पातञ्जल सूत्र है । (१) किसी पदार्थ को लक्ष्य कर के उच्चारित शब्द (२) जिस पदार्थ को लेकर उस शब्द का उच्चारण किया गया है वह उसका अर्थ, एवं (३) उस शब्द से उस अर्थ का हमें जो बोध होता है वह उसका प्रत्यय, ये तीनों एक दूसरे से वास्तविक रूप में अत्यंत भिन्न है, किन्तु फिर भी उनका एक दूसरे पर अध्यास होता है. अतएव तीनों का संकर होकर वे एक रूप मे भासमान होते हैं । 'बैल को ले आओ' स्वामी के इस वाक्य के सुनने ही सेवक को जो बोध होता है वह है श्रुतिरूप प्रत्यय । वह जिस प्राणी को लाता है वह पदार्थ और उसका यह प्रत्यय एक दूसरे से भिन्न है। 'बैल' शब्द , 'बैल' यह बोध एवं बैल 'पदार्थ' एक दूसरे से भिन्न होने पर भी एकरूप ही लगते है। ' गौरिति शब्द: गौरित्यर्थ:, गौरिति ज्ञानम् । इस प्रकार हम अनुभव करते हैं ।

शब्दार्थों का इतरेतराध्यास ही संकेत का स्वरूप है । इस इतरेतराध्यास के कारण होनेवाला तादात्म्य ही शब्दार्थगत संबन्ध है । जो वास्तव में एक दूसरे से भिन्न है उन की अभेद से प्रतीति होना ही तादात्म्य है। शब्द और अर्थ परस्पर भिन्न होने पर भी अभिन्न रूप में प्रतीत होते हैं । यहाँ भेद वास्तव होता है और अभेद अध्यस्त । अतएव भेद और अभेद एकस्थ होने पर भी विरोध नहीं होता ।

इस प्रकार शब्दार्थो का इतरेतराध्यास ही संकेत है । जो शब्द है वही अर्थ है या जो अर्थ है वही शब्द है इस प्रकार का इसका स्वरूप है । किन्तु संकेत का वर्णन

३. " तादात्म्यं च तद्भिन्नत्वे सति तदभेदेन, प्रतीयमानत्वमिति भेदाभेदसमनियतम् । अभेदस्याध्यस्तत्वात् तयोर्न विरोध: । " अध्यास में कभी कभी भेद वास्तविक रहता है और अभेद अध्यस्त और कभी कभी अभेद वास्तविक रहता है और भेद काल्पनिक । पहले का उदाहरण है शब्दार्थों का अध्यास । दूसरे का उदाहरण है गुणगुणिभेद । गुण और गुणि का अभेद वास्तविक है और भेद काल्पनिक है ।

इससे पूरा नहीं होता। इतरेतराध्यास के साथ यह स्मृतिरूप भी है (४)। संकेत स्मृत्यात्मक है ऐसा कहने में वैय्याकरणोंने संकेत की विशेषता इस प्रकार बतायी है कि संकेत यदि पहले ही से ज्ञात हो तभी शब्द से अर्थ का बोध होता है। किन्तु संकेत का केवल ज्ञान होना ही पर्याप्त नहीं है। उसका शब्द के साथ स्मरण भी होना चाहिए। संकेत ज्ञात हो कर भी यदि विस्मृति हुई हो तो भी अर्थ का बोध नहीं हो सकेगा।

वाच्यार्थ के समान लक्ष्यार्थ में भी एक दृष्टि से शब्द का संकेत रहता ही है। किन्तु इन दोनों संकेतों में भेद है। लक्ष्यार्थ में शब्द का व्यवहित संकेत रहता है, एवं वाच्यार्थ में शब्द का अव्यवहित संकेत रहता है। **अव्यवहित संकेत ही साक्षात् संकेत** है। अतएव वाच्यार्थ को संकेतितार्थ अथवा साक्षात् संकेतितार्थ भी कहते हैं। जिस शब्द का जिस अर्थ से साक्षात् संकेत (अव्यवहित संकेत) रहता है, वह शब्द उस अर्थ का वाचक है, वह अर्थ उस शब्द का वाच्य है, एवं दोनों में संबन्ध वाच्य-वाचक संबन्ध है।

संकेतित अर्थ के भेद

शब्द से ज्ञात होने वाले सकेतित अर्थ के भेदों की संख्या के विषय में शास्त्रकारों में मतभिन्नता है। वैय्याकरणों के मत के अनुसार संकेतितार्थ के जाति, गुण-क्रिया, तथा द्रव्य ऐसे चार भेद हैं। मीमांसकों के मत के अनुसार संकेतितार्थ का एक ही भेद 'जाति' है। नैयायिकों का मत है कि संकेत जातिविशिष्ट व्यक्ति में निहित है, बौद्धों के मत के अनुसार वह अन्यापोह रूप है, और कोई नैयायिक तो उसे केवल व्यक्ति में ही निहित मानते हैं। उन भिन्न भिन्न मतों में से वैय्याकरणों के ही मत का साहित्यशास्त्र ने अनुसरण किया है।

संकेतार्थ विषयक मतमतान्तर उदाहरण द्वारा स्पष्ट हो जायेंगे। 'गौश्चलति' यही वाक्य लीजिये। यहाँ 'गौः' पदसे किसका बोध हुआ? गो व्यक्ति का या गो जाति का? हमारा व्यवहार या तो प्रवृत्तिरूप होता है या निवृत्तिरूप। हमारे इस व्यवहार में हमारा संबन्ध नित्य व्यक्ति से ही आता है, न कि जाति से। यदि मुझे दूध चाहिए तो मुझे गो व्यक्ति के पास ही जाना होगा। यदि सींग का धक्का लगने से मैं दूर हटता हूँ तो गो व्यक्ति से न कि गो जाति से। इस प्रकार व्यवहार में हमारा संबन्ध नित्य गो व्यक्ति से ही आने के कारण शब्द का संकेत व्यक्ति में ही निहित होना उचित है।

---

४. "संकेतस्तु पदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मकः योऽयं शब्दः सोऽर्थः स शब्दः इति।"—पातंजलमहाभाष्य

इस प्रकार नव्य नैयायिकों का मन्तव्य है । उनके मत के अनुसार शब्द से साक्षात् बोध होता है व्यक्ति का ही, जाति का नहीं । जाति तो केवल उपलक्षरण मात्र है ।

किन्तु इस मत को स्वीकार करने में कई अड़चनें हैं । 'संकेत का विषय व्यक्ति है' यह मानने में दो पर्याय हो सकते हैं । या तो वह संकेत गो जाति के सभी व्यक्तियों में से एक साथ रहेगा या एक ही व्यक्ति में रहेगा । यदि वह संकेत एक ही समग्र गो जाति के सभी व्यक्तियों में निहित हुआ तो गो शब्द के उच्चारण से भूत-वर्तमान-भविष्यकालीन सभी गो व्यक्तियाँ हमारे ज्ञान में उपस्थित होंगी और इसकी कोई सीमा न रहेगी । यह आनन्त्य नाम का दोष है । अच्छा, यदि सकेत एक ही व्यक्ति में है ऐसा मान लिया जाय तो एक व्यक्ति में निहित संकेत दूसरे व्यक्ति में नहीं रह सकेगा । किन्तु यह अनुभव के विरुद्ध है । यह व्यभिचार नामक दोष है । इसके अतिरिक्त और भी एक आपत्ति उपस्थित होती है । 'गौः शुक्लश्चलो डित्थः' इसी वाक्य को लीजिये – इस वाक्य का अर्थ है 'डित्थ नाम का सफेद बैल जा रहा है' । इस वाक्य में 'गौः' शब्द जातिवाचक है, 'शुक्लः' शब्द गुणवाचक है,'चल' शब्द क्रिया का बोधक है, एवं 'डित्थः' उस बैल का स्वामी ने रखा हुआ नाम है । शब्दों का संकेत मात्र व्यक्ति में मानने से, उपर्युक्त वाक्य में सभी शब्दों से एक ही व्यक्ति का बोध होने के कारण, वे शब्द पर्याय शब्द होंगे एवं जाति, गुण आदि विभाग का कोई अर्थ न रहेगा । अतएव, प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप क्रिया के लिए व्यक्ति का होना आवश्यक होने पर भी शब्द का संकेत व्यक्ति में मानना इष्ट न होगा ।

वैय्याकरणों और मीमांसकों का एक मत रहा है कि शब्द का संकेत व्यक्ति में नहीं है । किन्तु कहने मात्र से काम नहीं चल सकता । यदि व्यक्ति में सकेत नहीं है तो संकेत का विषय क्या है यह भी बताना होगा । और इसमें ही वैय्याकरण और मीमांसकों के मत भिन्न हुए है । वैय्याकरणों के मन्तव्य के अनुसार सकेत उपाधि में अर्थात् व्यवच्छेदक धर्म में है, तो मीमांसक मानते है कि सब शब्द केवल जाति का ही निर्देश करते हैं । वैय्याकरण जात्यादिवादी या उपाधिवादी है, और मीमांसक जातिवादी है ।

वैय्याकरणों का संकेतविषयक मत

वैय्याकरणों का कहना है कि शब्दों का संकेत व्यक्ति में न होकर व्यक्ति की उपाधि में होता है । उपाधि का अर्थ है व्यवच्छेदक धर्म । शब्द के साक्षात् सकेत का विषय नहीं होता । व्यक्ति के उपाधिधर्म के चार शब्दभेद इस प्रकार हैं :

व्यक्ति में पाये जाने वाले धर्म के दो भेद होते हैं। कुछ धर्म व्यक्ति में मूलतः होते हैं (वस्तुधर्म)। तो कुछ धर्म हम उस व्यक्ति पर अपनी इच्छा के अनुसार आरोपित करते हैं (यदृच्छासंनिवेशित) । यह दूसरा धर्म ही संज्ञा है। वस्तुधर्म के भी दो भेद होते है। कुछ सिद्ध रूप अर्थात् उस व्यक्ति में पूर्व निर्मित ही रहते हैं। एवं कुछ धर्म साध्यमान अर्थात् ऐसे रहते है कि इनको अभी सिद्ध होना है। यह साध्यमान या साध्य धर्म ही क्रिया है। सिद्ध धर्म के भी दो भेद हैं। एक उस वस्तु का प्राणप्रद अर्थात् उसे व्यवहार की योग्यता देनेवाला होता है। यह धर्म ही जाति है। दूसरा धर्म व्यवहारयोग्य व्यक्ति की कुछ विशेषता दर्शाता है। यह धर्म है गुण। इनमें से 'जाति' का धर्म व्यक्ति को व्यवहारयोग्यता देता है। इस लिए इसे प्राणप्रद कहा गया है (५) । गो व्यक्ति के विषय में 'गौः' इस प्रकार का व्यवहार क्यों कर सके? इसलिए नहीं कि उस व्यक्ति में आकार और वर्ण (रूप) है; बल्कि इस लिए कि उस व्यक्ति में गोत्व-धर्म हैं। (६) व्यक्ति में गोत्व है; यह ज्ञान उस व्यक्ति के विषय में गोत्व देता है। अतएव उस व्यक्ति के विषय में 'गौः' इस प्रकार व्यवहार हो सकता है। जाति

५. अयं च जातिरूपः शब्दार्थः प्राणप्रदः इत्युच्यते । प्राणं व्यवहारयोग्यतां ददाति इति व्युत्पत्तेः। — रसगंगाधर

६. न हि गौः स्वरूपेण गौः, नाप्यगौः गोत्वाभिसंबंधात् तु गौः" ऐसा भर्तृहरी ने 'वाक्येपदीय' में कहा है। इस पर जगन्नाथ पंडित कहते है: "गौः सास्नादिमान् धर्मी स्वरूपेण अज्ञातगोत्वकत्वेन धर्मिस्वरूपमात्रेण न गौः न गोव्यवहारानिर्वाहकः॥ नापि अगौः न गोभिन्नः इति व्यवहारस्य निर्वाहकः। तथा सति दूरादनभिव्यक्त-संस्थानतया गोत्वाग्रहदशायां गवि गौः इति वा, गोभिन्नः इति वा व्यवहारः स्यात्। स्वरूपस्य अविशेषात् घटे गौः इति गवि च अगौः इति वा व्यवहारः स्यादिति भावः। गोत्वाभिसंबंधात् गोत्ववत्तया ज्ञानात् गौः गोशब्दव्यवहार्य :

का धर्म व्यक्ति को व्यवहारयोग्यता देता है तो 'गुण' का धर्म उस व्यक्ति का विशेष दर्शाता है। विशेष का अर्थ है सजातीय से व्यावर्तक धर्म। जातिधर्म जिसका सिद्ध हो चुका है ऐसे व्यक्ति का सजातीय से व्यावर्तन करनेवाला धर्म है गुण। वैय्याकरणों के मत में शब्दों का साक्षात् सकेत जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य (संज्ञा) इन चार उपाधियों में होता है। कुछ शब्द जातिवाचक, कुछ गुणवाचक, कुछ क्रियावाचक और कुछ संज्ञावाचक होते हैं।

मीमांसकों का मत

मीमांसकों के मत में शब्द का संकेत केवल जातिरूप ही है। उनका कहना इस प्रकार है—गोव्यक्ति परस्पर भिन्न तो है किन्तु उन सबका प्राणप्रद सामान्य धर्म गोत्व जाति है। इसी प्रकार शंख, हिम, दुग्ध आदि में जो शुक्लगुण है वे परमार्थतः भिन्न ही है किन्तु उन सबका निर्देश हम 'शुक्ल' इस एक ही सामान्य शब्द से करते हैं। इस तरह शुक्ल इस सामान्य शब्द के व्यवहार से होने वाला ज्ञान भी सामान्य ही है। अतएव गुणवाचक शब्द भी जातिवाचक ही है। ऐसा ही क्रियावाचक शब्दों के विषय में भी कहा जा सकता है। आपत्ति है संज्ञा शब्दों के विषय में। किन्तु इसका भी उत्तर मीमांसकों ने दिया है। किसी व्यक्ति को दी हुई संज्ञा। उदा. डित्थ. इस नाम का उच्चारण बाल, वृद्ध, स्त्रियाँ, तोते आदि अपने अपने ढंगसे करते है। इससे, वे शब्द वास्तव में तो भिन्न ही होते हैं। किन्तु उनके द्वारा बोधित पदार्थ में डित्थत्व का धर्म सामान्य रूप में है ही। अर्थ है कि संज्ञा शब्द भी जाति का ही बोध कराते हैं। इस प्रकार सभी शब्द जाति के बोधक होने से मीमांसकों का कथन है कि शब्दों का संकेत जातिवाचक ही है; वैय्याकरणों के कथन के अनुसार जात्यादिवाचक नही हैं।

मीमांसकों ने अपना जातिवाद संज्ञाओं के विषय में भी सिद्ध किया है। किन्तु इसमें उन्होंने बहुत खींचातानी की है। वैय्याकरणों का स्फोटवाद मीमांसकों को स्वीकार न होने के कारण उन्हें इस प्रकार की युक्ति का अवलंब करना पड़ा। जातिवाद का पूर्ण रूप से विवेचन करने का यह स्थान नहीं है। किन्तु आलंकारिकों ने अपने शास्त्र के लिए वैय्याकरणों के जात्यादिवाद का ही स्वीकार किया है एवं जातिवाद का खंडन भी किया है। इस विषय में जिज्ञासु मम्मटाचार्य का 'शब्दव्यापारविचार' देखें (७)।

७. संकेत के संबन्ध में प्राचीन नैयायिक तथा बौद्धों के भी स्वतंत्र मत है। प्राचीन नैयायिकों का मत है कि शब्दों का संकेत जातिविशिष्ट व्यक्ति में है और बौद्धों का मत है कि तदितरव्यावृत्ति या तदपोह ही उसका स्वरूप है। अलंकारशास्त्र समझने की दृष्टि से इन मतों का कोई खास संबंध नही है। इस लिये इन मतों का यहां विवेचन नहीं किया गया।

व्यक्तिबोध किस प्रकार होता है ?

वैय्याकरण तथा मीमांसक दोनों कहते हैं कि शब्द का संकेत व्यक्ति में नहीं है। किन्तु इसमें एक प्रश्न उपस्थित होता है। व्यक्ति ही व्यवहार के लिए योग्य होता है; और शब्द का साक्षात् संकेत जाति में होता है। तत्त्व शब्द के द्वारा व्यक्ति का बोध कैसे होता है? इस पर मीमांसक तथा वैय्याकरणों के उत्तर भिन्न भिन्न हैं। मीमांसक मानते हैं कि 'जाति से व्यक्ति लक्षित होता है। इस लिए वे उपादान लक्षणा का आधार लेते हैं। वैय्याकरण और उनके साथ साथ आलंकारिक भी इस मत को नहीं मानते। उनकी संमति में जाति और व्यक्ति में अविनाभाव होने के कारण जाति से व्यक्ति का आक्षेप होता है। (व्यक्त्यविनाभावात्तु जात्या व्यक्तिः आक्षिप्यते। मम्मट)।

संकेत का ज्ञान किस प्रकार होता है ?

अमुक शब्द का अमुक संकेत है यह पहचानने के लिए आठ मार्ग नागेशभट्ट ने 'परमलघुमंजूषा' में दिये हैं। वे इस प्रकार हैं।

[१] शब्द ऐसे हैं जिनका अर्थ हमें व्याकरण से ही ज्ञात होता है। उदाहरण के लिए 'द्वितीया का अर्थ कर्म होता है'। अमुक प्रत्यय का अमुक अर्थ है यह हम व्याकरण से ही समझ सकते हैं।

[२] कभी कभी उपमान के द्वारा अर्थ का बोध होता है। उदा. गोसदृशो गवयः।

[३] कोष से अर्थ का बोध होता है यह तो स्पष्ट ही है।

[४] गुरुमुख से जो अर्थ का बोध होता है वह है आप्तोपदेश द्वारा होनेवाला संकेतबोध।

[५] व्यवहार से अर्थबोध होता है, इसकी कल्पना अन्विताभिधानवाद से की जा सकती है।

[६] वाक्यशेष से अर्थ बोध होना अर्थात् किसी शब्द के अर्थ के विषय में संदेह होने पर आगे आनेवाले संदर्भ से अर्थ का निश्चय होना। उदा. वाक्य है कि 'यव का चरु बनाए'। इसमें संदेह होता है कि यव से क्या समझें? तब इस वाक्य के बाद आनेवाले 'जब अन्य वनस्पतियाँ सूख जाती हैं तब भी यव हरेभरे होते हैं' आदि वाक्य पर ध्यान देने से अविलंब ज्ञात होता है कि यव का यहाँ जव से अभिप्राय है।

[७] विवृत्ति अर्थात् विवरण। शब्द का जो विवरण (व्याख्या) किया जाता है उससे भी अर्थबोध होता है। उदा. 'अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः' आदि कालिदास की पंक्ति में 'अत्रिनयन समुत्थज्योति' का अर्थ चंद्र है यह हमें मल्लिनाथ के विवरण से ज्ञात होता है; और—

[८] अन्य शब्द के संनिधि से भी अर्थ कभी कभी ज्ञात होता है। उदा. 'रामकृष्णौ' में राम का अर्थ है बलराम, 'रामलक्ष्मणौ' में राम का अर्थ है रघुवंशीय दशरथपुत्र तथा 'रामार्जुनौ' में राम का अर्थ है परशुराम। इन अर्थो का निश्चय संनिध स्थित पदों के कारण हो सका (८)।

मुख्यार्थ और अभिधा

शब्द के साक्षात् संकेतित अर्थ को ही मुख्यार्थ कहते हैं। मुख्यार्थ वह अर्थ है जो अन्य अर्थों के पूर्व ध्यान में आता हो। शरीर के अन्य अवयवों के पूर्व मुख की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट हो जाता है (९)। जिस **मुख्य व्यापार** के कारण यह मुख्यार्थ ज्ञात होता है उस व्यापार को 'अभिधा' की संज्ञा है (१०)। अभिधा के इस लक्षण में 'मुख्य व्यापार' शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसीसे अभिधा और अभिधामूलव्यंजना में जो भेद है वह ज्ञात हो सकता है। अभिधामूलव्यजंना में एक मुख्य और प्रकृत अर्थ अभिधा अर्थात् मुख्य व्यापार के द्वारा ज्ञात होता है। किन्तु इसी समय उस शब्द का दूसरा भी अर्थ हमें ज्ञात होता है जो मुख्य भी है और अप्रकृत भी। जिस व्यापार के कारण हमें उसका बोध होता है वह है अमुख्य व्यापार। यह दूसरा अर्थ भी उस शब्द का स्वतंत्र रूप से मुख्य अर्थ ही होता है, किन्तु वह प्रकृत न होने के कारण वहाँ शब्दव्यापार अमुख्य होता है। श्लेष और अभिधामूल व्यंजना में भी यही भेद है।

"प्रवर्तयन् क्रियाः साध्वीः मालिन्यं हरितां हरन्।
महसा भूयसा दीप्तो विराजति विभाकरः॥" (११)

---

८. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

९. शब्दव्यापाराद्यस्यावगतिस्तस्य (अर्थस्य) मुख्यत्वम्। स हि यथा सर्वेभ्यो हस्तादिभ्योऽवयवेभ्यः पूर्वं मुखमवलोक्यते, तद्वदेव सर्वेभ्यः प्रतीयमानेभ्योऽर्थान्तरेभ्यः पूर्वमवगम्यते। तस्मात् "मुखमिव मुख्य" इति शाखादियान्तेन मुख्यशब्देनाभिधीयते।—अभिधावृत्तिमातृका.

१०. स मुख्योऽर्थो, तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते।— काव्यप्रकाश

११. सत्कर्मों को प्रवर्तित करते हुए एवं दिशाओं की मलिनता को नष्ट करते हुए विभाकर प्रचण्ड तेज से आकाश में चमक रहा है (विभाकर = (१) सूर्य (२) इस नाम का राजा।)

व्यक्तिबोध किस प्रकार होता है ?

वैय्याकरण तथा मीमांसक दोनों कहते हैं कि शब्द का संकेत व्यक्ति में नहीं है। किन्तु इसमें एक प्रश्न उपस्थित होता है। व्यक्ति ही व्यवहार के लिए योग्य होता है; और शब्द का साक्षात् संकेत जाति में होता है। तत्त्व शब्द के द्वारा व्यक्ति का बोध कैसे होता है ? इस पर मीमांसक तथा वैय्याकरणों के उत्तर भिन्न भिन्न हैं। मीमांसक मानते हैं कि 'जाति से व्यक्ति लक्षित होता है। इस लिए वे उपादान लक्षरणा का आधार लेते हैं। वैय्याकरण और उनके साथ साथ आलंकारिक भी इस मत को नहीं मानते। उनकी संमति में जाति और व्यक्ति में अविनाभाव होने के कारण जाति से व्यक्ति का आक्षेप होता है। (व्यक्त्यविनाभावात्तु जात्या व्यक्तिः आक्षिप्यते। मम्मट)।

संकेत का ज्ञान किस प्रकार होता है ?

अमुक शब्द का अमुक संकेत है यह पहचानने के लिए आठ मार्ग नागेशभट्ट ने 'परमलघुमंजूषा' में दिये हैं। वे इस प्रकार हैं।

[१] शब्द ऐसे हैं जिनका अर्थ हमें व्याकरण से ही ज्ञात होता है। उदाहरण के लिए 'द्वितीया का अर्थ कर्म होता है'। अमुक प्रत्यय का अमुक अर्थ है यह हम व्याकरण से ही समझ सकते हैं।

[२] कभी कभी उपमान के द्वारा अर्थ का बोध होता है। उदा. गोसदृशो गवयः।

[३] कोष से अर्थ का बोध होता है यह तो स्पष्ट ही है।

[४] गुरुमुख से जो अर्थ का बोध होता है वह है आप्तोपदेश द्वारा होनेवाला संकेतबोध।

[५] व्यवहार से अर्थबोध होता है, इसकी कल्पना अन्विताभिधानवाद से की जा सकती है।

[६] वाक्यशेष से अर्थ बोध होना अर्थात् किसी शब्द के अर्थ के विषय में संदेह होने पर आगे आनेवाले संदर्भ से अर्थ का निश्चय होना। उदा. वाक्य है कि 'यव का चरु बनाए'। इसमें संदेह होता है कि यव से क्या समझें ? तब इस वाक्य के बाद आनेवाले 'जब अन्य वनस्पतियाँ सूख जाती हैं तब भी यव हरेभरे होते हैं' आदि वाक्य पर ध्यान देने से अविलंब ज्ञात होता है कि यव का यहाँ जव से अभिप्राय है ।

[७] विवृत्ति अर्थात् विवरण। शब्द का जो विवरण (व्याख्या) किया जाता है उससे भी अर्थबोध होता है। उदा. 'अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः' आदि कालिदास की पंक्ति में 'अत्रिनयन समुत्थज्योति' का अर्थ चंद्र है यह हमें मल्लिनाथ के विवरण से ज्ञात होता है; और—

[८] अन्य शब्द के संनिधि से भी अर्थ कभी कभी ज्ञात होता है। उदा. 'रामकृष्णौ' में राम का अर्थ है बलराम, 'रामलक्ष्मणौ' में राम का अर्थ है रघुवंशीय दशरथपुत्र तथा 'रामार्जुनौ' में राम का अर्थ है परशुराम। इन अर्थों का निश्चय संनिध स्थित पदों के कारण हो सका (८)।

मुख्यार्थ और अभिधा

शब्द के साक्षात् संकेतित अर्थ को ही मुख्यार्थ कहते हैं। मुख्यार्थ वह अर्थ है जो अन्य अर्थों के पूर्व ध्यान में आता हो। शरीर के अन्य अवयवों के पूर्व मुख की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट हो जाता है (९)। जिस **मुख्य व्यापार** के कारण यह मुख्यार्थ ज्ञात होता है उस व्यापार को 'अभिधा' की संज्ञा है (१०)। अभिधा के इस लक्षण में 'मुख्य व्यापार' शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसीसे अभिधा और अभिधामूलव्यंजना में जो भेद है वह ज्ञात हो सकता है। अभिधामूलव्यजंना में एक मुख्य और प्रकृत अर्थ अभिधा अर्थात् मुख्य व्यापार के द्वारा ज्ञात होता है। किन्तु इसी समय उस शब्द का दूसरा भी अर्थ हमें ज्ञात होता है जो मुख्य भी है और अप्रकृत भी। जिस व्यापार के कारण हमें उसका बोध होता है वह है अमुख्य व्यापार। यह दूसरा अर्थ भी उस शब्द का स्वतंत्र रूप से मुख्य अर्थ ही होता है, किन्तु वह प्रकृत न होने के कारण वहाँ शब्दव्यापार अमुख्य होता है। श्लेष और अभिधामूल व्यंजना में भी यही भेद है।

"प्रवर्तयन् क्रियाः साध्वीः मालिन्यं हरितां हरन्।
महसा भूयसा दीप्तो विराजति विभाकरः॥" (११)

---

८. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

९. शब्दव्यापाराद्यस्यावगतिस्तस्य (अर्थस्य) मुख्यत्वम्। स हि यथा सर्वेभ्यो हस्तादिभ्योऽवयवेभ्यः पूर्वं मुखमवलोक्यते, तद्वदेव सर्वेभ्यः प्रतीयमानेभ्योऽर्थान्तरेभ्यः पूर्वमवगम्यते। तस्मात् "मुखमिव मुख्य" इति [illegible]।—अभिधावृत्ति मातृका.

१०. स मुख्योऽर्थो, तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते। — काव्यप्रकाश

११. सत्कर्मों को प्रवर्तित करते हुए एवं दिशाओं की मलिनता को नष्ट करते हुए विभाकर प्रचण्ड तेज से आकाश में चमक रहा है (विभाकर = (१) सूर्य (२) इस नाम का राजा।)

इस पद्य में कवि को विभाकर नामक राजा तथा सूर्य दोनों का वर्णन अभिप्रेत है। अतएव इस पद्य के शब्दों के दोनों अर्थों से कवि को मुख्यत्व से ही अभिप्राय है। इस लिये जिन शब्दव्यापारों से इनका बोध होता है वे भी मुख्य हैं। अर्थात् इस पद्य को चाहे राजवर्णन के अर्थ में लीजिये या सूर्यवर्णन के अर्थ में लीजिए इसके दोनों अर्थ अभिधाव्यापार से ही ज्ञात होते हैं। अब इसकी तुलना में निम्न पद्य लीजिये—

> "उन्नतः प्रोल्लसद्धारः कालागुरुमलीमसः।
> [illegible] कं न चक्रेऽभिलाषिणम्॥

वर्षाकाल के वर्णन का यह पद्य है। "आकाश में ऊँचा उठता हुआ (उन्नत), धाराओं की वर्षा करने वाला (प्रोल्लसत्+धारा) तथा कृष्ण चंदन के समान काला (कालागुरुमलीमसः) यह मेघ किसके मन में प्रिया के विषय में उत्कण्ठा निर्माण नहीं करेगा?" किन्तु इस वर्षावर्णन को पढ़ते पढ़ते दूसरा भी एक अर्थ सहृदय के मन में तरंगित होता है, वह इस प्रकार : "हार के कारण सुंदर दीखनेवाला, कृष्ण चंदन के अंगराग के कारण ईषत् श्यामल छटा धारण करने वाला (कालागुरुमलीमसः) उस तन्वी का उन्नत उरःप्रदेश किसके मन में अभिलाषा निर्माण नहीं करेगा?" यह दूसरा अर्थ यहाँ प्रकृत नहीं है। वर्षाकाल का अर्थ प्रकृत होने से यह हमें मुख्य अर्थात् अभिधाव्यापार से ज्ञात हुआ। किन्तु युवतिविषयक अर्थ प्रकृत न होने के कारण वह हमें अमुख्य व्यापार से ज्ञात हुआ। इस स्थान में यह अमुख्य व्यापार व्यंजनाव्यापार है। प्रथम पद में श्लेष है और वहाँ दोनों अर्थों में अभिधा ही प्रवृत्त होती है। किन्तु इस दूसरे पद्य में अभिधामूल ध्वनि है। यहाँ प्रकृत अर्थ में अभिधा है किन्तु अप्रकृत अर्थ में अभिधामूल व्यंजना है।

अभिधा के भेद

शब्द की इसी अभिधा शक्ति के तीन भेद : योग, रूढि और योगरूढि। इसीके अनुसार वाचक शब्द के भी तीन भेद हैं। यौगिक, रूढ और योगरूढ। यौगिक शब्द में अवयवशक्ति होती है, अर्थात् जिन प्रकृतिप्रत्ययों से वह शब्द बना है उनके अर्थों से उस शब्द का अर्थ सुसंबद्ध होता है। पाचक, पाठक, गाङ्गेय आदि शब्द इस प्रकार यौगिक शब्द हैं। रूढ शब्दों में अवयवशक्ति नहीं होती, केवल समुदायशक्ति होती है। मंडप, आखण्डल आदि शब्दों के प्रकृतिप्रत्ययरूप अवयव किये तो उनके अर्थों से इन शब्दों के अर्थ का कोई संबन्ध नहीं रहता। इन शब्दों का संकेत इनके योग से बद्ध नहीं होता, अपितु उस वर्णसमुदाय से ही बद्ध होता है। किन्तु कुछ शब्द ऐसे

होते हैं कि उनका अर्थ उनके प्रकृति-प्रत्ययों के अर्थ से सुसंबद्ध तो रहता है किन्तु उनके अर्थ की व्याप्ति रूढि से सीमित हो जाति है। ऐसे शब्द 'योगरूढ' कहलाते हैं। पंकज, वक्षोज, आदि योगरूड शब्दों के उदाहरण हैं। पंकज का अर्थ है कमल। व्युत्पत्ति से, जो पंक अर्थात् कीचड़ में उत्पन्न हुआ है वह है पंकज। व्युत्पत्ति से सिद्ध होनेवाला यह अर्थ कमल से सुसंबद्ध तो है ही, किन्तु यह योगार्थ ही यदि लिया गया तो पंक में उत्पन्न होनेवाले कीटाणुओं के लिए भी यह प्रयुक्त हो सकेगा। किन्तु व्यवहार में रूढि ने इसे कमल के लिये ही सीमित रखा है। यहाँ अभिधाशक्ति के योग और रूढ़ ये दो भेद एकत्रित हुए हैं। अतएव योगरूढ़ शब्दों में अवयवशक्ति तथा समुदाय-शक्ति–दोनों का कार्य है। शब्दों का एक चौथा भी भेद है। उसे "यौगिकरूढ़" शब्द कहते हैं। ऐसे शब्दों में दो अर्थ होते हैं, एक यौगिक अर्थ और दूसरा रूढ़ अर्थ। 'उद्भिद्' इसका उदाहरण है। 'उद्भिद्' का अर्थ है वनस्पति। इस अर्थ में योग है। किन्तु 'उद्भिद्' एक योग का भी नाम है और वह रूढ़ि से प्राप्त है। योगरूढ़ और यौगिकरूढ़ में महत्त्वपूर्ण भेद है। यौगरूढ़ शब्द में योग से प्राप्त अर्थ रूढ़ि से सीमित होता है। ऐसा योगिकरूढ़ में नहीं होता। उसके यौगिक अर्थ और रूढ़ अर्थ स्वतंत्र होते हैं।

• • •

अध्याय ग्यारहवाँ

शब्दबोध : लक्ष्यार्थ, लाक्षणिक शब्द और लक्षणा

लक्षणा के संबन्ध में मम्मट ने कहा है—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया।।

इस कारिका में लक्ष्यार्थ और लक्षणावृत्ति दोनों का स्वरूप बताया गया है। 'यत् अन्यः अर्थः लक्ष्यते सा क्रिया लक्षणा—' जिस के द्वारा मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ लक्षित होता है वह वृत्ति (क्रिया) लक्षणा है; मुख्यार्थबाध, तद्योग तथा रूढि अथवा प्रयोजन ये तीन लक्षणा के निमित्त हैं; एवं 'यः अन्यः अर्थः लक्ष्यते' —मुख्यार्थ से भिन्न रूप लक्षित होनेवाला अर्थ लक्ष्यार्थ है।

हमारे दैनिक भाषण व्यवहार में भी कई बार ऐसा होता है कि मुख्यार्थ से काम नहीं बनता। 'गौरीशंकर के आक्रमण से आज भारत का मस्तक उन्नत हुआ।' यहाँ 'भारत' शब्द का मुख्यार्थ लेना असंभव है। मुख्यार्थ से भिन्न परन्तु उससे संबद्ध 'भारत देशवासी लोक' इस प्रकार अर्थ करना पड़ता है। 'गंगायां घोषः'—गंगा पर अहीरों की पल्ली है। इस वाक्य में 'गंगा' शब्द के 'गंगाप्रवाह' अर्थ को छोड़कर 'गंगातीर' का अर्थ लेना आवश्यक हो जाता है। 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्'—इस वाक्य में 'काकेभ्यः' पद का अर्थ 'कौए आदि' ऐसा मानना पड़ता है।

लक्षणा के निमित्त

इस प्रकार शब्द के मुख्यार्थ को छोड़कर अमुख्यार्थ का स्वीकार करने के लिए किसी निमित्त की आवश्यकता होती है। इसके निमित्त तीन हैं।

(१) **मुख्यार्थबाध :** यहाँ 'बाध' शब्द का अर्थ 'अनुपपत्ति' या 'प्रमाण-पराहतत्व' है। वाक्य का अर्थ करते हुए, जब कोई शब्द मुख्यार्थ में लेने से अनुपपन्न हो जाता है तभी लक्षणा का आश्रय करना आवश्यक हो जाता है। अनुपपत्ति है तात्पर्य की अनुपपत्ति। दीपिका में कहा है—'तात्पर्यानुपपत्तिर्लक्षणाबीजम्।', 'गंगायां घोष:' या 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इन वाक्यों में जो अर्थ का बाध है वह है दो शब्दों के मुख्यार्थ **का बाध।** इस बाध को हटाने के लिए हम 'गंगा=गंगातीर' एवम् 'काक=काक आदि' इस प्रकार अर्थ करते हैं। मुख्यार्थ की अनुपपत्ति यदि न हुई होती तो लक्षणा का आश्रय करने की आवश्यकता ही न होती। इस प्रकार की अनुपपत्ति कभी कभी वक्ता का तात्पर्य एवम् उसके प्रयुक्त शब्दों का मुख्यार्थ इन दोनों में भी हो सकती है। उदा. अपने विश्वासघाती मित्र से कवि कहता है—"मित्र, क्या बताऊँ। तुम्हारे उपकार तो बड़े भारी हुए। तुम्हारी सुजनता भी सर्व प्रसिद्ध हो गयी। ऐसे ही काम करते हुए तुम शतायु होकर सुख से रहो!" (१) यहाँ कवि का उद्देश्य यदि ध्यान में न रखा तो मुख्यार्थ का बाध नहीं होता; क्योंकि यहाँ वाक्य का अर्थ करने में कोई आपत्ति नही है। किन्तु, कवि के उद्देश्य की ओर ध्यान दिया जाय तो इस उद्देश्य का मुख्यार्थ से विरोध आता है। इस प्रकार वक्ता का उद्देश्य एवम् मुख्यार्थ दोनों में 'योग्यताविरह' होने से उपकार=अपकार, सुजनता=दुर्जनता ऐसे विपरीत अर्थ लेना आवश्यक हो जाता है। इसीको विपरीत लक्षणा कहा जाता है। सारांश, मुख्यार्थबाध जिस प्रकार दो शब्दार्थों की अनुपपत्ति के कारण हो सकता है उसी प्रकार वह शब्दार्थ तथा वक्ता का उद्देश्य (वक्तृतात्पर्य) इन दोनों में विरोध आ जाने से भी हो सकता है।

(२) **मुख्यार्थयोग** : मुख्यार्थ की अनुपपत्ति होने पर हम भिन्न अर्थ लेते हैं। किन्तु इसमें हम मन चाहा अर्थ नहीं ले सकते। वह अर्थ मुख्यार्थ से भिन्न होने पर भी उससे संबन्धित ही होना चाहिये। इसीको तद्योग = मुख्यार्थयोग कहते हैं। मुख्यार्थयोग के पाँच भेद मुकुलभट्ट ने बताए हैं।

अभिधेयेन संबंधात् सादृश्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगात् लक्षणा पञ्चधा मता॥ (२)

इनके उदाहरण इस प्रकार हो सकते हैं।

(१) गंगायां घोषः —यहाँ मुख्यार्थ से (गंगाप्रवाह से) लक्ष्यार्थ का (गंगातीर का) सामीप्यसंबन्ध है;

---

१. उपकृतं बहु नाम किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्॥

२. कहा जाता है कि यह कारिका मूलतः भर्तृमित्र की है। मुकुल ने 'अभिधावृत्तिमातृका' में, मम्मट ने 'शब्दव्यापारविचार' में तथा माणिक्यचंद्र ने 'संकेतटीका' में इसे उद्धृत किया है।

(१) **मुख्यार्थबाध :** यहाँ 'बाध' शब्द का अर्थ 'अनुपपत्ति' या 'प्रमाण-पराहतत्व' है। वाक्य का अर्थ करते हुए, जब कोई शब्द मुख्यार्थ में लेने से अनुपपन्न हो जाता है तभी लक्षणा का आश्रय करना आवश्यक हो जाता है। अनुपपत्ति है तात्पर्य की अनुपपत्ति। दीपिका में कहा है—'तात्पर्यानुपपत्तिर्लक्षणाबीजम्।', 'गंगायां घोषः' या 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इन वाक्यों में जो अर्थ का बाध है वह है दो शब्दों के मुख्यार्थ **का बाध।** इस बाध को हटाने के लिए हम 'गंगा=गंगातीर' एवम् 'काक=काक आदि' इस प्रकार अर्थ करते हैं। मुख्यार्थ की अनुपपत्ति यदि न हुई होती तो लक्षणा का आश्रय करने की आवश्यकता ही न होती। इस प्रकार की अनुपपत्ति कभी कभी वक्ता का तात्पर्य एवम् उसके प्रयुक्त शब्दों का मुख्यार्थ इन दोनों में भी हो सकती है। उदा. अपने विश्वासघाती मित्र से कवि कहता है—"मित्र, क्या बताऊँ। तुम्हारे उपकार तो बड़े भारी हुए। तुम्हारी सुजनता भी सर्व प्रसिद्ध हो गयी। ऐसे ही काम करते हुए तुम शतायु होकर सुख से रहो!" (१) यहाँ कवि का उद्देश्य यदि ध्यान में न रखा तो मुख्यार्थ का बाध नहीं होता; क्योंकि यहाँ वाक्य का अर्थ करने में कोई आपत्ति नही है। किन्तु, कवि के उद्देश्य की ओर ध्यान दिया जाय तो इस उद्देश्य का मुख्यार्थ से विरोध आता है। इस प्रकार वक्ता का उद्देश्य एवम् मुख्यार्थ दोनों में 'योग्यताविरह' होने से उपकार=अपकार, सुजनता=दुर्जनता ऐसे विपरीत अर्थ लेना आवश्यक हो जाता है। इसीको विपरीत लक्षणा कहा जाता है। सारांश, मुख्यार्थबाध जिस प्रकार दो शब्दार्थों की अनुपपत्ति के कारण हो सकता है उसी प्रकार वह शब्दार्थ तथा वक्ता का उद्देश्य (वक्तृतात्पर्य) इन दोनों में विरोध आ जाने से भी हो सकता है।

(२) **मुख्यार्थयोग :** मुख्यार्थ की अनुपपत्ति होने पर हम भिन्न अर्थ लेते हैं। किन्तु इसमें हम मन चाहा अर्थ नहीं ले सकते। वह अर्थ मुख्यार्थ से भिन्न होने पर भी उससे संबन्धित ही होना चाहिये। इसीको तद्योग = मुख्यार्थयोग कहते हैं। मुख्यार्थयोग के पाँच भेद मुकुलभट्ट ने बताए हैं।

अभिधेयेन संबंधात् सादृश्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगात् लक्षणा पञ्चधा मता॥ (२)

इनके उदाहरण इस प्रकार हो सकते हैं।

(१) गंगायां घोषः—यहाँ मुख्यार्थ से (गंगाप्रवाह से) लक्ष्यार्थ का (गंगातीर का) सामीप्यसंबन्ध है;

---

१. उपकृतं बहु नाम किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्॥

२. कहा जाता है कि यह कारिका मूलतः भर्तृमित्र की है। मुकुल ने 'अभिधावृत्तिमातृका' में, मम्मट ने 'शब्दव्यापारविचार' में तथा माणिक्यचंद्र ने 'संकेतटीका' में इसे उद्धृत किया है।

(२) 'सिंहो बटु:' में सादृश्य संबन्ध है;

(३) समवाय=साहचर्य; 'कुन्ता: प्रविशन्ति'। इस वाक्य में समवाय संबन्ध है।

(४) पूर्व दिये हुए उपकृतं बहु नाम आदि में विपरीत संबन्ध है।

(५) क्रियायोग अर्थात् क्रिया के कारण आया हुआ संबन्ध। 'महति समरे शत्रुघ्न: त्वम्'—'युद्ध में आप शत्रुघ्न हैं।' यहाँ शत्रुघ्न की संज्ञा मुख्यार्थ से जो शत्रुघ्न नहीं है ऐसे राजा को दी गयी है, शत्रुहनन क्रिया इस का कारण है।

(३) **रूढ़ि और प्रयोजन** : मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ भिन्न है। यह लक्ष्यार्थ या तो रूढ़ि से अर्थात् लोकप्रसिद्धि से प्राप्त होना चाहिये या उसकी पृष्ठभूमि में वक्ता का कुछ विशेष उद्देश्य (प्रयोजन) होना चाहिये। लक्षणा की यह शर्त बड़ा महत्त्व रखती है। 'मुख्यार्थ' शब्द का स्वाभाविक एवम् सरलता से प्रतीत होनेवाला अर्थ होता है। लक्षणा इस स्वाभाविक अर्थ को त्याग देती है। एक दृष्टि से 'लक्ष्यार्थ' शब्द का अस्वाभाविक अर्थ होता है। अतएव, शास्त्रीय वाङ्मय में जहाँतक हो सकें, लक्षणा का प्रयोग टाला जाता है। कुमारिल कहते हैं कि अन्य कोई मार्ग ही न हों तभी लक्षणा का आश्रय (अगत्या लक्षणावृत्ति:) करना चाहिये। अर्थ यह है कि इस प्रकार अस्वाभाविक अर्थ करने के लिए कुछ न कुछ आधार तो होना चाहिये या तो इस प्रकार अर्थ करने की रूढ़ि चाहिये या वह प्रयोजन श्रोता के ध्यान में सरलता से आना चाहिये। इस दृष्टि से लक्षणा के 'रूढ लक्षणा' और 'प्रयोजनवती लक्षणा' इस प्रकार दो भेद होते हैं।

रूढ लक्षणा की पृष्ठभूमि में आरंभ में प्रयोजन था ही

मम्मट ने रूढ लक्षणा का उदाहरण 'कर्मणि कुशल:' दिया है। 'कुशल' शब्द का अर्थ हम 'चतुर' करते हैं। किन्तु यह इस शब्द का मुख्यार्थ नहीं है। 'कुशल' का अर्थ हैं 'कुश काटनेवाला'। संभव है कि कुश काटने के लिए बड़ी चतुरता की आवश्यकता होती थी और इस लिए मूलत: इस शब्द का 'चतुर' के अर्थ में लक्षणा से प्रयोग होना आरंभ हुआ हो। और 'दर्भ काटनेवाला जिस प्रकार चतुर होता है उस प्रकार जो चतुर है' ऐसा बोध इस शब्द से होने लगा हो। किन्तु आगे चलकर वही शब्द चतुर के अर्थ में रूढ़ हो गया।

वास्तविक यही दीखता है कि आज जो लक्षणाएँ रूढ़ कही जाती हैं वे किसी समय प्रयोजनवती थीं। (मराठी में) 'तारांबळ' शब्द इस का अच्छा उदाहरण है। 'ताराबलम्' शब्द का त्वरासे उच्चारण करते हुए किसी ने 'तारांबलम्' उच्चारण किया होगा। प्रारंभ में चिढ़ाने के लिए 'तारांबळ' शब्द का 'बोलने में त्वरा करने' के अर्थ में लोक में प्रयोग होने लगा हो। जबतक यह प्रयोजन नया

था तवतक तारांवळ = तारत्वलम् का दोषयुक्त उच्चारण एवं त्वरा के ये दो भिन्न किन्तु विशिष्ट घटना से सबन्धित अर्थ ज्ञात होते थे। किन्तु आज हम उस प्रयोजन को भूल चुके है और 'तारांबळ' शब्द (अनुचित) त्वरा के अर्थ में रूढ़ हुआ है। 'देवानां प्रिय इति मूर्खे' यह वार्तिक भी इसी बात का द्योतक है कि इस प्रयोग में आरंभ में प्रयोजन था और बाद में रूढ़ि आयी है।

रूढ लक्षणा के इस स्वरूप को देखने से एक बात सहज ही ध्यान में आ जाती है; वह यह कि जब तक इन अर्थो की पृष्ठभूमि में प्रयोजन था तब तक ये अर्थ मुख्यार्थ से भिन्न थे। किन्तु इनका आधारभूत प्रयोजन नष्ट होते ही किसी समय जो लक्ष्यार्थ थे अब उन शब्दों के मुख्यार्थ बन गये हैं। अत एव हेमचन्द्र रूढ लक्षणा को स्वीकार करना नही चाहते। उनका कथन है कि, "कुशल, द्विरेफ, द्विक आदि शब्दों के अर्थ अब साक्षात् संकेत के ही विषय बन गये है। इस लिए वे उन शब्दों के मुख्यार्थ ही हैं। और इसी कारण से रूढि लक्ष्यार्थ का हेतु बन ही नही सकती (३)। विश्वनाथ भी कुशल आदि शब्दों के संबन्ध में यही कहते है; किन्तु वे हेमचन्द्र के समान रूढलक्षणा को वर्जित नहीं करते। 'कलिङ्गः साहसिकः' इस प्रकार वे रूढलक्षणा का उदाहरण देते हैं। माणिक्यचन्द्र रूढलक्षणा को 'भ्रष्टोपचार प्रतीति' कहते हैं किन्तु उनका यह कहना किसी समय सादृश्य पर आधारित परन्तु सप्रति प्रयोजन विरहित बने हुए, और इसीलिए रूढ़ बने हुए लक्षणा के विषय में ही यथार्थ है।

हेमचन्द्र और विश्वनाथ द्वारा मम्मट की की गयी यह आलोचना ठीक ही है। भूतकाल में ये शब्द लक्षणा से भलेही प्रयुक्त होते हों, आज तो उनके वे अर्थ रूढ़ हो गये है। इस लिए उनकी पृष्ठभूमि में वृत्ति भी अभिधाही (अभिधा का 'रूढि' नामक भेद) है; न कि लक्षणा। इन उदाहरणों में लक्षणा को मानना ही हो तो केवल व्युत्पत्ति के आधारपर मानना होगा, और ऐसा करने से लावण्य, मण्डप, तैल आदि शब्दों के रूढ़ अर्थो को भी लक्ष्यार्थ ही मानना पड़ेगा। इस से अभिधा के 'रूढि' नामक भेद का क्षेत्र तो नष्ट हो जायगा ही, किन्तु इससे और, लोकव्यवहार की मर्यादा का भग भी होगा। शब्द का अर्थ किस प्रकार का है यह देखने में व्युत्पत्ति की अपेक्षा लोकप्रवृत्ति को मानना ही अधिक श्रेयस्कर है। इस संबन्ध में विश्वनाथ ने कहा है—'अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तम्, अन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्।' (४)

३. कुशलद्विरेफद्विकादयस्तु साक्षात्संकेतविषयत्वात् मुख्या एव, इति न रूढिरत्नाभिर्हेतुत्वेनोक्ता !– काव्यानुशासन।

४. निरूढलक्षणा और अंग्रेजी की Dead Metaphor में तुलना करना बडा रंजक होगा। दोनों का मूल एक ही है। गौणीसारोपालक्षणा की उपचारप्रतीति नष्ट होने से वह निरूढलक्षणा होती है और Metaphor का आधारभूत प्रयोजन नष्ट होने से वह Dead Metaphor होती है।

(२) 'सिंहो बटुः' में सादृश्य संबन्ध है;

(३) समवाय=साहचर्य; 'कुन्ताः प्रविशन्ति'। इस वाक्य में समवाय संबन्ध है।

(४) पूर्व दिये हुए उपक्रत बहु नाम आदि में विपरीत संबन्ध है।

(५) क्रियायोग अर्थात् क्रिया के कारण आया हुआ संबन्ध। 'महति समरे शत्रुघ्नः त्वम्'—'युद्ध में आप शत्रुघ्न हैं।' यहाँ शत्रुघ्न की संज्ञा मुख्यार्थ से जो शत्रुघ्न नहीं है ऐसे राजा को दी गयी है, शत्रुहनन क्रिया इस का कारण है।

(३) **रूढ़ि और प्रयोजन**: मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ भिन्न है। यह लक्ष्यार्थ या तो रूढ़ि से अर्थात् लोकप्रसिद्धि से प्राप्त होना चाहिये या उसकी पृष्ठभूमि में वक्ता का कुछ विशेष उद्देश्य (प्रयोजन) होना चाहिये। लक्षणा की यह शर्त बड़ा महत्त्व रखती है। 'मुख्यार्थ' शब्द का स्वाभाविक एवम् सरलता से प्रतीत होनेवाला अर्थ होता है। लक्षणा इस स्वाभाविक अर्थ को त्याग देती है। एक दृष्टि से 'लक्ष्यार्थ' शब्द का अस्वाभाविक अर्थ होता है। अतएव, शास्त्रीय वाङ्मय में जहांतक हो सकें, लक्षणा का प्रयोग टाला जाता है। कुमारिल कहते हैं कि अन्य कोई मार्ग ही न हों तभी लक्षणा का आश्रय (अगत्या लक्षणावृत्तिः) करना चाहिये। अर्थ यह है कि इस प्रकार अस्वाभाविक अर्थ करने के लिए कुछ न कुछ आधार तो होना चाहिये या तो इस प्रकार अर्थ करने की रूढ़ि चाहिये या वह प्रयोजन श्रोता के ध्यान में सरलता से आना चाहिये। इस दृष्टि से लक्षणा के 'रूढ लक्षणा' और 'प्रयोजनवती लक्षणा' इस प्रकार दो भेद होते हैं।

रूढ लक्षणा की पृष्ठभूमि में आरंभ में प्रयोजन था ही

मम्मट ने रूढ लक्षणा का उदाहरण 'कर्मणि कुशलः' दिया है। 'कुशल' शब्द का अर्थ हम 'चतुर' करते हैं। किन्तु यह इस शब्द का मुख्यार्थ नहीं है। 'कुशल' का अर्थ हैं 'कुश काटनेवाला'। संभव है कि कुश काटने के लिए बड़ी चतुरता की आवश्यकता होती थी और इस लिए मूलतः इस शब्द का 'चतुर' के अर्थ में लक्षणा से प्रयोग होना आरंभ हुआ हो। और 'दर्भ काटनेवाला जिस प्रकार चतुर होता है उस प्रकार जो चतुर है' ऐसा बोध इस शब्द से होने लगा हो। किन्तु आगे चलकर वही शब्द चतुर के अर्थ में रूढ़ हो गया।

वास्तविक यही दीखता है कि आज जो लक्षणाएँ रूढ़ कही जाती हैं वे किसी समय प्रयोजनवती थीं। (मराठी में) 'तारांबळ' शब्द इस का अच्छा उदाहरण है। 'ताराबलम्' शब्द का त्वरासे उच्चारण करते हुए किसी ने 'तारांबलम्' उच्चारण किया होगा। प्रारंभ में चिढ़ाने के लिए 'तारांबळ' शब्द का 'बोलने में त्वरा करने' के अर्थ में लोक में प्रयोग होने लगा हो। जबतक यह प्रयोजन नया

था तबतक तारांबळ = तारावलम् का दोषयुक्त उच्चारण एवं त्वरा के ये दो भिन्न किन्तु विशिष्ट घटना से संबन्धित अर्थ ज्ञात होते थे। किन्तु आज हम उस प्रयोजन को भूल चुके हैं और 'तारांबळ' शब्द (अनुचित) त्वरा के अर्थ में रूढ़ हुआ है। 'देवानां प्रिय इति मूर्खे' यह वार्तिक भी इसी बात का द्योतक है कि इस प्रयोग में आरंभ में प्रयोजन था और बाद में रूढ़ि आयी है।

रूढ लक्षणा के इस स्वरूप को देखने से एक बात सहज ही ध्यान में आ जाती है; वह यह कि जब तक इन अर्थों की पृष्ठभूमि में प्रयोजन था तब तक ये अर्थ मुख्यार्थ से भिन्न थे। किन्तु इनका आधारभूत प्रयोजन नष्ट होते ही किसी समय जो लक्ष्यार्थ थे अब उन शब्दों के मुख्यार्थ बन गये हैं। अत एव हेमचन्द्र रूढ लक्षणा को स्वीकार करना नही चाहते। उनका कथन है कि, "कुशल, द्विरेफ, द्विक आदि शब्दों के अर्थ अब साक्षात् संकेत के ही विषय बन गये हैं। इस लिए वे उन शब्दों के मुख्यार्थ ही हैं। और इसी कारण से रूढि लक्ष्यार्थ का हेतु बन ही नहीं सकती (३)। विश्वनाथ भी कुशल आदि शब्दों के संबन्ध में यही कहते हैं; किन्तु वे हेमचन्द्र के समान रूढलक्षणा को वर्जित नहीं करते। 'कलिङ्गः साहसिकः' इस प्रकार वे रूढलक्षणा का उदाहरण देते हैं। माणिक्यचन्द्र रूढलक्षणा को 'भ्रष्टोपचार प्रतीति' कहते हैं किन्तु उनका यह कहना किसी समय सादृश्य पर आधारित परन्तु संप्रति प्रयोजन विरहित बने हुए, और इसीलिए रूढ़ बने हुए लक्षणा के विषय में ही यथार्थ है।

हेमचन्द्र और विश्वनाथ द्वारा मम्मट की की गयी यह आलोचना ठीक ही है। भूतकाल में ये शब्द लक्षणा से भलेही प्रयुक्त होते हों, आज तो उनके वे अर्थ रूढ़ हो गये हैं। इस लिए उनकी पृष्ठभूमि में वृत्ति भी अभिधाही (अभिधा का 'रूढि' नामक भेद) है; न कि लक्षणा। इन उदाहरणों में लक्षणा को मानना ही हो तो केवल व्युत्पत्ति के आधारपर मानना होगा, और ऐसा करने से लावण्य, मण्डप, तैल आदि शब्दों के रूढ़ अर्थों को भी लक्ष्यार्थ ही मानना पड़ेगा। इस से अभिधा के 'रूढि' नामक भेद का क्षेत्र तो नष्ट हो जायगा ही, किन्तु इससे और, लोकव्यवहार की मर्यादा का भग भी होगा। शब्द का अर्थ किस प्रकार का है यह देखने में व्युत्पत्ति की अपेक्षा लोकप्रवृत्ति को मानना ही अधिक श्रेयस्कर है। इस संबन्ध में विश्वनाथ ने कहा है—'अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तम्, अन्यच्चप्रवृत्तिनिमित्तम्।' (४)

३. कुशलद्विरेफद्विकादयस्तु साक्षात्संकेतविषयत्वात् मुख्या एव, इति न रूढिरस्माभिर्हेतुत्वेनोक्ता।— काव्यानुशासन।

४. निरूढलक्षणा और अंग्रेजी की Dead Metaphor में तुलना करना बडा रंजक होगा। दोनों का मूल एक ही है। गौणीसारोपालक्षणा की उपचारप्रतीति नष्ट होने से वह निरूढलक्षणा होती है और Metaphor का आधारभूत प्रयोजन नष्ट होने से वह Dead Metaphor होती है।

लक्षणा सान्तरार्थनिष्ठ व्यापार है

लक्षणा आरोपित क्रिया है। इस विषय में मम्मट कहते हैं—"मुख्येन अमुख्यः अर्थः लक्ष्यते यत् स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा।" अमुख्य अर्थ (लक्ष्यार्थ) मुख्यार्थ के द्वारा लक्षित होता है। इस अर्थ को लक्षित करने वाला व्यापार लक्षणा है। अर्थ यह है कि 'लक्षणावृत्ति' वास्तव में मुख्यार्थ की वृत्ति है; गौणत्व से वह शब्द की मानी गयी है। 'अभिधा' शब्द की साक्षात् वृत्ति है। 'लक्षणा' मुख्यार्थ की साक्षात् वृत्ति है और मुख्यार्थ के प्रसंग से वह शब्द की वृत्ति है। इस प्रकार वाच्यार्थ की यह वृत्ति शब्द पर आरोपित हुई है। (आरोपिता क्रिया)। इस पर प्रदीपकार कहते हैं– "गंगायां घोषः' इस वाक्य में गंगा शब्द से गंगाप्रवाह का अर्थ उपस्थित होता है; और जब देखा जाता है कि यह अर्थ बाधित होता है तब उस प्रवाह से संबद्ध होने के कारण 'तीर' का अर्थ उपस्थित होता है। शब्द→मुख्यार्थ→लक्ष्यार्थ इस प्रकार शब्द का लक्ष्यार्थ से मुख्यार्थ के द्वारा संबन्ध होता है। मुख्यार्थ इस प्रकार मध्यगत है इसलिए लक्षणाव्यापार शब्दपर आरोपित होता है। वास्तव में लक्षणाव्यापार अर्थनिष्ठ ही है (५)।" 'साहित्य कौमुदी' में भी कहा है—"सा लक्षणा नाम क्रिया वृत्तिः **अर्थनिष्ठाऽपि अर्पिता शब्दे।**"

अतएव मम्मट 'आरोपित' का अर्थ 'सान्तरार्थनिष्ठ' करते हैं। शब्द और लक्षणाव्यापार में साक्षात् संबन्ध नही है। वह वाच्यार्थ से व्यवहित है। अतएव नागेश ने सान्तरार्थनिष्ठ' का अर्थ 'साक्षात् अर्थनिष्ठः परम्परया शब्दनिष्ठः।' इस प्रकार किया है। विश्वनाथ ने 'आरोपिता' शब्द के स्थान में 'अर्पिता' शब्द का प्रयोग करते हुए 'स्वाभाविकेतरा ईश्वरानुद्भाविता वा" इस प्रकार उसका अर्थ किया है। इससे अभिधा और लक्षणा में भेद विस्पष्ट हो जाता है। अभिधा शब्द की स्वाभाविक शक्ति है; लक्षणा स्वाभाविक शक्ति नहीं है। यदि यह माना कि अभिधा ईश्वरनिर्मित है तो लक्षणा अपनी इच्छा से निर्मित है। अभिधा निरन्तरार्थ-निष्ठ क्रिया है तो लक्षणा सान्तरार्थनिष्ठ क्रिया है। शब्द का अभिधा से साक्षात् संबंध है। तो लक्षणा का शब्द से परंपरा के द्वारा संबंध बताया गया है। अभिधा की पृष्ठभूमि में प्रयोजन नहीं है; प्रत्युत प्रयोजन के बिना लक्षणा का प्रयोग नहीं हो सकता (रूढ लक्षणा में भी आरंभ में प्रयोजन था ही)। इन सब बातों की ओर ध्यान देने से विस्पष्ट होता है कि लक्षणा मूलतः प्रयोजनवती है।

---

५. गंगादिशब्दानां नीरादिकमुपस्थाय विरामे, नीराद्यर्थेनैव संबंधेन तीराद्यर्थप्रतिपादनात् इत्याह–आरोपिता क्रिया इति [illegible] आरोपित एव स व्यापारः। वस्तुतः अर्थनिष्ठ एव इत्यर्थः।

लक्षणा का उचित प्रयोग और अनुचित प्रयोग

लक्षणा का निमित्त या तो रूढ़ि होना चाहिये या प्रयोजन। रूढ़ि तो लोक-व्यवहार से संबद्ध होती ही है; किन्तु प्रयोजन भी ऐसा ही हो कि श्रोता के ध्यान में सरलता से आ जाए। शबरस्वामी ने कहा है—"लक्षणा हि लौकिकी एव।" लौकिकी का अर्थ है लोकविदित या व्यवहारगम्य। इसलिए लक्षणा प्रयोग करते समय कवि मनचली चाल नही चल सकता। कतिपय लक्षणाएँ पहले ही से रूढ़ हो गयी होती है; और कई अब भी बनायी जा सकती हैं। किन्तु उनमें वृद्ध व्यवहार से या वक्ता के अभिप्राय से अभिधानशक्ति होना आवश्यक है। जहाँ इस प्रकार अभिधान-शक्ति नहीं रह सकती या बड़ी खींचातानी करके लाना पड़ता है वहाँ लक्षणा असंभव हो जाती है (६)। लक्षणा व्यापार के उचित तथा अनुचित प्रयोग कवि किस प्रकार करते है इसके अनेक उदाहरण वामन तथा मुकुलभट्ट ने दिये हैं। उनमें से दो उदाहरण यहाँ हम लें—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति ह हा हा देवि धीरा भव॥

"मेघों ने स्निग्ध एवं श्यामल कान्ति का आकाश को लेपन किया है; बलाका आनन्द से तथा उत्साह से प्रेरित होकर स्वच्छन्द विहार कर रहे हैं (यह समय बलाकाओं के गर्भाधान का होता है।); मन्द वायु की लहरें तुषार ला रही है; तथा मेघों के परम मित्रों का सानन्द केका गान सुनायी दे रहा है। ये सब बातें, जिन्हें सहना विरही जनों को बड़ा कठिन है आज एकत्रित हो गयी हैं। भलेही हो गयी हो। मै राम हूँ-जिसका हृदय अत्यंत कठिन है; मैं इन सब को सह सकता हूँ। किन्तु वैदेही ? उसका क्या होगा ? देवि, तुम्हें भी धीरज बाँधना होगा। "इस पद्य में 'लिप्त', 'सुहृद्' तथा 'राम' शब्द लक्षणा से आये हुए हैं। यह रूढ लक्षणा नहीं है। कवि ने इसी स्थान में उसका प्रयोग किया है। इस लिए उसमें नवीनता एवं सूचकता है। वर्षा ऋतु कामी जनों का प्रिय समय है। बलाका, मयूर आदि सब सृष्टि विलास में मग्न है और ऐसे समय में राम तथा सीता को ही विरह सहना पड़ रहा है। इस घटना में विप्रलम्भ की अभिव्यक्ति हो रही है तथा इसमें प्रत्येक लक्ष्यार्थ इस विप्रलंभ को पुष्ट कर रहा है। अत एव यह उचित लक्षणा है (७)। किन्तु कवि भी कई बार लक्षणा का अनुचित

६. निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते सांप्रतं काश्चित्, काश्चिन्नैव त्वशक्तितः।

७. इस पद्य का रसग्रहण अभिनवगुप्त ने 'लोचन' टीका में किया है। सहृदय अवश्य देखें।

प्रयोग करता है और इससे पाठक विरसता का अनुभव करता है। उदाहरण के लिए माघ कवि का निम्न पद्य देखिये—

मध्येसमुद्रं ककुभः पिशंगीर्या कुर्वती काञ्चनवप्रभासा।
[illegible] भित्वा जलमुल्ललास ।। (माघ ३।३३)

"सुवर्ण के परकोटे की आभा चारों दिशाओं में स्फुरित होने से द्वारका नगरी ऐसी लगती थी कि जैसे समुद्र के जल से ऊपर लिपटी हुई वडवानल की ज्वाला हो।" इसमें कोई संदेह नहीं कि माघ की यह उत्प्रेक्षा बहुत ही सुंदर है। किन्तु 'वडवानल की ज्वाला' का अर्थ कवि '[illegible]' इस शब्द से बता रहा है (८)। लक्षणा का इस प्रकार का प्रयोग लोकव्यवहार के विरुद्ध है। इससे कल्पना अच्छी होने पर भी विरसता का अनुभव होता है। लक्षणा का इस प्रकार प्रयोग करना एक महान् दोष है।

लक्षणा के भेद

आलंकारिकों ने लक्षणा के भेद बता कर उनमें से प्रत्येक का प्रयोजन बताया है। मुकुल, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि पंडितों ने अपने अपने विचार के अनुसार लक्षणा के भेद बताए हैं। यहाँ उनका विवेचन तो नहीं किया जा सकता। किन्तु उनके प्रयोजन का संबन्ध व्यंजनाविचार में आता है इस लिए उनका स्वरूप देखना आवश्यक है। 'काव्यप्रकाश' से स्पष्ट होने वाले लक्षणा भेद इस प्रकार बताये जा सकते हैं—

---

८. तुरंग = वडव – की कांता – वडवा; हव्यवाह = अग्नि अतएव अर्थ – वडवाग्नि।
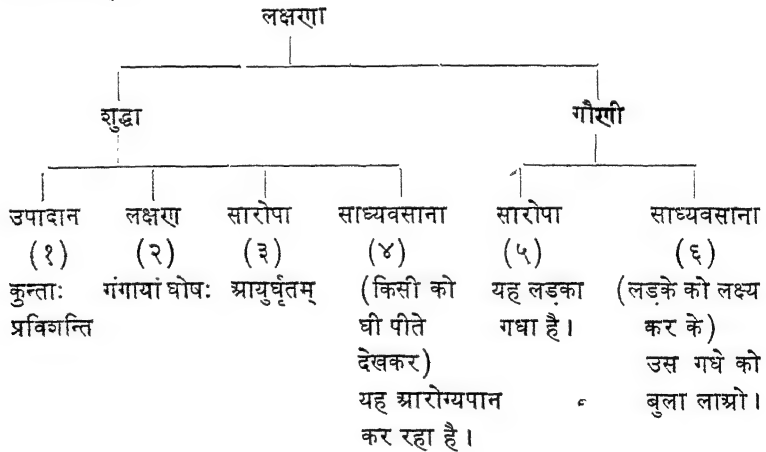
अभिधेयसंबन्ध, सादृश्य, समवाय, वैपरीत्य तथा क्रियायोग इस प्रकार तद्योग के पाँच भेद पूर्व बताये गये हैं उनके हम दो भाग करें (१) सादृश्य संबन्ध पर आधारित लक्षणा-यह गौणी लक्षणा है; (२) अन्य चार संबन्धों पर आधारित लक्षणा—यह शुद्धा लक्षणा है। मम्मट का कहना है कि गौणी लक्षणा उपचारमिश्र होती है। उपचार शब्द से यहाँ दो भिन्न पदार्थों में अभिन्नता अपेक्षित है जो सादृश्यसंबन्धपर आधारित है (९)। उपचार शब्द का यह सीमित अर्थ है। व्यापक अर्थ में उपचार शब्द लक्षणा का ही वाचक है (१०)। सादृश्योपचार के दो भेद देखे जाते हैं—आरोप और अध्यवसान। इन भेदों के अनुसार लक्षणा के दो भेद होते हैं—'सारोपा गौणी लक्षणा' और 'साध्यवसाना गौणी लक्षणा'। रूपक में मूलतः गौणी सारोपा लक्षणा होती है और अतिशयोक्ति का मूल गौणी साध्यवसाना लक्षणा है। सादृश्य के अतिरिक्त, उपचार के अन्य भेदों में भी आरोप और अध्यवसान देखे जाते हैं। उदाहरणस्वरूप—

अविरलकमलविकासः सकलालिमदश्च कोकिलानन्दः।
रम्योऽयमेति संप्रति लोकोत्कण्ठाकरः कालः।

"यह रमणीय समय (वसन्त) जो कि कमल का मानो विकास है, भ्रमरों का मद है तथा कोकिल का आनंद है सारे जगत् को उत्कण्ठित करता हुआ आ रहा है।" वसंत कमल-विकास का हेतु है; कमल-विकास वसंत का कार्य है; किन्तु यहाँ हेतुपर ही कार्य का उपचार किया गया है एवं वसंत को ही कमलविकास कहा है। यह शुद्धा साध्यवसानमूला लक्षणा है। यह लक्षणा 'हेतु' अलकार का मूल है। 'आयुर्घृतम्' आदि में, या भगवान् श्रीकृष्ण के वर्णन के संबन्ध में 'मल्लानामशनिर्नृणां नृपवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्' आदि भागवतवचन में भी सादृश्येतर संबन्ध पर आधारित उपचार ही है। यह शुद्ध सारोपा लक्षणा है। यह लक्षणा कार्यकारणमूला अतिशयोक्ति का मूल है। उपादान लक्षणा में शब्द का लक्ष्यार्थ मुख्यार्थ से अपेक्षाकृत अधिक समावेशक होता है। "कुन्ताः (कुन्त-भाला) प्रविशन्ति" कुन्त का भाला यह मुख्यार्थ व्यापक हुआ है और उससे कुन्तधारी पुरुष का बोध होता है। इसीको मम्मट 'स्वसिद्धये पराक्षेपः' कहते हैं। लक्षणलक्षणा में मुख्यार्थ का त्याग होता है एवं अन्य अर्थ उससे मिल जाता है। उदाहरण के लिए—

रविसंक्रान्तसौभाग्यः तुषारावृतमण्डलः।
निश्वासान्ध इवादर्शः चन्द्रमा न प्रकाशते॥

---

९. उपचारो नाम अत्यन्त विशकलितयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्।
—विश्वनाथ

१०. उपचारो गुणवृत्तिर्लक्षणा – अभिनवगुप्त, अतच्छब्दस्य तच्छब्देनाभिधानमुपचारः।
—न्यायवार्तिक

रामायण के इस पद्य में आदर्श = दर्पण को ' निश्वासान्ध—निश्वास से अन्ध हुआ कहा है। अन्ध शब्द का मुख्यार्थ 'नष्टदृष्टि' है। परन्तु इस अर्थ का त्याग करके यहाँ 'पदार्थों को स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित न करने वाला' इस प्रकार अर्थ लेना पड़ता है। इसीको मम्मट 'परार्थे स्वसमर्पणम्' कहते हैं। उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा, ध्वनि के क्रमशः 'अर्थान्तरसंक्रमित' तथा 'अत्यन्ततिरस्कृत' भेदों के मूल हैं। पूर्व कथित पाँच भेदों से युक्त तद्योगसंबन्ध के मुख्यार्थ पर क्या प्रभाव होते हैं यह मुकुलभट्ट ने समुच्चय से इस प्रकार बताया है—

सादृश्ये वैपरीत्ये च वाच्यस्याततिरस्क्रिया।
विवक्षा चाविवक्षा च संबंधसमवाययोः ॥
उपादाने विविक्षाथ लक्षणे त्ववविक्षणम्।
तिरस्क्रिया क्रियायोगे क्वचित् तद्विपरीतता ॥

सादृश्य तथा वैपरीत्यपर आधारित लक्षणा में वाच्यार्थ तिरस्कृत होता है। संवन्ध तथा समवाय में वाच्यार्थ की विवक्षा या अविवक्षा भी हो सकती है। उपादान लक्षणा में उसकी विवक्षा और लक्षणलक्षणा में उसकी अविवक्षा होती है। क्रियायोग में वाच्यार्थ तिरस्कृत तो होता ही है, और कभी कभी विपरीतार्थ भी लेना आवश्यक हो जाता है।

वाक्यार्थवाद और लक्षणा

नवें अध्याय में वाक्यार्थवादों का कुछ परिचय दिया गया है। वाक्यार्थवादों की दृष्टि से लक्षणा का स्थान कहाँ और किस प्रकार है यह अब देखें। अभिहितान्वयवाद के अनुसार लक्षणा का क्षेत्र वाच्यार्थ के बाद आरंभ होता है। पदों का अर्थ ज्ञात होने के बाद जब देखा जाता है कि आकांक्षा योग्यता आदि के द्वारा उन पदों में ठीक अन्वय सिद्ध नहीं होता तब हम लक्षणा का आश्रय करते हैं। परन्तु अन्विताभिधानवादियों के मन्तव्य के अनुसार वाक्यार्थ के पहले ही लक्षणा आती है। उनकी दृष्टि से अन्वित शब्दों में ही वाच्यत्व होने के कारण वाक्य में शब्दों का प्रयोग लक्ष्यार्थ के सहित ही किया जाता है। समुच्चय पक्ष के अनुसार पदों की अपेक्षा से वाक्योत्तर एवं वाक्य की अपेक्षा से वाच्यपूर्व लक्षणा प्रवृत्त होती है। अखण्डार्थवादियों के मत के अनुसार वास्तव में लक्षणा नाम की कोई चीज़ ही नहीं है। किन्तु जब वे पदपदार्थ विभाग की कल्पना करते हैं तब उनको लक्षणा की भी कल्पना करना आवश्यक हो जाता है (११)। प्रयोजनवती लक्षणा का क्षेत्र अभिहितान्वयवादियों के कथन

---

११. अन्वयेऽभिहितानां सा वाच्यत्वादूर्ध्वमिष्यते।
अन्वितानां तु वाच्यत्वे वाच्यत्वस्य पुरः स्थिता ॥
द्वये द्वयमखण्डे तु वाक्यार्थपरमार्थतः।
नास्त्यसौ कल्पितेऽर्थे तु पूर्ववत् प्रविभज्यते ॥— अभिधावृत्तिमातृका

से कुछ मिलता है। अन्विताभिधानवादियों के अनुसार केवल निरूढ लक्षणा की सत्ता हो सकती है; प्रयोजनवती लक्षणा का होना असंभव है। विवेचक तथा समन्वय-मूलक इस प्रकार दोनों दृष्टियों से, उभयवादी लक्षणा का विचार करते है। अखण्डार्थ-वादी लक्षणा को अपोद्धारबुद्धि के समय ही मानते हैं। वाक्यार्थवादियों के इन भिन्न मतों को देखने से तात्पर्य माननेवाले अन्विताभिधानवादियों के कितने निकट आलंकारिक आ पहुँचते हैं यह स्पष्ट होगा। तात्पर्यवादियों की लक्षणा प्रयोजनवती है; प्रत्युत अन्विताभिधानवादियों की लक्षणा निरूढ है। आलंकारिकों का लक्षण विवेचन प्रयोजनवती लक्षणा का विवेचन है; निरूढ लक्षणा का नहीं। इस बात पर ध्यान देने से आलंकारिक अभिहितान्वयवादियों के सम्बन्ध में आदर रखते हैं यह स्पष्ट होगा। इसका अर्थ यह नहीं कि अभिहितान्वयवादियों का सभी कथन उन्हें स्वीकार है। किन्तु मीमांसकों में से अभिहितान्वयवादी उन्हें अवश्यही निकटवर्ती हैं। साहित्यशास्त्र के इतिहास में ध्वनिवादियों के विरोध में तात्पर्यवाद पर बल देने वाले आलंकारिकों का भी एक वर्ग था इसका भी यहाँ अनुसन्धान रखना आवश्यक है।

वेदान्ती तथा स्फोटवादी वैयाकरण दोनों अखंडार्थवादी है। लक्षणा को न मानते हुए भी वे काव्यगत शब्दव्यापार की उपपत्ति बताते हैं। नागेशभट्ट ने यह उपपत्ति इस प्रकार बतायी है—" महाभाष्य में वचन है— 'सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थवाचका.।' इस वचन की दृष्टि से देखा जायँ तो लक्षणा मानने की कोई आवश्यकता नहीं होती। इसके अतिरिक्त लक्षणा का स्वीकार करने में और भी कई दोष उत्पन्न होते है। यदि दो वृत्तियों को मान लिया तो उनमें भेद दर्शाने वाले दो अवच्छेदक भी मानना पड़ता ही है। इसमे गौरव दोष आ जाता है। और, दोनों वृत्तियों से जब इष्टार्थबोध हो रहा है तब एक वृत्ति को प्रधान मान कर दूसरी वृत्ति गौण बताना न्यायसंगत नहीं है। अतएव लक्षणा का स्वीकार करने की कोई आवश्यकता ही नहीं। इस पर प्रश्न उठता है कि फिर 'गंगायां घोष:' आदि वाक्य में 'गंगा' पद से 'तीर' का अर्थ कैसे प्रतीत होता है ? इस प्रश्न पर भाष्य का उत्तर है — " सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थ-वाचका:।" वास्तव में शब्द की अर्थबोधक शक्ति के दो भेद दिखायी देते हैं। एक है प्रसिद्ध शक्ति और दूसरी है अप्रसिद्ध शक्ति। जिसके द्वारा शब्द से बाल और मूढ को लेकर सभी को अर्थबोध होता है, वह है शब्द की प्रसिद्ध शक्ति; और जिसके द्वारा शब्द से केवल सहृदय को ही अर्थ का बोध होता है वह है शब्द की अप्रसिद्ध शक्ति। गंगा शब्द से प्रवाह का बोध तो सभी को होता है। यहाँ गंगा शब्द की प्रसिद्ध शक्ति कार्य करती है और गंगा शब्द से, विशिष्ट प्रसंग में सहृदयों को 'तीर' का बोध

होता है तब गंगा शब्द की अप्रसिद्ध शक्ति प्रवृत्त होती है, ऐसा मानने से किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं होती (१२)।"

नागेशभट्ट की इस विवेचना से एक बात स्पष्ट हो जाती है। उनकी प्रसिद्ध शक्ति है अभिधा और अप्रसिद्धशक्ति है व्यंजना। लक्षणाभेदों में से निरूढ लक्षणा में प्रसिद्ध शक्ति ही है, इस लिए वह तो अभिधा के ही अन्तर्गत हो जाती है। प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन व्यंग्य होता है और वह केवल सहृदयहृदयग्राह्य होता है। अत एव प्रयोजनवती लक्षणा व्यंजना में अन्तर्भूत होती है। इससे लक्षणा का स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष स्थान ही नहीं रहता।

किन्तु इससे यह मानना उचित नहीं होगा कि लक्षणा विवेचन को शब्दबोध में या साहित्यशास्त्र में कोई महत्त्व ही नहीं रहता। साहित्यचर्चा के विकास में लक्षणा का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। लक्षणा वक्रोक्ति का मूल है इस बात को सर्वप्रथम उद्भट ने जाना और बताया कि काव्य में अमुख्य वृत्ति का ही प्रयोग होता है। समूचा अलंकार वर्ग लक्षणा या विलास है। ध्वनिकार का मत प्रसृत होने से पहले सम्पूर्ण काव्यतत्त्व का विवेचन लक्षणा कोटि में ही होता था। इतना ही केवल नही, साहित्य के पंडितों का एक वर्ग ऐसा भी था जो कि ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में करता था। यह तो ठीक है कि काव्य का पर्यवसान व्यंग्य ही है, किन्तु व्यंग्यरूप प्रयोजन स्पष्ट रूप से आकलन होने के लिए लक्षणास्वरूप का ज्ञान आवश्यक है। इसके बिना काव्यगत अलंकारों का रसोपकारित्व समझना असंभव है। 'व्यंग्य' लक्षणा का फल है; लक्षणा कतिपय व्यंग्य भेदों का साधन है। काव्यगत शब्दबंध की तुलना यदि सूक्ष्मदर्शक यंत्र से की गयी तो यह कहना उचित होगा कि, उस यंत्र में देखना ही व्यंग्यार्थ को देखना है, और उस यंत्र की रचना को देखना ही लक्ष्यार्थ का विवेचन है।

लक्षणा का आधारभूत प्रयोजन व्यंग्य होता है

साहित्यशास्त्र में जो लक्षणाविवेचन पाया जाता है वह प्रयोजनवती लक्षणा का है; निरूढ लक्षणा का नहीं। लक्षणा का प्रयोजन किस प्रकार का होता है? मम्मट का कथन है कि लक्षणा का प्रयोजन व्यंग्य अर्थात् ध्वनि है। लक्षणा की पृष्ठभूमि

---

१२. 'सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थवाचकाः'—इति भाष्यात् लक्षणाया अभावात्। वृत्तिद्वयावच्छेदकद्वयकल्पने गौरवात्। जघन्यवृत्तिकल्पनाया अन्याय्यत्वाच्च। कथं तर्हि गंगादिपदात् तीरप्रत्ययः। भ्रान्तोऽसि। "सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थवाचकाः" इति भाष्यमेव गृहाणो तथाहि—शक्तिर्द्विविधा प्रसिद्धा, अप्रसिद्धा च। आमंदबुद्धिवेद्यात्वं प्रसिद्धात्वम्, सहृदयहृदयमात्रवेद्यात्वमप्रसिद्धात्वम्। तत्र गंगादिपदानां प्रवाहादौ प्रसिद्धा शक्तिः तीरादौ च अप्रसिद्धा इति किमनुपपन्नम्?— परमलघुमंजूषा पृ. १९

में व्यंग्य न हो अर्थात् उसका आधारभूत प्रयोजन नष्ट हुआ हो, तो वह निरूढ लक्षणा होती है और अभिधा के क्षेत्र में जाती है। प्रयोजनवती लक्षणा व्यंग्यसहित ही होती है (व्यंग्येन रहिता रूढौ, सहिता तु प्रयोजने। का. प्र.)। लक्षणा का यह आधारभूत प्रयोजन गूढ अर्थात् सहृदयहृदयग्राह्य हो सकता है या अगूढ अर्थात् ऐसा भी हो सकता है कि वह किसीके भी ध्यान में आसानी से आ सकें (तच्च गूढमगूढं वा)। अतएव प्रयोजन कि दृष्टि से लक्षणा का विभाग इस प्रकार हो सकता है—
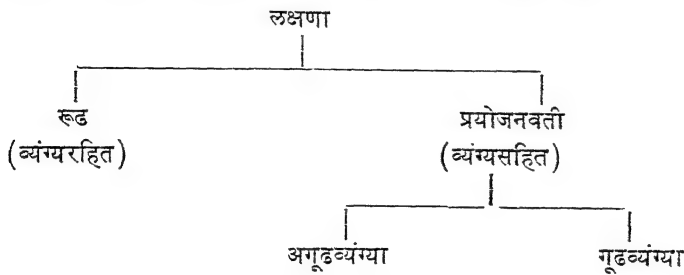
लक्षणा के आधारभूत प्रयोजन का अर्थात् व्यंग्य का गूढत्व और अगूढत्व मम्मट ने निम्न उदाहरणों से विशद किया है—

> श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम् ।
> उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ।।

"सम्पत्ति का परिचय हो तो जडबुद्धि भी विदग्धचरित का अनुकरण कर सकते हैं। यौवन का मद ही तो कामिनी स्त्रियों को विलास की शिक्षा देता है।"—यहाँ 'उपदिशति' (शिक्षा देता है)— शब्द का लक्ष्यार्थ में प्रयोग है। यौवन के उदय होते ही कामिनी स्त्रियों में विलास आप ही आप जाते हैं; उनके लिए किसी खास परिश्रम की आवश्यकता नहीं होती, यह है इस लक्षणा में आधारभूत व्यंग्य। वाच्यार्थ पाठक के लिए जितना स्पष्ट होता है उतना ही यह व्यंग्य ही स्पष्ट है। यह अगूढ व्यंग्य है। गूढ व्यंग्य का उदाहरण इस प्रकार है—

> मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिमं प्रेक्षितं
> [illegible] मतिः ।
> उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं
> बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते ।।

"मुख पर स्मित विकसित हुआ है, दृष्टि ने वक्रता पर प्रभुत्व पाया है; गति में विलास छलक रहे हैं; चित्त ने स्थिरता का त्याग किया है; वक्षःस्थल पर स्तन मुकुलित हो रहे हैं; अवयवों की पुष्टि से जघन रतियोग्य हुआ है। आः ! इस चन्द्र-

मुखी के शरीर में यौवन की तो आनन्दक्रीडा ही चल रही है।" इस पद्य में विकसित, वशित, समुच्छलित, अपास्त, मुकुलित, उद्धुर, उद्गम तथा मोदते यह शब्द लक्ष्यार्थ में प्रयुक्त हैं एवम् उनका आधारभूत प्रयोजन व्यंग्य है और केवल सहृदयहृदयग्राह्य है अतएव वह गूढ व्यंग्य है (१३)। यदि सहृदय की बुद्धि काव्यवासना से परिपक्व

१३. इस पद्य में लक्षक शब्दों का आधारभूत प्रयोजन (व्यंग्य) इस प्रकार बताया जा सकता है :

लाक्षणिक शब्द	मुख्यार्थ वाध	लक्ष्यार्थ	मुख्यार्थ योग	व्यंग्य प्रयोजन
१. विकसित	यह पुष्पधर्म होने से स्मित के विषय में वाध	प्रसृत	कार्यकारणभाव, विकास प्रसरण का कारण है।	सौरभ, सुगन्ध। हास्य के कारण सुंगध फैलती है।
२. वशित	वशीकरण चेतनधर्म है इस लिए दृष्टि के संवन्ध में वाध	स्वाधीन	कार्यकारणभाव, [illegible], का कारण है।	युक्तानुराग;
३. समुच्छलित	'ऊर्ध्वगमन' मूर्तधर्म है, अत एव अमूर्त विभ्रम में वाध	प्रादुर्भूत	कार्यकारणभाव। समुच्चलन प्रादुर्भाव का कारण है।	वाहुल्य तथा सहजता विभ्रम अंगभूत हैं।
४. अपास्त	अपासन = त्याग, इस चेतन धर्म का माति के संवन्ध में वाध	दूरीभवन	हेतुहेतुमद्भाव। अपासन दूरीभवन का हेतु है।	अधीरता; अनुराग-मूलक उत्सुकता।
५. मुकुलित	पुष्पधर्म है अत एव स्तनों के संवन्ध में वाध	उन्नत, कठिन	साधर्म्यसंवन्ध. कली और स्तन में उन्नतता तथा कठिन्य का साम्य	आलिंगनयोग्यता।
६. उद्धुर	धुरा उठाने के चेतनधर्म का जघन के सम्वन्ध में वाध	सिद्ध	साधर्म्यसंवन्ध। दोनों में भारवाहकता की समानता	रतियोग्यता।
७. उद्गम	यह मूर्तधर्म है, अत एव अमूर्त यौवन के संवन्ध में वाध	प्रादुर्भाव	कार्यकारणभाव। उद्गम प्रादुर्भाव का हेतु।	आकर्षकता; सहज सौंदर्य; कृत्रिम नहीं।
८. मोदते	'आनन्द' इस चेतनधर्म का यौवनोद्गम के संवन्ध में वाध	परमोत्कर्ष	जन्यजनकसंवन्ध। आनन्द और उत्कर्ष में जन्यजनक भाव है।	स्पृहणीयत्व वाक्य में अभिलाषा का सूचन।

(शेष अगले पृष्ठपर)

हुई है तो यह व्यंग्य प्रयोजन ध्यान में आ सकता है । पूर्वपद्यगत 'उपदिशति' के समान वह स्पष्ट नहीं है ।

लक्षणा के प्रयोजन का उपर्युक्त गूढव्यंग्य तथा अगूढव्यंग्य में विभाग देखने से एक बात स्पष्ट हो जाती है। दोनों पद्यों में व्यंग्य है। किन्तु जिस पद्य में गूढव्यंग्य है वहाँ पद्य का सौंदर्य अर्थात् चमत्कार प्रधानतया व्यंग्य में है। इस पद्य में सौंदर्य की दृष्टि से वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्य का ही प्राधान्य होने के कारण यह ध्वनि काव्य का उदाहरण है। अगूढव्यंग्य के उदाहरण में व्यंग्य भी वाच्यार्थ के समान स्पष्ट होने के कारण काव्य का सौंदर्य प्रधान तथा व्यंग्यार्थ में नहीं है। अतएव यह गुणीभूत व्यंग्य काव्य का उदाहरण है। काव्य का उत्तम भेद गूढव्यंग्य है। क्योंकि उसमें चमत्कार व्यंग्यगत है। अगूढव्यंग्य मध्यम काव्य है। मम्मट 'काव्य प्रकाश' में कहते हैं—"कामिनीकुचकलशवत् गूढं चमत्करोति; अगूढं तु स्फुटतया वाच्यायमानम् इति गुणीभूतम् एव ।" यहाँ एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है। काव्य में गूढता तो चाहिये किन्तु अतिमात्र गूढता नहीं होनी चाहिये । गूढता से सहृदय का आकर्षण तो बना रहना चाहिये । आकर्षण ही यदि नष्ट हो गया तो चमत्कृति भी नष्ट हो जायगी । इस संबन्ध में निम्न पद्य प्रसिद्ध है—

नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो
नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः ।।
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित्
सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः ।।

लक्ष्यार्थ एवं लक्षणा का स्वरूप इस प्रकार का है। लक्ष्यार्थ एवं लक्षणाव्यापार काव्य में जिस शब्द के आश्रय से रहते हैं वह है लाक्षणिक शब्द । काव्य में लक्षणा की पृष्ठभूमि में प्रयोजन रहता ही है । यह प्रयोजन जिस व्यापार के द्वारा ज्ञात होता है वह है व्यंजनाव्यापार । प्रयोजनवती लक्षणा का आधारभूत यह व्यंजनाव्यापार भी उस लाक्षणिक शब्द में ही स्थित रहता है (तद्भूर्लाक्षणिकः, तत्र व्यापारो व्यंजनात्मकः । काव्यप्रकाश) । वह किस प्रकार स्थित होता है तथा उसका स्वरूप क्या है यह हम अगले अध्याय में देखेंगे ।

(गत पृष्ठ से)

प्रदीपकार ने भी गूढ व्यंग्य का सुंदर उदाहरण दिया है—
चकोरीपाण्डित्यं मलिनयति दृग्भङ्गिमहिमा
हिमांशोरद्वैतं कवलयति वक्त्रं मृगदृशः ।
तनोर्वैदग्ध्यानि स्थगयति कचः, किं च वदनं
कुहूकण्ठीकण्ठध्वनिमधुरिमाणं तिरयति ।
यहाँ मलिनयति, कवलयति, स्थगयति तथा तिरयति शब्द लक्ष्यार्थ में प्रयुक्त हैं ।

अध्याय बारहवाँ
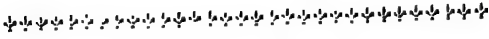
शब्दबोध : व्यंजनाव्यापार

लक्षणामूल ध्वनि

पूर्व बताया जा चुका है कि लक्षणा का आधारभूत प्रयोजन व्यंजनाव्यापार से ज्ञात होता है। इसकी सिद्धि के लिए मम्मट कहते हैं—

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया ।।

लक्षणा के आधारभूत प्रयोजन की प्रतीति लाक्षणिक शब्द से ही होती है। अभिधा के द्वारा मुख्यार्थ की प्रतीति होती है; लक्षणा से लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है; फिर इस प्रयोजन की प्रतीति किस व्यापार के द्वारा होती है? मम्मट का कथन है कि यह प्रयोजनप्रतीति व्यंजनाव्यापार से होती है। व्यंजना के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यापार से यह प्रतीति नहीं होती। इस बात को स्पष्ट करने के लिए आलंकारिक नित्यपरिचित 'गंगायां घोषः' यही उदाहरण लेते हैं। गंगा शब्द का गंगाप्रवाह मुख्य अर्थ है। प्रवाह में 'घोष' का होना असंभव है। इस लिए इस वाक्य में मुख्यार्थ बाधित हो जाता है। अतएव यहाँ गंगा शब्द का, सामीप्यसंबन्ध से 'गंगातट' अर्थ लेना पड़ता है। यह है गंगा शब्द का लक्ष्यार्थ। अब प्रश्न यह उठता है कि 'गंगातटे घोषः' इस प्रकार सरलता से व्यवहार न करते हुए वक्ता 'गंगायां घोषः' ऐसा क्यों कहता है? इसमें उसका कुछ प्रयोजन अवश्य होगा; और है भी। यहाँ वक्ता का प्रयोजन यह है कि मेरे भाषण से वह घोष शीतल है, वहाँ का वायुमण्डल पवित्र है आदि प्रतीति श्रोता को हो। इस प्रयोजन को व्यक्त करने के लिए ही वक्ता गंगा शब्द का तट के अर्थ में प्रयोग करता है। वक्ता की अपेक्षा के अनुकूल श्रोता को वह प्रतीति होती भी है। यह प्रतीति 'गंगातटे घोषः' कहने से नहीं होती। यह गंगा = गंगा प्रवाह का अर्थ

अभिधा से ज्ञात हुआ है; गंगा = गंगातट का अर्थ लक्षरणा से ज्ञात हुआ है तथा शीतत्व, पावनत्व आदि धर्मों का प्रत्यय गंगा शब्द से ही व्यंजनाव्यापार के द्वारा हुआ है। यह है लक्षरणामूल व्यंजना।

किन्तु प्रश्न उठता है कि यहाँ व्यंजना का एक अतिरिक्त व्यापार क्यों मानना पड़ता है? इस पर मम्मट का उत्तर है कि इससे दूसरी कोई गति ही नहीं है। पावनत्वादि धर्मों की प्रतीति अभिधा से या लक्षरणा से नहीं हो सकती। और यह तो सत्य है कि वह प्रतीति होती है। अतएव इस प्रतीति की उपपत्ति के लिए एक अन्य व्यापार मानना पड़ता है। मम्मट कहते हैं—

> नाभिधा समयाभावात् हेत्वभावान्न लक्षरणा
> लक्ष्यं न मुख्यं, नाप्यत्र बाधो, योगः फलेन नो ।।
> न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः
> एवमप्यनवस्था स्यात्, या मूलक्षयकारिरणी ।।

'गंगायां घोषः' इस वाक्य से होनेवाली पावनत्वादि धर्मों की प्रतीति अभिधा के द्वारा नहीं हो सकती; क्योंकि 'गंगा' शब्द का संकेत 'प्रवाह' से है; न कि पावनत्वादि धर्मों से। यह प्रतीति लक्षरणा से भी नहीं होती, क्योंकि लक्षरणा के लिए आवश्यक निमित्त में से एक भी निमित्त यहाँ उपस्थित नहीं है। इस वाक्य में (१) गंगा प्रवाह, (२) गंगातट, तथा (३) पावनत्वादि इन तीनों अर्थों से गंगा शब्द का संबन्ध है। इनमें से 'गंगा प्रवाह' का मुख्यार्थ यहाँ उपपन्न नहीं होता, इस लिए 'गंगातट' का लक्ष्यार्थ हम लेते हैं। इस लक्ष्यार्थ को लेने के लिए आवश्यक तीन निमित्त भी यहाँ हैं। 'गंगाप्रवाह' का मुख्यार्थ यहाँ बाधित हो गया है; मुख्यार्थ 'प्रवाह' एवं लक्ष्यार्थ 'तट' इन दोनों में सामीप्य संबन्ध है; एवं 'पावनत्व की प्रतीति देना' यह प्रयोजन भी है। अतएव गंगा = गंगातट का लक्ष्यार्थ यहाँ उपपन्न होता है।

प्रयोजन द्वितीय लक्षरणा से ज्ञात नहीं होता

किन्तु यह कहना ठीक नहीं कि गंगा शब्द से प्रतीत होनेवाला पावनत्वादि धर्म भी लक्षरणा से ही प्रतीत होता है; क्योंकि इस लक्षरणा के लिए निमित्त नहीं है। 'गंगा' शब्द का 'गंगातट' अर्थ प्रतीत होने पर ही पावनत्व आदि की प्रतीति होगी। यदि ऐसा मानना हो कि पावनत्व धर्म लक्षरणा से प्रतीत होता है तो यह भी मानना पड़ेगा कि गंगा—गंगातट यह मुख्यार्थ है। किन्तु वह तो लक्ष्यार्थ है; और लक्ष्यार्थ को मुख्यार्थ नहीं माना जा सकता। (लक्ष्यं न मुख्यम्)। अच्छा, यह मान भी लिया कि वह मुख्यार्थ है, तो उसीसे वाक्यार्थ उपपन्न होने से, उस (माने हुए) मुख्यार्थ का बाध नहीं होता; तब लक्षरणा का सहारा लेने का कोई कारण ही नहीं रहता। इस प्रकार लक्षरणा

का पहला निमित्त–मुख्यार्थबाध–यहाँ नहीं है (नाप्यत्र बाधः) । गंगातट यह (माना हुआ) मुख्यार्थ तथा पावनत्व इन दोनों में संबन्ध नहीं है । पावनत्व धर्म गंगा से संबद्ध है, तट से संबद्ध नही है । अतएव लक्षणा का दूसरा निमित्त 'तद्योग' भी यहाँ नहीं है (योगः फलेन नो) । इसके अतिरिक्त, पावनत्व धर्म को लक्ष्यार्थ मानने के लिए प्रयोजन भी नहीं है; क्योंकि पावनत्वादि प्रतीति स्वयं प्रयोजन रूप है (न प्रयोजनमेतस्मिन्) । यदि ऐसा कहना हो कि यह प्रयोजन भी लक्षित ही है, तो इसके लिए दूसरे प्रयोजन की कल्पना करनी होगी; और इस प्रकार यदि परम्परा निकली तो एक प्रयोजन के लिए दूसरा, दूसरे के लिए तीसरा, तीसरे के लिए चौथा इस प्रकार प्रयोजनों की कल्पना करते रहेंगे और अनवस्था होकर मूल उद्दिष्ट नष्ट हो जायगा । (एवमप्यनवस्था स्यात् या मूलक्षयकारिणी) । अतएव, लक्षणा के लिए आवश्यक तीसरा निमित्त–प्रयोजन– यहाँ न होने से पावनत्व धर्म लक्षणा से प्रतीत होता है ऐसा नही माना जा सकता ।

अच्छा, यह भी नहीं कि गंगा शब्द से पावनत्वधर्म की प्रतीति नहीं होती (न च शब्दः स्खलद्गतिः) । यह प्रतीति होती है और गंगा शब्द से ही होती है । यदि यह प्रतीति है और यदि यह अभिधाव्यापार या लक्षणाव्यापार का विषय नहीं होती तो इस प्रतीति की उपपत्ति के लिए, विवश होकर एक भिन्न और स्वतन्त्र व्यापार मानना पड़ेगा । यह स्वतंत्र व्यापार ही व्यंजनाव्यापार है । अतएव, लक्षणा के आधारभूत प्रयोजन की प्रतीति व्यंजनाव्यापार से होती है तथा यह प्रतीति 'गंगा' इस लाक्षणिक शब्द से ही होती है इस लिए यह व्यंजनाव्यापार लाक्षणिक शब्द में ही स्थित है यह तो मानना ही पड़ेगा; अन्य कोई गति ही नहीं है ।

जो लोग कहते हैं कि लक्षणा का प्रयोजन भी लक्षित ही होता है उन्हें दो लक्षणाओं का स्वीकार करना पड़ता है । गंगा = गंगातट का अर्थ बताने वाली पहली लक्षणा एवं प्रयोजन का बोध करानेवाली दूसरी लक्षणा । इनमें से पहली लक्षणा उपपन्न होती है, किन्तु दूसरी लक्षणा उपपन्न नही होती । मम्मटकृत उपर्युक्त खंडन द्वितीय-लक्षणावादियों का खंडन है ।

विशिष्ट लक्षणा भी संभव नहीं है

परन्तु लक्षणावादियों का दूसरा भी एक पक्ष है । उन्हें विशिष्ट लक्षणावादी कहा जाता है । उनकी मान्यता है कि लक्षणा के आधारभूत प्रयोजन की प्रतीति विशिष्ट लक्षणा ही के द्वारा आ जाती है । इससे स्वतन्त्र व्यंजनाव्यापार मानने की कोई आवश्यकता नहीं रहती । अर्थात् 'गंगायां घोषः' इस वाक्य में 'गंगा' शब्द का अर्थ केवल 'गंगातट' न करते हुए, 'पावनत्वादिविशिष्ट तट' इस प्रकार करने से

प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ।

विशिष्ट लक्षणावादियों का कहना है कि 'गंगा' शब्द का लाक्षणिक अर्थ 'पावनत्वादिविशिष्ट तट' इस प्रकार लेना चाहिये। यहाँ लक्षणीय है तट और प्रयोजन है पावनत्व आदि। लक्षणा का कार्य है प्रयोजन (पावनत्वादि) विशिष्ट लक्षणीय (तट) का बोध। अर्थात् यहाँ पावनत्व तथा तट ये दोनों अर्थ एक ही लक्षणाव्यापार के लक्षगीन हुए। यहाँ प्रश्न उठता है कि इस विशिष्ट लक्षणा का आधारभूत प्रयोजन क्या है? प्रथम पक्ष के लक्षणावादियों की दृष्टि से कहा जा सकता है कि 'तट' लक्ष्यार्थ है और पावनत्वादिप्रतीति लक्षणा का प्रयोजन है। किन्तु विशिष्ट लक्षणावादी तो प्रयोजन का अन्तर्भाव लक्ष्यार्थ ही में करता है। तब विशिष्ट लक्षणा का प्रयोजन पावनत्वादि है ऐसा वह नहीं कह सकता। उसको चाहिये कि वह एक अलग प्रयोजन बतावें। विशिष्टलक्षणावादी का इस पर कहना है कि 'गंगायां घोषः' इस वाक्य के द्वारा, 'गंगायास्तटे घोषः' इस वाक्य से अधिक अर्थ की प्रतीति होना यही इस लक्षणा का आधारभूत प्रयोजन है। मम्मट इस पर इस प्रकार आपत्ति उठाते हैं—"आपका यह कहना ज्ञान की प्रक्रिया के विरोध में है। 'प्रयोजनसहित लक्षणीय' यह लक्षणा का विषय नहीं हो सकता; क्योंकि यह ज्ञान की प्रक्रिया के अनुकूल नहीं होता। ज्ञान का विषय तथा ज्ञान का फल भिन्न भिन्न होते हैं।"

मीमांसकों की ज्ञानप्रक्रिया

मम्मट का मत ठीक तरह से समझने के लिए हमें मीमांसकों के मत में ज्ञान की प्रक्रिया क्या है यह समझ लेना आवश्यक है। मान लीजिये हम एक नीलकमल देख रहे हैं। यह नीलकमल हमारे ज्ञान का विषय है। हमें नीलकमल का जो प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है इस ज्ञान का फल क्या है? अर्थात् हमारे इस प्रकार देखने से उस नीलकमल पर या हम पर क्या प्रभाव हुआ है? इस पर मीमांसकों का उत्तर द्विविध है। एक उत्तर इस प्रकार है—नीलकमल को जब हम देखते हैं तब हमें जो प्रत्यय आता है वह 'मया ज्ञातम् इदम् नीलकमलम्' इस प्रकार का होता है। हमारे इस प्रत्यय के कारण हमने देखे हुए नीलकमल में तथा अन्य (न देखे हुए) नीलकमलों में निम्न भेद होता है। यह नीलकमल ज्ञात अथवा प्रकट है; अन्य नीलकमल इस प्रकार ज्ञात अथवा प्रकट नही है। अर्थात्, हमने देखे हुए नीलकमल में 'ज्ञातता' अथवा 'प्रकटता' का विषयनिष्ठ धर्म हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण उत्पन्न हुआ है। इसका अर्थ यह होता है कि 'ज्ञातता' अथवा 'प्रकटता' उस ज्ञान का फल है। यह भाट्ट मीमांसकों का मत है।

किन्तु हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा प्रत्यय 'अहं नीलकमलं जानामि' इस प्रकार का भी हो सकता है। स्पष्ट होगा कि यह प्रत्यय आत्मनिष्ठ है और ज्ञान का ही फल है। इस प्रकार के प्रत्यय को 'सविंत्ति' या 'अनुव्यवसाय' कहते हैं। सविंत्ति अथवा अनुव्यवसाय आत्मधर्म है। प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण ज्ञाता में वह उत्पन्न हुआ। इस लिए 'संवित्ति' अथवा 'अनुव्यवसाय' ज्ञान का फल है। यह मत प्राभाकर मीमासक तथा नैयायिकों का है।

इनमें से किसी भी मत को लीजिये, ज्ञान की प्रक्रिया में तीन बातें स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। वे ये हैं—(१) नीलकमल—ज्ञान का विषय; (२) हमें होनेवाला प्रत्यय—ज्ञान; तथा (३) प्रकटता अथवा संवित्ति—उस ज्ञान का फल, इन तीनों के संबन्ध में मीमांसकों के मत का मम्मट इस प्रकार अनुवाद करते हैं—

ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्।

इसमें बताया गया है कि प्रत्यक्षादि ज्ञान का विषय तथा उस ज्ञान का फल इनमें भिन्नता होती है। ज्ञान का विषय नीलकमल आदि हैं, किन्तु उसका फल प्रकटता अथवा संवित्ति है (प्रत्यक्षादेर्नीलादिर्विषयः, फलं तु प्रकटता, सवित्तिर्वा–का.प्र.)। किसी भी ज्ञान के संवन्ध में (चाहे वह प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि किसी भी प्रमाण से हुआ हो) इस नियम का भंग नहीं होना चाहिये।

मम्मट के कथन के अनुसार विशिष्ट लक्षणावादियों के मत में ज्ञान के उपर्युक्त नियम का भंग होता है। विशिष्ट लक्षणावादियों के मत के अनुसार 'गंगा' शब्द का लक्षणावृत्ति से 'पावनत्वादिविशिष्ट तट' इस प्रकार अर्थ करना चाहिये। अर्थ यह है कि लक्षणा से होने वाले ज्ञान का विषय 'पावनत्वादिविशिष्ट तट' है। 'गंगातटे घोषः' इस वाक्य से होनेवाले प्रत्यय से कुछ अधिक प्रत्यय अर्थात् पावनत्वादि धर्म यही इस लक्षणा का प्रयोजन है। इस प्रकार यहाँ फल का विषय ही में अन्तर्भाव होने से, ज्ञानविषयक उपर्युक्त नियम का भंग हो रहा है। इस लिए प्रयोजनप्रतीति की उपपत्ति के लिए लक्षणा का आधार लेना असंभव होता है (विशिष्टे लक्षणा नैवम्)।

अब लक्षणा के द्वारा प्रयोजन की उपपत्ति भले ही न होती हो, लक्षित अर्थ में प्रयोजनरूप विशेषों का प्रत्यय तो होता ही है। (विशेषाः स्युस्तु लक्षिते)। इस प्रत्यय की उपपत्ति बताना तो आवश्यक है ही; और इस लिए स्वतन्त्र व्यापार भी मानना आवश्यक है। यह स्वतंत्र व्यापार ही व्यंजन, ध्वनन, द्योतन आदि संज्ञाओं से पहचाना जाता है।

लक्षणा के आधारभूत प्रयोजन के बोध की उपपत्ति सिद्ध करने के लिए व्यंजनाव्यापार मानना किस प्रकार आवश्यक है यह 'काव्यप्रकाश' के आधार से देखा। मम्मट ने 'शब्दव्यापारविचार' ग्रन्थ में भी इस प्रश्न का विचार किया है और बताया है कि लक्षणा का आधारभूत प्रयोजन अन्य प्रमाणों का विषय भी नहीं होता। उस विचार को देखने से व्यंजनाव्यापार की आवश्यकता और भी स्पष्ट हो जाती है। शब्दव्यापारविचार में मम्मट कहते हैं—"सप्रयोजन लक्षणा के संबन्ध में लक्षणा के अतिरिक्त एक भिन्न व्यापार मानना ही पड़ता है। देखिये कि प्रयोजन हो तो ही लक्षणा हो सकती है। लक्षणा के निमित्तों में से मुख्यार्थबाध तथा तद्योग अन्य प्रमाणों के द्वारा ज्ञात हो सकते है। किन्तु 'प्रयोजन' रूप निमित्त लाक्षणिक शब्द के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण से ज्ञात नहीं हो सकता। और वास्तव में यह प्रयोजन ज्ञात हो इसी एक उद्देश्य से उस (लाक्षणिक) शब्द का प्रयोग किया जाता है। जिस अर्थ का ज्ञान मात्र शब्द से ही होता है, उस अर्थ को जानने के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण की कोई सहायता नहीं होती। प्रत्यक्ष पर [illegible] भी यहाँ किसी काम का नहीं। और उस अनुमान पर आधारित अनुमान से भी कोई काम नहीं निकलता। यदि वैसा माना भी गया तो अनवस्था हो जायगी। प्रयोजन स्मरण का भी विषय नही हो सकता। क्योंकि स्मरण के लिए पूर्व अनुभव की आवश्यकता होती है; और लक्षणा के आधारभूत प्रयोजन का पूर्व अनुभव तो नहीं रहता। इसके अतिरिक्त, यह घड़ीभर के लिए मान भी लिया कि यहाँ स्मृति है, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रयोजन का स्मरण निश्चय से होगा ही। इस प्रकार, प्रयोजन की प्रतीति प्रत्यक्ष, अनुमान तथा स्मृति का विषय नही होती, अतएव उसका ज्ञान केवल शब्द से ही हो सकता है। अब शब्द से प्रयोजन का बोध होने के लिए शब्द में प्रयोजनबोधकव्यापार की सत्ता माननी ही पड़ती है। यह व्यापार अभिधा तो नहीं हो सकती। क्योंकि इस शब्द का उस प्रयोजन से संकेत नहीं होता। वह लक्षणा भी नही है। क्योंकि प्रयोजन हो तो ही लक्षणा प्रवृत्त होती है, तब प्रयोजन ही लक्षणा का विषय कैसे हो सकता है? (इसके बाद मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में कारण दिये है)। अच्छा, (यह भी नही कि प्रयोजन की प्रतीति नहीं होती) वह प्रतीति तो होती ही है। तब उस प्रतीति के बोधक किसी पृथक् व्यापार की सत्ता शब्द में मानना अपरिहार्य होता है। इसी पृथक् व्यापार का ध्वनन, अवगमन, प्रकाशन, द्योतन आदि संज्ञाओं से निर्देश किया जाता है।" (शब्दव्यापारविचार, पृष्ठ ५–६)

सारांश, काव्य में लक्षणा का आधारभूत प्रयोजन व्यंजनाव्यापार से ही ज्ञात होता है। अतएव वह प्रयोजन व्यंग्य है। लाक्षणिक शब्द में अवस्थित व्यंजना-व्यापार ही लक्षणामूलव्यंजना है।

अभिधामूल व्यंजना

व्यंजनाव्यापार जिस प्रकार लक्षणा को लेकर होता है उसी प्रकार वह अभिधा को लेकर भी हो सकता है। भाषा में कतिपय शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं। ऐसे शब्दों का प्रत्येक अर्थ, अपनी अपनी सीमातक वाच्यार्थ होता है। उदाहरण के लिए —'कर' शब्द के हाथ, सूंड, सरकार को दिया जानेवाला धन (टैक्स) आदि अनेक अर्थ होते हैं, इनमें से प्रत्येक अर्थ अपनी सीमा में उस शब्द का वाच्यार्थ ही है। सैंधव=नमक, घोडा; दान=धर्मार्थ त्याग, हाथी का मद आदि शब्द भी ऐसे ही हैं। किन्तु जब हम इन शब्दों का प्रयोग करते है तब उनके किसी एक अर्थ से हमारा अभिप्राय होता है। किस समय किस अर्थ से अभिप्राय है यह समझदार श्रोता संनिधि, प्रकरण आदि से समझ लेता है। उदाहरण के लिए 'राम' शब्द 'दशरथ का पुत्र' तथा 'जमदग्नि का पुत्र' इन दोनों का वाचक है। 'अर्जुन' शब्द 'पार्थ' तथा 'सहस्रार्जुन' इन दोनों का वाचक है। यह होते हुए भी, 'रामलक्ष्मण' में दाशरथि राम से अभिप्राय है एवं 'रामार्जुनौ' में परशुराम से अभिप्राय है यह हम समझ लेतें है। इसी प्रकार, 'रामार्जुनौ' में अर्जुन का अर्थ है सहस्रार्जुन एवं 'कृष्णार्जुनौ' में अभिप्राय है पार्थ अर्जुन से, यह भी हम सरलता से समझ सकते हैं। इस प्रकार, हम देखते है कि 'राम' तथा 'अर्जुन' इन शब्दों की अभिधा, संनिध अवस्थित शब्दों के योग से एक ही अर्थ के संबन्ध में सीमित हो गयी है। कभी कभी प्रकरण से भी अभिधा नियंत्रित होती है। सैंधव के दो अर्थ हैं— नमक और घोड़ा। भोजन के समय किसी ने 'सैन्धवम् आनय' कहा तो वहाँ अर्थ होगा —'नमक लाओ'। किन्तु रणवेष पहन कर 'सैन्धवमानय' कहा तो वहाँ 'घोड़ा लाओ' इस प्रकार अर्थ करना होगा। इन दोनों स्थानों में सैन्धव शब्द की अभिधा, प्रकारण के कारण एक ही अर्थ में सीमित हो गयी है। अन्य भी अनेक निमित्त इसी प्रकार अभिधा का नियंत्रण करते हैं (१); और उनके द्वारा, अनेक अर्थों में से किसी एक अर्थ से अभिप्राय है इसका पाठक अथवा श्रोता निश्चय कर सकता है। जिस प्रसंग में जिस अर्थ से अभिप्राय है उस प्रसंग में वही अर्थ प्रकृत होता है, अतएव उस समय उस शब्द का वही वाच्यार्थ अथवा मुख्यार्थ होता है।

---

१. अभिधा के नियंत्रक निमित्तों का भर्तृहरी ने 'वाक्यपदीय' में समुच्चय से निर्देश किया है। वह इस प्रकार है—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

पर कभी कभी यह भी होता है कि शब्द की अभिधा इस प्रकार किसी विशेष अर्थ में ही सीमित होती है तभी उस वाच्यार्थ के साथ ही उस शब्द का दूसरा एक अप्रकृत अर्थ भी पाठक को प्रतीत होता है। यह दूसरा अर्थ भी स्वतंत्र रूप में, उस शब्द का मुख्यार्थ होते हुए भी, उस प्रसंग में प्रकृत या अभिप्रेत न होने से मुख्यार्थ नहीं होता। अतएव उस प्रसंग में वह अभिधाशक्ति से ज्ञात हुआ ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि विशिष्ट संदर्भ में (context) शब्द की 'अभिधा' प्रकृत अर्थ तक अर्थात् मुख्यार्थ तक ही सीमित रहती है। फिर यह दूसरा अर्थ जो हमें ज्ञात होता है उसे किस व्यापार से ज्ञात हुआ समझें? अभिधा वाच्यार्थ से सीमित हुई है इस लिए इस दूसरे अर्थ के संबन्ध में उसका स्वीकार नहीं हो सकता; मुख्यार्थबाध आदि निमित्त यहाँ नहीं हैं, अतएव यह दूसरा अप्रकृत अर्थ लक्षणा से ज्ञात हुआ ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। तब इन दोनों से पृथक् व्यापार की सत्ता यहाँ मानना आवश्यक हो जाता है। यह स्वतन्त्र व्यापार ही व्यंजनाव्यापार है। यह व्यंजना अभिधा पर आधारित होने से इसे अभिधामूलव्यंजना कहते हैं। मम्मट का वचन है—

> अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियंत्रिते।
> संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृत् व्यापृतिरञ्जनम् ॥

अनेकार्थ शब्द का वाचकत्व जब संयोग आदि से नियन्त्रित हो जाता है, और (इस प्रसंग में) जब ऐसे अर्थ की प्रतीति होती है जो कि वाच्य नहीं है, तब वह प्रतीति देनेवाला व्यापार (व्यापृति) व्यंजना (अंजनम्) व्यापार ही होता है।

अभिधा के सभी भेदों में अभिधामूलव्यंजना रूढ़ हो सकती है। एक ही शब्द के यदि दो रूढ़ अर्थ हैं और उनमें से एक अर्थ यदि प्रकरण से नियन्त्रित है तो ऐसे प्रसंग में जिस दूसरे रूढ़ अर्थ का आभास होता है वह व्यंग्यार्थ होता है। उदाहरण के लिए—

> भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशाल-
> वंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
> यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य
> दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥

शिवस्वामी के 'कफ्फिणाभ्युदय' में से यह पद्य है। राजा का वर्णन करते हुए कवि कहता है—उस राजा के (यस्य) चित्त में नित्य कल्याणकर विचार रहते थे (भद्रात्मनः); विशाल शरीर होने से वह अजिक्य हो गया था (दुरधिरोहतनु); अपने विशाल वंशकी उसने उन्नति की थी (वंशोन्नतेः); उसने धनुर्विद्या का गंभीर अध्ययन किया था (कृतशिलीमुखसंग्रह); उसके ज्ञान की गति अविच्छिन्न थी (अनुपप्लुतगतेः); उसने शत्रुओं का निवारण किया था (परवारण) तथा उसका

हाथ (कर) दान के जल से नित्य शोभित होता था (दानाम्बुसेकसुभगः)। यहाँ भद्र = कल्याण, वंश = कुल, शिलीमुख = बाण, संग्रह = गंभीर अध्ययन, गति = ज्ञान, पर = शत्रु, वारण = निवारण करनेवाला, दान = द्रव्यत्याग, कर = हाथ ये अर्थ कवि को प्रकरण की दृष्टि से अभिप्रेत अर्थात् प्रकृत हैं। अतएव वे उन शब्दों के मुख्यार्थ है। यह अर्थ यहाँ हमें तत्तत् शब्द के अभिधाव्यापार से ज्ञात हुए हैं। किन्तु इस पद्य को पढ़ते समय उपर्युक्त मुख्यार्थ जब हमारे ध्यान में आता है तभी निम्न अर्थ का भी आभास हमारे मन में सहज ही होता है।

"जिस पर आरोहण करना कठिन है (दुरधिरोहतनोः); जो लंबे बाँस के के समान ऊँचा है (वंशोन्नतेः); जिसके आसपास भ्रमरों का समूह है (कृतशिलीमुखसंग्रहस्य); जिसकी गति गंभीर है (अनुद्धतगतेः); ऐसे भद्रजातीय (भद्रात्मनः) श्रेष्ठ हाथी का (परवारणस्य), शुंडादण्ड (कर) निरन्तर मदस्रावसे (दानाम्बुसेकसुभगः) शोभित हो रहा है।" यहाँ भद्र = भद्रजाति (हाथियों की एक जाति), वंश = बाँस, शिलीमुख = भ्रमर, संग्रह = समूह, गति = चाल, पर = श्रेष्ठ, वारण = हाथी, दान = मद, कर = शुंडादण्ड आदि अर्थ स्वतंत्र रूप में प्रत्येक शब्द के मुख्यार्थ ही है। परन्तु प्रस्तुत राजवर्णन के प्रसंग में वे अभिप्रेत न होने से इस पद्य में मुख्यार्थ के रूप में उनका स्वीकार असंभव है। अतएव प्रस्तुत पद्य को पढ़ते समय गजविषयक यह द्वितीय अर्थ अभिधा का विषय नहीं होता। अभिधा के द्वारा इस पद्य से हमें राजा का वर्णन ही ज्ञात होता है। किन्तु तत्समकाल ही जो गजवर्णन भी हमें प्रतीत होता है, उसके लिए शब्दों का व्यंजनाव्यापार ही कारण है।

इस प्रकार इस पद्य में राजवर्णन वाच्य है और गजवर्णन व्यंग्य है। राजवर्णन प्रकृत है और गजवर्णन अप्रकृत। यह दोनों वर्णन हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं तो सहज ही प्रश्न उठता है कि इन दोनों अर्थों में परस्परसंबन्ध क्या हो सकता है? तत्क्षण हमारे ध्यान में आता है कि राजा और गज दोनों में यहाँ उपमानोपमेय भाव है। यह उपमानोपमेय भाव भी यहाँ सूचित ही हुआ है; वाच्य उपमा के समान यथा, इव आदि शब्दों से वह कथित नहीं है। इस लिए यहाँ ध्वनित होने वाली उपमा भी व्यंजनाव्यापार का ही कार्य है। व्यंजनाव्यापार का आश्रय दान, कर, भद्र आदि शब्दों का रूढार्थ ही है, इसलिए यह अभिधामूलव्यंजना है।

रूढ शब्द के समान योगरूढ शब्द के आश्रय से भी व्यंजना हो सकती है। उदाहरण के लिए—

> अबलानां श्रिय हृत्वा वारिवाहैः सहानिशम्।
> तिष्ठन्ति चपला यत्र स कालः समुपस्थितः॥

यहाँ वर्षाकाल का वर्णन अभिप्रेत है। वर्षावर्णन के संबन्ध में इस पद्य का अर्थ इस

प्रकार होता है — "यह ऐसा काल आया है जब कि नायिकाओं की शोभा धारण करनेवाली विद्युल्लताएँ (चपला) मेघों के साथ (वारिवाहैः) नित्य रहती है।" यह इस पद्य का वाच्यार्थ (प्रकृत अर्थ) है। अबला = स्त्री (नायिका), वारिवाह = मेघ, चपला= विद्युत् ये अर्थ योगरूढ अभिधा से प्राप्त हैं। अर्थात्, व्युत्पत्ति की दृष्टि से वे सुसंगत होने पर भी रूढ़ि से उपर्युक्त अर्थों में ही सीमित हैं। इस प्रकार यहाँ अभिधा रूढि से ही सीमित है। किन्तु ऐसा होते हुए भी योगशक्ति से एक सर्वथा भिन्न अर्थ यहाँ सूचित होता है। वह इस प्रकार है—"ऐसा समय प्राप्त हुआ है कि वारस्त्रियाँ (चपला) दुर्बलों का (अबलानाम्) धन हरण करती है, किन्तु रममाण होती हैं पनहरों (वारिवाह) के साथ।" वह अप्रकृत अर्थ रूढि से नहीं ज्ञात होता, अपितु केवल योग से ज्ञात होता है। इस अर्थ के संबन्ध में अभिधाव्यापार नहीं माना जा सकता, क्योंकि अभिधा रूढि से ही सीमित है। अतएव कहना पड़ता है कि यह अर्थ व्यंजना से ही ज्ञात हुआ। जगन्नाथ पंडित 'रसगंगाधर' में कहते हैं—

> योगरूढस्य शब्दस्य योगे रूढ्या नियंत्रिते।
> धियं योगस्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यंजनैव सा॥

योगरूढ शब्दों के संबन्धमें, जब रूढ़ि के द्वारा योग को नियंत्रित हो जाने पर कभी कभी योगस्पृष्ट अर्थ का जो ज्ञान होता है, वह व्यंजनाव्यापार के कारण ही होता है (२)।

अभिधामूल व्यंजना एवं लक्षणामूल व्यंजना में तुलना

व्यंजना के दो भेदों का – लक्षणामूलव्यंजना तथा अभिधामूलव्यंजना का– स्वरूप यहाँ तक कथन किया है। तुलना करते हुए इन दोनों के विशेष ध्यान में लेने से व्यंजनावृत्ति का स्वरूप अधिक स्पष्ट होगा।

लक्षणामूल-व्यंजना प्रयोजनवती लक्षणा में ही रह सकती है। लक्षणा यदि **प्रयोजनवती** न हो तो व्यंजना का होना असंभव है। 'लक्षणामूलत्व' इस संज्ञा का अर्थ नागेश ने 'लक्षणा-अन्वयव्यतिरेक-अनुविधायित्व' इस प्रकार दिया है। अर्थात् प्रयोजनवती लक्षणा और व्यंजना में अन्वयव्यतिरेक संबन्ध है। जहाँ लक्षणा प्रयोजनवती हों वहीं व्यजना होती है। और जिस लक्षणा की पृष्ठभूमि में व्यंग्य नहीं है वह लक्षणा कभी प्रयोजनवती नहीं हो सकती। अभिधामूल-व्यंजना में यह नहीं पाया जाता। अभिधा और व्यंजना में अन्वयव्यतिरेक संबन्ध नही है। प्रत्येक वाचक शब्द में अभिधा होती है। किन्तु जहाँ कहीं अभिधा होगी वहाँ अवश्य

२. अभिधा के यौगिकरूढ भेद पर भी व्यंजना आधारित हो सकती है। उसके स्वरूप का विवेचन 'रसगंगाधर' में देखें।

ही व्यंजना होगी ऐसा नियम नहीं है। अभिधामूलव्यंजना के लिए पहले तो शब्द के दो अर्थ होने चाहिये। किन्तु शब्द के दो अर्थ होते हैं इसीसे वहाँ व्यंजना है ही यह भी नहीं कहा जा सकता। अनेकार्थ शब्द की अभिधा संयोग आदि निमित्तों से एक ही अर्थ में नियंत्रित होनी चाहिये। इस प्रकार शब्द अनेकार्थ है, उसकी अभिधा एक अर्थ में नियंत्रित हुई है और उसी समय दूसरा अर्थ भी सूचित हुआ है, ऐसी स्थिति में ही वहाँ अभिधामूलव्यजना होती है। यदि अभिधा इस प्रकार नियंत्रित न हुई, और दोनों अर्थ प्रतीत हुए, तो वे दोनों अर्थ वाच्य होते हैं, और वहाँ श्लेपालंकार होता है, व्यंजना नहीं होती। दूसरी बात यह है कि अभिधामूलव्यंजना से प्राप्त होनेवाला व्यंग्यार्थ, स्वतंत्ररूप से देखा जायँ तो, उस शब्द का वाच्यार्थ या अभिधेयार्थ ही होता है। किन्तु विशिप्ट प्रसंग में वह अप्रकृत होता है इस लिए उसे वाच्यार्थ नहीं कहा जा सकता और इसी लिए यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह अभिधा से प्राप्त हुआ है।

अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना में संबन्ध

अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना इन तीनों शब्दवृत्तियों म से अभिधा स्वतंत्र तथा स्वयंपूर्ण है। दूसरी किसी वृत्ति का आश्रय करने की उसे आवश्यकता नहीं होती। प्रत्येक शब्द वाचक तो होता ही है। वाचक होने के लिए उसे लक्षक या व्यंजक होने की कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु लक्षणा तथा व्यंजना की बात कुछ दूसरी है। लक्षणा के लिए मुख्यार्थबाध आदि निमित्तों का उपस्थित होना आवश्यक है। ये निमित्त न हों तो लक्षणा का होना असंभव होता है। इसके अतिरिक्त, अभिधा का कार्य हो जाने के बाद, तात्पर्य की दृष्टि से जबतक मुख्यार्थ अनुपपन्न सिद्ध नहीं होता तबतक लक्षणा को अवसर ही नहीं मिलता। जिस प्रकार केवल वाचक शब्द हो सकता है उस प्रकार केवल लाक्षणिक शब्द नहीं हो सकता। लाक्षणिक शब्द होने के लिए, पहले तो वह शब्द वाचक होना चाहिये तथा उसका वाच्यार्थ तात्पर्य की दृष्टि से बाधित होना चाहिये। वह उस प्रकार बाधित हुआ हो तभी शब्द लाक्षणिक हो सकता है, अन्यथा नहीं। अतएव कोई भी शब्द एकही समय वाचक और लाक्षणिक नहीं हो सकता। वाच्यार्थ तात्पर्य की दृष्टि से अनुपपन्न सिद्ध होते ही वाच्यार्थ को हटाकर लक्ष्यार्थ स्वय उसके स्थानपर आ जाता है। अतएव लक्षणा को 'अभिधा-पुच्छभूत' अर्थात् अभिधा का पुच्छ कहते हैं।

अभिधा और लक्षणा दोनों पर व्यंजना अवलंबित रहती है। व्यंजना तबतक प्रवृत्त ही नहीं होती जबतक कि अपना अपना कार्य कर के अभिधा और लक्षणा निवृत्त नही होती। शब्द का केवल व्यंजक होना असंभव है। व्यंजक होने से पहले

शब्द या तो वाचक होना चाहिये या लाक्षणिक होना चाहिये। वास्तव में कोई शब्द केवल लाक्षणिक भी नहीं हो सकता। किन्तु व्यंग्यार्थ और लक्ष्यार्थ में एक महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ के साथ कभी नहीं आता। वह वाच्यार्थ को हटाकर उसके स्थान में आता है। इसमें विपरीत व्यंग्यार्थ नित्य वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ के साथ आता है। अर्थात् शब्द या तो वाचक हो सकता है या लाक्षणिक हो सकता है; किन्तु एक ही शब्द वाचक और व्यंजक या लाक्षणिक और व्यंजक इस प्रकार उभयविध हो सकता है।

व्यंजना का सामान्य लक्षण

अब हम लक्षणा का सामान्य लक्षण कर सकेंगे। हमने देखा कि अभिधा तथा व्यंजना, अथवा लक्षणा तथा व्यंजना की वृत्तियाँ साथ साथ रहती हैं। हमने यह भी देखा कि अभिधा तथा लक्षणा की अर्थबोधक शक्ति उपक्षीण होने पर अवशिष्ट अधिक अर्थ उपपन्न होने के लिए एक स्वतंत्र व्यापार मानना आवश्यक हो जाता है। इन दोनों बातों को एकत्रित करने पर, विश्वनाथकृत व्यंजनाव्यापार का लक्षण तत्काल उपस्थित होता है।

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च।।

अभिधा, तात्पर्य तथा लक्षणा की शक्तियाँ अपना अपना कार्य करके जब उपक्षीण हो जाती हैं तब जिसके द्वारा अधिक अर्थ प्रतीत होता है वह वृत्ति व्यंजना है। यह व्यंजनावृत्ति शब्द में दिखायी देती है, उसी प्रकार अर्थ में भी पायी जाती है।

अर्थबोध के सबन्ध में एक नियम है — 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः'। शब्द, प्रतीति तथा क्रिया के द्वारा एक प्रयत्न में जितना कार्य हो सकता है उतना ही उनका क्षेत्र होता है। उस क्षेत्र से आगे उनकी शक्ति नहीं होती। इस नियम के अनुसार अभिधा का क्षेत्र वाच्यार्थतक, लक्षणा का क्षेत्र लक्ष्यार्थतक, एवं तात्पर्य का क्षेत्र अन्वयतक सीमित है। इस सीमा के बाहर भी रसिक को अर्थ की जो प्रतीति होती है वह इन तीनों वृत्तियों की कक्षा में नहीं आती। अधिक अर्थ की प्रतीति व्यजना-व्यापार का विषय है। उदाहरण के लिए—

कल्लं किर खर हिअओ पविसिइहि पिओ त्ति सुण्णइ जनम्मि।
तह वढ्ढ भअवइ निसे जह से कल्लं विअ ण होइ।।

नायिका ने सुना है कि दूसरे दिन प्रातःकाल यात्रा के लिए जाने का पति ने अचानक तय किया है। वह जानती है कि न जाने के लिए कितना भी मनाया तो वह एक नही मानने वाला। रात को पति के साथ जब वह शयनागार में थी, तो प्रातःकाल विरह होनेवाला है इस बात की उसे बार बार याद आने लगी। ऐसे ही किसी समय वह

सहसा बोल उठी — "पुरुषों का हृदय ही बड़ा कठोर होता है! सुनते हैं कि कल प्रियतम यात्रा जा रहे हैं। भगवति निशे, ऐसी बढ़ जाओ कि प्रातःकाल कभी होवे ही ना।" यह है इस पद्य का वाच्यार्थ। किन्तु रसिक को इस पद्य में इस वाच्यार्थ से अधिक प्रतीति होती है। उसे नायिका की व्याकुलता प्रतीत होती है। पति से स्पष्ट रूप में विरोध करने का धीरज वह नहीं बाँध सकती, इससे उसकी असहायता रसिक को प्रतीत होती है। इस दशा में वह सोचती है कि निशा का तो सहाय लें। नारी के मन की दशा पुरुष तो समझ ही नहीं सकते, किन्तु निशा तो एक नारी है, वह तो समझ सकती है। और मेरे लिये उसके मन में अनुकम्पा भी हो सकती है, इस विचार से नायिका निशा से जो विनय करती है उसके द्वारा नायिका की आर्तता रसिक समझ लेता है। इस प्रकार अर्थ के अनेकानेक वलय इन्हीं शब्दों से रसिक को प्रतीत होते हैं। रसिक को आनेवाली यह अधिक अर्थ की प्रतीति अभिधा की कक्षा में नहीं रखी जा सकती। यह अधिकार्थ पद्यगत शब्दों का संकेतितार्थ नहीं है। वह तात्पर्यवृत्ति के द्वारा भी नहीं ज्ञात होता। क्योंकि पद्यगत शब्दों का एवम् अर्थों का अन्वय सिद्ध होने पर तात्पर्यवृत्ति का कार्य समाप्त हो जाता है। यहाँ वाच्यार्थ अनुपपन्न नहीं होता, अतएव लक्षणा की प्रवृत्ति ही नहीं होती। इस प्रकार अभिधा एवं तात्पर्य ने अपना अपना (वाच्यार्थ तथा अन्वय का बोध कराने का) कार्य करने पर उपक्षीण हो जाते हैं। इसके पश्चात् भी रसिक को एक अर्थप्रतीति होती है जो अभिधा तथा तात्पर्य की कक्षा में नहीं रहती। यह प्रतीति व्यंजनाव्यापार से होती है।

व्यंजना अर्थवृत्ति भी है (आर्थी व्यंजना)

व्यंजना मात्र शब्द ही की वृत्ति नहीं है, वह अर्थवृत्ति भी है। पूर्ववर्णित अभिधा-मूलव्यंजना और लक्षणामूलव्यंजना शब्दव्यंजनाएँ हैं। किन्तु इतना ही व्यंजना का क्षेत्र नहीं है। अर्थ भी व्यंजक हो सकता है। निम्न उदाहरण देखिये—

> किमिति कृशासि कृशोदरि, किं तव परकीयवृत्तान्तः।
> कथय तथापि मुदे मम कथयिष्यति याहि पान्थ तव जाया॥

कोई पथिक किसी गाँव में ठहरा। वहाँ उसने किसी युवती को देखा—जो सुंदर थी किन्तु कृश थी। उन दोनों में इस प्रकार भाषण हुआ—

पथिक: हे कृशोदरि, आप इतनी कृश क्यों हुई है?
युवती: आप को दूसरों की चर्चा से मतलब?
पथिक: ऐसे ही पूछा, नहीं बताना है तो मत बताइये। बताया तो हमें आनंद होगा।
युवती: तो पथिक, आप अपने घर जाइये। आपको अपनी पत्नी बताएगी कि मैं इतनी कृश क्यों हुई हूँ।

'मैं पति के विरह से कृश हुई हूँ' यह अर्थ इस भाषण से सूचित होता है। यह सूचित अर्थ इस पद्य का वाच्यार्थ नहीं है। इस पद्य के एक भी शब्द से वह सूचित नही हुआ है। इस पद्य के वाच्यार्थ से पृथक् यह अर्थ सूचित होता है। इस अर्थ को ध्वनित करनेवाला व्यंजनाव्यापार वाच्यार्थाश्रित है, अतएव यहाँ की व्यंजना आर्थी है।

तथा भूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पांचालतनयां
वने व्याधैः सार्ध [illegible] वल्कलधरैः।
विराटस्यावासे [illegible]
गुरुः खेदः खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुपु ।।

वेणीसंहार नाटक में भीम की यह उक्ति है। भीम कहते है — 'भरी राजसभा में की गई द्रौपदी की विटम्बना, बल्कल धारण कर के व्याधों के साथ व्यतीत किया हुआ वह बारह वर्षो का दीर्घ काल, और विराट के घर में अपमानों को सहते हुए भी किया हुआ अज्ञातवास' — इनके कारण मैं खिन्न होता हूँ तो हमारे पूज्य युधिष्ठिर मुझ पर क्रोध करते है ; किन्तु कौरवों पर अब भी क्रोध नही करते।" इस पद्य के शब्दों का विशिष्ट स्वर (काकु) में उच्चारण करने से "युधिष्ठिर को चाहिये कि कौरवों पर क्रोध करें, मुझ पर क्रोध करना उचित नहीं है।" यह अर्थ निष्पन्न होता है। यह अर्थ उपर्युक्त पद्य का वाच्यार्थ नहीं है; विशिष्ट स्वर में किये गये उच्चारण (काकु) द्वारा वह प्रकाशित होता है। अतएव वह व्यंजनाव्यापार का विषय है।

इस प्रकार अर्थ भी अभिव्यंजक हो सकता है। अर्थ को व्यंजकता अनेक प्रकारों से प्रतीत होती है। वक्ता या श्रोता का वैशिष्टच, विशिष्ट स्वर में किया गया वाक्य का उच्चारण, प्रकरण, देश, काल आदि का वैशिष्टच आदि अनेक कारणों से वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ प्रतिभायुक्त (प्रतिभाजुष्) रसिक को प्रतीत होता है। ऐसे प्रसंग में, एक अर्थ से होने वाली दूसरे अर्थ की प्रतीति व्यंजनाव्यापार के द्वारा होती है (३) यही अर्थ की व्यंजकता है। इस व्यंजना को अर्थमूलव्यंजना कहते हैं।

---

३. अर्थ की व्यंजकता के निमित्त मम्मट ने इस प्रकार दिये हैं—
वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाच्यवाक्यान्यसंनिधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुः व्यापारो व्यक्तिरेव सा ।। (का. प्र. तृतीयोल्लास)

व्यंजना के भेद

अतएव व्यंजना के कुल भेद इस प्रकार हैं—
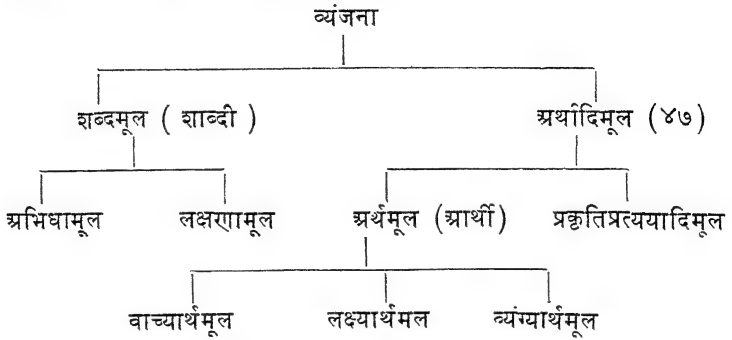
व्यंजना के इन सारे भेदों का एकत्रित विचार करने पर क्या दिखायी देता है? व्यंग्यार्थ कभी किसी एक शब्द से या शब्द-समुच्चय से ज्ञात होगा। कवि ने ऐसा शब्द वाच्यार्थ में या व्यंग्यार्थ में भी प्रयुक्त किया होगा। वाच्यार्थ में प्रयुक्त शब्द से यदि व्यंग्यार्थ सूचित हुआ हो तब वह व्यंग्यार्थ, मूलतः उस (अनेकार्थ) शब्द का वाच्यार्थ ही होता है। किन्तु उस शब्द की अभिधाशक्ति एक ही अर्थ में सीमित होने से, दूसरा अर्थ—जो सूचित होता है— व्यंजना का विषय होता है। यही है अभिधामूल व्यंजना। शब्द यदि लक्षणा से प्रयुक्त हो तब वह लक्षणा प्रयोजनवती होती है तथा उसका प्रयोजन व्यंग्य होता है। यह है लक्षणामूलव्यंजना। इनमें से कुछ भी न होते हुए वाच्यार्थ से पृथक् अर्थ यदि सूचित होता हो तब वह लक्षणा आर्थी अर्थात् अर्थमूल होती है। सारांश, शाब्दी व्यंजना का क्षेत्र वर्जित किया, तो अन्य सभी व्यंग्यार्थ आर्थी व्यंजना से सूचित होता है। आर्थी व्यंजना में अनेकार्थ शब्द या लाक्षणिक अर्थ की आवश्यकता नहीं होती। वाच्य अर्थ से, अन्य किसी कारणवश दूसरा अर्थ सूचित होता है। उदा०—

> संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
> हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्॥

प्रियतम को देखते ही उस चतुर युवति ने जान लिया कि यह मिलने का समय जानना चाहता है, और उसने हँस कर, हाथ में जो कमलपुष्प था उसका संकोच किया।

उस युवति ने यहाँ सूचित किया है कि—'सूर्य अस्त होने के पश्चात् हम

---

४. अर्थमूलव्यंजना वाच्यार्थमूल, लक्ष्यार्थमूल या व्यंग्यार्थमूल भी हो सकती है। वैसे ही प्रकृति, प्रत्यय आदि भी व्यंजक हो सकते हैं। इनके उदाहरण मूल में देखें।

मिलें।' यह सूचित अर्थ यहाँ सीधे वाच्यार्थ ही से अभिव्यक्त हुआ है। कोई भी शब्द यहाँ अनेकार्थ नहीं है अथवा लाक्षणिक भी नहीं है।

व्यंजनाविभाग पर आशंका तथा समाधान

शाब्दी व्यंजना तथा आर्थी व्यंजना इस प्रकार किये हुए उपर्युक्त व्यंजना-विभाग पर एक आशंका यह हो सकती है कि इस प्रकार का व्यंजनाविभाग तो उपपन्न ही नहीं होता। शब्द और अर्थ काव्य में नित्य सहित होते हैं। काव्य का स्वरूप ही 'शब्दार्थौ काव्यम्' है। तब यह शाब्दी व्यंजना है और यह आर्थी व्यंजना है इस प्रकार निश्चय किस आधार पर किया जायँ? आपका कथन है कि 'अबलानां श्रियं हत्वा' आदि उदाहरण में अभिधाभूल व्यंजना है। किन्तु वहाँ भी 'वारिवाह', 'चपला' आदि शब्द केवल शब्द होने से व्यंजक नही हैं, अपि तु अर्थ को लेकर ही व्यंजक होते हैं। तब तो उनका अर्थ भी व्यंजक होता है न? इसी प्रकार 'गंगायां घोषः' में लक्ष्यार्थ भी व्यंजक है न? और ये अर्थ भी यदि व्यंजक है तो फिर शाब्दी और आर्थी इस प्रकार व्यंजनाविभाग करने से क्या लाभ?

इस आशंका का समाधान यह है—शब्द जब अर्थान्तर से युक्त होता है तभी व्यंजक होता है। अभिधामूल व्यंजना का आधारभूत शब्द अनेकार्थ तो होता है ही, किन्तु लाक्षणिक शब्द भी वाच्यार्थ तथा आरोपित अर्थ इस प्रकार दो अर्थों से युक्त होता है। यह तो ठीक ही है कि इस अर्थ की सहाय्यता से ही प्रत्येक शब्द व्यंजक सिद्ध होता है, किन्तु ऐसे प्रसंग में शब्द का ही प्राधान्य होने से, प्रधानव्यपदेशन्याय के आधार पर 'शाब्दी व्यंजना' की संज्ञा दी जाती है। मम्मट कहते हैं—

> तद्युक्तो व्यंजकः शब्दः यत् सोऽर्थान्तरयुक् तथा।
> अर्थोऽपि व्यंजकस्तत्र सहकारितया मतः।।

व्यंजनाव्यापार से युक्त शब्द व्यंजक शब्द है। ऐसा शब्द जब अर्थान्तर से युक्त होता है तभी व्यंजक होता है एवं यदि उसका अर्थान्तर से युक्त होना आवश्यक है तब वहाँ अर्थ भी सहकारिता से अर्थात् गौण रूप में व्यंजक होता है। संप्रदायप्रकाशिनीकार उक्त कारिका की टीका में कहते हैं—"सहकारितया मतः' इन शब्दों से मम्मट सूचित करते हैं कि शब्द अथवा अर्थ में से, जिससे प्रामुख्य से व्यंजनाव्यापार की प्रतीति होती हो—ध्वनि को तन्मूलक समझना चाहिये। व्यपदेश नित्य प्रधानता के आधार से ही किये जाते हैं। किसी एक का इस प्रकार प्राधान्य होने पर अन्य उसका सहकारी हो जाता है। अतएव यह विभाग उपपन्न होता है" (५)। शब्दशक्तिमूल व्यंजना

५. यतः शब्दात् अर्थात् वा प्रामुख्येन व्यंजनाव्यापारप्रतीतिः, ध्वनिः तन्मूलः इति व्यपदिश्यते। प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति। तदितरत् तु तत्र सहकारि इति उपपन्नैव व्यवस्था इति भावः।

में शब्द प्रधान एवम् अर्थ सहकारी होता है, और अर्थशक्तिमूल व्यंजना में अर्थ प्रधान एवं शब्द सहकारी होता है। मम्मट कहते हैं—

शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यजकत्वे तत् शब्दस्य सहकारिता ।।

शब्द से जो अर्थ ज्ञात हुआ है वही यदि अर्थान्तर की प्रतीति कराता है तो अवश्य ही अर्थ की व्यंजकता में शब्द की सहकारिता है।

अभिधा और लक्षणा दोनों शब्दवृत्तियाँ है। अतएव उनपर आधारित व्यंजना शाब्दी व्यंजना कहलाती है। उसे शाब्दी व्यंजना कहने का एक महत्त्वपूर्ण कारण नागेशभट्ट ने 'उद्योत' में दिया है। नागेश कहते है — 'शब्दस्य परिवृत्त्यसहत्वात् शब्दमूलकत्वेन व्यपदेशः।' व्यंजना के अभिधामूल तथा लक्षणामूल भेदों में शब्दों की परिवृत्ति नही हो सकती। मूल में प्रयुक्त शब्दों को हटाकर उनके स्थान में पर्याय शब्दों का प्रयोग किया गया तो व्यंग्यार्थ नष्ट हो जाता है। अभिधामूल व्यंजना में शब्दों का अनेकार्थ होना आवश्यक होता है। उनके स्थान में पर्याय शब्दों का प्रयोग किया तो व्यंग्यार्थ नष्ट होगा। उदाहरण के लिए, उपर्युक्त पद्य में 'अबला', 'वारिवाह' तथा 'चपला' इन शब्दों के स्थान में 'स्त्री', 'मेघ', 'विद्युत्' आदि पर्याय शब्दों का प्रयोग करने पर, वहाँ का प्रकृत अर्थ तो बना रहेगा किन्तु व्यंग्यार्थ नष्ट होगा। लक्षणामूल व्यंजना में भी शब्दों में परिवृत्ति नहीं हो सकती। 'गंगायाम्' शब्द के स्थान 'गंगातटे' का प्रयोग करने पर लक्षणा का प्रयोजन ही नष्ट होने से व्यंग्यार्थ भी शेष नही रहेगा। सारांश, अभिधामूल तथा लक्षणाभूल व्यंजना मे शब्दपरिवृत्ति की संभावना ही न होने से इन भेदों में व्यंजना शब्दाश्रित ही होती है — अत एव वह शाब्दी व्यंजना है। आर्थी व्यंजना में शब्दपरिवृत्ति हो सकती है। मूल शब्द को हटाकर, पर्याय शब्दों का प्रयोग करने पर भी वहाँ व्यंजना नष्ट नहीं होती। उदा. 'संकेतकालमनसम्' आदि पद्य में मूल शब्द के स्थान पर पर्याय शब्द का प्रयोग करने पर भी व्यंजना बनी रहती है। सारांश, यहाँ व्यंजना शब्दाश्रित न हो कर अर्थाश्रित होती है अत एव यह आर्थी व्यंजना है। इस प्रकार यह व्यंजनाविभाग उपपन्न होता है। नागेश का दिया हुआ यह कारण बड़ा महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यहाँ उन्होंने अन्वय-व्यतिरेक की कसौटी रखी है। दोष, गुण तथा अलंकारों के संबन्ध में भी साहित्य शास्त्र का यही निकष होने से साहित्यशास्त्र के सभी क्षेत्रों में वह सुसंगत है।

व्यंग्यार्थ समझने के लिए प्रतिभा आवश्यक है

व्यंजना के संबन्ध में और भी एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है। यह नहीं कि हर कोई व्यक्ति व्यंग्यार्थ समझ सकेगा। व्यंग्यार्थ समझने के लिए योग्यता

आवश्यक है। प्रतिभावान् व्यक्ति ही व्यंग्यार्थ को समझ सकते हैं। इस बात को मम्मट ने, 'प्रतिभाजुष्' शब्द का प्रयोग कर के स्पष्ट किया है। 'प्रतिभाजुष्' का अर्थ है 'सहृदय'। वाच्यार्थ को तो सभी समझ लेते हैं; किन्तु व्यंग्यार्थ को समझने के लिए श्रोता या पाठक में प्रतिभा का होना आवश्यक है। और तो क्या, श्रोता से प्रतिभा का सहकारित्व होना व्यंजना का प्राण है। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट ही कहा है—"प्रतिपत्तृप्रतिभासहकारित्वम् अस्माभिः द्योतनस्य प्राणत्वेन उक्तम्।" केवल शब्दज्ञान के बल पर काव्यार्थ को समझना असंभव है। इस संबन्ध में प्रदीपकार का कथन ध्यान में रखने योग्य है। वे कहते हैं— "प्रतिभाजुष् शब्द का प्रयोग करके मम्मटाचार्य ने दर्शाया है कि, यदि प्रतिभा हो तभी व्यंग्यार्थ प्रतीति होती है। प्रतिभा का अर्थ है नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा। प्रतिभा ही को वासना की भी संज्ञा है। यदि यह प्रतिभा न हो तो काव्य में व्यंजना का निमित्त होने पर भी पाठक को व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं होती। यही कारण है कि वैयाकरण को सहृदय के समान रसप्रतीति नहीं होती।" इसका समर्थक वचन भी है — "जो सवासन अर्थात् प्रतिभावान् है उन्हींको नाट्य आदि में रसप्रतीति हो सकती है। नाट्यगृह में उपस्थित अन्य निर्वासन अर्थात् प्रतिभाहीन दर्शक नाट्यगृह के पाषाण और दीवारों के समान है।" (६)। 'साहित्यचूडामणि' में भी ऐसा ही कहा है — "वाच्यार्थ को पामर भी बिना कष्ट के समझ ले सकते हैं; किन्तु व्यंग्य समझने की विदग्धता परिमित अधिकारी पुरुषों की ही होती है" (७)। इसके अतिरिक्त, स्वयं मम्मट ही 'शब्दव्यापारविचार' में कहते हैं—

प्रज्ञावैमल्यवैदग्ध्यप्रस्तावादिविधायुजः।
अभिधालक्षणायोगी व्यंग्योऽर्थः प्रथितो ध्वनेः॥

यथा संकेतेन मुख्यार्थबाधादित्रितयेन च सहायेन अभिधायको लक्षकश्च, यथा वा

---

६. प्रतिभाजुषामित्यनेन नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रतिभा या वासना इत्युच्यते तस्यां सत्यामेव वक्तृवैशिष्ट्यादिसत्त्वेऽपि व्यंग्यप्रतीतिः इति प्रतिपादितम्। अत एव वैयाकरणानां न तथा रसप्रतीतिः। तथा चोक्तम्–"सवासनानां नाट्यादौ रसस्यानुभवो भवेत्। निर्वासनास्तु रंगान्तः वेश्मकुड्याश्मसन्निभाः"– साहित्यशास्त्र में 'प्रतिभा' तथा 'वासना' पर्याय शब्द हैं। सवासन का अर्थ है प्रतिभावान्। आधुनिक ग्रन्थकारों ने सवासन का अर्थ मनोविकारयुक्त कर के रसचर्चा में बडी गड़बड़ उत्पन्न की है। यह कहाँ तक ठीक है इसका मनीषी पाठक स्वयं निर्णय करें। शास्त्रों में संज्ञाओं के अर्थ निर्धारित किये होते हैं। एवं प्रत्येक शास्त्र की संज्ञा का उसीके अर्थ में प्रयोग करना आवश्यक होता है। उन संज्ञाओं का इस प्रकार प्रयोग न करने से क्या होता है इसका उपर्युक्त उदाहरण सूचक है।

७. पामरप्रभृतयोऽपि वाच्यमर्थमनायासादवबुध्यन्ते; व्यंग्यसंवेदनवैदग्ध्ये तु कतिचिदेवाधिकारिणः।

पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकिसहगत विवक्षायाः अनुमापकः, तथा प्रतिभाविदग्धपरिचय प्रकरणादिज्ञानसापेक्षो वाचको लक्षकश्च व्यंग्यमर्थ ध्वनिशब्दो व्यनक्ति।

संकेत की सहायता से शब्द वाचक होता है; मुख्यार्थबाध आदि निमित्तों से वह लक्षक होता है; पक्षधर्म-अन्वय-व्यतिरेक-आदि की सहायता से वह अनुमापक होता है; इसी प्रकार प्रतिभा की विमलता, विदग्धता का परिचय, प्रकरण आदि का ज्ञान आदि की सापेक्षता से वाचक एवं लक्षक शब्द व्यंग्यार्थ प्रतिपादक अर्थात् व्यंजक होता है। यही व्यापार 'ध्वनि' शब्द से प्रसिद्ध है। सारांश, प्रज्ञा-वैमल्य अर्थात् प्रतिभा की विशदता, तथा वैदग्ध्य के बिना व्यंग्यार्थसंवेदन की योग्यता ही प्राप्त नहीं होती।

पूर्व लक्षणा के विवेचन में बताया गया है कि नागेश ने शक्ति का प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध इस प्रकार विभाग किया है। अप्रसिद्ध अर्थ तो सहृदयों को ही ज्ञात होता है; तथा सहृदय विमलप्रतिभा से युक्त होते हैं। वक्ता, प्रकरण आदि की विशेषताएँ समझ लेने के पश्चात् प्रतिभावान् सहृदय की बुद्धि में शब्द से अथवा अर्थ से जो एक संस्कारविशेष प्रतिभा की सहायता से उदित होता है या उसे ज्ञात होता है वह संस्कार-विशेष ही व्यंजना है (८)। और अनुभव है कि इस प्रकार की यह संस्काररूप व्यंजना सहृदय को शब्द, अर्थ, पद, पदविभाग, वर्ण, रचना, चेष्टा आदि सब में प्रतीत होती है। हम जब कहते हैं—'अनया मृगाक्ष्या कटाक्षेण अभिप्रायो व्यंजितः।' तब हम चेष्टा का व्यंजकत्व निर्देशित करते हैं। उस समय स्पष्ट होता है कि केवल शब्द ही नहीं, अपितु अर्थ भी व्यंजक होता है। काव्य के अध्ययन से अथवा अभिनय के दर्शन से सहृदय की बुद्धि में प्रकाशित होने वाला संस्कार ही व्यंजना का अथवा ध्वनि का स्वरूप है। इस संस्कारविशेष की पूर्णता रसप्रतीति में ज्ञात होती है।

यह व्यंजनाव्यापार अर्थात् संस्कारविशेष ही काव्यगत शब्दार्थों की विशेषता है। व्यंग्यार्थ अथवा ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। इस व्यंग्यार्थ का स्वरूप हम अगले अध्याय में देखेंगे।

---

८. "ननु व्यंजना कः पदार्थः उच्यते। मुख्यार्थबाधनिरपेक्ष बोधजनकः, मुख्यार्थसंबन्धा संबंधसाधारणः, प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयकः वक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद्‌बुद्धः संस्कारविशेषो व्यंजना।" —परमलघुमंजूषा।

अध्याय तेरहवाँ

व्यंग्यार्थ (ध्वनि)

व्यंग्यार्थ — प्रतीयमान — ध्वनि

प्रतिभावान् रसिक को काव्य में एक ऐसा अर्थ प्रतीत होता है जो कि मुख्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ से पूर्णरूपेण भिन्न होता है। यह अर्थ है **व्यंग्यार्थ**। इस व्यंग्यार्थ ही को पूर्वाचार्यों ने **ध्वनि** की संज्ञा दी है। यह अर्थ प्रतीतिगम्य होता है इस लिये इसे **प्रतीयमान** भी कहते है। उपमा आदि अलंकार वाच्यार्थ के विलास हैं। किन्तु इस अलंकृत वाच्यार्थ से भिन्न एक रमणीय अर्थ रसिक को महाकवियों के काव्य में प्रतीत होता है। यह रमणीय प्रतीयमान अर्थ ही काव्य की आत्मा है। ध्वनिकार कहते हैं —

> योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेनि व्यवस्थितः।
> वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥
> तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः।
> वहुधा व्याकृतः सोऽन्यैस्ततो नेह प्रतन्यते॥
> प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
> यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥
> काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
> क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

सहृदयों को आकृष्ट करता है इस लिए काव्य के जिस अर्थ को प्राचीन आचार्यों ने काव्य का सारभूत निर्धारित किया है उसके वाच्य और प्रतीयमान ये दो भेद कहे गये हैं। उन दोनों में वाच्यार्थ प्रसिद्ध है एवं उपमा आदि प्रकारों से अनेक आचार्यों ने उसका व्याख्यान किया है (इस लिये उसका यहाँ हम विवेचन नहीं करेंगे) किन्तु

जिस प्रकार कामिनी के अवयवसंस्थान से अत्यंत भिन्न लावण्य होता है उसी प्रकार महाकवियों के काव्य में वाच्यार्थ से विलक्षण एक प्रतीयमान वस्तु (अर्थ) रसिकजन को प्रतीत होती हैं। यह प्रतीयमान अर्थ ही काव्य की आत्मा है। (काव्य में यद्यपि वाच्य और वाच्यार्थ का वैचित्र्यपूर्ण रचनाप्रपंच पाया जाता है तथापि यह प्रतीयमान अर्थ ही काव्य का सारभूत अर्थ है।) उदाहरण के लिए, आदिकवि वाल्मीकि के काव्य में, क्रौंचनामक पक्षियों के जोड़े के वियोग से उत्थित शोक ही (यह मुनि का शोक नहीं है) श्लोक रूप में परिणत हो गया है। रामायण में जो करुणरस प्रतीत होता है उसका यह शोक ही स्थायीभाव है। यह तो ठीक है कि करुण की यह प्रतीति वाच्यार्थ के द्वारा ही होती है, परन्तु वह वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न तथा स्वतन्त्र है।

महाकवियों के काव्य में प्रतीयमान अर्थ होता है तथा रसिकजनों को वह प्रतीत भी होता है। यह अर्थ स्वसंवित्सिद्ध अर्थात् अनुभवसिद्ध है। इस लिए उसका अस्तित्व कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। दूसरी बात यह है कि महाकवियों की वाणी में जब यह अर्थ स्यंदित होता है तभी उन कवियों की अलोकसामान्य प्रतिभा भी उसमें प्रकट होती है। महाकवि के काव्य में प्रतीयमान अर्थ का तथा कविप्रतिभा का रसिक को समकाल ही प्रत्यय होता है। ध्वनिकार कहते हैं—

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥

इस प्रतिभाविशेष ही से महाकवि और क्षुद्रकवियों में रसिक भेद कर सकते हैं। वैसे तो संसार में कवि असंख्यात पाये जाते हैं किन्तु कालिदास के समान महाकवि दो तीन या अधिक से अधिक पाँच छः ही मिलेंगे।

इतना ही नहीं कि प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से विलक्षण तथा स्वतन्त्र होता है। उसकी प्रतीति होने के लिये रसिक में भी कुछ विशेष योग्यता होना आवश्यक है। अन्यथा केवल शब्दज्ञान ही से वह अर्थ ज्ञात हो जाता। किन्तु ऐसा नहीं होता। केवल वाच्यवाचक के ज्ञान से प्रतीयमान अर्थ प्रतीत नहीं होता; उसे समझने के लिए पाठक का काव्यार्थतत्त्वज्ञ होना आवश्यक है।

यह प्रतीयमान अर्थ तथा उसके अभिव्यंजक शब्द अथवा शब्दसमूह की विशिष्टता होना ही महाकवित्व का गमक है। कवि को महाकवित्व की पदप्राप्ति वाच्य और वाचक के वैचित्र्य से नहीं होती अपितु व्यंग्य और व्यंजक के उचित प्रयोग ही से होती है। महाकवियों के काव्य में इस प्रकार व्यंग्यार्थ एवं व्यंजक शब्द ही का प्राधान्य होने से, व्यंग्यव्यंजकभाव अर्थात् व्यंजनाव्यापार को आप ही प्राधान्य प्राप्त हो जाता है।

हाँ, इतना अवश्य है कि इसके लिये वाच्य और वाचक का कवि को आश्रय

लेना पड़ता है। महाकवि के काव्य में व्यंग्य और व्यंजक का प्राधान्य रहता है अवश्य, किन्तु फिर भी उनका आश्रय वाच्यवाचकभाव ही होता है। इस बात को आनन्द-वर्धन दीपक के दृष्टान्त से विशद करते हैं। हम प्रकाश चाहते हैं। उसके साधन के रूप में हम दीपक का आश्रय करते हैं। दीपक के बिना यदि हमें प्रकाश मिल गया तो दीपक के लिए हम प्रयास नहीं करेंगे। इसी तरह प्रतीयमान अर्थात् व्यंग्य अर्थ के साधन के रूप में महाकवि वाच्य और वाचक का एवं तद्‌गत सौंदर्यसाधनों का (अलंकारों का) आश्रय करता है। वाच्यवाचक के बिना व्यंग्य की प्रतीति नहीं हो सकती इसी लिये उसे वाच्य और वाचक का अवलंबन करना आवश्यक हो जाता है। व्यंग्य और वाच्य में साध्यसाधनभाव है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि वहाँ वाच्य और वाचक का प्राधान्य होता है। व्यंग्य और वाच्य का संबन्ध पदार्थ और वाक्यार्थ के संबन्ध के समान होना है। वाक्यार्थज्ञान पदार्थों के द्वारा ही होता है; किन्तु वाक्यार्थ की दृष्टि से पदार्थों का प्राधान्य नहीं होता। इसी तरह, वाच्यार्थ के द्वारा व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है किन्तु व्यंग्यार्थ की दृष्टि से वाच्यार्थ का प्राधान्य नहीं होता। इतना ही नहीं तो आकांक्षा, योग्यता, तथा संनिधि से अन्वित होकर पदार्थ जब वाक्यार्थ का प्रतिपादन करते हैं, तब वाक्यार्थ की प्रतीति होने के समय पदार्थों का स्वतन्त्र रूप में पृथक् ज्ञान नहीं होता; वैसे ही वाच्यार्थ के द्वारा जब व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है तब वाच्यार्थ का स्वतंत्र एवं पृथक् ज्ञान नहीं होता। पाठक यदि सहृदय हों तो, उसका चित्त व्यंग्यार्थ पर ही एकाग्र होने से वाच्यार्थ का उसे अलग रूप में भान ही नहीं होता एवं उसकी प्रज्ञा (तत्त्वार्थदर्शिनी बुद्धि) में व्यंग्यार्थ सहसा अवभासित होता है (१)। महा-कवियों के काव्य में वाच्य और वाचक का प्रयोग केवल व्यंग्यार्थ के साधन के रूप में किया जाता है। अतएव व्यंग्यार्थ की दृष्टि से वाच्यवाचक एवं तद्‌गत् अलंकारों का गौणत्व होता है। इस प्रकार, जिस काव्य में वाचक शब्द एवं वाच्य अर्थ गौण रहते हुए साधन के रूप में, प्रतीयमान अर्थात् व्यंग्य अर्थ को प्रधानता से अभिव्यक्त करते

---

१. आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये स आदृतः॥
यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः संप्रतीयते।
[illegible] तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः॥
स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रतिपादयन्।
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते॥
तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते।

हैं उस काव्यविशेष को '**ध्वनि**' अथवा '**ध्वनिकाव्य**' की संज्ञा दी जाती है। ध्वनिकार कहते हैं—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः, काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।।

ध्वनि का अर्थात् प्रतीयमान अर्थ का विस्तरशः विवेचन आनन्दवर्धन के '**ध्वन्यालोक**' नामक ग्रन्थ में किया गया है। इस ग्रन्थ पर अभिनवगुप्त की '**लोचन**'-नामक टीका है। इस ग्रन्थ का तथा टीका का अध्ययन किये बिना साहित्यशास्त्र का अध्ययन पूरा नहीं होता। इस ग्रन्थ का सार भी यहाँ देना असंभव है। म. म. पां. वा. काणे महोदय ने अपने साहित्यशास्त्र के इतिहास में इस ग्रन्थ का परिचय दिया है, उसे जिज्ञासु देखें। जो साहित्यशास्त्र में कुछ गति चाहते हैं उनके लिये मूल 'ध्वन्यालोक' तथा 'लोचन' टीका का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

लौकिक तथा अलौकिक ध्वनि

थोड़ा ध्यान देने से प्रतीयमान अर्थ की कुछ विशेषताएँ स्पष्ट हो जायँगी। पद्य के द्वारा सूचित होनेवाले व्यंग्य अर्थ का कभी कभी ऐसा रूप होता है कि यदि हम चाहें तो उसे वाच्य अर्थ के रूप में भी प्रकाशित कर सकते हैं। उदाहरण के लिए —

जीविताशा बलवती धनाशा दुर्बला मम ।
गच्छ वा तिष्ठ वा कान्त स्वावस्था तु निवेदिता ।।

यहाँ नायिका पति से कहती है — 'आप यात्रा जाएँ या न जाएँ।' यह वाच्यार्थ विधिरूप भी नहीं है और प्रतिषेधरूप भी नहीं है। किन्तु इसमें अभिप्राय अर्थात् सूचित अर्थ है – "आप यात्रा न जाएं।" और यह अर्थ निषेधरूप ही है। नायिका यदि चाहती तो इस अर्थ को शब्दों द्वारा स्पष्ट रूप में कह सकती थी। इसी प्रकार—

गुंजन्ति मंजु परितः गत्वा धावन्ति संमुखम् ।
आवर्तन्ते निवर्तन्ते सरसीषु मधुव्रताः ।।

यहाँ वाच्यार्थ है — भ्रमर गुंजारव करते हुए सरोवर की ओर जा रहे हैं और वहाँ से लौट रहे हैं। किन्तु इससे सूचित किया है कि कमलों कि उत्पत्ति का समय समीप आया है तथा इसके द्वारा सूचित किया है शरद् ऋतु का आगमन। इस अभिप्राय को कवि स्पष्ट रूप में शब्दों द्वारा भी बता सकता था।

इस प्रकार अनेकशः व्यंग्य अर्थ का अभिधान वाच्य अर्थ के रूप में किया जा सकता है। इस प्रकार के व्यंग्य को '**लौकिक व्यंग्य**' की संज्ञा है। यहाँ 'लौकिक' पद का अर्थ है 'शब्दों के द्वारा जो वाच्य हो सकता है'। किन्तु व्यंग्ये अर्थ का और भी एक भेद है जो इससे विलक्षण है। वह व्यंग्यार्थ कभी शब्दों द्वारा वाच्य नहीं हो सकता। उदाहरण के लिये —

उत्कंपिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती ।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षितासि ।।

वासवदत्ता के जल जाने का समाचार जब वत्सराज ने सुना तब शोक के आवेश में वे कहने लगे — "भय से तुम कम्पित हो गयी होगी; उस दशा में अञ्चल के छोर के गिरने का भी तुम्हें ध्यान न रहा होगा; **और वे तुम्हारी आँखें** ! कातर होकर चारों ओर ताकती होंगी ! इस अवस्था में भी अग्नि ने तुम्हें जला दिया। पर धूम से अन्ध अग्नि तुम्हारी इस अवस्था को कैसे देखें ?" इस छन्द में "**ते लोचने** — वे तुम्हारी आँखें" ये शब्द रसिक के समक्ष कितना ही विशाल अर्थ खड़ा कर देते हैं ! वासवदत्ता की उन आँखों ने उदयन को कितने ही बार गूढ़ संदेश दिये होंगे; मन के विविध अभिप्राय उन आँखों ने अनन्त प्रकारों से सूचित किये होंगे। इन्हीं आँखों ने उज्जयिनी में उदयन को विद्ध किया था। सिप्रातट के स्नानगृह से वत्स देश की ओर प्रस्थान करते समय मातापिता के वियोग का दुःख, पति के संगति का आनंद, और 'मेरी यह भूल तो नहीं हो रही है ?' इस प्रकार का संभ्रम एवं भय इन्हीं आँखों में तरलित होता हुआ उदयन ने देखा होगा। वे आँखें आज स्मृतिशेष हो गयीं ! जीवन का वह आनन्द नष्ट हो गया। वासवदत्ता का वह गाढ़ स्नेह, वह क्रीडाप्रिय स्वभाव, वह साहसिकता, उसके सहवास का सुख आदि अनंत अर्थ 'ते' इस एक छोटे से शब्द में भर दिये गये है। और वासवदत्ता की मृत्यु के उपरान्त उदयन के मन में हल्ला करती हुई अचानक उठने वाली ये स्मृतियाँ उदयन के शोक की तीव्रता रसिक को प्रतीत कराती हैं। 'उदयन को बहुत शोक हुआ, पूर्वकाल के सुखों की स्मृति से उनका शोक उमड़ आया' आदि प्रकारों से इस अर्थ को कथन करने का प्रयास करने पर भी 'ते लोचने' इन दो शब्दों के द्वारा जो प्रतीति होती है उसका स्वरूप उनमें स्पष्ट नहीं होगा। इस पद्य में अभिप्राय केवल प्रतीतिगम्य है; शब्दवाच्य नहीं। दूसरा उदाहरण—

गुरुमध्यगता मया नताङ्गी
निहता नीरजकोरकेण मन्दम् ।
दरकुण्डलताण्डवं नतभ्रू-
लतिकं मामवलोक्य घूर्णितासीत् ।

"दोपहरी के समय, सास, ननंद आदि गुरुजनों के मध्य मेरी प्रियतमा बैठी थी। मैंने चुपके चुपके उसकी ओर कमल की कली फेंकी। चौक कर उसने मेरी ओर देखा, और भृकुटी भंग करते हुए इस प्रकार सिर डुलाया कि उस समय का भृकुटी और कुंडलों का नर्तन अब भी मेरी आँखों के सामने हैं।' इस पद्य में 'घूर्णिता'

इस एक ही पद में कितना अर्थ भर दिया है। 'यह कैसा पागलपन! कुछ तो समय का ध्यान रखना चाहिये।' इस रूप में कोप (अमर्ष) एवं उस कोप में भी नायिका की सुंदरता निखर उठती है इस लिए नायक को होनेवाला आनन्द एवं इन दोनों भावों के संयोग के द्वारा प्रतीत होनेवाली उन दंपती की प्रीति रसिक के आस्वाद का विषय होती है। इस आस्वाद प्रत्यय का वर्णन, 'उसने क्रोध से मेरी ओर वक्र-दृष्टि से देखा।' आदि शब्दों से सर्वथा असंभव है। सारांश, उपर्युक्त दो पद्यों में जो व्यंग्यार्थ है वह स्वशब्द से वाच्य नहीं हो सकता; वह तो आस्वाद-प्रतीति का ही विषय है। इस प्रकार के व्यंग्यार्थ को '**अलौकिक व्यंग्य**' कहते हैं।

व्यंग्यार्थ के लौकिक और अलौकिक इस प्रकार दो भेद ऊपर बताये जा चुके है। इन दोनों में भेद यह है कि लौकिक व्यंग्य स्वशब्दवाच्य होता है, और अलौकिक व्यंग्य के स्वशब्दवाच्य होने की स्वप्न में भी कल्पना नहीं की जा सकती। लौकिक अर्थात् स्वशब्दवाच्य व्यंग्य के भी दो भेद होते है। उपर्युक्त 'जीविताशा बलवती' या 'गुजन्ति मंजु परितः।' आदि दोनों उदाहरणों में व्यंग्य केवल वस्तुस्वरूप है। इसके अतिरिक्त कई बार व्यंग्यार्थ वैचित्र्यपूर्ण भी हो सकता है। उदाहरण के लिए—

सहि विरइऊण माणस्स मज्झ धीरत्तणेण आसासम्।
पिअदंसण विहलंखलखणम्मि सहसति तेण ओसरिअम्॥

"सखि, उस समय तुमने मेरा धीरज बंधाया। उस धीरज के बल पर मै प्रियतम से रूठ गयी। सोचा कि रूठन निभाने में तुम्हारी बात सहाय्यक होगी। किन्तु प्रियतम के दर्शन से मन में जब उतावली होने लगी तो तुम्हारा बन्धाया धीरज पता नहीं कहाँ भाग खड़ा हुआ।" 'प्रियतम के मनाने के पूर्व ही वह प्रसन्न हो गयी' इस प्रकार की विभावना यहाँ सूचित हो रही है। अथवा —

दयिते वदनत्विषां मिषात्, अयि तेऽमी विलसन्ति केसराः।
अपि चालकवेषधारिणो मकरन्दस्पृहयालवोऽलयः॥

"प्रिये, तुम्हारी दन्तप्रभा के व्याज से यह केसर ही शोभायमान हो रहे हैं। और कृष्णवर्ण अलकों का वेष धारण किये ये भ्रमर ही मधुपान के लिये उत्कण्ठित हुए हैं।" इस पद्य के वाच्यार्थ में अपह्नुति अलंकार है। तथा इस पर से 'तुम युवती न हो कर कमलिनी हो' इस प्रकार का और एक अपह्नुति अलंकार सूचित हुआ है! इस प्रकार व्यंग्यार्थ वैचित्र्यपूर्ण भी हो सकता है। यह भी व्यंग्यार्थ का 'लौकिक' भेद है। क्योंकि, चाहें तो इसे वाच्यरूप में रख सकते हैं। उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन पर ध्यान देने से प्रतीयमान अर्थात् व्यंग्यार्थ के कुल भेद निम्न रूप में दर्शाये जा सकते हैं —

व्यंग्यार्थ (ध्वनि)
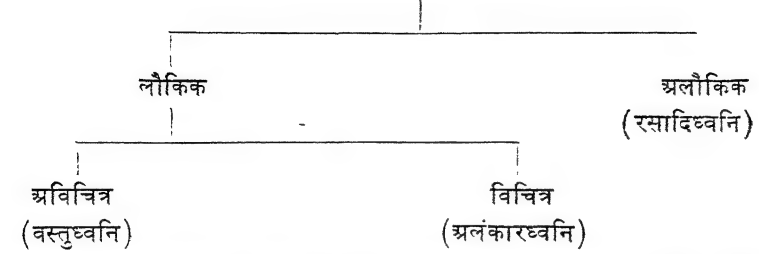
प्रतीयमान के अविचित्र, विचित्र तथा अलौकिक इन भेदों को ही ध्वन्यालोक एवम् अन्य साहित्य ग्रंथों में क्रमशः वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसादिध्वनि की संज्ञाओं से निर्देशित किया गया है। ध्वनि के ये तीनों भेद क्या हैं यह अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में इस प्रकार विशद रूप में समझाया है —

"प्रतीयमान के दो भेद होते हैं। एक भेद है लौकिक और दूसरा भेद है मात्र काव्यव्यापारही के (व्यंजनाव्यापार ही के) द्वारा गोचर होने वाला। प्रतीयमान का लौकिक भेद कई बार स्वशब्द से भी वाच्य हो सकता है। उसके विधि, निषेध आदि अनेक भेद होते हैं एवं 'वस्तु' शब्द से वह बताया जाता है। एक भेद यह है कि यदि व्यंग्यार्थ को वाच्यार्थ का रूप दिया गया अर्थात् सूचित अर्थ को शब्दों से स्पष्ट रूप में कथन किया तो उसे अलंकार का रूप प्राप्त होता है। दूसरा भेद यह, है कि उस व्यंग्यार्थ को वाच्यार्थ के रूप में लाया भी तो उसे अलंकार का रूप प्राप्त नहीं होता, वह केवल वस्तुरूप ही रहता है। इनमें से पहले को 'अलंकारध्वनि' कहते हैं एवं दूसरे को 'वस्तुमात्र' अर्थात् 'वस्तुध्वनि' कहते हैं। प्रतीयमान का वह भेद जो कि काव्यव्यापारगोचर बताया गया है वह स्वप्न में भी स्वशब्दवाच्य नहीं होता। वह वाच्यार्थ की अवस्था में आ ही नहीं सकता। उसका स्वरूप लौकिक व्यवहार की मर्यादा में भी नहीं आता (लौकिक सुखदुःखों का वह विषय नहीं होता)। प्रत्युत, काव्यगत गुणालंकार संस्कृत शब्दों द्वारा रसिक में हृदयसंवाद उत्पन्न होता है; उसमें रसिक को विभाव, अनुभाव आदि का सौंदर्य प्रतीत होता है; उस प्रत्यय के साथ ही उन विभावानुभावों के लिए उचित तथा रसिक के मन में पूर्वनिविष्ट रति आदि वासनाओं का जो धीरे से उद्बोध होता है उस उद्बोध का सौंदर्य भी उसे प्रतीत होता है; एवं रसिक की संवित् सुकुमार अर्थात् चर्वणायोग्य होकर रसिक के आनन्दमय चर्वणाव्यापार ही के कारण वह अर्थ आस्वादनीय अर्थात् रसनीय होता है। इस प्रकार यह काव्यार्थ, मात्र काव्यव्यापार ही से अर्थात् व्यंजनाव्यापार ही से गोचर होता है; शब्दों से वह गोचर नहीं होता। इस प्रकार

का, काव्यव्यापार ही से गोचर होने वाला यह अर्थ ही रसध्वनि (रसादिध्वनि) है। यह अर्थ ध्वनित ही होता है; वाच्य नहीं होता। अत एव यह व्यंजनाव्यापार ही का – जोकि केवल काव्य ही में पाया जाता है – विषय होता है। अन्य किसी भी व्यापार का यह विषय नहीं होता। अतएव रसादिध्वनि ही मुख्यतया काव्यात्मा है।" (२)

संलक्ष्यक्रम तथा असंलक्ष्यक्रम

एक ओर रसादिध्वनि (अलौकिक) और दूसरी ओर वस्तु तथा अलंकारध्वनि इन दोनों में एक और भेद है। वह यह कि रसादिध्वनि की सहसा प्रतीति होती है। अर्थात् जिन विभाव, अनुभाव आदि के द्वारा रसादि प्रतीति होती है उन विभाव, अनुभाव आदि का क्रम रसिक के ध्यान में नहीं आता। अतएव रसादिध्वनि को **असंलक्ष्यक्रमध्वनि** कहा जाता है। इसके विपरीत, जब वस्तु अथवा अलंकार ध्वनित होते हैं तब जिस क्रम से वे ध्वनित होते हैं वह क्रम हमारे ध्यान में आ जाता है। अतएव साहित्यशास्त्र में उन्हें **संलक्ष्यक्रमध्वनि** की संज्ञा दी गयी है। रसादिध्वनि में भी विभाव आदि का क्रम तो होता ही है; यह बात नहीं कि नहीं होता; केवल यही है कि रसिक को वह प्रतीत नहीं होता।

---

२. प्रतीयमानस्य तावत् द्वौ भेदौ – लौकिकः, काव्यव्यापारैकगोचरश्चेति। लौकिकः, यः स्वशब्दवाच्यतां कदाचिदधिशेते, स च विधिनिषेधाद्यनेकप्रकारो वस्तुशब्देनोच्यते। सोऽपि द्विविधः—यः पूर्वं क्वापि वाक्यार्थे [illegible], इदानी तु अनलंकाररूप एवान्यत्र गुणीभावाभावात्, स पूर्वं प्रत्यभिज्ञानबलात् अलंकारध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मणश्रमणन्यायेन। तद्रूपताभावेन तूपलक्षितं वस्तुमात्रमुच्यते। मात्रग्रहणेन हि रूपान्तरं निराकृतम्। यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यः, न लौकिकव्यवहारपतितः, किन्तु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभानुभाव-समुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुर [illegible] रसः, स काव्यव्यापारैकगोचरः रसध्वनिः इति। स च ध्वनिरेवेति, स एव मुख्यतया आत्मा इति।

ब्राह्मणश्रमणन्याय — कोई ब्राह्मण यदि बौद्धसंन्यासी (श्रमण) हो गया तब वह शिखा-सूत्र त्याग करता है। किन्तु यह शिखासूत्रत्याग विधिपूर्वक न होने से उसके श्रमणत्व को भी ब्राह्मणत्व लगा रहता है। एवं वह ब्राह्मणश्रमण के नाम से पहचाना जाता है। अलंकारध्वनि का भी ऐसा ही है। अलंकारत्व वास्तव में वाच्यार्थ का धर्म है, ध्वन्यर्थ का नहीं। जिसे हम अलंकारध्वनि कहते हैं वह ध्वन्यर्थ ध्वन्यर्थ स्वरूप में वस्तुमात्र ही होता है। किन्तु वाच्यार्थ-स्वरूप में उसे अलंकारत्व प्राप्त होने से, वह अलंकारत्व ध्वन्यर्थरूप में भी उसे पूर्वप्रत्यभिज्ञा के कारण प्राप्त होता है। यह ठीक उस बौद्धश्रमण के समान है जिसका कि पहला ब्राह्मणत्व अब भी माना जाता है। इस लिए, व्यंग्यार्थावस्था में जो अर्थ वस्तुस्वरूप होता है उसे, उसका वाच्यार्थावस्था में जो अलंकारत्व था वह प्राप्त होता है और उस व्यंग्यार्थ को 'अलंकारध्वनि' की संज्ञा दी जाती है।

ध्वनिकार ने इस बात को पदार्थ की तथा वाक्यार्थ की प्रतीति के दृष्टान्त से दर्शाया है। जिस प्रकार पदार्थद्वारा ही वाक्यार्थप्रतीति होती है उसी प्रकार व्यंग्यार्थप्रतीति भी वाच्यार्थपूर्विका ही होती है; किन्तु जिसका शब्दों का ज्ञान अच्छा है ऐसे व्यक्ति को जब वाक्यार्थप्रतीति होती है तब, यह प्रतीति यद्यपि पदार्थों के द्वारा होती है तथापि उन पदार्थों की स्वतन्त्र प्रतीति एवं वाक्यार्थनिष्पत्ति का क्रम उस व्यक्ति के ध्यान में नहीं आता। नौसिखिया शब्दज्ञानी एवं कुशल शब्द-ज्ञानी–दोनों की प्रतीति में क्रम तो एक ही रहता है — पहले शब्द, फिर शब्दार्थ, उसके बाद उनमें परस्पर संबन्ध और अन्त में वाक्यार्थ। किन्तु नौसिखिया क्रमशः वाक्यार्थ तक पहुँचता है, और कुशल व्यक्ति को शब्द सुनते ही वाक्यार्थ की प्रतीति होती है — शब्द और वाक्यार्थ के बीच जो क्रम है उसका उसे स्वतन्त्र रूप में भान नहीं होता। सहृदय रसिक का भी ऐसा ही अनुभव होता है। उसको भी रसप्रतीति विभावानुभावों द्वारा ही होती है; किन्तु यह विभाव है, ये अनुभाव हैं, ये संचारी हैं और यह रस है इस प्रकार क्रम का उसे भान नहीं होता (३)। काव्य पढ़ने के समकाल ही उसे रसप्रतीति होती है। यही '**झटितिप्रत्यय**' है। "सातिशयानुशीलनाभ्यासात् तत्र संभाव्यमानोऽपि क्रमः सजातीयतद्विकल्पपरंपरानुदयात् अभ्यस्तविषयव्याप्तिसमस्मृतिक्रमवत् न संवेद्यते।" ऐसा अभिनवगुप्त ने इस संबन्ध में कहा है। अतएव इसकी असंलक्ष्यक्रमता का विवेचन करते हुए आनन्दवर्धन ने कहा है – "रसादिरर्थो हि **सहेव** वाच्येन अवभासते।" रस आदि का प्रत्यय, विभावादि वाच्यों के मानों समकाल ही हों इस प्रकार आता है। और 'इव' शब्द के प्रयोग से दर्शाया है कि रसादि प्रतीति में क्रम यद्यपि विद्यमान है तथापि ध्यान में नहीं आता। (४)

इसके विपरीत, वस्तुध्वनि अथवा अलंकारध्वनि में वाच्यार्थ एवं ध्वन्यर्थ के बीच जो क्रम है उसकी ओर ध्यान जाता है। अतएव उन्हें 'संलक्ष्यक्रमध्वनि' कहा जाता है। उदाहरण के लिये —

> निरूपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते।
> जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥

"उन [illegible] महादेव को नमस्कार–जो विना किसी साधन-सामग्री के-शून्य में से इस वैचित्र्यपूर्ण जगत् को निर्माण करते हैं।" इस पद्य में शिवजी

---

३. यथा अत्यन्तशब्दवृत्तज्ञो यो न भवति तस्य पदार्थवाक्यार्थक्रमः। काष्ठाप्राप्तसहृदयभावस्य तु वाक्यवृत्तकुशलस्येव सन्नपि क्रमः [illegible] असंवेद्यः —अभिनवगुप्त लोचन

४. इव शब्देन असंलक्ष्यक्रमता विद्यमानत्वेऽपि क्रमस्य व्याख्याता।—लोचन

की स्तुति है अत एव उपर्युक्त अर्थ इस पद्य का वाच्यार्थ है। किन्तु इस पद्य को पढ़ते पढ़ते, रसिक के मन में दूसरा भी एक अर्थ तरंगित होता है — " किसी प्रकार की (तूलिका, रंग आदि) उपकरण-सामग्री न लेते हुए, विना किसी आधार के ही (अभित्ति) जो जगत् का चित्र अंकित करते हैं उन-कलाकारों के लिये भी श्लाघ्य भगवान् शिवजी को नमस्कार है।" यह व्यंग्यार्थ है क्योंकि इस पद्य में शब्दों की अभिधाशक्ति पहले ही वाच्य अर्थ में सीमित होने से यह दूसरा अर्थ व्यंजनाव्यापार से ही प्रतीत होगा। यह व्यंग्यार्थ ध्यान में आते ही अन्य सामान्य चित्रकारों की अपेक्षा यह चित्रकार (शिवजी) श्रेष्ठ हैं इस प्रकार व्यतिरेक ध्वनित होता है। इस प्रकार इस पद्य में वाच्यार्थ अन्ततोगत्वा व्यतिरेक ध्वनि में विश्रान्त हुआ है। जिस क्रम से वह विश्रान्त हुआ है वह क्रम भी रसिक को प्रतीत होता है इस लिये यह '**संलक्ष्यक्रमध्वनि**' है। संलक्ष्यक्रमध्वनि में वाच्यार्थ से जब व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है तो एक के पीछे एक अर्थवलय — व्यंग्यार्थ के — उत्पन्न होते रहते हैं। घंटानाद के समय पहले आघात के साथ एक ध्वनि होता है और तत्पश्चात् देर तक उसीके अनुनाद सुनायी देते हैं। ऐसा ही संलक्ष्यक्रम ध्वन्यर्थ का भी होता है। अतएव उसे '**अनुस्वान**' अथवा '**अनुरणन**' ध्वनि भी कहा गया है। यह अनुस्वानरूप व्यंग्यार्थ प्रतीति शब्दशक्ति तथा अर्थशक्ति के कारण अनेक प्रकारों की पायी जाती है, अत एव साहित्यशास्त्र में इस ध्वनिप्रकार के अनेक उपप्रकार बताये गये हैं।

रसादि ध्वनि क्वचित् संलक्ष्यक्रम भी हो सकता है

रसादिध्वनि की प्रतीति में इस प्रकार का क्रम ध्यान में नहीं आता। वहाँ भी क्रम तो होना ही है; यह बात नहीं कि नहीं होता किन्तु इतना ही है कि रस-प्रतीति के समय उस क्रम की प्रतीति नहीं होती। यहाँ एक बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिये, रसप्रतीति एक अलग बात है और रसप्रतीति किस प्रकार हुई इसकी विवेचना एक अलग बात है। हम किसी काव्य को पढ़ते हैं तो पठन के सम-काल ही जिसका अनुभव होता है वह आनन्दप्रतीति ही रसप्रतीति है। किन्तु यह रसप्रतीति किस प्रकार हुई इस बात का जब हम विचार करते हैं अथवा व्याख्यान करते हैं तब वह रसप्रतीति का विवेचन होता है। साक्षात् रसास्वाद के समय जिसकी ओर हमारा ध्यान नहीं था किन्तु जो वास्तव में वहाँ विद्यमान था उस क्रम को हम ऐसे विवेचन में विशद करते हैं। यह विवेचन ध्वनि नहीं है। अनुभूत ध्वनि का वह विवेचन है। रसादि ध्वनि असंलक्ष्यक्रम है, किन्तु कभी प्रसंगवश वह संलक्ष्यक्रम भी हो सकता है। उदाहरण के लिये पार्वतीजी की मँगनी के लिये शिवजी की ओर से सप्तर्षि हिमालय के निकट पहुँचे और यथाविधि उन्होंने विवाह

का प्रस्ताव हिमालय के सम्मुख रखा। शिवजी की ओर से ऋषि अंगिरा हिमालय से वार्तालाप कर रहे थे, तब पार्वतीजी पिता हिमालय के निकट ही खड़ी थीं। अंगिरा का भाषण समाप्त हुआ उस समय का वर्णन कालिदास करते हैं —

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥ (कु. सं. ६।८४)

"अंगिरा के इस प्रकार कहने पर, पिता के निकट खड़ी पार्वतीजी शिर झुका कर, क्रीडा के लिये हाथ में लिए कमल के पत्रों को गिनने लगीं।" हाथ में कोई वस्तु लेकर उससे खेलते हुए मन बहलाना यह तो कन्याओं का स्वभाव होता है। पार्वतीजी कमल के पत्रों का जो परिगणन कर रही थीं वह स्वाभाविक था या अपने मन के किसी भाव को छिपाने का उनका उद्देश्य था? जब हम इस प्रकार सोचते है तो प्रकरण से हमें बोध होता है कि अपने मन का आनन्द दूसरों के ध्यान में न आने पावें इस लिये उन्होंने कमलपत्रों को गिनना आरम्भ किया। यहाँ 'अवहित्थ' का या लोचनकार के मत में 'लज्जा' का संचारी भाव अभिव्यक्त होता है। अथवा —

तल्पगतापि च सुतनुः श्वासासंगं न या सेहे।
संप्रति सा हृदयगतं प्रियपाणिं मन्दमाक्षिपति ॥

" शय्या पर सोई हुयी, प्रियतम के उच्छ्वास से भी जो सँकुचाती थी, वही नववधू आज भी अपने वक्ष पर से प्रियतम का हाथ हटा रही है — किन्तु बहुत धीरे धीरे।" जगन्नाथ का यह पद्य है। पति के यात्रा जाने के पूर्व की रात्रि का इस पद्य में वर्णन है। इस पद्य में स्थित 'संप्रति' तथा 'मन्दम्' इन पदों से ध्वनित होता है कि नायिका के संकोच की पहले कुछ निराली दशा थी; किन्तु आज उस के संकोच का भी संकोच हो रहा है। संकोच करने के स्थान में प्रियतम के हाथ को धीरे धीरे हटाना इस क्रिया में से उसका रतिभाव लक्ष्यक्रम से व्यक्त हुआ है।

सारांश जिस समय प्रकरण स्पष्ट रहता है, विभावानुभाव अविलंब प्रतीत होते हैं ऐसे समय में प्रतिभावान् रसिक को रस का झटिति प्रत्यय होता है। इस का काल इतना सूक्ष्म होता है कि विभावादि तथा रस दोनों की प्रतीति एकसाथ हुई सी लगती है। वहाँ हेतु और हेतुमत् के पौर्वापर्य का भी भान नहीं रहता। इस दशा में रसादिध्वनि असंलक्ष्यक्रम होता है। किन्तु जहाँ प्रकरण आदि का पर्यालोचन करना पड़ता है, विभावादि को भी अपनी बुद्धि से उन्नीत करना पड़ता है, वहाँ रससामग्री की अभिव्यक्ति विलंब से होती है, इसलिये रसादि प्रतीति का चमत्कार भी मंथरता से — मन्दगति से ही होता है। अतएव इस दशा में रसादिध्वनि भी 'संलक्ष्यक्रम' होता है।

मम्मट, विश्वनाथ आदि की मान्यता है कि 'रसादिरूपव्यंग्य असंलक्ष्यक्रम

ही होता है!' किन्तु जगन्नाथ ने उपर्युक्त प्रकार से रसादि का संलक्ष्यक्रमत्व भी दर्शाया है। आनन्दवर्धन ने इस प्रकार के ध्वनि को अर्थशक्त्युद्भवध्वनि का प्रकार बताया है, और कहा है कि जहाँ विभावादि की साक्षात् शब्दप्रतीति द्वारा रसादि प्रतीति होती है वहाँ असंलक्ष्यक्रम होता है। इसका अर्थ यह होता है कि रसभावादि अर्थ नित्य ध्वनित ही होते हैं; वे कभी वाच्य नहीं होते; किन्तु ऐसा भी नहीं है कि वे सब अलक्ष्यक्रम ही होते हैं। जहाँ विभावादि से झटिति प्रत्यय होता है वहाँ रसादि अलक्ष्यक्रम होता है; किन्तु जहाँ प्रकरण आदि के अनुस्मरण से रसादि प्रतीति होती है वहाँ तो क्रमव्यंग्यता ही होती है ऐसा अभिनवगुप्त ने इस पर कहा है। जिज्ञासु 'ध्वन्यालोक' २।२२ पर मूल लोचन देखें।

ध्वनि के भेद

व्यंजनाव्यापार तथा ध्वनि का यहाँ तक भिन्नभिन्न दृष्टियों से किया हुआ विवेचन अब एकत्रित करें। सर्वप्रथम ध्वनि का विभाग हमने लक्षणामूल ध्वनि तथा व्यंजनामूल ध्वनि इस प्रकार किया। यह विचार वाच्यदृष्टि से किया गया है। लक्षणामूल में वाच्यार्थ विवक्षित ही नहीं होता। इस लिये उसे '**अविवक्षितवाच्य**' भी कहते हैं। अभिधामूल ध्वनि में वाच्य विवक्षित होता है। परन्तु उसका पर्यवसान व्यंग्यप्रतीति में होता है। अतएव उसे '**विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि**' भी कहा जाता है। ध्वनि का दूसरा विभाग अभिव्यक्ति के भेद से किया गया है। व्यंग्यार्थ जब अभिव्यक्त होता है तब उस अभिव्यक्तिव्यापार में जो क्रम है वह या तो ध्यान में आयेगा या नहीं आयेगा। इस दृष्टि से ध्वनि के दो भेद होते हैं—'**संलक्ष्यक्रमध्वनि**' तथा '**असंलक्ष्यक्रमध्वनि**'। ध्वनि का तीसरा विभाग व्यंजक मुख से होता है। ध्वनि या तो '**शब्दशक्तिमूल**' होगा (उदा. भद्रात्मनो इ.) या '**अर्थशक्तिमूल**' होगा (उदा. संकेतकालमनसम् इ.) या '**उभयशक्तिमूल (शब्दार्थशक्तिमूल)**' होगा (५) ध्वनि का अन्तिम विभाग व्यंग्यमुख से होता है। इस दृष्टि

---

५. [illegible] उदाहरण—

अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा।
तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम्॥

यहाँ रात्रिवर्णन से अभिप्राय है। इस लिये इस पद्य का वाच्यार्थ है—"स्वच्छ चन्द्रमा जिसका आभूषण है, जो कामवृत्ति को उद्दीपित करता है एवं जो विरल तारिकाओं से युक्त है ऐसी यह चाँदनी की रात्रि (श्यामा) किसे हर्षित नही कर देगी?" इस वाच्यार्थ के साथ ही निम्न व्यंग्यार्थ भी रसिक के मन में तरंगित होता है—"विलास के लिये तत्पर चन्द्रभूषण से (चन्द्रहार से) अलंकृत, आनन्द से युक्त (समुद्), कामवृत्ति को जगा देने वाली (दीपितमन्मथा), एवं चंचल दृष्टि से युक्त (तारकातरला) युवती (श्यामा) किसे हर्षित नही कर देगी?"

(शेष अगले पृष्ठ पर)

(अ) हेमचन्द्र ने 'उभयशक्तिमूल' का 'शब्दशक्तिमूल' में ही अन्तर्भाव किया है। उनकी मान्यता के अनुसार ९ ही भेद होंगे।

(आ) अर्थ लोकसिद्ध हो सकता है, या कविप्रौढोक्ति से उत्पन्न हो सकता है। अर्थ के इन दो प्रकारों के अनुकूल, उपर्युक्त अर्थशक्तिमूल चार भेदों के एकैकशः और दो दो भेद होंगे तथा कुल ध्वनिप्रकार १४ होंगे। जगन्नाथ ने इस प्रकार १४ भेद किये हैं।

(इ) आनन्दवर्धन का अनुसरण करते हुए मम्मट और विश्वनाथ अर्थ के तीन भेद मानते हैं। वे इस प्रकार—[१] लोकसिद्ध (स्वतः संभवी), [२] कवि प्रौढोक्ति–निर्मित, तथा [३] कविनिर्मितपात्र प्रौढोक्तिनिर्मित। इस दृष्टि से अर्थशक्तिमूलध्वनि के बारह भेद होते हैं एवं ध्वनि के कुल भेद अठारह होते हैं। हेमचन्द्र तथा जगन्नाथ ने 'कविनिर्मित पात्र प्रौढोक्ति' का अन्तर्भाव 'कविप्रतिभाव-निर्मित' (कविप्रौढोक्ति) उक्ति में ही किया है।

से ध्वनि के तीन भेद होते हैं—'**वस्तुध्वनि**', '**अलंकारध्वनि**' और '**रसादिध्वनि**'। इस प्रकार वाच्यमुख से, व्यंजनाव्यापारमुख से, व्यंजकमुख से तथा व्यंग्यमुख से ध्वनि के विभाग कैसे किये जाते है यह हमने देखा। इन सब विभागों का एकत्र करने से ध्वनि के कुल प्रकार पृ. २२३ पर दी हुई सूचि के अनुसार होंगे।

गत अध्याय में व्यंजना के प्रकारों की सूचि दी गई है। उस सूचि के अनुसार उपर्युक्त ध्वनिभेद निम्न रूप में दर्शाये जा सकते हैं।
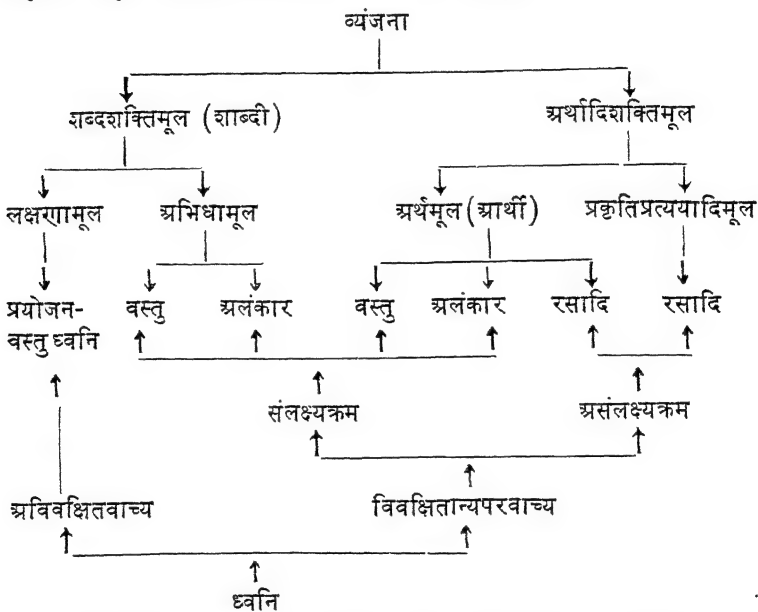
ध्वनि के तीन भेद हैं—वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसादिध्वनि। शब्द तथा अर्थ व्यंग्यार्थ को अभिव्यक्त करते हैं अतएव वे व्यंजक हैं। शब्द तथा अर्थ में जो व्यंजनाव्यापार होता है उसके द्वारा ये ध्वन्यर्थ अभिव्यक्त होते हैं, अत एव

(पृष्ठ २२० से)

यहाँ चन्द्र, समुद्दीपित, तारका, तथा श्यामा इन शब्दों की परिवृत्ति नहीं हो सकती अत एव शाब्दी व्यंजना है; तथा अन्य शब्दों की परिवृत्ति हो सकती है अत एव आर्थी व्यंजना है। इस लिये यह उभयशक्तिमूलव्यंजना का उदाहरण है। यहाँ वस्तुवर्णन के द्वारा उपमालंकार ध्वनित हुआ है। हेमचन्द्र 'उभयशक्तिमूल' भेद स्वीकार नहीं करते। वे इस भेद का अन्तर्भाव 'शब्द-शक्तिमूल ध्वनि' में ही करते हैं।

ध्वन्यर्थ तथा शब्दार्थ में व्यंग्यव्यंजक संबन्ध होता है। वस्तुध्वनि अथवा अलंकार-ध्वनि के दो ध्वनिभेद, शब्दशक्तिमूल अर्थात् शाब्दी व्यंजना एवं अर्थशक्तिमूल अर्थात् आर्थी व्यंजना के दोनों व्यंजनाप्रकारों से ध्वनित होते है। इन सभी ध्वनि-प्रकारों का वर्णन 'ध्वन्यालोक' के द्वितीय उद्योत में तथा 'काव्यप्रकाश' के चतुर्थ उल्लास में देखना चाहिये।

व्यंजकता के भेद

यहाँतक हमने व्यंग्यमुख से ध्वनिविवेचन किया। यह विवेचन व्यंजक-मुख से भी हो सकता है। शब्दार्थ ध्वन्यर्थ के व्यंजक होते हैं। व्यंग्यार्थ शब्दार्थों के द्वारा अनेक प्रकारों से ध्वनित हो सकता है। कभी पदार्थ से ध्वन्यर्थ सूचित होगा तो कभी वह संपूर्ण वाक्य में से भी सूचित होगा। उदा.

धृतिः क्षमा दया शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः **समिधः** श्रियः॥

भगवान् व्यास के इस पद्य में 'समिधः' पद 'उद्दीपक' के अर्थ में प्रयुक्त हैं तथा इस पद के द्वारा सूचित किया है कि निर्दिष्ट गुण अन्यनिरपेक्ष होकर उत्कर्ष के कारण होते हैं।

किमिव हि **मधुराणां** मण्डनं नाकृतीनाम्।

कालिदास की इस प्रसिद्ध पंक्ति में मधुर शब्द भी इसी प्रकार व्यंजक है। वाच्यार्थ की दृष्टि से मधुर शब्द 'माधुर्य रस से युक्त' इस अर्थ का वाचक है। किन्तु यहाँ वह 'रमणीय' के अर्थ में आया है; एवं इस गुण से युक्त व्यक्ति, किसी के भी लिये अभिलषणीय ही है इस बात को यहाँ ध्वनित करता है। उपर्युक्त दोनों उदा-हरणों में व्यंग्यार्थ पद के द्वारा अभिव्यक्त हुए हैं।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

'योगी रात में जागता है और दिन में सोता' इस वाच्यार्थ से यहाँ अभिप्राय नहीं है। प्रत्युत वह तत्त्वज्ञान के विषय में तत्पर एवं मिथ्याज्ञान के संबन्ध में पराङ्मुख होता है इस अर्थ से अभिप्राय है तथा उसके द्वारा योगी की लोकोत्तरता सूचित की गयी है। इस पद्य में कोई भी एक शब्द व्यंजक नहीं है, अपितु संपूर्ण वाक्यार्थ व्यंजक है। इस प्रकार पद तथा वाक्य व्यंजक होते हैं।

व्यंजक की दृष्टि से देखा जाय तो प्रतीत होता है कि शब्दशक्तिमूल ध्वनि तथा अर्थशक्तिमूल ध्वनि के दोनों भेद पद तथा वाक्य दोनों के द्वारा प्रकाशित हो सकते हैं। प्रत्युत उभयशक्तिमूल ध्वनि वाक्यगत ही हो सकता है, पदगत नहीं। कारण यह है कि उभयशक्तिमूल ध्वनि में पदों के 'परिवृत्तिसहत्व' तथा 'परिवृत्त्यसहत्व' के दोनों धर्म होते है, एवं वे दोनों धर्म परस्पर विरोधी होते हैं, इस लिये वे एक ही पद में एक साथ नही रह सकते। अर्थशक्तिमूल ध्वनि पद और वाक्य के समान प्रबंध के द्वारा भी अभिव्यक्त हो सकता है। प्रबन्ध का अर्थ है अनेक वाक्यों का प्रकरण रूप या ग्रन्थरूप समुदाय। अत एव सम्पूर्ण प्रकरण या ग्रन्थ भी अर्थशक्ति-मूल ध्वनि का व्यंजक हो सकता है। उदाहरण के लिये महाभारत से निम्न प्रसंग देखिये —

किसी ब्राह्मण के बहुत काल बीतने पर लड़का उत्पन्न हुआ। माता-पिता का उस पुत्र से बहुत ही प्यार हो गया। किन्तु दुर्भाग्य वश उस बालक की अकस्मात् मृत्यु हो गयी। उस ब्राह्मण के बन्धुबान्धव आये और बालक की मृत देह स्मशान में ले गये। ब्राह्मण भी उनके साथ गया। स्मशान में शव के समीप बैठ कर शोक करते हुए उन लोगों को देख कर स्मशानवासी गीध उनके पास आया और बोला —

"अलं स्थित्वा स्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसंकुले।
कंकालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयंकरे॥
न चेह जीवितः कश्चित् कालधर्ममुपागतः।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यो प्राणिनां गतिरीदृशी॥

"सज्जनों, यहाँ गीध, सियार आदि जन्तु नित्य रहते हैं। जिधर देखो हड्डियाँ ही हड्डियाँ फैली हुई हैं। ऐसे इस भयानक स्थान में आप लोगों के ठहरने से क्या लाभ? यह बालक कदाचित् जीवित होगा इस आशा से यदि आप लोग यहाँ ठहरे हैं तब यह व्यर्थ है। मृत जन्तु कभी जीवित भी हुआ है? क्या प्रियजन, क्या द्वेष्य, सब प्राणियों की अन्त में यही गति होनेवाली है।"

गीध की बात को मानकर वे लोग लौट जाने की सोच ही रहे थे कि एक सियार उनके पास आया और कहने लगा —

"आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत सांप्रतम्।
बहुविघ्नो मुहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन॥
अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम्।
गृध्रवाक्यात् कथं मूढाः त्यजध्वमविशंकिताः॥

"मूर्खो, अभीतक सूर्य भी अस्तंगत नहीं हुआ, और तुम लोग इतनी शीघ्रता के जाने की क्यों सोच रहे हो ? इस बालक के पास प्रेम से बैठो। संभव है कि यह बालक जीवित भी हो जायगा। इस बालक की सोने की सी कांति अभी तो वैसी ही है (शायद इसकी मृत्यु ही नहीं हुई है)। इस भयानक समय में इस नन्हे से बालक को — जब कि वास्तव में मृत्यु हुई है या नहीं इसका संदेह है — केवल गीध के कहने मात्र से, मूर्खों, तुम छोड़ कर चले जा रहे हो ?"

गीध दिन में शव फाड़कर खाता है और सियार रात्रि में खाता है, इस बात को ध्यान में रखकर इस संदर्भ की ओर देखने से गीध और सियार दोनों के भाषण का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है एवं आदमी को कितना ही शोक क्यों न हुआ हो स्वार्थपरायण धूर्त उसकी उस दशा से अपना लाभ किस प्रकार कर लेने की सोचते है यह इस संदर्भ से ध्वनित होता है।

रसव्यंजकता के कुछ प्रकार

रसादि ध्वनि अनेक प्रकारों से अभिव्यक्त होता है। रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशान्ति, भावशबलता, आदि आदि सब प्रकारों का रसादि की संज्ञा में अन्तर्भाव होता है। ये सब 'असंलक्ष्यक्रमध्वनि' हैं (६)। यह ठीक है कि पद, प्रकृति, प्रत्यय आदि सब के द्वारा यह अभिव्यक्ति होती है किन्तु प्रबन्ध ही रसाभिव्यक्ति का प्रमुख साधन है; क्योंकि विभावानुभावों की स्फुटप्रतीति प्रबन्ध में ही हो सकती है। हाँ, सूक्ष्मवासना संस्कार से पद आदि के द्वारा भी रसिक को रसप्रतीति हो सकती है। नाटक तथा महाकाव्य प्रबन्धद्वारा रसाभिव्यक्ति करते है। रचना की व्यंजकता रीति अथवा संघटना में पायी जाती है। पदगत रसाभिव्यंजकता 'हे हस्त, दक्षिण' तथा 'उत्कंपिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता' आदि पूर्व उदाहृत छन्दों में दिखायी देती है। इन दोनों छन्दों में क्रमशः 'रामस्य' तथा 'लोचने' इन पदों का पर्यवसान अन्ततोगत्वा शोकाभिव्यक्ति में किस प्रकार होता है यह पूर्व बताया जा चुका है। निम्न उदाहरण पदव्यंजकता की दृष्टि से अध्ययन योग्य है —

---

६. रसभावतदाभास भावशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः॥ (ध्वन्यालोक २।३)

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः, तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं, जीवत्यहो रावणः।
धिक् धिक् शक्रजितं, प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ।। (७)

इस पद्य में पदों की व्यंजकता की विविधता चरम सीमा पर है। 'पहले तो मेरे कोई शत्रु हो' यही अनुचित है। इस अनुचित संबन्ध से क्रोध का आविर्भाव व्यक्त होता है। तिसपर 'अरयः' इस बहुवचन से तो वह और अधिक व्यक्त होता है। रावण का वास्तव में तो कोई शत्रु ही नहीं होना चाहिये और यदि हो भी तो एक आध ही हो सकता है, किन्तु यहाँ तो अनेक शत्रु खड़े हो गये हैं। अच्छा, शत्रु हो तो कम से कम तुल्यबल तो हो, वह भी नहीं। यहाँ तो शत्रु केवल तापस हैं। 'तापस' शब्द से दर्शाया है कि उसके पास मात्र तप है, पराक्रम नहीं: 'इस पराक्रमहीन तापस ने राक्षसों का संहार करना यह भी अनुचित है। और इसमें भी अचंभे की बात यह है कि मेरी अपनी नगरी में आकर सारे राक्षस कुल का नाश करना। और यह सब मैं रावण देखता रहूँ।' इस दूसरे चरण में तो क्रियापद और कारक शक्तियों की ही व्यंजकता है। 'अहो' इस एक ही अव्यय के द्वारा, असंभवनीय घटनाएं कैसी हो रही हैं इस पर रावण का खेदसहित आश्चर्य व्यक्त हो रहा है। 'रावण' इस पद में तो अर्थान्तरसंक्रमितध्वनि ही है। इसका यहाँ अर्थ है—'त्रिभुवन पर धाक जमाने वाला तानाशाह'। शक्रजित् का अर्थ है साक्षात् देवराज इन्द्र को जीतने वाला मेघनाद; किन्तु वह भी अब कुछ करने में समर्थ नहीं हो रहा; उसकी 'शक्रजित्' की उपाधि से क्या लाभ ?

इतना सारा अर्थ 'धिक्' इस एक शब्द में समाया है। और अन्तिम चरण से यह बात अभिव्यक्त हो रही है कि स्वर्ग पर विजय पाने से रावण को जो गर्व हुआ था वह भी व्यर्थ हो कर रावण की सारी बड़ाई अब मटियामेट हो गयी है। इस प्रकार इस छन्द को तिलशः खण्डित करने पर भी प्रत्येक खण्ड से सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थ ध्वनित होता है, एवं रावण का अमर्ष, अपने विषय में तिरस्कार, इन्द्रजित के सम्बन्ध में निराशा आदि अनेक भाव द्योतित होते हैं तथा इन सब के द्वारा

---

७. रावण कहता है— लज्जा तो इस बात पर है कि मेरे भी शत्रु हों; तिस पर भी वह तापस हों; वह तापस यहाँ— इस लंका में— राक्षस कुल का संहार आरंभ करें, और यह सब देखता हुआ मैं रावण जीवित रहूँ। धिक्कार है इन्द्रजित् को। कुंभकर्ण को जगाने से भी क्या लाभ है? और स्वर्ग को एक क्षुद्र ग्राम मात्र समझ कर लूट लिया इस पर मेरी इन बीस भुजाओं को भी व्यर्थ का गर्व क्यों हो ?

रावणगत क्रोध का क्रमशः बढ़ती मात्रा में उद्दीपन होता दिखायी दे रहा है। आनन्दवर्धन का अभिप्राय है कि, "इस पद्य में अलौकिक '**बन्धच्छाया**' अर्थात् रचनासौंदर्य है तथा इस प्रकार की रचना केवल प्रतिभावान् कवि ही कर सकते हैं।"

> अतिक्रान्तसुखाः कालाः प्रत्युपस्थितदारुणाः ।
> श्वः श्वः पापीयदिवसा पृथिवी गतयौवना ॥

महर्षि व्यास के इस छन्द में भी एक एक पद नें निर्वेद की अभिव्यक्ति की बहार है। कोई भी काल लें, उस काल में सुख तो नष्ट हुआ ही प्रतीत होगा (अतिक्रान्त), और दुःख तो नित्य ही उपस्थित पाया जायगा (प्रत्युपस्थित) भविष्य की कुछ आशा करें, तो 'कल' का अनुभव 'आज' से भी अधिक पापयुक्त प्रतीत होता है और लगता है कि गया दिन सो अच्छा गया, वह भी फिर नहीं आवेगा (गतयौवना) और फिर पुरुष का विरक्ति की ओर मन बढ़ता है। यह सम्पूर्ण अर्थ इस पद्य में केवल भूतकालवाचक पदों द्वारा आया है। 'पापीयस्' पद से प्रतिदिन दुःख बढ़ता ही रहा है यह सूचित किया गया है एवं 'गतयौवना' पद से अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि के द्वारा 'संसार में किसी विषय में अभिलाषा नहीं रही' यह सूचित करते हुए शान्तरस की ओर रसिक को अभिमुख किया गया है। प्रतिभाशाली कवि के एक एक शब्द से भाव कैसे अभिव्यक्त होते हैं यह इससे स्पष्ट होगा।

वाक्य की रसादिव्यंजकता

वाक्य की रसव्यंजकता तो हमारे नित्य परिचय की है। 'काव्यप्रकाश' आदि अलंकार ग्रन्थों में रसादि के उदाहरण स्वरुप जो छन्द दिये जाते हैं वे वाक्य की रसव्यंजकता ही दर्शाते हैं। इन छन्दों के वाच्यार्थ से विभाव अनुभाव आदि का प्रत्यक्षवत् चित्र उपस्थित होता है, एवं तद्द्वारा रसभावाभिव्यक्ति होती है। इस के उदाहरण अनेक हैं। दिङ्मात्र उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

(१) भावध्वनि का उदाहरण—

> एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो–
> रन्योन्यं हृदयस्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम् ।
> दम्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषो–
> र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यावृत्तकण्ठग्रहम् ॥

पति पत्नी दोनों एक शय्या पर पड़े हैं । आपस में कुछ हुआ, बात बढ़ गयी, एक दूसरे से मुँह मोड़ लिया है। मन में तो चैन नहीं। एक दूसरे को मनाने का दोनों के मन में तो है, किन्तु 'मैं ही पहले क्यों कर कुछ कहूँ' यह मान रोक रहा है। धीरे धीरे एक दूसरे को देखने लगे हैं। एक देखता है, दूसरा आराम से लेटा हुआ है, दृष्टि हटा लेता है। ऐसा ही क्रम चलता रहा। और अचानक दृष्टि का मिलन हुआ कि उनका मानकलि पूर्ण रूप से नष्ट हुआ और उसी क्षण हँसते हँसते दोनों ने एक दूसरे को गाढ़ आलिंगन में कस लिया। — यहाँ शृंगार तो है ही; किन्तु शृंगार में भी प्रणयकोप का प्रशम अधिक चमत्कारी है। अत एव यह भावध्वनि है। यह भाव यहाँ अनुभव द्वारा प्रकट हुआ है। जिनका परस्पर गाढ अनुराग होता है उनसे अल्प विरह भी नहीं सहा जाता। यहाँ कोप से उत्पन्न विरह तो कुछ क्षणों ही का था। किन्तु वह भी उनके लिये असहनीय हो गया : (केवल शरीर के दूर होने ही से विरह नहीं होता; शरीर समीप हो कर यदि मन में दूरीभाव हो तो वह भी विरह है।) विप्रलंब तथा संभोग के दोनों प्रकार एकचित्र होने से काव्य की चारुता बढ़ती है इसका यह छन्द एक अच्छा उदाहरण है। विप्रलंब से संभोग की आसक्ति नहीं रहती है। अभिलषणीय वस्तु यदि सहजलभ्य हो तो उसके लिये कोई आसक्ति नहीं रहती। और यदि आसक्ति न रही, तो रस की क्या बात? ठीक ही कहा है कि 'कामो वाम:' होता है।

(२) भावसंधि का उदाहरण

यौवनोद्गमनितान्तशङ्किताः
शीलशौर्यबलकान्तिलोभिताः।
संकुचन्ति विकसन्ति राघवे
जानकीनयननीरजश्रियः॥

रामचन्द्र का लोकोत्तर यौवन देख सीता की दृष्टि शंकित होती थी और शील, शौर्य, बल, तथा कान्ति देख उनकी दृष्टि लुब्ध होती थी। जानकी के नयन-कमलों की शोभा इस प्रकार एक साथ ही संकुचित तथा विकसित होती थी। यहाँ रामचन्द्र का यौवन, शील, शौर्य आदि का दर्शन यह विभाव हैं। तथा सीता के नेत्रों का संकोच तथा विकास अनुभाव हैं। इन के द्वारा क्रीडा तथा औत्सुक्य इन दोनों भावों की संधि बड़े ही मनोहर रूप में अभिव्यक्त हो रही है।

(३) शृंगारध्वनि का उदाहरण

उपर्युक्त उदाहरण में भावध्वनि है। शृंगार की पूर्ण अभिव्यक्ति के उदाहरण के रूप में निम्न पद्य दिया जा सकता है—

> शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनै
> निद्राव्याजमुपागतस्य सहसा निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
> विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकानालोक्य गण्डस्थलीं
> लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

उसने शयनगृह को अच्छी तरह से देख लिया कि वहाँ कोई नहीं है; धीरे से शय्यापर से तनिक सी उठी, सोये हुए पति के मुख को बहुत देर तक निहार कर देखा। फिर विश्वास से इच्छा भर उसका चुम्बन किया। किन्तु उसी क्षण उसके कपोलों पर उसने रोमांच देखा। लज्जा से वह चूर चूर हो गयी। वैसे ही प्रियतम ने हँस कर उस पर चुंबनों की बौछार की। —यहाँ पति रतिभाव का आलंबन है, शयनगृह का एकान्त उद्दीपन है, मुख को निहारना तथा चुम्बन अनुभाव हैं और लज्जा एवं तद्द्वारा प्रकाशित हर्ष संचारी भाव हैं। इसी तरह, नायिका भी रति का आलंबन है, सोने का बहाना तथा पति ने किया हुआ चुम्बन अनुभव हैं, रोमांच सात्विक भाव है एवं प्रियतम का हास्य व्यभिचारी भाव है। इन विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग अर्थात् सम्यक् योग से अभिव्यक्त होनेवाली परस्पराश्रित आस्थाबन्धात्मक रति समूहालंबन से रसिक की चर्वणा का विषय हुई है। अतएव यहाँ शृंगार रस ध्वनित हुआ है। इस पद्य में विभावानुभाव शब्दों के द्वारा इस प्रकार उचित रूप में समर्पित हुए हैं कि यह सारी घटना रसिक की अन्तश्चक्षुओं के सामने प्रत्यक्षवत् उपस्थित हो जाती है। नायिका की प्रत्येक क्रिया हम अपनी आँखों से देख रहे हैं, और वह प्रत्येक क्रिया उसकी अवस्था के अनुरूप है। वह 'बाला' है और उसका संकोच अभी दूर नहीं हुआ है। उसके प्रेमभाव पर वयस की उस अवस्था में रहनेवाला संकोच का दबाव है। वैसे तो शयनगृह में वे दोनों ही हैं। किन्तु फिर भी वह अच्छी तरह देख लेती है कि शयनगृह में और कोई नही है, और फिर तनिक सी उठती है, वह भी बहुत धीरे से। उसके उठते उठते कहीं 'खट' हो जाता या शयनगृह के बाहर किसी प्रकार की आवाज हो जाती तो उतनेभर से उसे धोखा हो जाता और तनिक सी उठी हुई वह फिर पड़ी रहती। उसने देखा कि पति सोया है। इस लिये वह उसके मुख को बिना किसी सँकोच के निहार सकी। यदि उसे लगता कि वह जाग्रत है तो फिर उसका सँकोच प्रबल हो जाता। पति भी बड़ा चतुर व्यक्ति है। उसने भी सोने का बहाना ऐसा किया है कि

देखते ही बनता है। इसी लिये तो नायिका उसको बड़े विश्वास (विस्रब्धम्) से चुम्बन कर सकी। किन्तु उसके होंठों के स्पर्श के साथ ही इसके मुख पर रोमाञ्च उठे और फिर बहाना, बहाना ही रह गया। पति के रोमाञ्च जब उसने देखे तो उसका सँकोच फिर मुख पर प्रकट हुआ और पति ने भी 'कैसी मज़ाक़ उड़ायी' के भाव को हास्य द्वारा दर्शाते हुए उसको देरतक चुम्बन किया। मूल पद्य का एक एक शब्द इस प्रकार सजीव क्रिया का द्योतक है। कोई भी शब्द, शब्दों का क्रम, उनकी संघटना आदि में अल्प भी परिवर्तन हम नहीं कर सकते। पद्य के पठन के समकाल ही रसिक के हृदय में रस पूर्णरूप से अभिव्यक्त होता है। यह अमरुकवि का छन्द है। अमरू के छन्दों को आनन्दवर्धन 'रसस्यन्दि मुक्तकों' की संज्ञा देते हैं, इसमें कुछ अभिप्राय है।

(४) करुण ध्वनि

> अयि जीवितनाथ जीवसी-
> त्यभिधायोत्थितया तया पुरः।
> ददृशे पुरुषाकृति क्षितौ
> हरकोपानलभस्म केवलम् ॥

मदन अपने तप का भंग करने की चेष्टा कर रहा है यह देखते ही भगवान शिवजी को क्रोध भर आया। उनके कपालनेत्र से सहसा अग्नि की ज्वाला निकली और मदन की ओर लपटी। उस तेज को देखते ही रति वहीं मूर्च्छित हो गयी। थोड़ी देर के बाद उसने आँखें खोलीं और आस-पास देखा। "नाथ, आप जीवित तो है।" कहती हुई वह उठी, और बड़ी आशा से क्या देखती है — शिवजी के क्रोधाग्नि का भस्म पुरुष के आकार में पड़ा है। प्रतिभावान् कवि परिमित शब्दों में कितना अर्थ रसिक के समक्ष खड़ा कर देते हैं इसका यह उदाहरण है। शिवजी के नेत्राग्नि की लपट कितनी भयानक थी, रति ने देखा था। इस अग्नि में मदन का जीवित रहना असंभव था। मूर्च्छा से होश में आते ही उसकी आँखें मदन की ओर गयी। उसने सोचा कि मुझ जैसे, काम देव भी मूर्च्छित हुए हैं। बड़ी आशा से वह उसकी ओर बढी। 'अयि जीवितनाथ, जीवसि' रति के इस एक छोटे से वाक्य में प्रेम, औत्सुक्य, आशा, हर्ष आदि सब कुछ समाया है। इन सब भावों के आवेश में वह दौड़ी — और उसने क्या देखा ? इन सभी भावों का एकमात्र आश्रय भस्मसात् हुआ है। यहाँ प्रतीत होनेवाला वियोग भी आत्यंतिकता एवं निरपेक्षता ही शोक का आलंबन है एवं कालिदास ने 'हरकोपानलभस्म' के केवल एक विभाव के द्वारा शोक को चर्वणा का विषय बनाया है।

(५) भक्तिध्वनि

सुरस्रोतस्विन्याः पुलिनमधितिष्ठन्नयनयो-
र्विधायान्तर्मुद्रामथ सपदि विद्राव्य विषयान् ।
विधूतान्तर्ध्वान्तो मधुरमधुरायां चिति कदा
निमग्नः स्यां कस्यांचन नवनभस्यांबुदरुचि ।।

" गंगाजी के तीर पर बैठा हूँ; दृष्टि अन्तर्मुख हुई है; मन के सारे विषय गलित हो गये है एवं हृदयाकाश में से अज्ञान का अन्धकार नष्ट हुआ है; कब ऐसा होगा कि इस अवस्था को प्राप्त हो कर वर्षाकालीन नवमेघ के समान श्यामलवर्ण उस अत्यंत मधुर चैतन्य में मै निमग्न हो जाऊँगा ! " जगन्नाथराय के इस छन्द में 'भक्ति' का प्रकर्ष प्रकट हो रहा है । आसन लगाकर, दृष्टि को अन्तर्मुख कर, मन को निर्विषय कर, हृदय से अज्ञान के अन्धकार को नष्ट कर के ज्ञानी शुद्ध चिद्ब्रह्म में विलीन होते है; किन्तु ज्ञानी की भूमिका पर आरूढ़ हो कर भी कवि का मन उस श्यामल सगुण ब्रह्म की ओर आकर्षित हो रहा है। ज्ञानी की चित्तवृत्ति जिस निर्गुण रूप में विश्रान्त होती है वहाँ भक्ति विश्रान्त नहीं होती । ज्ञान की भूमिका पर आरूढ़ हो कर भी सगुण चैतन्य में विश्रान्त होने की उसकी चाह है । यह भाव इस पद्य में नितान्त रमणीय रूप में प्रकट हुआ है। ज्ञानी और भक्त दोनों चैतन्य में ही विलीन होते है । किन्तु कवि का अभिप्रेत चैतन्य निर्गुण, निराकार न होकर, श्यामल वर्ण एवं माधुर्य के गुणों से युक्त हैं। अत एव यहाँ शान्त रस के विभावानुभाव होने पर भी श्रीकृष्णविषयक आस्थाबन्धरूपरति आस्वाद्य हो रही है ।

(६) बीभत्स ध्वनि

स्तनौ मांसग्रन्थी [illegible]
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम् ।
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरशिरःस्पर्धि जघन-
महो निन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरु कृतम् ।।

" स्तन तो केवल मांस के पिण्ड है किन्तु कवियों ने उन्हें सुवर्णकुम्भ बनाया है; मुख है लार, कफ आदि का मानों घर ही, किन्तु उसकी तुलना चन्द्रमा से गयी है; मूत्रस्राव से क्लिन्न होने वाले जघन की तुलना गजकुंभ से की है; वास्तव में नारी का रूप इस प्रकार जुगुप्सा उत्पन्न करने वाला है; किन्तु इन कल्पनाचतुर कवियों ने उसे कैसा श्रेष्ठ बनाया है ! — युवकों को कामिनी की ओर आकृष्ट करने वाले अंगों का कवि ने यहाँ घृणा उत्पन्न करने वाला वर्णन किया है । मांस-ग्रंथि के

मर्दन में क्या आनन्द है ! लार और कफ से व्याप्त मुख को चुंबन करने की अभिलाषा किसे होगी ? मूत्रस्राव जैसे घृणित वस्तु का अपने शरीर से स्पर्श कौन होने देगा ? इस प्रकार कामिनी के अंगों को — जो कि सुंदर लगते हैं — इस रूप में प्रस्तुत किया है कि हमारे मन में जुगुप्सा हो । यहाँ विभाव के द्वारा जुगुप्सा अभिव्यक्त हो रही है ।

किंवा —

एवं स्वभरणाकल्पं तत्कलत्रादयस्तथा ।
नाद्रियन्ते यथापूर्वं कीनाशा इव गोरजम् ।।
तत्राप्यजातनिर्वेदो म्रियमाणः स्वयंभृतैः ।
चरयोपात्तवैरूप्यो मरणाभिमुखो गृहे ।।
आस्तेऽवमत्योपन्यस्तं गृहपाल इवाहरन् ।
आमयाज्यप्रदीप्ताग्निरल्पाहारोऽल्पचेष्टितः ।।
वायुनोत्क्रमतोत्तारः कफसंरुद्धनाडिकः ।
कासश्वासकृतायासः कण्ठे घुरघुरायते ।।

वृद्धावस्था के इस वर्णन में भी उक्त छन्द के अनुसार नरदेहविषयक जुगुप्सा प्रतीत हो रही है । लौकिक अथवा व्यावहारिक जीवन में यह जुगुप्सा कभी रमणीय प्रतीत नहीं होगी । किन्तु इन्हीं घटनाओं को कवि जब काव्य द्वारा सूचित करता है एवं उसमें जुगुप्सा अभिव्यक्त होती है तब वही आस्वाद्य होती है । उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में सूचित 'जुगुप्सा' निर्वेद की ओर ले जा रही है । किन्तु अनेक बार वीभत्स वर्णन भय की ओर भी ले जाता है । उदाहरणार्थ, दुःशासन के हृदय को भिन्न करते हुए भीम ने उसके रक्त का पान किया । महाभारत में इस प्रसंग का जो वर्णन है वह बीभत्स है । उस वीभत्स दृश्य को देखकर कौरव और पांडवों की सेनाओं में कैसी भगदौड़ मच गयी इसका भी वहाँ वर्णन है । निर्वेद की या भय की इस भूमिका पर से इस बीभत्स वर्णन को देखने से उसकी आस्वाद्यता प्रतीत होती है ।

इस प्रकार वाक्य में रसादि असंलक्ष्यक्रमध्वनि प्रतीत होते हैं । इसका अर्थ यह नहीं कि ऐसे छन्दों में विभाव, अनुभाव, संचारीभाव आदि सब का नित्य वर्णन रहता ही है । इन से कोई ऐसे रहते हैं जिनका कि अनुसन्धान करना पड़ता है । अतएव वाक्य द्वारा रसप्रतीति मार्मिक पाठक ही को होती है । विभावादि रस-सामग्री का सम्पूर्ण विकास प्रबन्ध में होता है । इसी लिये, महाकाव्य या नाटक में होनेवाली रसप्रतीति मुक्तक की अपेक्षा अधिक स्फुटरूप में होती है । मुक्तक में विभाव आदि की कल्पना करना आवश्यक होता है, अतएव मार्मिक पाठक ही को

उसमें रसप्रतीति होती है ऐसा हेमचन्द्र ने कहा है। इस प्रकार, पद आदि से लेकर प्रबन्ध तक सभी के द्वारा रसादिध्वनि प्रतीत हो सकती है।

किस ध्वनिप्रकार का व्यंजक क्या हो सकता है इनका संक्षेप में निरूपण इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) लक्षणामूल ध्वनि के दोनों भेद पद अथवा वाक्यद्वारा ध्वनित होते हैं;

(२) शब्दशक्तिमूल ध्वनि पद अथवा वाक्यद्वारा ध्वनित होता है;

(३) उभयशक्तिमूल ध्वनि मात्र वाक्यद्वारा ही ध्वनित हो सकता है;

(४) अर्थशक्तिमूल ध्वनि पद, वाक्य अथवा प्रबन्ध में ध्वनित होता है;

तथा (५) रसादिध्वनि (असंलक्ष्यक्रम) पद, पदैकदेश (प्रकृति, प्रत्यय इ.), विभक्ति, कारक, वाक्य, संघटना (रीति) एवं प्रबन्ध इन सब के द्वारा प्रतीत हो सकता है।

रसादिध्वनि ही वास्तव में काव्यात्मा है

रसादिध्वनि के व्यंजकों का यह विस्तार देखने से एक बात सहज ही ध्यान में आ जाती है; जिसे काव्य द्वारा रस की अभिव्यक्ति करना है उसे बहुत ही सतर्क रहना आवश्यक होता है। अपने काव्य में एक एक शब्द का किस प्रकार नापतोल से उसे प्रयोग करना पड़ता है यह इससे स्पष्ट होगा। उसे इस बातपर ध्यान देना पड़ता है कि काव्य के शब्द, अर्थ, वाक्य, रचना, प्रसंग और तो क्या वर्ण भी रस की अभिव्यक्ति में बाधा नहीं करेंगे या अनुचित नहीं रहेंगे। अपने साहित्य में ध्वनित वस्तु या अलंकार भी रस के बाधक न होंगे इस लिये उसे सतर्क रहना पड़ता है। अनवधान से, अशक्ति से या केवल कल्पना के अधीन होने से कवि की ओर से रसप्रतीति में विघ्न आया तो उस संबन्ध में उसका वह काव्य दोषयुक्त हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि रसादि ही काव्य का परम अर्थ है। काव्यगत अन्य सभी बातों को रस की अपेक्षा से ही स्थान है, रसनिरपेक्षरूप में स्थान नहीं है। काव्यगत शब्दों के वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ का पर्यवसान व्यंग्यार्थ में होता है। यह होने पर भी, व्यंग्यार्थ में भी वस्तुध्वनि तथा वाच्यध्वनि दोनों का पर्यवसान अन्ततोगत्वा रसादिध्वनि में ही होता है। अतएव आनन्दवर्धन कहते हैं—"प्रतीयमानस्य अन्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैव उपलक्षणं प्राधान्यात्", और अभिनवगुप्त "रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रस प्रति पर्यवस्येते" कह कर रस का आत्मत्व स्पष्ट रूप में बताते हैं। इतना ही नहीं तो वस्तु तथा अलंकार के ध्वनि प्रकारों का काव्यत्मत्व केवल उपचार से माना गया है (वस्त्वलंकारध्वनेरपि

जीवितत्वनैच्चिन्त्यमुक्तम्) ऐसा भी उन्होंने कहा है। काव्य में रसादिध्वनि के इस महत्त्व को ध्यान में रखते हुए ही ध्वनिकार चतुर्थ उद्योत में कहते हैं—

> व्यंग्यव्यंजकभावेऽस्मिन् विविधे संभवत्यपि।
> रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान् ॥ (ध्व. ४।५.)

इस प्रकार व्यंग्यव्यंजकभाव के विविध रूप हो सकते हैं, किन्तु फिर भी कवि के लिये चाहिये कि वह निरन्तर रसादिरूप व्यंग्यव्यंजकभाव पर ही अवधान रखें (८)।

यह रसादिमय व्यंग्यव्यंजकभाव ही विभाव आदि के द्वारा रस की अभिव्यक्ति का भाव है। पद आदि से लेकर प्रबन्ध तक सभी में रसव्यंजकता तो है किन्तु वह विभावादिमुख से ही हो सकती है; अन्य किसी रूप में नहीं। अतएव शब्दार्थों के द्वारा होनेवाली रसाभिव्यक्ति का निरूपण ही विभावादि के द्वारा किस प्रकार रसाभिव्यक्ति होती है इसका निरूपण है। यह हम अगले अध्याय में करेंगे।

---

८. अनेक विद्वानों का विचार है कि, 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' कहते हुए ध्वनिकार को मात्र रसध्वनि का काव्यात्मत्व अभिप्रेत नहीं था, अपितु उनके मन्तव्य में तीनों प्रकार के ध्वनियों का काव्यात्मत्व था, अभिनवगुप्त ने 'रस एव वस्तुत आत्मा' कह कर केवल रसध्वनि को ही काव्यात्मत्व दिया एवं ऐसा करने में अभिनवगुप्त ने एक ऐसी कल्पना प्रस्तुत की जिसे मूल में आधार नहीं है। यह विचार कैसा निराधार है एवं ध्वनिकार को ही रसादिध्वनि का काव्यात्मत्व अभिप्रेत है यह 'ध्वन्यालोक' ४। ५ इस कारिका से स्पष्ट होगा। यह एक कारिका तो क्या, 'ध्वन्यालोक' में ऐसी अनेक कारिकाएँ हैं जिनसे कि स्पष्ट होता है कि ध्वनिकार को भी रस ही का आत्मत्व अभिप्रेत था।

अध्याय चौदहवाँ

रसादि ध्वनि

रस के समान भाव की भी काव्यात्मता है

रसादिध्वनि शब्दार्थों का पर्यवसान है। रसादि की संज्ञा में रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसंधि, भावशबलता आदि सब का अन्तर्भाव होता है। जब 'रस एव वस्तुत आत्मा' कहा जाता है तब 'रस' शब्द से भाव आदि का भी आत्मत्व गृहीत होता है। काव्यस्यात्मा स एवार्थः – इस ध्वनिकारिका के विवेचन में आनन्दवर्धन कहते हैं –– "प्रतियमान के वस्तु और अलंकार रूप भेद भी किये जाते है, किन्तु रस, भाव आदि के द्वारा ही उनका जीवितत्त्व अपेक्षित है।" यहाँ आनन्दवर्धन ने रस के साथ भाव को भी काव्यात्मत्व दिया है। आनन्दवर्धन के 'रसभावमुखेन' इस पद के व्याख्यान में अभिनवगुप्त कहते हैं –– "इसमें तो कोई संदेह नहीं है कि रस ही काव्य की आत्मा है। किन्तु वृत्तिकार 'भावमुखेन' ऐसा भी कहते हैं। इसमें अभिप्राय क्या है?" इस पर उत्तर यह है कि व्यभिचारी भाव यदि स्वतन्त्ररूप से आस्वाद्य हो, और काव्यगत शब्दार्थों की विश्रान्ति उस भाव के आस्वाद में ही होती हो, तब उस काव्य में भाव को भी आत्मत्व प्राप्त होता है। ऐसे प्रसंग में वह भाव स्थायिचर्वणा में विश्रान्त न होते हुए भी आस्वाद्य होता है (भावग्रहणेन व्यभिचारिणोऽपि चर्व्यमाणस्य तावन्मात्रविश्रान्तावपि, स्थायिचर्वणापर्यवसानोचितरसप्रतिष्ठामनवाप्यापि प्राणत्वं भवतीत्युक्तम्)। स्वतन्त्र रूप में भाव के आस्वाद्य होने का अभिनवगुप्त ने इस प्रकार उदाहरण दिया है

नखं नखाग्रेण विघट्टयन्ती
विवर्तयन्ती वलयं विलोलम् ।
ग्रामन्द्रमाशिजितनूपुरेण
पादेन मन्दं भुवमालिखन्ती ।।

जब उस (नायिका) के प्रियतम.के विषय मे बात चली तो, " वह नखों को नखों से छेदने लगी, हाथ में पहने विलोल कंगनों को घुमाने लगी, तथा पायलों की मन्द्र मधुर झंकार करती हुई पैर से भूमि कुरेदने लगी। " यहाँ प्रियतम के संबन्ध मे की गयी बात विभाव है तथा उपर्युक्त पद्य में ग्रनुभाव वर्णित हैं। इन विभावों तथा ग्रनुभावों के द्वारा लज्जा रूप भाव ग्रभिव्यक्त हुग्रा है। यह भाव शृंगार की ग्रवस्था तक तो नहीं पहुँचा है। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में स्वतन्त्ररूप मे ग्रास्वाद्य हुग्रा है। इस संदर्भ में शब्दार्थ इस भाव में ही विश्रान्त हुग्रा है ग्रत: उसीको यहाँ प्राणत्व प्राप्त हुग्रा है। इस प्रकार जहाँ भाव भी स्वतन्त्र रूप में ग्रास्वाद्य होता है वहाँ उसीका काव्यात्मत्व होता है।

सारांश, भाव का काव्यात्मत्व उसके स्वतन्त्र रूप में ग्रास्वाद्य होने पर ग्रवलंबित रहता है। कवि का काव्य पढ़ते हुए, यदि हमें भाव का स्वनन्त्र प्रत्यय ग्राया, एवम् उस काव्य का पर्यवसान उस भाव के ग्रभिव्यक्ति में ही हुग्रा तव वहाँ भाव का ग्रात्मत्व है। इसके विपरीत यदि कवि के काव्य में प्रतीत हुग्रा कि उसमें भाव को प्राधान्य न होकर वह भाव ही ग्रन्ततोगत्वा रस में विश्रान्त हुग्रा है, तब वहाँ भाव का ग्रात्मत्व न होकर रस का ग्रात्मत्व है। उपर्युक्त उदाहरण में लज्जा स्वतन्त्र रूप में ग्रास्वाद्य है; किन्तु पूर्व उद्‌धृत 'शून्यं वासगृहम्–' ग्रादि पद्य में लज्जा स्वतन्त्ररूप में ग्रास्वाद्य नहीं है ग्रपि तु रति की सहकारिणी है। ग्रत: यहाँ लज्जा इस भाव का ही ग्रात्मत्व है, प्रत्युत 'शून्यं वासगृहम्' ग्रादि पद्य में भाव का ग्रात्मत्व न हो कर रस का ग्रात्मत्व है। प्राचीन काव्य मीमांसकों ने रस को ही श्रेष्ठ निर्धारित किया है; ग्रौर भाव को गौण ही माना है; भाव की स्वतन्त्र रूप में ग्रास्वाद्यता उन्हें स्वीकार नहीं है ऐसी कई लोगों की धारणा है। इस धारणा की निर्मूलता उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट होगी। कवि ने ग्रपने काव्य में भाव को किस प्रकार ग्रभिव्यक्त किया है, इस पर ही भाव की प्रधानता ग्रथवा गौणता ग्रवलंबित है। कवि के शब्दार्थ यदि भाव ही में विश्रान्त होते हों तब वहाँ भाव प्रधान है एवम् उसीका ग्रात्मत्व है। इसके विपरीत उसके शब्दार्थ यदि ग्रन्तत: रस में विश्रान्त होते हों तब वहाँ भाव की स्वतन्त्र एवम् निरपेक्ष ग्रास्वाद्यता न होने से गौणता है, ग्रात्मत्व नहीं।

भावों की स्वतन्त्र आस्वाद्यता के अनेक प्रकार हो सकते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में 'लज्जा' रूप भाव की स्थिति आस्वाद है। पूर्वोक्त 'एकस्मिन् शयने–' आदि पद्य में 'कोप' रूप भाव का प्रशम आस्वाद्य है, तथा 'यौवनोद्गम नितान्त–' आदि पद्य में लज्जा तथा औत्सुक्य इन दोनों भावों की सन्धि आस्वाद्य है। कहीं भाव का उदय ही आस्वाद्य होता है। उदाहरण के लिये—

> याते गोत्रविपर्यये श्रुतिपथं शय्यामनुप्राप्तया
> विध्यातं परिवर्तनं, पुनरपि प्रारब्धुमङ्गीकृतम्।
> भूयस्तत्प्रकृतं कृतं च शिथिलक्षिप्तैकदोर्लेखया
> तन्वङ्ग्या न तु पारितः स्तनभरः क्रष्टुं प्रियस्योरसः॥

पति के आलिंगन में वह (नायिका) शय्या पर पड़ी हुई थी कि सहसा पति के मुंह से उसने सपत्नी का नाम सुना। सपत्नी का नाम सुनते ही उसने सोचा कि यहाँ से चलना चाहिये। बस वहाँ से चलने को वह तैयार हो गयी और प्रियतम के कण्ठ में दिये बाहुपाश को शिथिल कर एक हाथ को हटा भी लिया। किन्तु प्रियतम के हृदय से लगा हुआ स्तनभार वह दूर न कर सकी। यहाँ प्रणयकोप का उदय आस्वाद्य है, उसका अवस्थान आस्वाद्य नहीं है। कोप उदित हुआ है किन्तु बना नहीं रहा। यदि कोप बना रहता तो आस्वाद्य न होता। पूर्वोक्त 'एकस्मिन् शयने–' आदि पद्य से इस पद्य की तुलना अच्छी हो सकती है। उस पद्य में प्रणयकोप है, किन्तु वहाँ प्रणयकोप का उदय या स्थिति आस्वाद्य नहीं है प्रत्युत उसका प्रशम सुंदर है। कई बार अनेक भावों की शबलता आस्वाद्य होती है। उदाहरण के लिये—

> क्वाऽकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं, भूयोऽपि दृश्येत सा
> दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
> किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः, स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
> चेतः स्वास्थ्यमुपेहि, कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति॥

"कहाँ तो उसका अभिलाष और कहाँ चन्द्र का वंश? क्या फिर कभी मैं उसे देख सकूँगा?—विकारों के शमन के लिये ही तो मैंने ज्ञान प्राप्त किया था न?—आह! कोप में भी वह कैसी सुंदर लगती थी?—भले लोग मुझे क्या कहेंगे? अब स्वप्न में भी उसका संगम दुर्लभ है।— मेरे मन, शान्त हो जाओ, –कौन होगा वह भाग्यशाली युवक जो उसके अधर रस का पान करेगा?" यहाँ वितर्क, औत्सुक्य, मति, स्मृति, शंका, दैन्य, धृति तथा चिंता के भाव एक दूसरे में मानो मिलघुल गये हैं। इस पद्य की आस्वाद्यता इनमें से किसी एक अथवा अनेक भावों में नहीं है, अपितु उन सब की शबलता में है।

इस प्रकार, भिन्न भिन्न अवस्थाओं में भाव भी रस के समान ही स्वतंत्ररूप में आस्वाद्य हो सकते है । वैसे देखा जाय तो रस और भाव एकरूप ही है क्योंकि दोनों भी असलक्ष्यक्रम ही है और काव्य में जब असंलक्ष्यक्रम ध्वनि प्रधानता से प्रतीत होती है तब उसे काव्य के आत्मत्व का महत्त्व प्राप्त होता है। ध्वनिकार ने तो स्पष्टरूप में कहा है–

रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः ।।

किन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि रस, भाव आदि सब ही यदि असंलक्ष्यक्रम ही हैं तो फिर रसध्वनि, भावध्वनि आदि विभाग कैसे हो सकते हैं ? अभिनवगुप्त का इस पर समाधान है कि — वास्तव में भावध्वनि रसध्वनि के ही निष्यन्द हैं। किन्तु उनमें भी आस्वाद का प्रयोजक अंश भिन्न भिन्न हो सकता है । कहीं उदय ही आस्वाद्य होता है और कही स्थिति आस्वाद्य होती है। आस्वाद के प्रयोजक के रूप में जिस अंश का प्राधान्य हो, उस अंश को लेकर भावध्वनि, आभासध्वनि, भावोदयध्वनि आदि अवस्था की गयी है। (यद्यपि च रसेनैव सर्व जीवति काव्यम् । तथाऽपि तस्य रसस्य एकघनचमत्कारात्मनोऽपि कुतश्चिदंशात् प्रयोजकीभूतात् अधिकोऽसौ चमत्कारो भवति।...एवं रसध्वनेरेवामी भावध्वनिप्रभृतयो निष्यन्दाः आस्वादे प्रधानं प्रयोजकांशं विभज्य पृथग्व्यवस्थाप्यन्ते) । किन्तु रसध्वनि तभी होता है जब कि विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव की त्रयी से अभिव्यक्त स्थायी की प्रतीति हो कर स्थायी अंश के ही आस्वाद का प्रकर्ष होता है।

विभावध्वनि और अनुभावध्वनि नहीं है

यहाँ स्वभावतः एक प्रश्न यह उठता है कि चमत्कार के आधिक्य पर यदि रसध्वनि और भावध्वनि के भेद होते है तब जहाँ विभावों और अनुभावों द्वारा चमत्कार का आधिक्य प्रतीत होता है वहाँ विभावध्वनि और अनुभावध्वनि भी क्यों न माना जायें ? विभाव और अनुभाव भी तो रस ही के अंश हैं और कई बार उनके प्राधान्य से ही तो रसभाव सूचित होते हैं। इस पर उत्तर यह है कि विभावध्वनि और अनुभावध्वनि की सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती । क्योंकि एक ओर तो वे स्वशब्दवाच्य होते हैं। स्थायी तथा संचारी भाव स्वशब्दवाच्य नहीं होते । विभाव और अनुभाव वाच्य हो सकते हैं, इसके विपरीत स्थायी और संचारी कभी वाच्य नहीं हो सकते। रति, उत्साह, भय, लज्जा, कोप आदि क उन उन शब्दों से काव्य में कथन करने से वे आस्वाद्य नहीं होते । आस्वाद्यता के लिये विभाव आदि के द्वारा उनकी प्रतीति होनी चाहिये। स्वशब्द से उनका मात्र

अनुवाद हो सकता है, उनकी प्रतीति नहीं हो सकती । (विशिष्टविभावादिमुखेनैव एषां प्रतीतिः । स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते, न तु तत्कृता)। यदि ऐसा न होता तो 'वह शृंगारी है' इतना कहने मात्र से शृंगार रस प्रतीत हुआ होता। विभावानुभावों की ऐसी बात नही है। वे वाच्य हो सकते हैं। दूसरी बात यह है कि विभावानुभावों की चर्वणा भी अन्ततः चित्तवृत्ति में ही पर्यवसित होती है। इस लिये चर्वणा भी आखिर कर रसभावों की ही हो सकती है। विभावानुभावों का जहाँ प्राधान्य से वर्णन होता है वहाँ भी रस अथवा भाव ही आस्वाद्य होता है। अभिनवगुप्त का ही निम्न पद्य देखिए --

केलीकन्दलितस्य विभ्रममधोर्धुर्यं वपुस्ते दृशौ
भङ्गीभङ्गुरकामकार्मुकमिदं भ्रूनर्मकर्मक्रमः।
आपातेऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजन्मासवः
सत्यं सुन्दरि वेधसस्त्रिजगतीसारस्त्वमेकाकृतिः ॥

तुम्हारी आँखें विलासक्रीडा को अंकुरित करने वाले विभ्रमरूप वसंत का शरीर हैं; तुम्हारी भ्रुकुटियों की विलासयुक्त क्रीडा मानो मदन का धनुष्य है जो वक्र होने पर भी सुंदर दीखता है; और तुम्हारे मुख में जो आसव है वह तो आस्वादन करते ही विकार उत्पन्न करता है। हे सुन्दरी, तुम तो विधाता की, तीनों लोकों की सारभूत कलाकृति हो। इस पद्य मे रति को प्रवृत्त करनेवाले विभावों की ही प्रधानता है। वह सुदरी रति का आलंबन है, और उसके वर्णन में वसंत, मदनबाण तथा मद्य रूप उद्दीपक एकत्र आये हैं। विभ्रम, नर्मवचन तथा विकार अनुभाव भी हैं, किन्तु इनकी अपेक्षा विभावों का ही प्राधान्य प्रतीत हो रहा है। और ये विभाव स्वतन्त्र रूप में आस्वाद्य भी नहीं है। रति के वे आलम्बन एवं उद्दीपक हैं इसी लिये वे आस्वाद्य हैं। यह विभावों की प्रधानता का उदाहरण है।

भट्टेन्दुराज के निम्न पद्य में अनुभाव प्राधान्य है --

यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निस्थेमनी लोचने
यद् गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत्।
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निबिडो यत् पाण्डिमा गण्डयोः
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः॥

बारम्बार दृष्टिक्षेप करने के लिये आँखें अत्यंत उत्कण्ठित हो उठी हैं; कमल के खण्डित नाल के समान गात्र दिन प्रतिदिन सूखे जा रहे हैं; और गालों पर दूर्वाकाण्ड जैसा फीकापन दीख रहा है; ठीक ही है कि कृष्ण की युवावस्था देखकर युवतियों की ऐसी दशा हो! यहाँ 'श्रीकृष्ण' विभाव हैं एवं उनके दर्शन

से गोपियों के हृदय में उदित क्रीडा, औत्सुक्य, म्लानता आदि भाव इस पद्य में अनुभाव द्वारा अभिव्यक्त हुए हैं, अतएव यहाँ चमत्कार अनुभावकृत है। किन्तु फिर भी उनका पर्यवसान चित्तवृत्ति के आस्वाद में ही होता है।

उपर्युक्त दो पद्यों में विभाव और अनुभाव वाच्य हैं; और उनके द्वारा यहाँ भावाभिव्यञ्जन हुआ है। अब निम्न पद्य देखिये —

> आत्तमात्तन[illegible]नुभि[illegible]न्
> कातरा शफरशंकिनी जहौ।
> अञ्जलौ धृतमधीरलोचना
> लोचनप्रतिशरीरलाञ्छितम् ॥

यह जलक्रीडा का वर्णन है। जलक्रीडा के समय प्रेमी पर फेंकने के लिये नायिका अञ्जलि में पानी लेती है और अब नायक पर फेंक ही रही है कि उसे लगता है कि इसमें मछलियाँ (आँखों का प्रतिबिम्ब) है और फिर वह पानी को वैसे ही छोड़-देती है। यहाँ सुकुमार, मुग्ध युवती को भूषित करनेवाले वितर्क, त्रास, शंका आदि व्यभिचारी भावों का अभिव्यंजन प्राधान्य से हो रहा है। यहाँ ध्वनित व्यभिचारी भावों का स्वशब्द से कथन किया गया तो वे कभी आस्वाद्य न होंगे।

सारांश, विभाव तथा अनुभाव स्वशब्दवाच्य हो सकते हैं एवं उनकी चर्वणा का पर्यवसान अन्ततः भावाभिव्यक्ति में ही होता है, अत एव विभावध्वनि और अनुभावध्वनि हो ही नहीं सकते। जहाँ विभावानुभाव व्यंग्य होते हैं, वहाँ वस्तु-ध्वनि ही होता है; असंलक्ष्यक्रम नहीं रह सकता, और वस्तुध्वनि ध्वनि होने पर भी स्वशब्दवाच्य हो सकता है। इस लिये उसका स्वरूप लौकिक ही रहता है। इससे विभाव तथा अनुभाव ध्वनित होने पर भी रस तथा भावों के समान असंलक्ष्य-क्रम ध्वनि में स्थान नहीं दिया जा सकता।

रससामग्री

रस और भावों की अभिव्यक्ति ही काव्य का परमार्थ है। इसकी अभिव्यक्ति के साधनों के रूप में विभाव तथा अनुभावों को काव्य में स्थान है। काव्य में कवि विभावों और अनुभावों का वर्णन करता है तथा इनका उचित संयोग हुआ हो तो तद् द्वारा रस तथा भाव अभिव्यक्त होते हैं। रसभाव चित्तवृत्तिविशेष हैं। इस चित्तवृत्ति के लिये कारण होनेवाली काव्यगत (न कि लौकिक) परिस्थिति ही विभाव है एवं उदित हुई चित्तवृत्ति के काव्यगत कार्यरूप बाह्य परिणाम ही अनुभाव हैं। हमारे लौकिक जीवन में भी अनेक चित्तवृत्तियाँ उदित होती रहती हैं। उनके

उदित होने के कुछ कारण होते हैं एवम् उनके उदय के कुछ परिणाम भी हम देखते है । ऐसे ही कारण और परिणाम जब काव्य में वर्णन किये जाते हैं अथवा नाट्य में दर्शाये जाते है, तब उनका निर्देश ' विभाव-अनुभाव ' की संज्ञाओं से किया जाता है । मम्मट कहते हैं —

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके **तानि चेन्नाटचकाव्ययोः** ।।
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः ।।

लौकिक व्यवहार में जिसे कारण कहा जाता है उसे ही काव्य में विभाव कहते हैं इस प्रकार केवल नामान्तर यहाँ अपेक्षित नहीं है । उनमें स्वरूपभेद तथा प्रयोजनभेद भी हैं । कारण और कार्य लौकिक होते हैं, तो विभाव और अनुभाव अलौकिक होते हैं । लौकिक कारणों का प्रयोजन चित्तवृत्ति को उत्पन्न करना होता है तो विभाव और अनुभाव का प्रयोजन काव्यगत चित्तवृत्तिरूप अर्थ को रसिक के अनुभव की दशा तक पहुँचाना है । विभाव आदि का अलौकिक स्वरूप एवं उनके ' विभावन अनुभावन ' रूप कार्य का विस्तारपूर्वक विवेचन यथावकाश आगे किया जायगा ही । यहाँ केवल इतना ध्यान में रखना आवश्यक है कि लौकिक व्यवहार में जिन बातों का हम अनुभव करते हैं उन्हीं का काव्य में वर्णन किया जाता है, किन्तु तब भी उन्हें एक नहीं माना जा सकता । अतएव लौकिक व्यवहार में हम रति आदि जिस चित्तवृति का अनुभव करते हैं वह रस नहीं है; अलौकिक विभावों के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला अलौकिक स्थायी ही रस है । अतएव काव्य, नाट्य आदि में ही रस प्रतीत होता है, न कि लौकिक जीवन में । अभिनव-गुप्त बल दे कर बार बार कहते हैं – ' नाट्ये एव रसः, न तु लोके । ' हमें ध्यान रखना चाहिये कि रसप्रतीति का क्षेत्र काव्यनाट्य है, लौकिक जीवन नहीं । लौकिक जीवन में अनुभूत प्रेम, शोक, भय, जुगुप्सा आदि का स्वरूप एवं काव्य के पठन के समय प्रतीत होने वाले शृंगार, करुण, भयानक, बीभत्स आदि का स्वरूप एक ही नहीं है । लौकिक व्यवहार के ये अनुभव सुखदुःखात्मक होते हैं, काव्य में प्रतीत होनेवाले शृंगार, करुण आदि सभी आस्वाद्य अतएव सुखकर होते हैं । लौकिक जीवन तथा काव्य के इन दोनों क्षेत्रों में यह जो लौकिक एवं अलौकिक अवस्था-भेद है इसे जो नहीं समझ सकते उनके लिये रस एक समस्या ही रह जाती है ।

लौकिक जीवन में रति आदि के जिन कारण और कार्यों का अनुभव होता है वे व्यक्तिसंबद्ध होते हैं । मान लीजिये कि हम किसी उद्यान में बैठे है, उस समय वहाँ एक ओर से एक युवक एवं दूसरी ओर से एक युवती आती हुई हमने

देखी। उनका एक दूसरे की ओर देखना, हँसना आदि व्यापार हमने देखे। इन से हमने तर्क किया कि ये दोनों प्रेमी हैं। यहाँ की कारणकार्यपरम्परा तथा उस से पहचाना गया प्रेम यह सब लौकिक हैं। यह घटना व्यक्तिसंबद्ध होने से आस्वाद्य नहीं है। हमने केवल तटस्थ की दृष्टि से इस घटना को देखा है। किन्तु इसी व्यवहार को जब हम नाटच में देखते हैं या काव्य में पढ़ते हैं, तब वह व्यवहार व्यक्तिसंबद्ध नहीं रहता। इस लिये हमारा भी उसमें अनुप्रवेश होता है और हम अपने आपको उसमें खो जाते हैं। इस प्रकार यह घटना आस्वाद्य होती है। व्यवहार में कार्यकारण व्यक्तिसंबद्ध होते हैं, अतएव वे लौकिक होते हैं। काव्य में जव उन्हीं घटनाओं का वर्णन किया जाता है तब उनका स्वरूप व्यक्तिसंबद्ध नहीं रहता, अतएव वे अलौकिक होते हैं। काव्यगत इन अलौकिक बातों को ही विभाव और अनुभाव कहा गया है। कार्यकारणों के लौकिक स्वरूप का तथा विभाव अनुभावों के अलौकिक स्वरूप का स्पष्ट निर्देश मम्मटाचार्य ने किया है। उन्होंने कहा है, "लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमाने पाटववतां, काव्ये नाटचे च तैरेव कारणत्वा-दिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वात् विभावादिशब्दव्यवहार्यैः...अभिव्यक्तः।"

लौकिक में जिसे कारण कहते हैं उसका यदि काव्य में वर्णन किया गया अथवा नाटच में अभिनय हुआ तो उसका कारणत्व नष्ट हो जाता है और उसमें विभावन का व्यापार आता है। अतएव उसीको काव्य के क्षेत्र में अलौकिक विभाव कहते हैं ऐसा मम्मट का कथन है। मम्मट का यह एक कथन मात्र है। लौकिक जीवन में अनुभूत कार्यकारणपरम्परा एवं काव्य में वर्णित कार्यकारणपरम्परा इन दोनों में संवादित्व होने पर भी, एक लौकिक और दूसरी अलौकिक क्यों? एवम् एक का कार्य निर्मिति और अनुमिति तथा दूसरी का कार्य विभावन ही क्यों? इसकी मीमांसा उन्होंने नहीं की है। इस मीमांसा को देखने के लिये हमें पूर्व इतिहास का अनुसंधान करना पड़ता है। यह इतिहास ही रसप्रक्रिया की विवेचना का ही इतिहास है। इस इतिहास का आरंभ भरतमुनि से ही करना पड़ता है। उद्भट, लोल्लट श्रीशंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त का इस विवेचना में बहुत बड़ा भाग है। इस सब इतिहास को सुस्पष्ट रूप में देखना पड़ता है। यह कार्य हम अगले अध्याय में करेंगे।

अध्याय पन्द्रहवाँ

रसप्रक्रिया

नाट्यशास्त्र ही उपलब्ध ग्रंथों में पहला ग्रंथ है, जिसमें रसप्रक्रिया का स्वरूप कथन किया गया है। किन्तु रसप्रक्रिया के विमर्शक आचार्यों में भरतमुनि ही सर्व प्रथम नहीं है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में रसप्रक्रिया का जो स्वरूप पाया जाता है वह अत्यंत विकसित है, इससे तर्क होता है कि इस रसप्रक्रिया की पृष्ठभूमि में एक बहुत बड़ी परम्परा थी। इसी परम्परा को मुनि ने अपने ग्रंथ में ग्रथित किया।

रस के सम्बन्ध में दो परम्पराएँ पायी जाती हैं। एक है द्रुहिण अर्थात् ब्रह्मा की और दूसरी है वासुकि की। द्रुहिण आठ रस मानते थे एवं वासुकि नवाँ शान्त रस भी मानते थे। 'अभिनवभारती' से पता चलता है कि आठ रसों के माननेवाले तथा शान्तसहित नौ रसों को माननेवाले इस तरह दो प्रकार के विवेचक अभिनवगुप्त को भी ज्ञात थे। "'शान्तवादियों का ऐसा कथन है', 'शान्तापलापी ऐसा कहते हैं'" इस प्रकार के निर्देश अभिनवगुप्त ने स्थान स्थान पर किये हैं। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में द्रुहिण की परम्परा का जितना स्पष्ट निर्देश किया है उतना वासुकि की परम्परा का नहीं किया। किन्तु उन्होंने अपने मत की पुष्टि में अनुवंश से प्राप्त श्लोकों के जो आधार दिये हैं उनमें संभवतः वासुकि की परम्परा के श्लोक भी हैं। उदाहरण के लिये, भावों से रससंभव होता है इस मत की पुष्टि में भरत ने श्लोक दिये हैं, उनमें एक श्लोक है —

[illegible] भाव्यते यथा।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह॥ (ना. शा. ६।३६)

शारदातनय का कथन है कि यह मत मूलत: वासुकि का है (१) दूसरी बात यह है कि नाटचशास्त्र में रस, भाव तथा अन्य नाटचाश्रित अर्थों की संज्ञाएँ परम्परा ही से प्राप्त हैं। भरत का कथन है कि ये संज्ञाएँ आचारोत्पन्न तथा आप्तोपदेशसिद्ध हैं (२)।

भरतकृत रसविवेचन

भरतकृत रसविवेचन नाटचरस का विवेचन है। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि रस नाटच का पर्यवसान है। किन्तु प्रयोगसिद्धि के लिये नाटच में अन्य अनेक बातों की आवश्यकता होती है। ऐसी आवश्यक बातों का भरत ने एकत्र संग्रह किया है —

रसा भावा ह्यभिनया धर्मीवृत्तिप्रवृत्तय: ।
सिद्धि: स्वरास्तथातोद्यं गानं रंगश्च संग्रह: ।। (ना. शा. ६।१०)

इस कारिका में नाटचशास्त्र के सब विषय आये हैं। आठ रस, उनचास भाव, चतुर्विध अभिनय, द्विविध धर्मी, चार वृत्तियाँ और चार प्रवृत्तियाँ, द्विविध सिद्धि, स्वर, आतोद्य तथा गान मिलकर नाटच, संगीत तथा त्रिविध रंग अर्थात् रंगभूमि यह है नाटचसंग्रह। इनका विस्तरश: विचार ही नाटच का विवेचन है और रंगविचार दूसरे अध्याय में आया है इस एक बात को छोड़ दिया तो इस कारिका में बताये क्रम से नाटचशास्त्र में उपर्युक्त अर्थों का विमर्श हुआ है।

नाटच = रस

नाटच में आवश्यक इन अर्थों में परस्पर संबन्ध क्या है? इस प्रश्न का उत्तर अभिनव गुप्त ने इस प्रकार दिया है —

नाटच है सम्पूर्ण प्रयोग में द्योतित होनेवाला एक ही अर्थ — जो नट के अभिनय के द्वारा प्रकट होता है, एवं दर्शक द्वारा निश्चल मन से अखंड रूप में ग्रहण किया जाता है। नाटच में पृथक्‌श: अनेकानेक बातें दिखायी देती है, किन्तु तब भी उन सब का पर्यवसान अन्तत: एक ही होता है, अतएव सम्पूर्ण नाटच का एक ही अर्थ

---

१. नानाद्रव्यौषधै: पाकै: व्यंजनं भाव्यते यथा।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयै: सह ।।
इति वासुकिनाप्युक्तो भावेभ्यो रससंभव: ।—(शारदातनय: भविप्रकाशन)

२. यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नानि आप्तोपदेशसिद्धानि पुंसां नामानि भवन्ति, तथैवेषां रसानां भावानां च नाट्याश्रितानां चार्थानामाचारोत्पन्नानि आप्तोपदेशसिद्धानि नामानि भवन्ति। (ना. शा. अ. ६)

होता है। नाटचगत विभाव आदि जड़ होते हैं, किन्तु इन जड़ विभावों का पर्यवसान संवेदना में होता है। ये संवेदनाएँ उस उस पात्र से भोग्यभोक्तृभाव से संबन्धित होती है। किन्तु नाटच अनन्त संवेदनाओं के अनेक भोक्ता होने पर भी उन सारे भोक्ताओं का अन्तिम पर्यवसान प्रधान भोक्ता में ही होता है। यह प्रधान भोक्ता ही नाटच का नेता है एवं सम्पूर्ण नाटच में सूत्रवत् दीखनेवाली उसकी स्थायी चित्तवृत्ति ही उस नाटच का एकार्थ है।

लोकव्यवहार में यह चित्तवृत्ति नित्य व्यक्तिसंबद्ध होती है। अतएव उसे नित्य स्वकीयत्व तथा परकीयत्व की सीमाएँ रहती हैं। किन्तु वही चित्तवृत्ति जब नाटचप्रयोग के द्वारा द्योतित होती है तब लौकिक व्यक्तिवन्धन से मुक्त हो जाती है एवं गायन, वादन, नर्तन, अलंकार आदि से सुंदर बने हुए प्रयोग का आश्रय करती है। लौकिक चित्तवृत्ति का आश्रय कोई विशिष्ट व्यक्ति होता है; तो नाटचद्वारा उदित होनेवाली चित्तवृत्ति का आश्रय वह प्रयोग ही होता है, व्यक्ति कभी नहीं होता। व्यक्तिवन्धन से मुक्त होने से ही वह चित्तवृत्ति साधारणीभूत होती है। दर्शक में भी संस्कार रूप में वह विद्यमान् होती ही है। दर्शक जब नाटच प्रयोग देखता है तब प्रयोग के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाली साधारणीभूत चित्तवृत्ति, अपने साधारणीभूत रूप में दर्शक में भी व्याप्त हो जाती है एवं उसको भी प्रयोग में सम्मीलित करती है। इस प्रयोग में सम्मीलित हो जाने से, दर्शक का प्रयोग से तादात्म्य होता है।

इस तरह, दर्शक नाटच से वाहर नहीं रह सकता। वह भी नाटच का एक अपरिहार्य अंश हो जाता है। अतएव नाटचसिद्धि की दृष्टि से दर्शक के संबन्ध में भी लिखना पड़ा (एवं भावानुकरणे यो यस्मिन् प्रविशेन्नरः। स तत्र प्रेक्षको ज्ञेयः गुणैरेतैरलंकृतः॥ (ना. शा. २७।५९)। नाटचप्रयोग देखने के समय दर्शक का जो अनुप्रवेश होता है वही प्रमाणित करता है कि प्रयोग से अभिव्यक्त होनेवाली चित्तवृत्ति लौकिक व्यक्तिसंबद्ध चित्तवृत्ति से भिन्न होती है। व्यवहार में भी अनुमान आदि प्रमाणों से परकीय चित्तवृत्ति का हमें ज्ञान होता है। किन्तु उसके साथ अनुमाता का तादात्म्य नहीं होता। और भी एक बात यह है कि, नाटच से अभिव्यक्त होनेवाली इस चित्तवृत्ति की प्रतीति (निर्भासन) दर्शक को भी परिमित अर्थात् व्यक्तिसंबद्ध सीमा में नहीं होती। उसके प्रमातृत्व की व्यक्तिगत सीमा उस क्षण नष्ट हुई होती है। अतएव लौकिक कारणों से उत्पन्न होनेवाले लौकिक प्रेम, शोक आदि के समान इस चित्तवृत्ति में दर्शक की व्यक्तिगत आसक्ति अथवा तिरस्कार नहीं रहता। इस लिये दर्शक को इस चित्तवृत्ति की निर्विघ्न प्रतीति होती है एवं उसका मन वहाँ विश्रान्त होता है। **वह दर्शकगत प्रयोगकालीन**

शारदातनय का कथन है कि यह मत मूलतः वासुकि का है (१) दूसरी बात यह है कि नाट्यशास्त्र में रस, भाव तथा अन्य नाट्याश्रित अर्थों की संज्ञाएँ परम्परा ही से प्राप्त हैं। भरत का कथन है कि ये संज्ञाएँ आचारोत्पन्न तथा आप्तोपदेशसिद्ध हैं (२)।

भरतकृत रसविवेचन

भरतकृत रसविवेचन नाट्यरस का विवेचन है। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि रस नाट्य का पर्यवसान है। किन्तु प्रयोगसिद्धि के लिये नाट्य में अन्य अनेक बातों की आवश्यकता होती है। ऐसी आवश्यक बातों का भरत ने एकत्र संग्रह किया है—

रसा भावा ह्यभिनया धर्मीवृत्तिप्रवृत्तयः।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रंगश्च संग्रहः॥ (ना. शा. ६।१०)

इस कारिका में नाट्यशास्त्र के सब विषय आये हैं। आठ रस, उनचास भाव, चतुर्विध अभिनय, द्विविध धर्मी, चार वृत्तियाँ और चार प्रवृत्तियाँ, द्विविध सिद्धि, स्वर, आतोद्य तथा गान मिलकर नाट्य, संगीत तथा त्रिविध रंग अर्थात् रंगभूमि यह है नाट्यसंग्रह। इनका विस्तरशः विचार ही नाट्य का विवेचन है और रंगविचार दूसरे अध्याय मे आया है इस एक बात को छोड़ दिया तो इस कारिका में बताये क्रम से नाट्यशास्त्र में उपर्युक्त अर्थों का विमर्श हुआ है।

नाट्य = रस

नाट्य में आवश्यक इन अर्थों में परस्पर संबन्ध क्या है? इस प्रश्न का उत्तर अभिनव गुप्त ने इस प्रकार दिया है—

नाट्य है सम्पूर्ण प्रयोग में द्योतित होनेवाला एक ही अर्थ—जो नट के अभिनय के द्वारा प्रकट होता है, एवं दर्शक द्वारा निश्चल मन से अखंड रूप में ग्रहण किया जाता है। नाट्य में पृथक्शः अनेकानेक बातें दिखायी देती हैं, किन्तु तब भी उन सब का पर्यवसान अन्ततः एक ही होता है, अतएव सम्पूर्ण नाट्य का एक ही अर्थ

---

१. नानाद्रव्यौषधैः पाकैः व्यंजनं भाव्यते यथा।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह॥
इति वासुकिनाप्युक्तो भावेभ्यो रससंभवः।—(शारदातनयः भावप्रकाशन)

२. यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नानि आप्तोपदेशसिद्धानि पुंसां नामानि भवन्ति, तथैवेषां रसानां भावानां च नाट्याश्रितानां चार्थानामाचारोत्पन्नानि आप्तोपदेशसिद्धानि नामानि भवन्ति। (ना. शा. अ. ६)

होता है। नाटचगत विभाव आदि जड़ होते हैं, किन्तु इन जड़ विभावों का पर्यवसान संवेदना में होता है। ये संवेदनाएँ उस उस पात्र से भोग्यभोक्तृभाव से संबन्धित होती है। किन्तु नाटच अनन्त संवेदनाओं के अनेक भोक्ता होने पर भी उन सारे भोक्ताओं का अन्तिम पर्यवसान प्रधान भोक्ता में ही होता है। यह प्रधान भोक्ता ही नाटच का नेता है एवं सम्पूर्ण नाटच में सूत्रवत् दीखनेवाली उसकी स्थायी चित्तवृत्ति ही उस नाटच का एकार्थ है।

लोकव्यवहार में यह चित्तवृत्ति नित्य व्यक्तिसंबद्ध होती है। अतएव उसे नित्य स्वकीयत्व तथा परकीयत्व की सीमाएँ रहती हैं। किन्तु वही चित्तवृत्ति जब नाटचप्रयोग के द्वारा द्योतित होती है तब लौकिक व्यक्तिबन्धन से मुक्त हो जाती है एवं गायन, वादन, नर्तन, अलंकार आदि से सुदर बने हुए प्रयोग का आश्रय करती है। लौकिक चित्तवृत्ति का आश्रय कोई विशिष्ट व्यक्ति होता है; तो नाटचद्वारा उदित होनेवाली चित्तवृत्ति का आश्रय वह प्रयोग ही होता है, व्यक्ति कभी नहीं होता। व्यक्तिबन्धन से मुक्त होने से ही वह चित्तवृत्ति साधारणीभूत होती है। दर्शक में भी संस्कार रूप में वह विद्यमान् होती ही है। दर्शक जब नाटच प्रयोग देखता है तब प्रयोग के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाली साधारणीभूत चित्तवृत्ति, अपने [illegible] रूप में दर्शक में भी व्याप्त हो जाती है एवं उसको भी प्रयोग में सम्मीलित करती है। इस प्रयोग में सम्मीलित हो जाने से, दर्शक का प्रयोग से तादात्म्य होता है।

इस तरह, दर्शक नाटच से बाहर नहीं रह सकता। वह भी नाटच का एक अपरिहार्य अंश हो जाता है। अतएव नाटचसिद्धि की दृष्टि से दर्शक के संबन्ध में भी लिखना पड़ा (एवं भावानुकरणे यो यस्मिन् प्रविशेन्नरः। स तत्र प्रेक्षको ज्ञेयः गुणैरेतैरलंकृतः॥ (ना. शा. २७।५९)। नाटचप्रयोग देखने के समय दर्शक का जो अनुप्रवेश होता है वही प्रमाणित करता है कि प्रयोग से अभिव्यक्त होनेवाली चित्तवृत्ति लौकिक व्यक्तिसंबद्ध चित्तवृत्ति से भिन्न होती है। व्यवहार में भी अनुमान आदि प्रमाणों से परकीय चित्तवृत्ति का हमे ज्ञान होता है। किन्तु उसके साथ अनुमाता का तादात्म्य नहीं होता। और भी एक बात यह है कि, नाटच से अभिव्यक्त होनेवाली इस चित्तवृत्ति की प्रतीति (निर्भासन) दर्शक को भी परिमित अर्थात् व्यक्तिसंबद्ध सीमा में नहीं होती। उसके प्रमातृत्व की व्यक्तिगत सीमा उस क्षण नष्ट हुई होती है। अतएव लौकिक कारणों से उत्पन्न होनेवाले लौकिक प्रेम, शोक आदि के समान इस चित्तवृत्ति में दर्शक की व्यक्तिगत आसक्ति अथवा तिरस्कार नहीं रहता। इस लिये दर्शक को इस चित्तवृत्ति की निर्विघ्न प्रतीति होती है एवं उसका मन वहाँ विश्रान्त होता है। **वह दर्शकगत प्रयोगकालीन**

निर्विघ्नस्वसंवेदना ही — जिसका एकमात्र लक्षण मनोविश्रान्ति है— रसनाव्यापार (अथवा आस्वाद) कहलाती है। नाटच के प्रयोगकाल में दर्शक द्वारा इस रसना-व्यापार से ही इस साधारणीभूत चित्तवृत्ति का ग्रहण होता है। अतएव इसे भी रस कहा जाता है। अतएव रस ही नाटच है इस नाटय का फल है रसिक की प्रतिभा का विकास (३)।

यह रसनाव्यापार रूप अर्थात् आस्वादरूप रस एकही है। अभिनवगुप्त इसे '**महारस**' की संज्ञा देते हैं। इस महारस को विभावादि वैचित्र्य से जो वैचित्र्य प्राप्त होता है, उस वैचित्र्य पर ही शृंगार आदि रसविभाग निर्भर है (४)

इस प्रकार रस ही नाटच है। यह रस विभाव आदि से ही संपन्न होता है, इस लिये रसविवेचना में, भावों का स्वरूप बताना आवश्यक हो जाता है। नाटच प्रयोग में कवि अथवा नट जिन विभाव, अनुभाव आदि को दर्शकों के समक्ष प्रकट करना चाहता है, उनमें औचित्य आवश्यक होता है। कवि अथवा नट यदि लौकिक चित्तवृत्ति को समझता नहीं है तब वह विभाव आदि का औचित्य नहीं रख सकता अतएव विभाव आदि का औचित्य सिद्ध करने के लिये लौकिक स्थायी भाव बताना आवश्यक हो जाता है। अभिनय तो नाटच का जीवित ही है। वह तो नाटचसंश्रित ही होता है, लौकिक व्यवहार में कभी नहीं होता। इस लिये संग्रहकारिका में रस और भावों के अनन्तर अभिनय का निर्देश है। अभिनय वास्तव में कृत्रिम होता है किन्तु वह लौकिक धर्म या लौकिक धर्मों पर आधारित संकेतों का अनुवर्तन करता है। अतएव अभिनय के बाद नाटचधर्मी और लोकधर्मी आते हैं। किन्तु लोकधर्म के अनुरूप अभिनय किस बात का किया जायँ? अभिनय के लिये किसी अभिनेय की तो आवश्यकता है ही। इस लिये वृत्तियाँ बतायी गयी हैं। वृत्ति का अर्थ है

---

३. तत एव निर्विघ्नस्वसंवेदनात्मकविश्रांतिलक्षणेन रसनापरपर्यायेण व्यापारेण गृह्यमाणत्वात् रसशब्देनाभिधीयते। तेन रस एव नाट्यम्। –(अ. भा.)

४. रसनाव्यापाररूप अर्थात् आस्वादरूप 'महारस' एवं शृंगारादि विविध रसों में संबन्ध अभिनवगुप्त ने इस प्रकार बताया है — "ततश्च मुख्यभूतात् महारसात् स्फोटदृशीव असत्यानि वा, अन्विताभिधानदृशीव उपायात्मकानि सत्यानि वा, अभिहितान्वयदृशीव तत्समुदायरूपाणि वा, रसान्तराणि भागाभिनिवेशदृष्टानि रूप्यन्ते।" आस्वादरूप रस एक ही होने पर भी विभावादिभेद के कारण ही रसभेद पाया जाता है (विभावादिभेदः रसभेदे हेतुः)। इस प्रकार अभिव्यक्तिवादियों का (अभिनवगुप्त का) पक्ष है। इनकी बताई इस उपपत्ति की संगति स्फोटवादि, अन्विताभिधानवादि अथवा अभिहितान्वयवादियों की दृष्टि से किस प्रकार हो सकती है यह उपर्युक्त वाक्य में बताया गया है। यंह समझ लेना बुद्धिप्रद होने पर भी इसकी विवेचना करना स्थानाभाव के कारण असंभव है।

मनोवाक्कायव्यापार। इन्हीं का अभिनय किया जाता है। किन्तु ये वृत्तियाँ भी देशभेद से अन्यान्य रूपों में प्रवृत्तियों द्वारा प्रकट होती हैं। अतएव प्रवृत्तियों का ज्ञान आवश्यक है। इन सब का पर्यवसान अन्ततः प्रयोगसिद्धि में अथवा नाट्य-सिद्धि में होना चाहिये, इस लिये सिद्धियों का विवेचन भी आवश्यक है। और इस प्रकार के इस नाट्य प्रयोग में सुंदरता लाने के लिये स्वर, गान, आतोद्य, और पात्रों के प्रवेश, निर्गम एवं साजसज्जा (सीनसीनरी) आदि के लिये रंगभूमि की रचना आदि बातें भी अवश्य करनी पड़ती है।

सारांश, नाट्यगत प्रत्येक बात का स्थान रसानुवर्तित्व से ही है। अतएव मुनि ने प्रथम रसविवेचन किया है। भरत के इस कथन में, 'न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते' यही अभिप्राय है। नाट्यगत कोई भी अर्थ बिना रस के प्रवर्तित नहीं होता। विभाव आदि को रसनिरपेक्ष अवस्था में कोई महत्त्व नहीं है। नाट्य के कथानक का रसनिरपेक्ष कोई हेतु नहीं होता। इतिहासपर आधारित नाटक लिखते समय रस की अपेक्षा से कवि मूल इतिहास में भी परिवर्तन कर देता है। सामाजिक दृष्टि से भी नाट्यगत भाव आदि अर्थों को रसनिरपेक्षता से प्रवर्तना नहीं रहती। और तो क्या, नाट्यशास्त्र या काव्यशास्त्र का अध्ययन करने वालों की दृष्टि से भी रसनिरपेक्ष रूप में विभाव आदि का या नाट्यांगभूत या काव्यांगभूत किसी बात का विवेचन करना असंभव है। लौकिक दृष्टि से जो कार्य-कारण या अन्य व्यापार होते हैं, उनमें से किसी को काव्य में या नाट्य में रस-निरपेक्ष स्थान नहीं होता। इस प्रकार कवि, नट, दर्शक, शास्त्रविवेचक आदि सब की दृष्टि से काव्य और नाट्य में रस ही का प्राधान्य है। नाट्यगत कोई भी बात रसपर्यवसायी एवं रसानुगामी ही होनी चाहिये और इसी दृष्टि से उसे देखना चाहिये। अतएव मुनि ने भी पहले रसविवेचन किया है और बाद में रसानुगामित्व से, नाट्यांगों का विवेचन किया है। इस बात को ध्यान में रखते हुए ही भरत के प्रसिद्ध रससूत्र–'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः' का अध्ययन करना चाहिये।

संग्रहकारिका

'संग्रहकारिका' में बतायी गयी सब बातें भरतमुनि ने रसानुगामी रूप में दी हैं। इन बातों का रस प्रयोग से क्या संबन्ध है यह हम देखें। सुविधा के लिये हम कारिका में दिये क्रम के अन्त से आरम्भ करें। रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति और प्रवृत्ति यह कारिका में दिया हुआ क्रम है। हम प्रवृत्ति से आरम्भ करें। प्रवृत्ति का अर्थ है ऐसी बातें जो भिन्न भिन्न देशों के वेष, भाषा, आचार तथा रीति

रिवाजों के विशेष निर्देशित करती है (५) और वृत्ति है मनोवाक्काव्यव्यापार। पुरुष की वृत्ति में प्रतिक्षण परिवर्तन हो सकता है, किन्तु उसकी प्रवृत्ति स्थिर होती है। हाँ, यह स्थिर प्रवृत्ति अभिव्यक्त होती है इस नित्य परिवर्तनशील वृत्ति द्वारा ही नाटच में प्रवृत्ति का दर्शन वृत्तियों द्वारा होता है। नाटच का मूल ये वृत्तियाॅ और प्रवृत्तियाँ ही होती हैं। इन वृत्तिप्रवृत्तियों द्वारा ही नाटच में लोक-स्वभाव चित्रित किया जाता है। वृत्तिप्रवृत्तियों द्वारा निर्दशित लोकस्वभाव ही लोकधर्म है नाटच में इस लोकधर्म का ही दर्शन होता है (६)।

लोकधर्म इस प्रकार नाटच का विषय है। किंबहुना, यह कहना भी ठीक होगा कि नाटच में लोकधर्म के अलावा अन्य विषय ही नहीं होता। यहाँतक शास्त्र और नाटच अथवा काव्य में कोई भेद नहीं है। किन्तु लोकस्वभाव का दर्शन कराने की नाटच की एक अपनी विशेष और भिन्न शैली है। हम जब नाटच देखते हैं तब हमें दर्शन तो लोकधर्म का ही होता है, किन्तु इसमें कवि तथा नट का एक ऐसा विशिष्ट व्यापार होता है जिससे कि नाटच में दर्शित लोकधर्म की प्रक्रिया लौकिक प्रक्रिया से कहीं अधिक सुदर, रमणीय और आकर्षक बनती है। इस प्रकार कवि और नट के व्यापार के कारण जहाँ लोकधर्म का प्रक्रियाक्रम सुंदर एवं रमणीय होता है वहाँ नाटचधर्म होता है (७)। इस नाटचधर्म के दो प्रकार कविगत और नटगत होते हैं। लोकप्रसिद्ध कथानक मे औचित्य एवं रमणीयता की दृष्टि से कवि जो परिवर्तन करता है वह कविगत नाटचधर्म है, और संपूर्ण अभिनय नटगत नाटचधर्म है। लौकिक व्यवहार में पाया जानेवाला सुखदु:खरूप लोकस्वभाव जब अभिनय द्वारा दर्शाया जाता है तब वह नाटच धर्म ही है। नाटच में तो यह नाटच धर्म अवश्य ही होना चाहिये, अन्यथा नाटच ही न होगा। मुनि कहते हैं—

नाटचधर्मीप्रवृत्तं हि सदा नाटचं प्रयोजयेत्।
न ह्यंगाभिनयात् किंचित् ऋते रागः प्रवर्तते॥

नाटच नित्य नाटचधर्मी से ही प्रवृत्त होना चाहिये, क्योंकि अंग आदि अभिनय के बिना राग अर्थात् सामाजिकों का आनन्द प्रवर्तित ही न होगा। नाटचधर्मी तो इसप्रकार नाटच का प्राण हुआ, किन्तु लोकधर्मी का क्या स्थान होगा? इस पर मुनि कहते है—

---

५. नानादेशवेषभाषाचारवार्ताः ख्यापयति इति प्रवृत्तिः। प्रवृत्तिश्च निवेदनैः॥
६. भरतमुनिकृत नाट्य के दश भेद (दशरूप) वृत्तिवैशिष्ट्य पर ही आधारित हैं।
७. यद्यपि लौकिकधर्मव्यतिरेकेण नाट्ये न कश्चिद्धर्मोऽस्ति, तथापि सः लोकगतप्रक्रियाक्रमो रजनाधिक्यप्राधान्यमधिरोहयितुं कविनटव्यापारे वैचित्र्यं स्वीकुर्वन् नाट्यधर्मी इत्युच्यते। (अ. भा.)

सर्वस्य सहजो भावः सर्वो ह्यभिनयोऽर्थतः ।
अंगालंकारचेष्टा तु नाटचधर्मी प्रकीर्तिता ।।

कविगत वागलंकार रूप नाटचधर्मी अर्थतः अर्थात् काव्यार्थ की अपेक्षा से प्रवर्तित होती है, एवं नटगत नाट्यधर्मी अर्थतः अर्थात् अभिनेय अर्थ की अपेक्षा से प्रवर्तित होती है; और यह अर्थ तो वृत्तिप्रवृत्तिरूप लोकधर्म ही है। अत एव लोकधर्म रूप सहज भाव नाटचधर्मी का आधार है। अभिनवगुप्त लोकधर्मी को 'भित्तिस्थानीय' अर्थात् चित्र के आधारभूत दीवार के समान बताते हैं। चित्र को दीवार का आधार होता है; किन्तु चित्र ही दीवार नहीं है। जब हम चित्र को देखते हैं तो दीवार को भी देखते ही है। किन्तु चित्रद्वारा दीवार का दर्शन होता है इसलिये वह सुंदर दीखती है। इसी तरह नाटच में नाटचधर्म के द्वारा ही लोकधर्म प्रकट होने से वह लोकधर्म सुदर दीखता है। अभिनवगुप्त ने कहा है कि नाटचधर्मी लोकधर्मी का '**सहजसंवादी व्यापार**' है। इसमें उन्होंने लोकधर्मी से नाटचधर्मी की भिन्नता तो दर्शायी है ही किन्तु साथ ही नाटचधर्मी की सौंदर्याधायकता की ओर भी संकेत किया है।

अभिनय की इतिकर्तव्यता

अभिनय नाटचधर्म है। इस नाटचधर्म को दर्शकों के सम्मुख कैसे प्रकट किया जायें? लोकधर्मी और नाटचधर्मी के द्वारा? यह इस प्रश्न का उत्तर हो सकता है। इसीलिये अभिनय और धर्मी में इतिकर्तव्यतासंबन्ध है ऐसा अभिनवगुप्त ने कहा है। अभिनय की इतिकर्तव्यता द्विविध है। एक प्रकार है लोकधर्मी और दूसरा प्रकार है नाटचधर्मी। लोकधर्मी अभिनय के भी दो प्रकार हैं,—चित्तवृत्ति का समर्पण करनेवाला अनुभावरूप अभिनय, उदा. गर्व, चिन्ता, दैन्य आदि का अभिनय; तथा दूसरा है केवल बाह्य अवयवरूप अभिनय। किन्तु रंगमंच पर किया जानेवाला अभिनय केवल लोकधर्मी ही नहीं होता। रंगमंच पर खड़े रहने के अवस्थान, चारी, मंडल आदि लोकधर्मी नहीं है। ये केवल नाटचप्रयोग में ही देखे जाते है। इनका कार्य प्रयोग की शोभा बढ़ाना ही होता है। इसके अतिरिक्त आत्मगत भाषण आदि तो केवल नाटच के संकेत मात्र हैं। अत एव नाटच के भी दो भेद अलौकिक शोभाहेतु और नाटचसंकेत होते हैं। अभिनय की यह चतुर्विध इतिकर्तव्यता इस प्रकार बतायी जा सकती है—

रिवाजों के विशेष निर्देशित करती है (५) और वृत्ति है मनोवाक्काव्यव्यापार। पुरुप की वृत्ति में प्रतिक्षण परिवर्तन हो सकता है, किन्तु उसकी प्रवृत्ति स्थिर होती है। हाँ, यह स्थिर प्रवृत्ति अभिव्यक्त होती है इस नित्य परिवर्तनशील वृत्ति द्वारा ही नाटच में प्रवृत्ति का दर्शन वृत्तियों द्वारा होता है। नाटच का मूल ये वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ ही होती हैं। इन वृत्तिप्रवृत्तियों द्वारा ही नाटच में लोक-स्वभाव चित्रित किया जाता है। वृत्तिप्रवृत्तियों द्वारा निर्दशित लोकस्वभाव ही लोकधर्म है नाटच में इस लोकधर्म का ही दर्शन होता है (६)।

लोकधर्म इस प्रकार नाटच का विषय है। किंबहुना, यह कहना भी ठीक होगा कि नाटच में लोकधर्म के अलावा अन्य विषय ही नहीं होता। यहाँतक शास्त्र और नाटच अथवा काव्य में कोई भेद नहीं है। किन्तु लोकस्वभाव का दर्शन कराने की नाटच की एक अपनी विशेष और भिन्न शैली है। हम जब नाटच देखते हैं तब हमें दर्शन तो लोकधर्म का ही होता है, किन्तु इसमें कवि तथा नट का एक ऐसा विशिष्ट व्यापार होता है जिससे कि नाटच में दर्शित लोकधर्म की प्रक्रिया लौकिक प्रक्रिया से कहीं अधिक सुंदर, रमणीय और आकर्षक बनती है। इस प्रकार कवि और नट के व्यापार के कारण जहाँ लोकधर्म का प्रक्रियाक्रम सुंदर एवं रमणीय होता है वहाँ नाटचधर्म होता है (७)। इस नाटचधर्म के दो प्रकार कविगत और नटगत होते हैं। लोकप्रसिद्ध कथानक में औचित्य एवं रमणीयता की दृष्टि से कवि जो परिवर्तन करता है वह कविगत नाटचधर्म है, और संपूर्ण अभिनय नटगत नाटचधर्म है। लौकिक व्यवहार में पाया जानेवाला सुखदुःखरूप लोकस्वभाव जब अभिनय द्वारा दर्शाया जाता है तब वह नाटच धर्म ही है। नाटच में तो यह नाटच धर्म अवश्य ही होना चाहिये, अन्यथा नाटच ही न होगा। मुनि कहते हैं—

नाटचधर्मीप्रवृत्तं हि सदा नाटचं प्रयोजयेत्।
न ह्यंगाभिनयात् किंचित् ऋते रागः प्रवर्तते॥

नाटच नित्य नाटचधर्मी से ही प्रवृत्त होना चाहिये, क्योंकि अंग आदि अभिनय के बिना राग अर्थात् सामाजिकों का आनन्द प्रवर्तित ही न होगा। नाटचधर्मी तो इसप्रकार नाटच का प्राण हुआ, किन्तु लोकधर्मी का क्या स्थान होगा? इस पर मुनि कहते है—

५. नानादेशवेषभाषाचारवार्ताः ख्यापयति इति प्रवृत्तिः। प्रवृत्तिश्च निवेदनैः॥
६. भरतमुनिकृत नाट्य के दश भेद (दशरूप) वृत्तिवैशिष्ट्य पर ही आधारित हैं।
७. यद्यपि लौकिकधर्मव्यतिरेकेण नाट्ये न कश्चिद्धर्मोऽस्ति, तथापि सः लोकगतप्रक्रियाक्रमो रंजनाधिक्यप्राधान्यमधिरोहयितुं कविनटव्यापारे वैचित्र्यं स्वीकुर्वन् नाट्यधर्मी इत्युच्यते। (अ. भा.)

सर्वस्य सहजो भावः सर्वो ह्यभिनयोऽर्थतः ।
अंगालंकारचेष्टा तु नाट्यधर्मी प्रकीर्तिता ।।

कविगत वागलंकार रूप नाट्यधर्मी अर्थतः अर्थात् काव्यार्थ की अपेक्षा से प्रवर्तित होती है, एवं नटगत नाट्यधर्मी अर्थतः अर्थात् अभिनेय अर्थ की अपेक्षा से प्रवर्तित होती है; और यह अर्थ तो वृत्तिप्रवृत्तिरूप लोकधर्म ही है। अत एव लोक-धर्म रूप सहज भाव नाट्यधर्मी का आधार है। अभिनवगुप्त लोकधर्मी को 'भित्तिस्थानीय' अर्थात् चित्र के आधारभूत दीवार के समान वताते है। चित्र को दीवार का आधार होता है; किन्तु चित्र ही दीवार नहीं है। जब हम चित्र को देखते हैं तो दीवार को भी देखते ही है। किन्तु चित्रद्वारा दीवार का दर्शन होता है इसलिये वह सुदर दीखती है। इसी तरह नाट्य में नाट्यधर्म के द्वारा ही लोकधर्म प्रकट होने से वह लोकधर्म सुंदर दीखता है। अभिनवगुप्त ने कहा है कि नाट्यधर्मी लोकधर्मी का '**सहजसंवादी व्यापार**' है। इसमें उन्होंने लोकधर्मी से नाट्यधर्मी की भिन्नता तो दर्शायी है ही किन्तु साथ ही नाट्यधर्मी की सौंदर्या-धायकता की ओर भी संकेत किया है।

अभिनय की इतिकर्तव्यता

अभिनय नाट्यधर्म है। इस नाट्यधर्म को दर्शकों के सम्मुख कैसे प्रकट किया जायें ? लोकधर्मी और नाट्यधर्मी के द्वारा ? यह इस प्रश्न का उत्तर हो सकता है। इसीलिये अभिनय और धर्मी में इतिकर्तव्यतासंबन्ध है ऐसा अभिनवगुप्त ने कहा है। अभिनय की इतिकर्तव्यता द्विविध है। एक प्रकार है लोकधर्मी और दूसरा प्रकार है नाट्यधर्मी। लोकधर्मी अभिनय के भी दो प्रकार हैं,—चित्तवृत्ति का समर्पण करनेवाला अणुभावरूप अभिनय, उदा. गर्व, चिन्ता, दैन्य आदि का अभिनय; तथा दूसरा है केवल बाह्य अवयवरूप अभिनय। किन्तु रंगमंच पर किया जानेवाला अभिनय केवल लोकधर्मी ही नहीं होता। रंगमंच पर खड़े रहने के अवस्थान, चारी, मंडल आदि लोकधर्मी नहीं है। ये केवल नाट्यप्रयोग में ही देखे जाते हैं। इनका कार्य प्रयोग की शोभा बढ़ाना ही होता है। इसके अतिरिक्त आत्मगत भाषण आदि तो केवल नाट्य के संकेत मात्र हैं। अत एव नाट्य के भी दो भेद अलौकिक शोभाहेतु और नाट्यसंकेत होते हैं। अभिनय की यह चतुर्विध इतिकर्तव्यता इस प्रकार बतायी जा सकती है—
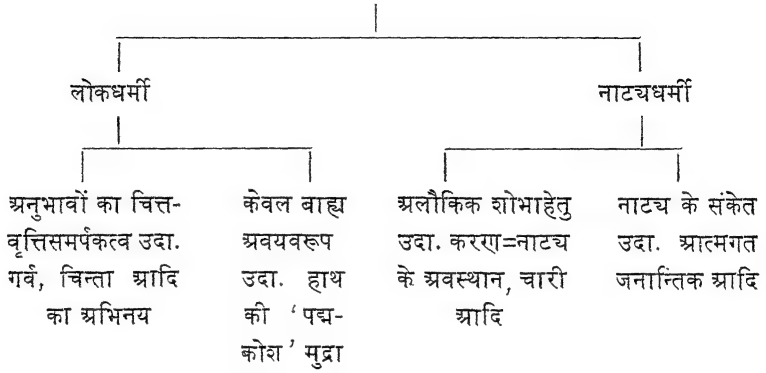
इन चार भेदों में से चित्तवृत्तिसमर्पक अनुभावों का अभिनय नाटचशास्त्र में भावाध्याय का विषय है। भावों का अभिव्यंजन अथवा अभिव्यक्ति किन अनुभावों के द्वारा किस प्रकार करनी चाहिये यह इस अध्याय का विषय है' मुनि ने इस सातवें अध्याय को 'भावव्यंजन' ही की संज्ञा दी है। यह भावाभिव्यंजन किस प्रकार किया जायँ ? असूया, निद्रा, उग्रता आदि भावों का अभिनय किस प्रकार करें ? उत्तर यह है कि इन भावों के उत्पादक कारण एवम् इन भावों के उदय से होनेवाले शारीरिक या वाचिक परिवर्तनों के रूप के कार्य, जैसे देखे जाते है वैसे वे नाटच में दर्शाने चाहिये। यह लोकधर्मी अभिनय है। किन्तु यह अभिनय लोकधर्मी होने पर भी लौकिक व्यवहार या लौकिक व्यापार नहीं है। यह नाटचधर्म ही है। क्योंकि यह अभिनय का ही एक भेद है। लौकिक व्यापार तथा नाटचगत लोकधर्मी अभिनय एकाकार नहीं है, या सदृश भी नहीं हैं; वे संवादी हैं। लौकिक जीवन के व्यक्तिसंबद्ध व्यापार तथा नाटच में देखा जानेवाला तत्संवादी अभिनयव्यापार इन दोनों के प्रयोजन सर्वथा भिन्न है। लौकिक जीवन का व्यक्तिसंबद्ध व्यापार व्यक्तिगत चित्तवृत्ति को उत्पन्न करता है अथवा एक व्यक्ति में उदित चित्तवृत्ति का अनुमितिरूपज्ञान अन्य व्यक्ति को करा देता है। किन्तु अभिनय में जो तत्संवादी व्यापार देखा जाता है उसका प्रयोजन इस प्रकार उत्पादनरूप या अनुमितिरूप नहीं है। अभिनय का प्रयोजन है नाटचार्थ में दर्शक का अनुप्रवेश करा के हृदयसंवादतन्मयी-भवनक्रम से, उसके चित्त में निष्पन्न रसनाव्यापार अर्थात् निर्विघ्नप्रतीति का, उस काव्यार्थ को विषय बनाना। अपने यहाँ ब्रह्माजी पधारे हैं यह देख कर वाल्मीकि ने आदरपूर्वक उनका स्वागत किया, उन्हें आसन दिया एवम् अर्घ्यपाद्य आदि से उनकी पूजा की। यह एक लौकिक घटना है। वाल्मीकि के मन में आदर का भाव

नाट्यभाव

[illegible]' में दिये क्रम के विपरीत क्रम से हमने प्रवृत्ति-वृत्ति-[illegible] यहाँतक विमर्श किया है। अब हम भाव और भाव के बाद रस के संबन्ध में विचार करेंगे। विभाव अनुभावों के लक्षण बताने के बाद मुनि कहते हैं, "—एवं ते विभावानुभावसंयुक्ता भावा इति व्याख्याताः। अतो ह्येषां भावानां सिद्धिर्भवति।" नाट्य में प्रकट होनेवाले भाव [illegible] ही होते हैं, उनकी सिद्धि विभावानुभावों से ही होती है, अतएव मुनि ने दिये हुए भावों के लक्षण 'विभावानुभावसंयुक्तभावों' के ही लक्षण हैं। स्थायी, व्यभिचारी, एवं सात्त्विक मिला कर कुल-४९ भाव होते हैं। इन सब के लक्षण की शैली "अमुक भाव अमुक विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय अमुक अनुभावों से करना चाहिये" इस प्रकार की एक ही है। इसका अर्थ यह है कि नाट्य में भावों का अभिनयन होता है। मुनि कहते हैं—

> भावाभिनयनं कुर्याद्विभावानां निदर्शनैः।
> तथैव चानुभावानां भावात् सिद्धिः प्रकीर्तिता।। (ना. शा. २५,३८ काशी सं.)

सारांश, नाट्यगत भावों की विभाव-अनुभावों के निरपेक्ष रूप में कल्पना करना असंभव है। इन भावों का आश्रय काव्यार्थ होता है, व्यक्ति नहीं; ये भाव विभाव-अनुभावों से व्यंजित होते हैं, कारण आदि से उत्पन्न नहीं होते; एवं ऐसे काव्यार्थाश्रित [illegible] भावों द्वारा ही सामान्यगुणयोग से रसनिष्पत्ति होती है। काव्यार्थसंश्रितैः विभावानुभावव्यंजितैः एकोनपंचाशद्भावैः सामान्यगुणयोगेन अभिनिष्पद्यन्ते रसाः।—ना. शा. अ. ७)। अतएव ये नाट्यभाव हैं न कि लौकिक भाव। इनको अभिव्यक्त करनेवाले विभावानुभाव लौकिक कार्यकारणों से संवादी होते हैं इस लिये ये भाव लौकिक हैं ऐसा क्षणभर के लिये भी नहीं माना जा सकता। लौकिक भाव कारणकार्य से उत्पाद्य-उत्पादकभाव द्वारा संबद्ध होते हैं, प्रत्युत नाट्यभाव विभावानुभावों से अभिव्यंग्य-अभिव्यंजक भाव द्वारा संयुक्त रहते हैं, लौकिक भाव व्यक्ति के आश्रित होते हैं तथा नाट्यभाव काव्यार्थाश्रित होते हैं। लौकिक भावों की निष्पत्ति व्यक्तिगत होती है और परगत अनुमिति होती है, किन्तु नाट्य भाव का केवल अभिनयन होता है। लौकिक भावों का 'भवन' होता है, तो नाट्यभावों से काव्यार्थ का 'भावन' होता है। अत एव लौकिक के स्तर से नाट्यभावों का स्वरूप समझना असंभव होता है।

भावाः इति कस्मात्

नाट्यभावों का स्वरूप मुनि ने भावाध्याय के आरंभ में ही स्पष्ट किया है।

"भावाः इति कस्मात् । किं भवन्ति इति भावाः, किंवा भावयन्ति इति भावाः । उच्यते । वागंगसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्ति इति भावाः ।" इस वचन में मुनि ने लौकिकभाव एवं नाट्यभाव में भेद स्पष्ट किया है। नाट्य में अभिनीत होने वाले रति, हास, निर्वेद आदि को भाव क्यों कहा जाता है ? आरंभ ही में यह प्रश्न उपस्थित करते हुए, भरत ने अपनी स्पष्ट रूप में मान्यता दी है कि काव्यार्थ का भावन करते हैं अतएव वे भाव हैं। 'भवति इति भावः' यह निर्मिति पक्ष है जो लौकिक व्यक्तिगत व्यवहार में पाया जाता है। नाट्य को वह लागू नहीं होता। 'भावयति इति भावः' यही भरतसंमत पक्ष है। नाट्यभाव काव्यार्थ का भावन करते हैं इसका अर्थ है वे उसे आस्वाद्य बनाते हैं। अभिनवगुप्त ने 'भावयन् = आस्वादयोग्यीकुर्वन्' इस प्रकार अर्थ दिया है। लौकिक व्यवहार में उत्पन्न होने वाले भाव आस्वाद्य होते ही हैं ऐसा नियम नहीं है, प्रत्युत विभावों द्वारा व्यंजित होने वाला नाट्यभाव आस्वाद्य ही होता है। अपने इस कथन की पुष्टि में भरत ने परम्परा से प्राप्त श्लोक दिये हैं। वे इस प्रकार हैं—

> विभावैराहृतो योऽर्थः ह्यनुभावैस्तु गम्यते ।
> वागंगसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ।।
> वागंगमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च ।
> कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते ।। (ना.शा. ७।१,२)

विभावों से जो अर्थ आहृत होता है तथा वागंगसत्त्वाभिनयरूप अनुभावों से जो अभिव्यक्त होता है, वह अर्थ ही भाव है। यह अर्थ क्या है ? नट का दृश्यमान वागंगसत्त्वाभिनय अनुभव में ही अन्तर्भूत होता है। ऋतु, उद्यान, चन्द्रोदय आदि विभाव हैं। राम, सीता आदि पात्र भी विभाव ही हैं। वे सब अर्थाभिव्यक्ति के उपायमात्र हैं। इन उपायों से कौनसा अर्थ भावित होता है ? इस प्रश्न का उत्तर दूसरी कारिका में है। वागंगमुखराग से एवं सात्त्विक अभिनय से कवि के अन्तर्गत भावों का भावन होता है। कवि का अन्तर्गत भाव ही काव्यार्थ है। नाट्यगत सब भावों का यही एकमात्र आश्रय होता है। राम, सीता आदि पात्रों के रूप में स्थित आलंबन, विभाव, ऋतु, उद्यान आदि उद्दीपन विभाव तथा [illegible] अनुभाव इन सब के द्वारा कवि का यह अन्तर्गत भाव ही व्यंजित होता है। नाट्यगत रति, हास, भय, निर्वेद आदि कवि के अन्तर्गत भाव ही का भावन करते हैं अर्थात् उसे आस्वाद्य बनाते हैं। अत एव उन्हें 'भाव' भी संज्ञा है।

कवि का यह अन्तर्गत भाव चित्तवृत्ति रूप होता है। किन्तु यह चित्तवृत्ति कवि का व्यक्तिगत मनोविकार नहीं है। लौकिक कारणों से उत्पन्न होनेवाला कवि का

व्यक्तिगत मनोविकार आस्वाद्य हो ही नहीं सकता। कवि का यह अन्तर्गत भाव प्रतिभानमय अर्थात् प्रतिभा से प्रकाशमान काव्यार्थ है। वह लौकिक विषयों से उत्पन्न हुआ नहीं होता, तथा देश, काल आदि भेदों की सीमाएँ भी उसे नहीं रहतीं; अतएव साधारणीभाव से विभाव आदि के द्वारा जब वह अभिव्यक्त होता है तब आस्वादयोग्य होता है। यही काव्यार्थ का भावन है। अभिनवगुप्त स्पष्ट ही कहते हैं — "कवेः वर्णनानिपुणस्य यः अन्तर्गतः अनादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमयः न तु लौकिकविषयजः (अत एव) देशकालादिभेदाभावात् साधारणीभावेन आस्वाद-योग्यः तं भावयन् आस्वादयोग्यीकुर्वन्"। ध्वन्यालोकलोचन' में भी 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इस वचन की व्याख्या में उन्होंने स्पष्ट रूप में कहा है— 'न तु मुनेः शोकः इति मन्तव्यम्' अर्थात् श्लोकरूप से परिणत होनेवाला यह शोक मुनि वाल्मीकि का व्यक्तिगत मनोविकार नहीं है। कवि के इस प्रतिभानमय साधारणीभूत अंतर्गत भाव को चतुर्विध अभिनय के द्वारा भावित अर्थात् आस्वाद-योग्य करनेवाले नाटचधर्म ही नाटचगत भाव है।

नाटचभाव क्या है यह ठीक समझने के लिये हम 'मरण' भाव ही का उदाहरण लें। भरत का इस भाव के संबन्ध में यह कथन है — मरण व्याधि या अभिघात से आता है। व्याधि के कारण आये मरण के अभिनय में गात्रों को धीरे-धीरे गलित करना चाहिये, आँखों को धीरे-धीरे मूँद लेना चाहिये, ऐसे रहना चाहिये जैसे कि हिचकियाँ आती हों या श्वास रुक गया हो, बोलने में बड़े कष्ट बताकर अस्पष्ट बोलना और अन्त में शरीर को निश्चेष्ट करना चाहिये इस प्रकार के अनुभावों से 'मरण' के भाव का अभिनय करना चाहिये। इसके उदाहरण के रूप में 'एकच प्याला' (मराठी) नाटक में तलिराम की मृत्यु का प्रसंग उद्धृत किया जा सकता है। हम रंगमंच पर तलिराम की मृत्यु देखते हैं। लगता है कि मानों हमारे सामने उसकी मृत्यु हो रही है। किन्तु वह तो अभिनीत किया एक भाव मात्र है। यह 'मरण' नाटचभाव मात्र है। किसी एक व्यक्ति की मृत्यु नहीं है। यह तो ठीक है कि यह नाटचभाव लौकिक मृत्यु की अवस्था से संवादी है, किन्तु यह लौकिक मृत्यु नहीं है।

उदाहरण में नाटककर्ता (श्री. गडकरी) ने आँखों से देखा हुआ तलिराम नाम का व्यक्ति 'मरण के भाव का आश्रय नहीं है अपितु प्रतिभानमय काव्यार्थ ही इस भाव का आश्रय है। रंगमंच पर हम जो चेष्टाएँ देखते हैं वे उस व्याधि या अभिघात के कार्य नहीं है; क्योंकि यहाँ व्याधि या अभिघात 'पारमार्थिक' है ही नहीं। वे अनुभाव मात्र हैं, एवम् इन अनुभावों द्वारा 'मरण' का नाटचभाव व्यंजित हुआ है।

अभिनवगुप्त ने तो 'भय' के स्थायी भाव का ही उदाहरण दिया है। 'शाकुन्तल' का प्रसंग है। दुष्यन्त के बाणों से डर कर हरिण भाग रहा है। जब यह दृश्य अभिनीत होता है तब हमें जो साक्षात्कारात्मक प्रतीति आती है उसमें प्रतीत होने वाला भय किसीका मनोविकार नहीं है। नट का या प्रेक्षक का भी यह विकार नहीं है। वह मृग का भी मनोविकार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस मृग का कोई विशेष स्वरूप नहीं है। डर का कारण भी पारमार्थिक नहीं है। वह तो भयभीत का भय है और एक नाट्यभाव मात्र है। इसी प्रकार 'कुमार-सभव' में तीसरे सर्ग में शिवपार्वती के दर्शन का प्रसंग है। यहाँ कालिदास द्वारा वर्णित प्रणय शिवपार्वती का वास्तविक प्रणय नहीं है, यह प्रणय कालिदास का नहीं है या पाठक का भी नहीं है। यह लौकिक अवस्था में होनेवाला रति नामक मनोविकार भी नहीं है; यह तो केवल प्रेम का साधारणीकृत भाव कालिदास के शब्दार्थों में से भावित हुआ है।

इन भावों का इनके विभाव अनुभावों द्वारा व्यंजन कैसे करना चाहिये यही भरतमुनि ने भावाध्याय में कथन किया है। विभावानुभावों से युक्त ये भाव साधारणीभूत होते हैं, इस लिये जब ये अभिनीत होते हैं या कवि के द्वारा इनका वर्णन किया जाता है तब रसिक को भी भावित अर्थात् व्याप्त करते हैं[१]। 'भावित' का व्याप्त अर्थ भी भरत का ही दिया हुआ है। एक ओर से ये भाव कवि के अन्तर्गत भाव को भावित करते हैं और दूसरी ओर से दर्शक या रसिक को भी व्याप्त करते हैं। इस प्रकार भरत के नाट्य विश्व में कवि, नट तथा दर्शक सभी का अन्तर्भाव होता है।

सारांश, भरत द्वारा वर्णित भाव नाट्याश्रित भाव है, वे विभावानुभावों से ही संयुक्त हैं, तथा विभावानुभावों द्वारा ही इनकी सिद्धि होती है। विभावानुभाव लोकसिद्ध तथा लोकयात्रानुगामी होने पर भी लौकिक नहीं होते। वे नाट्यधर्म हैं और अलौकिक ही हैं। अतएव अलौकिक विभावानुभावों द्वारा अभिव्यक्त होने वाले नाट्याश्रित भाव भी अलौकिक ही होते हैं। वे लौकिक मनोविकार नहीं होते। अतएव लौकिक मनोविकारों के स्तर से उनकी परीक्षा भी नहीं की जा सकती। भरत की दी हुई भावों की सूचि लौकिक मनोविकारों की सूचि नहीं है। हमें इस

---

१. त एव वाचिकाद्या अभिनयाः प्रमुखदशायां देशकालगतत्वेन यद्यपि भान्ति, तथापि नटस्य निर्गुणात् (निर्गुणत्वात्) न तत्त्वात् रामादेः परमार्थासत्त्वात् भ्रान्तिज्ञानाभावाच्च नियततां विजहन्तः साधारणीभावमनुप्राप्ताः सामाजिकजनमपि मृगमदामोददिशा व्याप्नुवन्ति। (अ. भा. अ. ७)

व्यक्तिगत मनोविकार आस्वाद्य हो ही नहीं सकता। कवि का यह अन्तर्गत भाव प्रतिभानमय अर्थात् प्रतिभा से प्रकाशमान काव्यार्थ है। वह लौकिक विषयों से उत्पन्न हुआ नहीं होता, तथा देश, काल आदि भेदों की सीमाएँ भी उसे नहीं रहतीं; अतएव साधारणीभाव से विभाव आदि के द्वारा जब वह अभिव्यक्त होता है तब आस्वादयोग्य होता है। यही काव्यार्थ का भावन है। अभिनवगुप्त स्पष्ट ही कहते हैं—"कवेः वर्णनानिपुणस्य यः अन्तर्गतः अनादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमयः न तु लौकिकविषयजः (अत एव) देशकालादिभेदाभावात् साधारणीभावेन आस्वादयोग्यः तं भावयन् आस्वादयोग्यीकुर्वन्"। ध्वन्यालोकलोचन' में भी 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इस वचन की व्याख्या में उन्होंने स्पष्ट रूप में कहा है—'न तु मुनेः शोकः इति मन्तव्यम्' अर्थात् श्लोकरूप से परिणत होनेवाला यह शोक मुनि वाल्मीकि का व्यक्तिगत मनोविकार नहीं है। कवि के इस प्रतिभानमय साधारणीभूत अंतर्गत भाव को चतुर्विध अभिनय के द्वारा भावित अर्थात् आस्वादयोग्य करनेवाले नाट्यधर्म ही नाट्यगत भाव हैं।

नाट्यभाव क्या है यह ठीक समझने के लिये हम 'मरण' भाव ही का उदाहरण लें। भरत का इस भाव के संबन्ध में यह कथन है—मरण व्याधि या अभिघात से आता है। व्याधि के कारण आये मरण के अभिनय में गात्रों को धीरे-धीरे गलित करना चाहिये, आँखों को धीरे-धीरे मूँद लेना चाहिये, ऐसे रहना चाहिये जैसे कि हिचकियाँ आती हों या श्वास रुक गया हो, बोलने में बड़े कष्ट बताकर अस्पष्ट बोलना और अन्त में शरीर को निश्चेष्ट करना चाहिये इस प्रकार के अनुभावों से 'मरण' के भाव का अभिनय करना चाहिये। इसके उदाहरण के रूप में 'एकच प्याला' (मराठी) नाटक में तलिराम की मृत्यु का प्रसंग उद्धृत किया जा सकता है। हम रंगमंच पर तलिराम की मृत्यु देखते हैं। लगता है कि मानों हमारे सामने उसकी मृत्यु हो रही है। किन्तु वह तो अभिनीत किया एक भाव मात्र है। यह 'मरण' नाट्यभाव मात्र है। किसी एक व्यक्ति की मृत्यु नहीं है। यह तो ठीक है कि यह नाट्यभाव लौकिक मृत्यु की अवस्था से संवादी है, किन्तु यह लौकिक मृत्यु नहीं है।

उदाहरण में नाटककर्ता (श्री. गडकरी) ने आँखों से देखा हुआ तलिराम नाम का व्यक्ति 'मरण के भाव का आश्रय नहीं है अपितु प्रतिभानमय काव्यार्थ ही इस भाव का आश्रय है। रंगमंच पर हम जो चेष्टाएँ देखते हैं वे उस व्याधि या अभिघात के कार्य नहीं है; क्योंकि यहाँ व्याधि या अभिघात 'पारमार्थिक' है ही नहीं। वे अनुभाव मात्र हैं, एवम् इन अनुभावों द्वारा 'मरण' का नाट्यभाव व्यंजित हुआ है।

अभिनवगुप्त ने तो 'भय' के स्थायी भाव का ही उदाहरण दिया है। 'शाकुन्तल' का प्रसंग है। दुष्यन्त के बाणों से डर कर हरिण भाग रहा है। जब यह दृश्य अभिनीत होता है तब हमें जो साक्षात्कारात्मक प्रतीति आती है उसमें प्रतीत होने वाला भय किसीका मनोविकार नहीं है। नट का या प्रेक्षक का भी यह विकार नहीं है। वह मृग का भी मनोविकार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस मृग का कोई विशेष स्वरूप नहीं है। डर का कारण भी पारमार्थिक नहीं है। वह तो भयभीत का भय है और एक नाट्यभाव मात्र है। इसी प्रकार 'कुमार-सभव' में तीसरे सर्ग में शिवपार्वती के दर्शन का प्रसंग है। यहाँ कालिदास द्वारा वर्णित प्रणय शिवपार्वती का वास्तविक प्रणय नहीं है, यह प्रणय कालिदास का नहीं है या पाठक का भी नहीं है। यह लौकिक अवस्था में होनेवाला रति नामक मनोविकार भी नहीं है; यह तो केवल प्रेम का साधारणीकृत भाव कालिदास के शब्दार्थों में से भावित हुआ है।

इन भावों का इनके विभाव अनुभावों द्वारा व्यंजन कैसे करना चाहिये यही भरतमुनि ने भावाध्याय में कथन किया है। विभावानुभावों से युक्त ये भाव साधारणीभूत होते हैं, इस लिये जब ये अभिनीत होते है या कवि के द्वारा इनका वर्णन किया जाता है तब रसिक को भी भावित अर्थात् व्याप्त करते हैं[९]। 'भावित' का व्याप्त अर्थ भी भरत का ही दिया हुआ है। एक ओर से ये भाव कवि के अन्तर्गत भाव को भावित करते हैं और दूसरी ओर से दर्शक या रसिक को भी व्याप्त करते है। इस प्रकार भरत के नाट्य विश्व में कवि, नट तथा दर्शक सभी का अन्तर्भाव होता है।

सारांश, भरत द्वारा वर्णित भाव नाट्याश्रित भाव हैं, वे विभावानुभावों से ही संयुक्त हैं, तथा विभावानुभावों द्वारा ही इनकी सिद्धि होती है। विभावानुभाव लोकसिद्ध तथा लोकयात्रानुगामी होने पर भी लौकिक नहीं होते। वे नाट्यधर्म हैं और अलौकिक ही हैं। अतएव अलौकिक विभावानुभावों द्वारा अभिव्यक्त होने वाले नाट्याश्रित भाव भी अलौकिक ही होते हैं। वे लौकिक मनोविकार नहीं होते। अतएव लौकिक मनोविकारों के स्तर से उनकी परीक्षा भी नहीं की जा सकती। भरत की दी हुई भावों की सूचि लौकिक मनोविकारों की सूचि नहीं है। हमें इस

---

९. त एव वाचिकाद्या अभिनयाः प्रमुखदशायां देशकाल्गतत्वेन यद्यपि भान्ति, तथापि नटस्य निर्गुणात् (निर्गुणत्वात्) न तत्त्वात् रामादेः परमार्थासत्त्वात् भ्रान्तिज्ञानाभावाच्च नियततां विजहन्तः साधारणीभावमनुप्राप्ताः सामाजिकजनमपि मृगमदामोदविशा व्याप्नुवन्ति। (अ. भा. अ. ७)

बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह अभिनेय नाटचभावों की सूचि है। इस सूचि में कई भाव लौकिक मनोविकारों से संवादी दिखायी देते हैं, और कई शारीरिक अवस्थाओं से समान दीखते हैं, इस लिये यह सूचि दोषपूर्ण है ऐसी आपत्ति 'रस-विमर्शकार 'ने उठायी है [१०]। किन्तु ऐसी आपत्ति उपस्थित करने की कोई आवश्य-कता नहीं है। मनोविकारों का विश्लेषण करके इनका भावत्व सिद्ध करने का भरत मुनि का उद्देश्य नहीं है। उनके समक्ष प्रश्न बिलकुल सरल है और वह यह है कि इन भावों का अभिनय कैसे किया जायें ? और इसी दृष्टि से उन्होंने भावों का विवेचन किया है। 'रति' रूप मनोविकार का क्या स्वरूप है, यह मूल विकार है या संयुक्त भावना है इस बात से भरत का कुछ मतलब नहीं है। केवल इतना ही बताना है कि अभिनयद्वारा रति की अभिव्यक्ति किस प्रकार करनी चाहिये। भरत मुनि के समक्ष 'उत्साह' एक मनोविकार है या एक शारीर और मानस प्रेरक शक्ति है यह समस्या नहीं है, प्रत्युत उनका प्रयोजन है उदात्त पुरुष के उत्साह का अभिनय के द्वारा दर्शन किस प्रकार कराना चाहिये। भिन्नभिन्न ४९ भावों का अभिनयद्वारा प्रत्यक्षवत् दर्शन कराना यह एक ही प्रश्न भरतमुनि के सम्मुख है, इस लिये वे हर्ष, लज्जा, आदि मनोविकारों के साथ ही मरण, निद्रा, आलस्य आदि अवस्थाओं के भी विभावानुभाव कथन करते है। 'वागंगसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्ति इति भावा:' इस प्रकार भरत ने भावलक्षण किया है और इसी दृष्टि से काव्यार्थ का भावन करनेवाली बातें उन्होंने एकत्रित रखीं है। इन नाटचभावों में से कई भाव लौकिक मनोविकारों से संवादी हो सकते हैं और कई शारीरिक अवस्थाओं से संवादी हो सकते हैं, किन्तु काव्यार्थ को भावित करने का एक ही सामान्य धर्म इन सब में है और इसी दृष्टि से भरत ने उन्हें एक ही सूत्र में ग्रथित किया है। केवल इसी प्रमाण पर कि इस सूचि में ग्रथित कतिपय भाव मनोविकारों से संवादी हैं — भरत मनोविकारों की सूचि देना चाहते हैं ऐसी धारणा बना कर, भाव = मनोविकार का लौकिक अर्थ, भरत का अभिप्रेत न होकर भी उन पर लाद देना और इस दृष्टि से उनकी बनाई सूचि की जाँच करना व्यर्थ है। भरत के भावलक्षणों की जाँच करते समय "तस्मादेतेषां विभावानुभाव संयुक्तानां लक्षणनिदर्शनानि अभिव्याख्यास्याम:।" इस वचन का स्मरण अवश्य ही रखना होगा। एवं इस वचन का स्मरण रखते हुए इन भावों को देखने से, व्यंग्यव्यंजकभाव छोड़कर, लौकिक कार्यकारण भाव के आधारपर मनोविज्ञान की दृष्टि से इन भावों की परीक्षा करने का कोई कारण नहीं रहता। सप्तम अध्याय

१०. देखिए— डॉ. के. ना. वाटवे— 'रसविमर्श' (मराठी)

में ४९ अर्थों को भरत ने किस अभिप्राय से भाव कहा है यह पूर्व बताया जा चुका है। भरत के सामने दो पक्ष थे। एक 'भवतिपक्ष' (भवन्ति इति भावाः) और दूसरा 'भावयन्ति पक्ष' (भावयन्ति इति भावाः)। इनमें से भवतिपक्ष लौकिक स्तर पर विचार करनेवाला मनोविज्ञान का पक्ष है और भावयन्तिपक्ष है नाटच के स्तर पर से विचार करनेवाला अभिव्यक्ति पक्ष। भरत को यह दूसरा पक्ष ही स्वीकार था एवम् इसी अर्थ में उन्होंने 'भाव' की संज्ञा का प्रयोग किया है इस बात का नाटचशास्त्र का अध्ययन करते समय अवश्य ही स्मरण रखना चाहिये। आधुनिक रसविमर्शक कई बार 'भावयन्तिपक्ष' को 'भवतिपक्ष' की दृष्टि से देखते हैं, और इस लिये 'रस' उनके लिये एक पहेली हो गयी है।

नाटचरस

अब देखिये रस क्या है। भावलक्षणों का विधान करते समय भरत ने विभावानुभावसंयुक्त भावों के लक्षण दिये हैं; और उन्होंने रसलक्षणों का विधान भी इसी प्रकार किया है। रसाध्याय में भरत ने कहा है— "इदानीं विभावानुभावव्यभिचारिसंयुक्तानां लक्षणनिदर्शनानि अभिव्याख्यास्यामः :" इसका अर्थ है कि जिस प्रकार भाव विभावानुभावसंयुक्त होते है उसी प्रकार रस भी विभावानुभावव्यभिचारीसंयुक्त ही होते हैं। मुनि ने कहा है कि, विभावानुभावसयुक्त भाव ही काव्यरस की अभिव्यक्ति के हेतु हैं, एवम् इनके द्वारा सामान्यगुणयोग से रस निष्पन्न होते हैं। एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतवः एकोनपंचाशद्भावाः प्रत्यवगन्तव्याः। एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसाः निष्पद्यन्ते)। स्थायिभावों के विवेचन में भी मुनि का उद्देश्य स्थायिभावों का लौकिक स्वरूप कथन करने का नहीं है, बल्कि स्थायिभावों के विभावानुभाव किस प्रकार दर्शाने चाहिये यही बताने का है और इतना उन्होंने बताया भी है। नाटचशास्त्रकार से इससे अधिक कुछ कहने की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती। रसाभिव्यक्ति ही नाटच का प्रयोजन है। यह रसादिव्यक्ति विभाव आदि के सामर्थ्य से ही होती है। अन्य किसी प्रकार से नहीं। विभावानुभाव स्वभावतः अलौकिक होते है। किन्तु वे 'लोकसंसिद्ध' तथा 'लोकयात्रानुगामी' होते हैं। अतएव इनके अभिनय में लौकिक कार्यकारणों से इनका संवाद होना आवश्यक है। कवि तथा नट को यदि लौकिक रति आदि का ज्ञान न हो तो अपने काव्य में या अभिनय में वे यह संवाद नहीं ला सकते, और यदि लोकसंवादि विभावों का ग्रहण न हुआ तो नाटच में या काव्य में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों का संयोग अर्थात् सम्यक् योग भी सिद्ध न होगा एवम् इससे अन्त में रसभंग होगा; ऐसी आपत्ति न आयें इस उद्देश्य से भरत ने स्थायिभावों

का निर्देश किया है। कहा जाता है कि रसिक दर्शक रसास्वाद के समय स्थायीभाव का आस्वाद लेता है। यह स्थायिका आस्वाद, व्यक्तिगत लौकिक, रति आदि मनोविकारों का आस्वाद नहीं है। अभिनय द्वारा अलौकिक विभाव आदि में से अभिव्यक्त होने वाले अलौकिक रति आदि का इन विभाव आदि के साथ समूहालंबन से यह आस्वाद हुआ करता है। मुनि स्पष्ट ही कहते हैं–" नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागंगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावान् आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षं चाधिगच्छन्ति।" इसीमें उन्होंने लौकिक मनोविकारों के आस्वाद का निरास किया है। अलौकिक विभावानुभावों से अलौकिक भावाभिव्यंजना होती है, और अलौकिक भावाभिनय से समकाल ही अलौकिक स्थायी का व्यंजन होता है एवम् यह अलौकिक अभिव्यक्ति ही आस्वाद्य होती है। भरत के निर्देशित विभावानुभाव नाटकगत ही हैं, उनके भाव भी नाट्यभाव हैं एवम् उनका रस भी नाटयरस ही है। उन्होंने स्पष्ट रूप में कहा है कि, 'तस्मात् नाटयरसा इति अभिव्याख्याताः' और अपने इस कथन की पुष्टि में अनुवंश श्लोक उद्धृत किये है।

'संग्रहकारिका' में निर्देशित अर्थो पर विचार करते हुए प्रवृत्ति से लेकर रस तक इस क्रम में हम आते है। भरत का विश्लेषण रस से लेकर प्रवृत्ति तक इस क्रम से है क्यो कि उनकी दृष्टि प्रयोगविश्लोषण की है। भरतका यह क्रम आज हम ठीक तरह से नहीं समझ पाते इस लिये आरंभ में उलटे क्रम से इन्हीं अर्थो की विवेचना करना तथा उनके स्वरूपों को समझ लेना आवश्यक हो गया। अब हम भरत के प्रसिद्ध रससूत्र का विचार कर सकते हैं। भरत का रससूत्र यों हैं—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः।'

इस सूत्र का सरल अर्थ है–" विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभावों के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है।"

रस के सम्बन्ध में विविध मत

नाटयप्रयोग के लिये भरत ने 'रसप्रयोग' शब्द का भी प्रयोग किया है। रंगमच पर नट रसप्रयोग करते है। दर्शक उस प्रयोग का आस्वाद लेतें है। रसप्रयोग की सब सामग्री कृत्रिम होती है। वास्तव में रसिक नट की रची हुई भूमिका देखते हैं। वह तो नाटय धर्म मात्र होता है। किन्तु दर्शक का आस्वाद तो सत्य ही होता है। नट की भूमिका के समान वह कृत्रिम नहीं होता। अब प्रश्न यह उठता है कि इस कृत्रिम भूमिका से रसिक को रसास्वाद कैसे प्राप्त होता है? इस प्रश्न की विवेचना में ही रसचर्चा का बाद का इतिहास आ जाता है। इसके आगे चर्चा का

विषय है–विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है इस वचन का अर्थ क्या है ?

नाट्यशास्त्र की अनेक टीकाएँ हुई हैं। हर्ष, उद्भट, लोल्लट, श्रीशंकुक, अभिनवगुप्त आदि नाट्यशास्त्र के ख्यातिप्राप्त टीकाकार हैं। इन टीकाओं में से, अभिनवगुप्त की 'नाट्यवेदविवृत्ति' या 'अभिनवभारती' यह एक ही टीका आज उपलब्ध है। अन्य टीकाएँ उपलब्ध नहीं है। 'अभिनवभारती' में जो पूर्वपक्ष या मतान्तर उद्धृत किये गये हैं उनसे ही अभिनवपूर्व मतों का अनुमान लगाना पड़ता है।

भरतमुनि तथा अभिनवगुप्त के समय में लगभग ७०० से ८०० वर्षों का अन्तर है। इनके मध्य काल में संस्कृत वाङ्मय बहुत संपन्न हुआ। कालिदास भारवि, माघ आदि के महाकाव्य; अमरु तथा गाथाकवियों के मुक्तक; कालिदास, विशाखदत्त, नारायण, हर्ष, भवभूति आदि के नाटक इसी काल में रचे गये हैं। इस नवनिर्माण का साहित्य चर्चा पर परिणाम होना स्वाभाविक था। इस चर्चा में जो नये प्रश्न उत्पन्न हुए उन्हें लेकर रसचर्चा होने लगी। नाट्य के समान ही काव्य से भी रसास्वाद कैसे प्राप्त होता है इस पर भी चर्चा होने लगी। इस विचार में अनेक भिन्न भिन्न मत निर्माण हुए। अभिनवगुप्त ने ऐसे अनेक मतों का 'ध्वन्यालोकलोचन' में निर्देश किया है। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

(१) विभावादि का पात्रगत स्थायीभाव से संयोग हो कर पात्रगत स्थायी-भाव परिपुष्ट होता है। यह परिपुष्ट स्थायी ही रस है। रस वस्तुतः रामादि अनुकार्य पात्रों में रहता है एवम् अनुसंधान के बल से वह नट में प्रतीत होता है। यह लोल्लट का मत है।

(२) विभावानुभावादि लिंगों से नटगत स्थायी अनुमित होता है तथा अनुकार्य राम से नट भिन्न नहीं है इस बात का ध्यान रखते हुए इस स्थायी का आस्वाद होता है। इस मत के अनुसार रस नटाश्रित है, रामादि का आश्रित नहीं है।

(३) दीवार पर रंगों के उचित मिश्रण से तुरग का आभास मिलता है, इसी प्रकार अभिनयसामग्री के कारण नट में रामगत स्थायी का आभास निर्माण होता है। यह मिथ्याज्ञानरूप आभास ही रस है। यह मत तथा उपर्युक्त क्रमांक २ का मत-इन दोनों पर श्रीशंकुक की रस की उपपत्ति आधारित है।

(४) विभावानुभाव जब उचित रूप में दर्शाये जाते है तब उनके द्वारा स्थायी चित्तवृत्ति विभावनीय तथा अनुभावनीय होती है। रसिक वासना की – जो कि चित्तवृत्ति के लिये उचित होती है – चर्वणा ही रस है।

(५) कोई ऐसे हैं कि जिनके मत में शुद्ध विभाव, कोई ऐसे हैं जिनके मत में केवल अनुभाव, किसीके मत में केवल स्थायी, किसीके मत में केवल व्यभिचारी, किसीके मत में इनका संयोग, और अन्य किसीके मत में इनका समुदाय ही रस है।

(६) एक मत यह भी था कि रस स्वशब्दवाच्य भी हो सकता है। इसकी आनन्दवर्धन ने आलोचना की है। संभव है कि क्रमांक ५ और ६ के मत उद्भट के हों।

(७) भट्टनायक के मत में रस प्रतीत नहीं होता, उत्पन्न नहीं होता, या अनुमित भी नहीं होता। भोज्य-भोजक भाव से रसिक रस का आस्वाद करता है।

(८) 'अभिनवभारती' में अभिनवगुप्त ने सांख्य दार्शनिकों के रससम्बन्धी मत का निर्देश किया है कि–विभाव बाह्य सामग्री है एवम् इन विभावों पर अनुभाव तथा व्यभिचारीभावों का संस्कार होता है और इस सामग्री से सुखदुःख रूप स्थायी उत्पन्न होता है।

इन विविध मतों में से लोल्लट, श्रीशंकुक तथा भट्टनायक के मतों का प्रामाणिक स्वरूप हमें अभिनवभारती से ज्ञात होता है। अन्य मतों के आचार्य कौन थे इसका कोई पता नहीं। नाटचशास्त्र पर उद्भट की टीका थी। उद्भट के मतों का निर्देश 'अभिनवभारती' में अनेक स्थानों पर आया है, किन्तु उद्भट के रसविषयक मत का कोई निर्देश नहीं है। इस लिये उद्भट का रस के सम्बन्ध में क्या मत था इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। दण्डी के मत का संक्षिप्त उल्लेख अभिनवगुप्त ने किया है। इस लिये, जो कुछ सूचना उपलब्ध है उसी के आधारपर कुछ अनुमान–जो संभवनीय लगते हैं–आगे दिये जाते हैं।

भामह और दण्डी के रसविषयक मत

भामह तथा दण्डी ने 'रसवत्' की संज्ञा देकर रस के सम्बन्ध में कुछ कहा है। उनका कथन है कि, काव्य रसवत् होता है, काव्य प्रेयस्वत् होता है अथवा काव्य ऊर्जस्वी होता है। उन्होंने रस की प्रक्रिया नहीं बतायी ! उनके ग्रन्थों में रसप्रक्रिया का पूर्वभाव गृहीत है। उन्होंने जो कुछ लिखा है उस पर से लगता है कि उनके मतों में रस काव्यगत पात्रों के माने जाते थे। भामह और दण्डी के वचन इस प्रकार हैं–

> **प्रेयो** गृहागतं कृष्णमवादीद्विदुरो यथा।
> अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते
> कालेनैषा [illegible] पुनः ॥

> **रसवत्** दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसं यथा ।
> देवी [illegible] ।।
> **ऊर्जस्वि** कर्णेन यथा पार्थाय पुनरागतः।
> द्विः संदधाति किं कर्णः शल्येत्यहिरपाकृतः ।।

विदुर का भाषण प्रेयस्वत् है । छद्मबटुवेष त्यागने पर शिवजी से पार्वती का मिलन हुआ । इस प्रसंग में शृंगार रस स्पष्ट है । कर्ण का भाषण ' द्विः सदधाति किं कर्णः '– ऊर्जस्वी है । इस पर से प्रतीत होता है कि रस और भाव काव्यगत व्यक्तियों के ह । भामह ने प्रत्येक रस का पृथक् उदाहरण नहीं दिया । किन्तु दण्डी ने आठों रसों के उदाहरण दिये है । इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि दण्डी का मत भी भामह के मत के समान ही था । दण्डी के निम्न वचन देखिये —

> १. रतिः शृंगारतां गता । रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद्वचः ।।
> २. इत्यारुह्य परां कोटि क्रोधो रौद्रात्मतां गतः ।
> भीमस्य पश्यतः शत्रुमित्येतद्रसवद्वचः ।।
> ३. इत्युत्साहः प्रकृष्टात्मा तिष्ठन् वीररसात्मना ।
> रसवत्त्वं गिरामासां समर्थयितुमीश्वरः ।।

रूपबाहुल्ययोग से अर्थात् विभावादि की प्रचुरता से रति शृंगार दशातक पहुँची है अतएव यह वचन रसवत् है; उपर्युक्त पद्य में, भीम शत्रु को देख रहे थे कि उनका क्रोध पराकोटि तक गया एवं वह रौद्रावस्था को प्राप्त हुआ अतएव यह वचन रसवत् है; इस प्रकार उत्साह वीर रस के रूप में प्रकृष्ट हुआ है तथा इस वचन का रसवत्त्व समर्थित कर रहा है । यही भामह का ' दर्शितस्पष्टरसत्व ' है । इन वचनों पर ध्यान देने से तीन बातें स्पष्ट हो जाती है । रत्यादि भाव विभावादि (रूपबाहुल्य) के कारण जब पराकोटि को प्राप्त होते है तो रस का अविर्भाव होता है। अर्थात् रस है भावों की उपचयावस्था । ये भाव तथा रस काव्यगत व्यक्तियों के ही होते हैं तथा इसमें इनकी व्यक्तिगत भावनाओं का ही उपचय होता है (भीम का क्रोध पराकोटि तक पहुँचा और रौद्र रूप हुआ) । इस प्रकार काव्यगत पात्रों में रस स्पष्ट रूप में प्रतीत हो रहा है अतएव काव्य रसवत् अर्थात् रसयुक्त है । काव्य की रसवत्ता काव्यगत अष्ट रसों पर अवलंबित होती है । (इह त्वष्ट रसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम् ।– दण्डी) । दण्डी के मत में रस आठ हैं । भावों के संबंध में भामह या दण्डी कुछ भी नहीं कहतें । जिस वचन में प्रीति दिखायी देती है वह प्रेयोयुक्त वचन, तथा जिस में अहंकार (अर्थात् पात्रों का) दिखाई देता है वह ऊर्जस्वी वचन, इतना ही उन्होंने भावों के संबंध में कहा है ।

पात्र का व्यक्तिगत लौकिक स्थायीभाव ही विभावादि से परिपुष्ट होता है। इस स्थायी की परिपुष्टावस्था ही रस है इस प्रकार का भट्ट लोल्लट का मत आगे निर्दिष्ट किया जायेगा। प्राचीन आचार्यों का भी ऐसा ही मत है (चिरन्तनानां च अयमेव पक्षः) ऐसा अभिनवगुप्त ने कहा है, एवम् अपने कथन की पुष्टि के लिये 'काव्यादर्श' के वचनों का आधार दिया है। भामह-दण्डी के उपर्युक्त वचनों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उनकी रसविषयक धारणा व्यक्तिगत स्थायी की परिपुष्टि पर ही आधारित थी। इन चिरन्तन आचार्यों की रसमीमांसा के संबन्ध में इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।

उद्भट के रस विषयक मत

अभिनवगुप्त उद्भट को भी प्राचीन आचार्य मानते हैं। उद्भट की नाट्य-शास्त्र पर लिखी टीका उपलब्ध नहीं है। किन्तु उनका 'काव्यालंकार-सारसंग्रह' नामक अलंकारग्रन्थ तथा अन्य ग्रन्थकारों ने उनके उद्धृत किये हुए वचनों से उनके रसविषयक मतों के संबन्ध में कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। उद्भट ने प्रेयस्वत् काव्य, रसवत् काव्य तथा ऊर्जस्वी काव्य इस प्रकार भेद किये हैं और 'काव्यालंकारसारसंग्रह' में इनके लक्षण इस प्रकार दिये हैं —

रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः ।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम् ॥
रसवद्दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसोदयम् ।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् ॥
अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात् ।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ॥
रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम् !
अन्यानुभावनिःशून्यरूपं तत्स्यात् समाहितम् ॥

रत्यादि भावों का अनुभावों द्वारा सूचन मात्र करते हुए जो काव्य ग्रथित किया जाता है वह काव्य प्रेयस्वत् है। जिसमें स्वशब्द, स्थायी, संचारी, विभाव तथा अनुभाव (अभिनय) के आश्रय से शृंगारादि रसों का उदय स्पष्ट रूप में दिखायी देता है वह काव्य रसवत् है। काव्यगत व्यक्ति काम क्रोध आदि के अधीन होने से उसमें अनुचित रूप में प्रवृत्त रसभाव जिसमें ग्रथित किये होते हैं वह काव्यबन्ध ऊर्जस्वी है, तथा रसभाव अथवा उनके आभासों के प्रशम का जिसमें वर्णन होता है एवम् अन्य किसी भी रस भावों के अनुभावों का वर्णन नहीं होता वह काव्यबन्ध समाहित काव्यबन्ध है।

उद्भट का यह विवेचन दण्डी तथा भामह के विवेचन से आगे बढ़ा हुआ है। भामह दण्डी का प्रेयस् प्रियतराख्यान मात्र तक ही सीमित था, उसका यहाँ इस प्रकार विस्तार किया है कि वह सम्पूर्ण भावों को लागू हो सकता है। पूर्वाचार्यों के ऊर्जस्वी को यहाँ अधिक विशद तथा स्पष्ट रूप में बताया है। यह ऊर्जस्वी ही आगे चल कर रसाभास तथा भावाभास के रूप में परिणत हुआ है। समाहित को भी उद्भट ने इसी प्रकार विशद किया है। भामह ने समाहित का तो लक्षण ही नहीं दिया। केवल राजमित्र काव्य के प्रसंग का उदाहरण दे कर समाहितबन्ध बताया है। दण्डी ने सामाहित का लक्षण दिया है किन्तु वह उपलक्षणात्मक वर्णन मात्र है। दण्डी का कथन है–" किसी कार्य का आरभ करने पर दैवयोग से उसके साधन की पूर्णता हुई एवं वह कार्य सिद्ध हुआ इस प्रकार का वर्णन ही समाहित है " किन्तु समाहित की यह बाह्यांग कल्पना मात्र है। उद्भट ने उसके अंतरंग स्वरूप का कथन किया है अतएव उद्भट कृत लक्षण अधिक मूलगामी है। इसके अतिरिक्त, रसविषयक अन्य बातों के विवेचन में भी उद्भट अधिक स्पष्टता लाये है।

काव्यविवेचन में उद्भट ने रस और भाव में भेद स्पष्ट करते हुए उनका विभावों के साथ संबन्ध दर्शाया है। अनुभाव मात्र से रत्यादि का सूचन हुआ तो वह भाव है, एवम् विभावादि के आश्रय से शृंगारादि का स्पष्ट उदय हुआ तो वह रस है, ऐसा उद्भट का मत प्रतीत होता है। संभव है कि ये रसभाव काव्यगत व्यक्ति के ही हों ऐसा भी उनका मत था। उनका कथन है कि काव्यगत व्यक्ति काम, क्रोध आदि के अधीन होने से उसमें होने वाला रस, भाव आदि का अनुचित उदय ही ऊर्जस्वी है। इसका अर्थ यह होता है कि रसवत् तथा ऊर्जस्वी में बताया गया भेद काव्यगत व्यक्ति की मनोदशा से संबद्ध है। इन सब बातों की ओर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि उद्भट भी परिपुष्टिवादी ही था। उद्भट ने रसवत् काव्य का लक्षण भी भामह के ही शब्दों में दिया है। इस प्रकार उद्भट ने पूर्वाचार्यों के ही मत को अधिक विशद कर, अच्छा रूप दिया है।

इसके अतिरिक्त उद्भट ने अपने विचारों का भी बहुत बड़ा योग दिया हुआ प्रतीत होता है। दण्डी आठ ही रस मानते हैं किन्तु उद्भट ने शान्त सहित नौ रस माने हैं। उद्भट का कथन है कि भावों की अवगति चार प्रकारों से तथा रसों की अवगति पाँच प्रकारों से होती है। भावों के सूचक चार है– स्वशब्द, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव, और रस की अवगति के पाँच प्रकार हैं–स्वशब्द, स्थायी, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव। प्रतीहारेन्दुराज ने उद्भट के वचन ' चतूरूपा भावाः।' तथा ' पंचरूपा रसाः ' उद्धृत किये हैं तथा उसका कहना है कि ये उप-

र्युक्त अवगतिप्रकरों को ही लक्षित करते हैं । संभव है कि ये वचन ' भामह-विवरण ' में से हों ।

उद्‌भट का मत है कि रस की अवगति कभी स्वशब्द से होती है, और कभी स्थायी के आश्रय से होती है । वैसे ही वह कभी विभाव, कभी अनुभाव और कभी संचारि-भाव के आश्रय से भी होती है । पूर्व रसादिध्वनि के अध्याय में रससूचनान्तर्गत दिये हुए विभावप्राधान्य (केलीकंदलितस्य), अनुभावप्राधान्य (यद्विश्रम्य विलोकि-तेषु) तथा व्यभिचारिप्राधान्य (आत्तमात्तम्) के उदाहरणों का यहाँ स्मरण रहें । रस को काव्याश्रित मानने से, यह कहना संभव होगा कि उपर्युक्त उदाहरणों में रस विभाव मात्र का आश्रित है, अनुभाव मात्र का आश्रित है अथवा संचारी मात्र का आश्रित है । इसी में स्थाय्याश्रित तथा स्वशब्द की जोड़ देने से उद्‌भट की ' पंचरूपा रसाः ' तथा ' चतूरूपा भावाः ' की कल्पना स्पष्ट हो जाती है । उद्‌भट की यह कल्पना तथा अभिनवगुप्त का ' ध्वन्यालोकलोचन ' स्थित " अन्ये शुद्धं विभावम्, अपरे शुद्धमनुभावम्, केचित्तु स्थायिमात्रम्, इतरे व्यभिचारिणम् ...... रसमाहुः ।" यह वचन इन दोनों को एकत्रित करने पर लगता है कि संभवतः इन दोनों में कुछ न कुछ संबन्ध है । " रस स्वशब्दवाच्य हो सकता है " इस रूप के एक प्राचीन मत की आनन्दवर्धन ने ' ध्वन्यालोक ' में आलोचना की है । उद्‌भट तो अपना मत ' स्वशब्द से रस की अवगति होती है ' स्पष्ट रूप में कहते हैं । अतएव साफ दिखाई देता है कि आनन्दवर्धन अपनी आलोचना में उद्‌भट ही के मत की खबर ले रहे हैं । " तथा हि वाच्यत्वं तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात् विभावादिप्रतिपादन-मुखेन वा " इससे आगे लिखी आनन्दवर्धन की वृत्ति तथा उद्‌भट की कारिका में तुलना बड़ी रंजक है । उद्‌भट का यह मत तथा अभिनवगुप्त द्वारा निर्दिष्ट उपर्युक्त चार मतों को एकत्रित करने से, उद्‌भट के ' पंचरूपा रसाः ' इस वचन की संगति लग जाती है । तथा पूर्व दिये हुए रसविषयक मतों में से पाँचवा तथा छठा मत उद्‌भट तथा उनके अनुयायियों का होगा यह कहना संभव हो जाता है । आनन्द-वर्धन के समान श्रीशंकुक भी कहते हैं कि रस स्वशब्दवाच्य नहीं है । स्वशब्द से स्थायी का अभिधान मात्र होता है, स्थायी का अभिनय नहीं होता, अतएव इससे रसप्रतीति नहीं हो सकती इस प्रकार की आलोचना अनुमानवादी शंकुक ने भी की है ।

रसविवेचन में उद्‌भट ने और एक बात भी जोड़ दी है । उन्होंन रसों का स्वरूप तथा दशरूप में रसों का प्राधान्य आस्वाद्यात्व तथा पुमर्थत्व (पुरुषार्थत्व) की दो कसौटियों पर निर्धारित किया है ।

चतुर्वर्गेतरौ प्राप्यपरिहार्यौ क्रमाद्यतः ।
चैतन्यभेदादास्वाद्यात् स रसस्तादृशो मतः ।।

इस कारिका के आधार पर प्रतीहारेन्दुराज ने कहा है कि, सभी भाव आस्वाद्य तो होते ही है किन्तु रस तो वही भाव है जो कि चतुर्वर्ग की प्राप्ति का या तदितर परिहार का उपायभूत होता है । 'काव्यालंकारसारसंग्रह' के कई संस्करणों में यह कारिका मिलती नहीं; अतः रस के आधार पर कुछ निर्णय करना कठिन है; किन्तु तब भी अन्य आधारों पर भी यह दर्शाया जा सकता है कि उद्भट ने आस्वाद्यत्व के साथ पुमर्थत्व को भी रस की एक कसौटी माना है । 'नाटयशास्त्र' के दशरूपाध्याय की टीका में अभिनवगुप्त ने वृत्ति तथा रसविभाव के संबन्ध में उद्भट का विचार विस्तारशः दिया है । उसे पढ़ने से प्रतीत होता है कि उद्भट ने रस-स्वरूप निर्धारित करने में पुमर्थत्व को एक कसौटी माना था । नाटचगत रसों का उद्भटकृत विभाग बड़ा विचारणीय है। उद्भट का कथन है कि – धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन पुरुषार्थों के अनुसार नाटच में क्रम से वीर, रौद्र, शृंगार तथा शान्त-बीभत्स रस आते हैं । रूपक के दश भेदों में से भाण, प्रहसन तथा उत्सृष्टिकांक केवल मनके रंजनार्थ हैं । नाटक तथा प्रकरण रूप दो भेद पुरुपार्थप्रधान है इस लिये इनमें धर्मार्थादि वीर ही प्रधान रस होता है । समवकार, डिम तथा व्यायोग में वीर अथवा रौद्रप्रधान होता है, और ईहामृग रौद्रप्रधान ही होता है । नाटिका शृंगारप्रधान होती है । अन्य रूपक रंजनप्रधान होते हैं; इनमें अन्य रस प्रधान होते हैं। शान्त तथा निर्वेदजनक बीभत्स मोक्ष से संबद्ध है नाटक में स्थान फल की प्रधानता की अपेक्षा रहता है ।

उद्भट के रसविषयक तथा वृत्तिविषयक मत आगे चल कर स्वीकार नहीं हुए । किन्तु इससे रसविवेचन में उद्भट का जो महत्त्वपूर्ण स्थान है उसे बाधा नहीं पहुँचती । आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने उद्भट के अन्य रसविषयक मतों की आलोचना तो की है, किन्तु इस बात का स्मरण रहें कि रसों का उद्भट कृत पुमर्थमूल विभाग उन्हें भी स्वीकार है । रसों का उद्भटकथित पंचरूपत्व यद्यपि आगे चलकर स्वीकार न हुआ, तथापि विभावानुभावों के व्यंजकत्व का मार्ग इसी विवेचना से निकला है । उद्भट का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि रस का प्रक्रियात्मक विवेचन उन्होंने काव्य से लागू कर दिखाया । जब उद्भट कहते हैं कि काव्य में रस का आश्रय कभी विभाव, कभी अनुभाव और कभी संचारी भाव होते हैं, तब उनके समक्ष निश्चय ही दृश्यकाव्य न हो कर श्रव्यकाव्य हैं । ये कल्पनाएँ नाटच के प्रयोग की दृष्टि से उपपन्न नहीं होती । नाटच तो रसप्रयोग है । वहाँ विभाव रूप मात्र, अनुभावरूपमात्र, अथवा स्वशब्दवाच्य इस प्रकार का

रसस्वरूप ही नहीं प्राप्त हो सकता। वहाँ तो सभी की संयुक्त अवस्था ही दिखायी देगी। इस प्रकार का रस स्वरूप श्रव्यकाव्य में ही हो सकता है। और, क्यों कि उद्भट ने रसों का इस प्रकार का स्वरूप बताया है, कहा जा सकता है कि उन्होंने श्रव्यकाव्य की दृष्टि से रसमीमांसा की है।

इस बातपर ध्यान देने से साहित्यविवेचन के विकासान्तर्गत एक महत्त्वपूर्ण बात स्पष्ट हो जाती है। आजकल एक साधारण धारणा हो गयी है कि रसचर्चा आरम्भ में नाटच की आनुषंगिक थी तथा आनन्दवर्धन ने काव्यचर्चा से उसका सम्बन्ध जोड़ दिया। इस कथन की भ्रान्ति अब स्पष्ट हो जायगी। 'रस स्वशब्द-वाच्य है' आदि वाद आनन्दवर्धन के पूर्व ही उपस्थित हुए थे। और, क्योंकि यह प्रश्न श्रव्यकाव्य की अपेक्षा से ही उपस्थित हो सकते है, यह स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दवर्धन के पूर्व काल से ही रसचर्चा श्रव्यकाव्य के संबन्ध में की जा रही थी। इस दृष्टि से चर्चा करनेवाला आनन्दवर्धनपूर्व ग्रन्थकार उद्भट है।

लोल्लट का रसविषयक मत

भामह, दण्डी तथा उद्भट तीनों काव्यगतव्यक्ति को ही रस का आश्रय मानते थे। इनका विचार था कि इस व्यक्ति का रतिक्रोधादि स्थायिभाव पराकोटि तक पहुँचता है अथवा स्पष्टरूप में दर्शित होता है तब वही रसपदवी को प्राप्त होता है। इसी विचार को लेकर भट्ट लोल्लट रससूत्र की विवेचना करते हैं। लोल्लट तथा श्रीशंकुक का समय ठीक ठीक नहीं बताया जा सकता। किन्तु, क्योंकि 'अभिनव-भारती' में किये गये निर्देश से दिखायी देता है कि लोल्लट ने उद्भट की तथा श्रीशंकुक ने लोल्लट की आलोचना की है, कहा जा सकता है कि उद्भट के बाद लोल्लट के और लोल्लट के बाद श्रीशंकुक का समय है। (डॉ. वाटवे ने लोल्लट का समय सन ७०० से ८०० ईसवी तथा श्रीशंकुक का समय सन ८२५ ईसवी लिखा है।) [११]

अभिनवगुप्त ने लोल्लट का मत संक्षेप में निर्दिष्ट किया है। उस पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि रसप्रक्रिया के संबन्ध में उद्भट तथा लोल्लट का मत एकसा ही था और अभिनवगुप्त का ऐसा निर्देश भी है। संक्षेप में भट्ट लोल्लट का मत इस प्रकार है।

"रससूत्र का कथन है कि विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है'। विभावादि का यह संयोग किससे होता है? लोल्लट का कथन है कि इनका यह संयोग स्थायी से होता है। भट्ट लोल्लट के अनुसार

---

११. देखिये – डॉ. के. ना. वाटवे—'रसविमर्श' (मराठी).

विभावानुभावव्यभिचारियों का स्थायी भाव से संयोग हो कर रसनिष्पत्ति होती है। इस संयोग का स्वरूप लोल्लट इस प्रकार बनाते हैं—विभाव स्थायी चित्तवृत्ति की उत्पत्ति के कारण हैं। सूत्र में कथित अनुभाव भावों के अनुभाव हैं न कि [illegible] मानने से ये रस के कारण नहीं रहेंगे। इस लिये इन्हें भावों ही के अनुभाव मानना होगा। व्यभिचारी भाव भी चित्तवृत्तिरूप हैं और स्थायी भाव भी चित्तवृत्तिरूप है। यह ठीक है कि इन दोनों चित्तवृत्तियों का संभव समकाल नहीं हो सकता, किन्तु तब भी यहाँ स्थायी का वासनात्मक रूप विवक्षित है। विभावों से स्थायी उत्पन्न होता है, अनुभावों से यह स्थायी प्रतीत होता है, तथा व्यभिचारियों से यह उपचित अर्थात् परिपुष्ट होता है। इस प्रकार विभावादि के द्वारा उपचित स्थायी ही रस है। यह उपचित न हुआ तो रस नहीं होता। भाव मात्र रह जाता है। किन्तु यह उपचित होने वाला स्थायी भाव किसका होता है? इस पर लोल्लट का कथन है यह स्थायी मुख्यवृत्ति से रामादि का (नाट्यगत व्यक्ति का) होता है अतएव रस भी वस्तुतः मुख्यवृत्ति से रामादि का ही होता है। किन्तु रामादि के रूप का नट अनुसन्धान करता है। इस अनुसन्धान की सामर्थ्य से रस भी हमें नट ही में प्रतीत होता है। भरत रस को नाट्यरस कहते हैं इसका कारण केवल यही है कि रामादि के इस रस का प्रयोग नाट्य में दर्शाया जाता है। भट्ट लोल्लट का यह मत दण्डी उद्भट आदि प्राचीन आचार्यों के मत के समान ही है। रति की पराकोटि होने पर शृंगार होता है। भीम के क्रोध की पराकोटि होने पर वह रौद्रा अर्थात् यह रौद्र भीम ही का है। नाट्य में भीम के रौद्र रस का प्रयोग दर्शाया जाता है अतएव यह नाट्य रस है, एवं काव्य में इसका वर्णन होता है इस लिये ऐसा काव्य रसवत् होता है।

रसप्रक्रिया के विकास में यह पहली सीढ़ी है और इसी दृष्टि यह ठीक भी है। आपाततः हम भी यही समझते हैं न। हम 'अभिज्ञानशाकुंतल' नाटक में शृंगार देखते है। यह शृंगार किस का है? दुष्यत और शकुंतला का। 'कुमारसंभव' में शोक पढ़ते हैं। यह शोक है रति का। इसी ढंग की यह उपपत्ति है। लोल्लट के उपपत्ति में निम्न बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।—

(१) स्थायीभाव तथा रस में मूलतः कोई भेद नहीं है। उनमें भेद है केवल उपचिति और अनुपचिति का, अन्यथा वे दोनों एक ही हैं।

(२) रस व्यक्तिनिष्ठ होता है। यह रामादि की ही वृत्ति है, न कि अन्य किसी की। वेष, रूप आदि के कारण नट में राम आदि का अभिनिवेश उत्पन्न होता है। नट रामादि के अभिनिवेश में रंगमंच पर आता है। तथा हम

भी उसे 'राम' ही मानते हैं। इस कारण, नट की क्रियाएँ हम राम ही की क्रियाएँ समझते हैं।

(३) इसीसे नट भी रसास्वाद लेता है ऐसा लोल्लट का कथन है। नट में वासनावेश होनेसे रसभाव उत्पन्न होते हैं। (रसभावानामपि वासनावेश-वशेन नटे संभवात्)।

(४) दर्शक नाट्य प्रयोग में बाह्य होता है। नाट्यभावों का ग्रहण वह बाहर ही से करता है (भावानां बाह्यग्रहणस्वभावत्वम्)। यह सब वह दूर रह कर देखता है। रससूत्र की विवेचना में लोल्लट ने यह कहा तो नहीं है। किन्तु दशरूपाध्याय में उद्भट की आलोचना करते हुए अभिनवगुप्त ने यह कहा रखा है।

लोल्लट का शंकुककृत परीक्षण

प्रारंभिक होने की दृष्टि से लोल्लट की यह उपपत्ति ठीक लगती भी है किन्तु टिक नहीं सकती थी। लोल्लट ने अपना विचार रससूत्र के विवेचन के रूप में प्रस्तुत किया था। इस कारण इस पर दो प्रकार की आपत्तियाँ उठायी गयीं। एक तो यह कि क्या रससूत्र के अभिप्राय की दृष्टि से यही ठीक है और दूसरी आपत्ति यह की, यदि यह भी मान लिया कि यह उपपत्ति स्वतन्त्र है तो क्या यह परीक्षण सह सकती है? श्रीशंकुक ने लोल्लट की उपपत्ति की दोनों दृष्टियों से परीक्षा की है। संक्षेप में वह इस प्रकार है—

(१) पर्वत पर अग्नि है इस बात का ज्ञान बिना धूम के नहीं हो सकता। इसी प्रकार जबतक स्थायी का विभावादि से योग नहीं होता तबतक स्थायी का भी बोध होना असंभव है। क्योंकि जबतक विभावादि से स्थायी संयुक्त नहीं होता तबतक उसका कोई ज्ञापक ही नहीं हो सकता। और आप तो स्थायी का ज्ञान पहले ही से अध्यहृत समझते है? विभावादि से जबतक संयुक्त नहीं होता तबतक स्थायी का ज्ञान नहीं होगा और संयुक्त अवस्था में ज्ञान होगा तो रस ही का होगा न कि अनुपचित स्थायी का।

(२) अच्छा, यह भी मान लिया कि स्थायी आप ही उत्पन्न होते हैं, विभाव द्वारा सूचित होते हैं, अनुभावों द्वारा पुष्ट होते है और व्यभिचारिभावों के संयोग से रसत्व प्राप्त करते हैं, तब नाट्यशास्त्र में स्थायीभावों के उद्देश और लक्षणों का विधान पहले होना चाहिये था। किन्तु मुनिने सर्वप्रथम रसों के ही उद्देशों और लक्षणों का विधान किया है।

(३) इतना ही नहीं, भरत ने रसों के सम्बन्ध में जो विभाव-अनुभाव बताये हैं वे ही विभाव-अनुभाव स्थायिभावों के संबन्ध में भी बताये हैं। उदा० 'अथ

वीरो नाम उत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः । स च असंमोह-अध्यवसाय-नय-विनय-बल-पराक्रम-शक्ति-प्रताप-प्रभावादिभिः विभावैः उत्पद्यते । ' इस प्रकार वीररस के वर्णन में कथन करने के उपरान्त, फिर जब ' उत्साह ' नामक स्थायीभाव का वर्णन करते है तब वे ही विभाव— ' उत्साहो नाम उत्तमप्रकृतिः । स च अविषाद-शक्ति-शौर्यादिभिः विभावैः उत्पद्यते ।' बताये है । भेद केवल इतना ही है कि एक स्थान में विस्तार है, और दूसरे में संक्षेप । अच्छा, आपका विचार है कि स्थायी परिपुष्ट होने से रस होता है । स्थायी के उत्पत्ति के जो कारण बताये गये है उनके कथन के बाद स्थायी के परिपोष के भी वे ही कारण बताना क्या अर्थ रखता है ? स्थायी के उत्पत्ति के कारण और स्थायी के परिपोष के कारण एक रूप कैसे हो सकते है ? भरत ने तो वे एक रूप ही बताये है। तब, आप के मत का यदि स्वीकार किया जायें तो भरतकृत रसलक्षण पर ही व्यर्थत्व का दोष आ जाता है ।

(४) एक ही भाव अनुपचित अवस्था में स्थायी होता है तथा उपचित अवस्था में रस होता है ऐसा मानने से एक और आपत्ति उपस्थित होती है। भिन्न भिन्न व्यक्ति मे, एक ही स्थायी के मन्दतम, मन्दतर, मन्द आदि अनेक रूप हो सकते है । इन रूपों में ये स्थायी जब उपचित होंगे तो, तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम इस प्रकार एक ही रस के अनेक भेद हो सकेंगे ।

(५) अच्छा, इस आपत्ति के निरास के लिये, यदि ऐसा मान लिया कि ' अत्यंत उपचित स्थायी ही रस होता है ' तो फिर भरत ने हास्य रस के जो स्मित, अवहसित, विहसित आदि छह भेद दिये है उन भेदों की क्या व्यवस्था हो सकती है ? इसी प्रकार, भरत ने काम की दश अवस्थाएँ उत्तरोत्तर तारतम्य से कथन की है, इस प्रत्येक अवस्था के कारण तरतमभाव से शृंगार तथा रति के भी असंख्यात भेद मानना आवश्यक होगा ।

(६) आपके इस कथन का कि स्थायी तीव्र होने पर रस होता है— विपर्यय भी देखा जाता है । इष्ट वियोगजनित शोक आरंभ में तीव्र होता है और क्रमशः शान्त हो जाता है; न कि तीव्र । क्रोध, उत्साह आदि के संबन्ध में भी यही कहा जा सकता है ।

(७) अत एव रसप्रक्रिया की विवेचना में भाव से आरंभ कर के रस की ओर नहीं जा सकते । प्रत्युत रस से आरंभ कर के भाव की ओर जाना पड़ता है । रसों को भावपूर्वकता नहीं है, प्रस्तुत भावों को रसपूर्वकता है । भट्ट लोल्लट ने रसों की भावपूर्वकता मान ली है इससे उनकी उपपत्ति में दोष आ गया है । भरत

ने भी इस संबंध में सूचना दी है। उन्होंने भावों का रसपूर्वकत्व (रसेभ्यो भावा:) तथा रसों का भावपूर्वकत्व (भावेभ्यो रस:) दोनों का कथन किया है एवं दर्शाया है कि नाट्यप्रयोग में नटगत रसों का आस्वाद लेते समय, उस पर से रसिक को रामादि के भाव का बोध होता है (रसेभ्यो भावा:), किन्तु लौकिक व्यवहार में उस उस भाव से उस उस रस की निष्पत्ति होती है। श्रीशंकुक के अनुसार लोल्लट ने इन दोनों को एक माना है अतएव उनकी उपपत्ति में दोष आ गया है।

(८) लोल्लट की उपपत्ति पर 'ध्वन्यालोकलोचन' में और भी एक आपत्ति उठाई गयी है। — लोल्लट का कथन है कि स्थायी का उपचय ही रस है तथा यह रसनिष्पत्ति उन्होंने मुख्य वृत्ति से रामगत तथा रूपाभिनिवेश से नटगत मानी है। किन्तु ऐसा नहीं माना जा सकता। चित्तवृत्ति प्रवाहधर्मिणी होती है। किसी न किसी कारण से वह बार बार उत्पन्न होती है, और बारबार नष्ट होती रहती है। वैसे ही चित्तवृत्तियाँ एक के बाद एक आती जाती रहती है। इस अवस्था में एक चित्तवृत्ति से दूसरी चित्तवृत्ति का परिपोष कैसे हो सकता है? विस्मय, क्रोध, शोक आदि का तो क्रमश: अपचय ही होता है। तब लोल्लट का माना हुआ स्थाय्युपचय रूप रस रामादि में हो ही नहीं सकता। अच्छा, यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह रस नटगत है। नट की व्यक्तिगत चित्तवृत्ति का परिपोष हुआ, तो लय, ध्रुवा, ताल आदि की ओर जिनके कि सम्बन्ध में नाट्य में बहुत सतर्क होना आवश्यक होता है — नट का कोई ध्यान नहीं रहेगा। (अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' में लिखा है, कि उन्होंने ऐसे प्रसंग देखे हैं कि नट में वास्तविक भाव उत्पन्न होने से लयादिभंग तो क्या, उसे यहाँतक भ्रम हो जाता है, कि मूर्च्छा और मरण का आवेश तक उस पर छा जाता है)। सारांश, लोल्लट का माना रस रामादि अनुकार्य व्यक्ति अथवा अनुकर्ता नट दोनों में असंभव हैं। अच्छा, वह रसिक में नहीं माना जा सकता। रसिक की चित्तवृत्ति यदि उपचित हुई, तो यह कहना असंभव है कि उसे आनंद ही होगा। करुण आदि में तो दु:ख ही होगा। अतएव यह भी नहीं कहा जा सकता कि रसिक की चित्तवृत्ति परिपुष्ट होना ही रस है। अतएव उत्पाद्य-उत्पादक भाव अथवा परिपोष्य-परिपोषक भाव पर आधारित लोल्लट की रसविषयक उपपत्ति स्वीकार्य नहीं है।

कुछ अपूर्ण मत

पूर्व जो रसविषयक मत संगृहीत दिये हैं उनमें एक मत है कि विभावादि से नटगत स्थायी अनुमित होता है तथा रामादि से नट अभिन्न है इस भावना से दर्शक इस अनुमिति का आस्वाद लेता है। वैसे ही एक मत और है कि दीवार

पर रंगों के मिश्रण से अश्व का आभास मिलता है, ठीक इसी प्रकार, नट में अभिनयसामग्री के द्वारा रामादि के स्थायी का आभास होता है। यह आभास ही आस्वाद्य है और यही रस है। ये दोनों मत अपूर्ण हैं। अभिनवगुप्त ने आपत्ति उपस्थित की है कि यदि विभावादि के द्वारा नटगत स्थायी का अनुमान हुआ भी तो परगत चित्तवृत्ति के अनुमान में रसत्व कहाँ हो सकता है ? और भट्टतौत ने अश्वाभास के दृष्टान्त की रस के सम्बन्ध में अनुपपत्ति दर्शायी है।

श्रीशंकुक का मत

श्रीशंकुक को उपर्युक्त दोनों मतों की पृथक्रूप में अपूर्णता प्रतीत हो रही थी। अतएव उन्होंने इन दोनों मतों को एकत्रित कर के उपपत्ति पूर्ण करने का प्रयास किया; एवं बताया कि रस स्थायी न होकर स्थायी का अनुकरण है। रस की अनुकरणरूपता उन्होंने इस प्रकार दर्शायी है —

विभावादि हेतु, अनुभावादि कार्य, तथा सहचारि रूप व्यभिचारिभाव सभी कृत्रिम होते हैं; किन्तु कृत्रिम प्रतीत नहीं होते। इनके संयोग से रत्यादि स्थायि-भावों का अनुमान होता है। इस संयोग का स्वरूप होता है गम्य-गमकभाव। अनुमान होने पर भी वह लौकिक अनुमान के समान नीरस नहीं होता। प्रत्युत वस्तुसौंदर्य के बल पर इस अनुमान में आस्वाद्यता आ जाती है। जिस प्रकार किसीको इमली खाते देख मुँह में पानी भर आता है उसी प्रकार सुदर विभावादि के द्वारा अनुमित स्थायी की कल्पना से रसिक को उस स्थायी का आस्वाद प्राप्त होता है। अतएव लौकिक अनुमान से इस अनुमान का स्वरूप भिन्न होता है।

वस्तुतः, रसिक के द्वारा आस्वादित यह स्थायी 'नट' में नहीं रहता। रामादि अनुकार्य व्यक्तियों के स्थायी भाव का यह अनुकरणमात्र होता है। अनु-करण ही इस स्थायी का स्वरूप होने से इसे 'रस' की पृथक् सज्ञा दी जाती है।

विभावों का ज्ञान नट को काव्य के बल से ही होता है। अनुभावों की वह शिक्षा पाता है तथा व्यभिचारी भाव नट के कृत्रिम अनुभावों के परिणाम होते हैं। केवल स्थायी एक ऐसा होता है जो कि अनुमित ही होता है। उसका ज्ञान काव्य से भी नहीं होता। 'रति', 'शोक' आदि शब्द काव्य में आने पर भी, उन शब्दों से उन भावों का अभिधान मात्र होता है, उन शब्दों से उन भावों का अभिनय नहीं होता। " सच है कि मेरा शोक बढ़ गया, यह भी सच है कि यह गंभीर और असीम है, किन्तु जिस प्रकार वडवानल सागर का शोषण कर लेता है; उसी प्रकार, क्रोध ने इस शोक को पी लिया है।" इस वाक्य में शोक का अभिधान मात्र

है, शोक का अभिनय नहीं है। किन्तु 'रत्नावली' से निम्नांकित प्रसंग लीजिये। सागरिका ने उदयन का चित्र अंकित किया है। यह चित्र उदयन ने देख लिया है। इस चित्र पर एक दाग दिखायी दे रहा था, जैसे पानी की बूंद गिरी हो। उसे देख कर उदयन कहते हैं--

भाति पतितो लिखन्त्याः तस्याः बाष्पाम्बुशीकरकणौघः।
स्वेदोद्गम इव करतलसंस्पर्शादेष मे वपुषि ।।

"मेरा चित्र अंकित करते समय उसके नेत्र से यह बाष्पबिंदु गिर पड़ा। किन्तु मित्र यह ऐसी शोभा पा रहा है जैसे उसके करस्पर्श से मेरे शरीरपर स्वेदबिंदु हो।" इस वाक्य के अर्थ द्वारा उदयन का रतिभाव अभिनीत होता है; उसका केवल अभिधान नहीं होता। शब्दों की वाचक शक्ति भिन्न होती है और अवगमनशक्ति भिन्न होती है। अवगमनशक्ति अभिनय में होती है, न कि शब्द मात्र में। अतएव स्थायिभाव का ज्ञान हमें काव्यगत शब्दसे नहीं होता, अपितु नट के अभिनय से हमें स्थायीभाव अवगत होता है। कवि ने वर्णन किये हुए विभाव, नट ने अध्ययन किये हुए अनुभाव तथा अभिनय द्वारा दर्शाये गये व्यभिचारीभाव इनसे गम्य-गमकभावद्वारा अथवा लिंगलिंगीभाव द्वारा स्थायीभाव की अवगति अथवा अनुमिति होती है। अतएव मुनि ने रससूत्र में स्थायी का निर्देश नही किया। यह अनुमित स्थायी ही रामगत स्थायी का अनुकार है, अतएव अनुकृत रति ही शृंगार है। रस अनुकरण रूप होता है एवम् अनुकरण से रस की निष्पत्ति होती है।

नट के अभिनय कृत्रिम होने से मिथ्या होते हैं। फिर उनपरसे राम के सत्य स्थायी का ज्ञान कैसे होता है? शंकुक का इस पर उत्तर है कि 'संवादी भ्रम के कारण यह सत्य ज्ञात होता है?' व्यवहार में भी संवादी भ्रम के कारण सत्यज्ञान हुआ दिखायी देता है।

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ।।

किसी ने दूर से मणिप्रभा देखी और किसी दूसरे ने दीपक की प्रभा देखी। दोनों प्रभा ही को मणि समझ कर उसे लेने के लिये झपटे। दोनों ने देखी तो प्रभा ही थी किन्तु प्रभा ही को वे मणि समझ बैठे। दोनों का ज्ञान मिथ्या था किन्तु उनकी अर्थक्रिया में अर्थात् सफलता में भेद था। मणिप्रभा को जो मणि समझा उसे मणि की प्राप्ति हुई, और दीपप्रभा को जो मणि समझा उसका जाना आना व्यर्थ रहा। मणिप्रभा को मणि समझना संवादी भ्रम है।

श्रीशंकुक का कथन है कि इस संवादी भ्रम ही के कारण कृत्रिम विभावों द्वारा भी रामरति का–जो कि सत्य है–बोध होता है। नाट्यगत, संवादी भ्रम विशद करने के लिये वे चित्रतुरग का दृष्टान्त देते हैं। नाटक देखते हुए हमें जो प्रतीति होती है उसका स्वरूप क्या होता है? रत्यादि की सुखकर अवस्था हम देखते है, वह किसकी होती है? यह तो सभीको स्वीकार है कि यह अवस्था नट की नहीं होती। हम सामने 'राम' देखते है। हमारी इस प्रतीति का स्वरूप क्या होता है? 'यह राम ही है, यही राम' इस प्रकार की यह सम्यक् प्रतीति नहीं होती। इसे मिथ्या प्रतीति भी नहीं कहा जा सकता। मिथ्या प्रतीति के लिये उत्तरकालीन बाध की आवश्यकता होती है। सीप देख कर हमें चाँदी की प्रतीति होती है। उत्तरकाल में बाध होने पर ही हमें बोध होता है कि वह प्रतीति मिथ्या थी। किन्तु जबतक बाध नहीं होता तब तक इसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता। नाट्य में हमें समत्व की जो प्रतीति होती है उसका सम्पूर्ण नाट्य समाप्त होने तक बाध नहीं होता, अतएव इस प्रतीति को मिथ्या भी नहीं कहा जा सकता। अच्छा, 'यह राम है या नहीं है?' इस प्रकार का संदेह भी उस समय नही होता, अथवा 'यह राम के समान है' यह हमारी प्रतीति नहीं होती। सारांश, नाटक देखने के समय हमें रामत्व की जो प्रतीति होती है वह सम्यक्, मिथ्या, संदेह अथवा सादृश्य इनमें से किसी भी प्रकार की नहीं होती। इस प्रतीति को हम अस्वीकार भी नहीं कर सकते क्यों कि यह तो अनुभव है। फिर इस प्रतीति का रूप क्या है?

शंकुक का कथन है कि यह प्रतीति इन सबसे भिन्न एवं चित्रतुरगप्रतीति के समान होती है। रंग, हरताल आदि का मिश्रण हम दीवार पर देखते है; किन्तु हम इसे घोड़ा ही समझते हैं। इसी प्रकार विशिष्ट वेषधारी, विशिष्ट अवस्थान में खड़ा, विशिष्ट प्रकार से क्रिया करनेवाला नट हम देखते है; हमें प्रतीत होता है कि यह राम ही है। चित्रगत घोड़ा वस्तुतः घोड़ा नहीं है। देखनेवाला उसे घोड़ा समझता है। यह वास्तव में भ्रम है, किन्तु संवादी भ्रम है; क्योंकि वास्तविक घोड़ा और यह भासमान घोड़ा इन दोनों में संवाद है। इसी प्रकार नाट्य देखने के समय 'यह राम ही है' इस आकार की दर्शक की प्रतीति भी संवादी भ्रम ही है। श्रीशंकुक का कथन है कि मिथ्या राम के मिथ्या अनुभाव तो मिथ्या ज्ञान ही है किन्तु वह संवादीभ्रमात्मक होने से उससे रामगत सत्य रति का दर्शक को ज्ञान होता है शंकुक के कथन का संक्षेप में आशय यह है—

(१) नटगत सामग्री कृत्रिम होती है किन्तु कृत्रिम नहीं लगती।

(२) इस सामग्री के गम्यगमक रूप अथवा लिंगलिंगीरूप संयोग से स्थायी अनुमित होता है।

(३) यह अनुमित स्थायी 'नट' का नहीं होता।

(४) अनुमित स्थायी रामादिगत स्थायी का अनुकरण मात्र होता है।

(५) अनुमित स्थायी अनुकरण रूप होने से ही इसे रस कहा जाता है। 'भावानुकरणं रसः' यह रस का स्वरूप है।

(६) दर्शक को 'नट' में रामत्वप्रतीति चित्रतुरगन्याय से होती है। यह प्रतीति मिथ्या तो है किन्तु संवादिभ्रमात्मक है अतएव इससे सत्य रामरति का हमें बोध होता है।

श्रीशंकुक की यह उपपत्ति अन्ततः असिद्ध रही, किन्तु इस बात में संदेह नहीं है कि रसप्रक्रिया की विवेचना में यह लोल्लट से आगे बढ़ी हुई है। रंगमंच पर दिखायी देनेवाला दृश्य मूल घटना नहीं है। शंकुक का कहना है कि यह अनुकरण है। हम भी कहते है कि '[illegible]' नाटक में हम देखते है दुष्यंतशकुंतला के शृंगार का अनुकरण, न कि वह शृंगार। शंकुक की अनुकरणकल्पना के दोष अभिनवगुप्त के गुरु 'काव्यकौतुक' कार भट्टतौत ने दर्शाये है और रसविवेचना में वे इससे आगे बढ़े हैं। इसी को अब हम देखें।

श्रीशंकुक के मत का तौतकृत परीक्षण

श्रीशंकुक की इस उपपत्ति के संबन्ध में भट्ट तौत का कहना है कि –आप रस को अनुकरण रूप बताते है। किन्तु प्रश्न उठता है कि यह अनुकरण किसकी दृष्टि से है? दर्शक की दृष्टि से, नट की दृष्टि से या विवेचक की दृष्टि से?

एक वस्तु दूसरी किसी वस्तु का अनुकरण है यह कहने के लिये प्रमाण आवश्यक होता है। उदाहरण के लिये, 'अमुक अमुक इस प्रकार मद्यपान करता है' यों कह कर जब कोई पानी पीता है तब हम इसे अनुकरण समझते हैं। यहाँ पानी पीने की क्रिया मद्यपान की क्रिया का अनुकरण है। अब, नट में हम ऐसी कौनसी बात देखते हैं, जिसे कि हम रति का अनुकरण कह सकते हैं? नट का शरीर, उसका धारण किया वेष, उसका भाषण एवं क्रियाएँ हम देखते हैं। इन बातों को हम चित्तवृत्ति का अनुकरण नहीं कह सकते। नट में देखे जानेवाले ये अर्थ स्वभावतः जड, चक्षुर्ग्राह्य तथा नटाश्रित होते हैं; और चित्तवृत्तियाँ चेतन, मनोग्राह्य तथा रामाश्रित हैं। जब दोनों में इतना बड़ा भेद है तो एक को दूसरी का अनुकरण कैसे कहा जा सकता है? इसके अतिरिक्त, हम जो देखते हैं वह अनुकरण है ऐसा मानने से पहले मूल वस्तु का पूर्वज्ञान हमें आवश्यक है। किन्तु रामादि का रति भाव किसीने देखा नहीं है। तब राम की चित्तवृत्ति का नट अनुकरण करता है यह कहना व्यर्थ है।

अच्छा, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि नट में दर्शक को जो चित्तवृत्ति प्रतीत होती है वह नटगत चित्तवृत्ति ही राम के चित्तवृत्ति का अनुकरण होने से शृंगार के नाम से पहचानी जाती है। नट में जो चित्तवृत्ति प्रतीत होती है वह किस रूप में प्रतीत होती है यदि ऐसा कहा कि, प्रमदादि कारण, कटाक्ष आदि कार्य तथा धृति आदि सहकारी, इन लिंगोंपर से लौकिक व्यवहार में जिस चित्तवृत्ति की हमें प्रतीति होती है वही नटगत चित्तवृत्तिका स्वरूप होता है, तो कहना पड़ेगा कि नट में हमें रतिनामक चित्तवृत्ति ही प्रतीत होती है। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि नटगत लौकिक रतिनामक अनुकरण है ?

राम के विभावादि सत्य होते हैं प्रत्युत नट के विभावादि कृत्रिम होते हैं। दोनों में यह भेद होने से ही नटगत चित्तवृत्ति राम के चित्तवृत्ति का अनुकरण है यह यदि आपका विचार हो, तो इस पर हमारा प्रश्न है कि क्या दर्शक नट के विभावों को कृत्रिम समझता है ? दर्शक यदि इन विभावों को कृत्रिम समझता है तो दर्शक को चित्तवृत्ति की प्रतीति ही नहीं हो सकती। रति नामक प्रसिद्ध चित्तवृत्ति तथा इस चित्तवृत्ति का अनुकरण दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं। चित्तवृत्ति तथा अनुभाव में कारण-कार्य संबन्ध है। ये अनुभाव मूल चित्तवृत्ति के भी हो सकते हैं अथवा रत्यनुकरण के भी हो सकते हैं। जो इस बात का ज्ञान रखता है कि हम जिन अनुभावों को देखते हैं वे रति के अनुभाव न होकर रत्यनुकरण है तथा इस बात का ध्यान रखते हुए जो इनको देखता है, केवल उसीको इन अनुभावों से रत्यनुकरण का ज्ञान होगा। किन्तु दर्शक तो इस प्रकार का ज्ञान रखते हुए देखता ही नहीं। रति के अनुभाव के रूप में ही वह इनका ग्रहण करता है। तब इन पर से दर्शक को रत्यनुकरण की प्रतीति कैसे हो सकती है ? जिसे यह विशेष ज्ञान नहीं रहता उसे तो इन पर से रति ही की प्रतीति होगी। लौकिक में रति के जो कटाक्ष आदि कार्य दिखायी देते हैं तत्सदृश नटगत अनुभाव होते हैं। किन्तु ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि इन अनुभावों को देख कर दर्शक को रामरतिसदृश नटगत चित्तवृत्ति का ज्ञान होता है। कार्य पर से कारण का अनुमान करना तो ठीक है। किन्तु कार्यसदृश वस्तु पर से कारण सदृश वस्तु का अनुमान करना ठीक नहीं है। धूम पर से अग्नि का ज्ञान हो सकता है। किन्तु धूम के समान दीखनेवाले कुहरे से अग्नि के समान दीखनेवाले जपाकुसुम का ज्ञान कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार राम के अनुभाव से राम के रति का अनुमान करना ठीक होगा। किन्तु राम के अनुभावों के सदृश वस्तु से रामरति के सदृश वस्तु का अनुमान कैसे हो सकता है ?

यह तो ठीक है कि नट वास्तव में क्रुद्ध न हो कर भी क्रुद्ध सा दिखायी देता है, किन्तु इसका अर्थ इतना ही है कि किसी क्रुद्ध पुरुष में तथा नट में भ्रुकुटिभंग

आदि का सादृश्य है। किन्तु इसी पर से इसे अनुकरण कहना ठीक न होगा। गो और गवय का मुख समान है इस लिये क्या यह कहना उचित होगा कि एक ने दूसरे का अनुकरण किया है? रसके अतिरिक्त, दर्शक भी नहीं समझता कि नट अपने समक्ष किसीका अनुकरण कर रहा है। वस्तुतः, दर्शक की नट के संबन्ध में प्रतीति कभी भावरहित नहीं होती। इस लिये, यह कहना कि दर्शक जो देख रहा है वह अनुकार है—ठीक नहीं।

आप का विचार है कि 'रंगमंच पर जिस नट को हम देखते हैं वह राम है' इस आकार की हमारी जो प्रतीति है वह सम्यक् (सत्य) भी नहीं है और मिथ्या भी नहीं है। किन्तु जब तक नट हमारे सामने खड़ा है तब तक अर्थात् सम्पूर्ण नाटक में यदि हमें उसकी निश्चित प्रतीति होती है, एवम् नाटक देखने के समय उत्तरकालीन बाध (अर्थात् नाटक समाप्त हो जाने पर होने वाले 'यह राम नहीं है' इस आकार के बाधक ज्ञान) की कल्पना भी यदि हमें छू तक नहीं जाती तब इन प्रतीति को सत्यप्रतीति मानने में आपत्ति ही क्या हो सकती है? अच्छा, नट का रामत्व उत्तरकाल में बाधित होनेवाला है इस ज्ञान से ही यदि आप नाटक देखते हैं तो इस ज्ञान ही को मिथ्या ज्ञान क्यों कर न माना जाय? वास्तव में, यह तो मिथ्या प्रतीति ही होती है। बाधक ज्ञान का उस क्षण उदय न भी हुआ हो तो भी प्रतीति का मिथ्यात्व तो नष्ट नहीं होता। इस पर यदि आप कहते हैं कि किसी नट ने काम किया तो भी 'यह राम है' यही हमारी प्रतीति रहती है, तब नाट्य में प्रतीत होने वाला रामत्व विशेष रूप से व्यक्तिसंबद्ध न रह कर सामान्य रूप में परिणत हो गया है, यह बात स्वीकार आपको अवश्य ही करनी पड़ेगी।

और विभावों का अनुसंधान नट काव्य से करता है इस आप के कथन का भी क्या अर्थ है? नट तो यह नहीं समझता कि काव्यगत सीता से मेरा कुछ संबन्ध है। सीता के संबन्ध में नट की आत्मीयता तो नहीं होती। इस लिये इस दृष्टि से, विभावों का अनुसंधान नट काव्य से नहीं करता। काव्यार्थ को दर्शकों की प्रतीति का विषय बनाना यह यदि अनुसंधान का अर्थ है तब नट को प्रधानतः स्थायी का ही अनुसंधान करना चाहिये, क्यों कि मुख्यतया स्थायी को ही रसिक की प्रतीति का विषय बनाना है (और इधर आप ही बल देकर कहते हैं कि स्थायी का अनुसंधान काव्य से नहीं होता)। एतावता, रस अनुकरण रूप है यह कथन दर्शक की दृष्टि से उपपन्न नहीं होता।

नट की दृष्टि से भी अनुकरण की उपपत्ति का स्वीकार नहीं किया जा सकता। नट यह नहीं समझता कि मैं राम का अथवा उसकी चित्तवृत्ति का अनु-

करण कर रहा हूँ। अनुकरण के दो अर्थ होते हैं — एक है सदृशकरण तथा दूसरा है पश्चात्करण। जब तक मूल व्यक्ति की कृति ज्ञात नहीं है तब तक नट तत्सदृश कृति कर ही नही सकता। अतएव प्रथम अर्थ में अनुकरण नट कर ही नहीं सकता [१२] और यदि यह मान लिया कि नट दूसरे अर्थ में अनुकरण करता है, तब नाट्य के क्षेत्र का उल्लंघन कर के अनुकरण व्यवहार में भी आ जायगा, एवं किसी की कृति के बाद की हुई कृति को केवल पश्चात्करण होने से ही अनुकरण मानना पड़ेगा।

यह अनुकरण किसी भी विशिष्ट व्यक्ति का नहीं है। उदाहरण के लिये, राम का अनुकरण करने वाला नट विशिष्ट व्यक्ति का अनुकरण नहीं करता है, अपितु उत्तम स्वभाव के पुरुष का अनुकरण करता है। सीता के लिये विलाप करते समय नट उत्तम स्वभाव के पुरुष के समान शोक करता है, ऐसा यदि आप कहना चाहते हैं, तब उत्तम स्वभाव के पुरुष का अनुकरण नट किस प्रकार करता है इस बात की जाँच करनी होगी। यह नहीं कहा जा सकता कि नट शोक का अनुकरण शोक से करता है। क्योंकि नट में तो शोकवृत्ति ही नहीं है। नट के अश्रु-पातादि से शोक का अनुकरण संभव नहीं है, क्योंकि पूर्व बताया जा चुका है कि शोक एक चेतनवृति है तथा अश्रुपात जड है। हाँ, यह संभव है कि उत्तम स्वभाव के पुरुष के जो शोकानुभाव होते हैं उनका नट अनुकरण करें। किन्तु इसमें भी प्रश्न उठता है कि उत्तम स्वभाव के किस पुरुष के शोकानुभावों का वह अनुकरण करता है ? यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'किसी भी उत्तम स्वभाव पुरुष का अनुकरण नट करेगा।' क्यों कि बिना विशिष्टता के, उसका बुद्धिद्वारा आकलन ही नहीं हो सकेगा। यदि ऐसा कहना है कि 'जो कोई इस प्रकार शोक करता है उसीके ये अनुभाव हैं' तब स्वयम् नट ही का इनमें अनुप्रवेश होता है। फिर अनुकार्य और अनुकर्ता यह संबन्ध हो कहाँ।

वस्तुस्थिति यह है कि नट अभिनय की शिक्षा पाता है, अपने विभावों का स्मरण रखता है, एवम् चित्तवृत्ति के साधारणी भाव से उसका हृदयसंवाद हो कर उस अवस्था में वह अनुभाव प्रकट करता है तथा अपना भाषण विशिष्ट प्रकार से कहते हुए वह रंगमंच पर क्रियाएँ करता रहता है। नाट्य के संबन्ध में उसका

---

१२. पौराणिक अथवा ऐतिहासिक नाटकों की मूल व्यक्तियाँ पूर्वकालिक होने से इनमें अनुकरण की कल्पना संभव हो भी सकती है। किन्तु प्रकरणादिगत पात्र तो कल्पित ही होते हैं। इनके संबन्ध में अनुकरण की संभावना कैसे हो सकती है? इस प्रकार बड़ा ही मार्मिक प्रश्न 'रसप्रदीप' में प्रभाकर ने उपस्थित किया है।

भान इतना ही होता है। इस बात को अनुकरण नहीं कहा जा सकता। अतएव नट की दृष्टि से भी अनुकरण की उपपत्ति सिद्ध नहीं होती।

विवेचक की दृष्टि से भी अनुकरण उपपन्न नहीं होता। भरत ने कहीं भी कहा नहीं कि, 'स्थायी का अनुकरण ही रस है।' वह अनुकरण हो सकता है ऐसा समझने के लिये नाटचशास्त्र में कोई गमक भी नहीं है। प्रत्युत नट के नाटकीय क्रियाओं को ध्रुवा, लय, ताल आदि की प्रत्येक समय संगत दी जाती है। इस से तो और भी स्पष्ट होता है कि नाटच में अनुकरण कतई नहीं होता। इसे यदि अनुकरण माना गया तो लौकिक व्यवहार की क्रियाएँ भी हम ताल और लय के साथ करते हैं ऐसा मानना पड़ेगा।

श्रीशंकुक का चित्रतुरग का दृष्टान्त भी नाटच को लागू नहीं होता। दीवार पर किये गये रंगों के मिश्रण से लौकिक अश्व की अभिव्यक्ती नहीं होती। अश्व के अवयव संनिवेश के समान दीवार पर रंगों का विशिष्ट रूप में अवयव संनिवेश किया रहता है इस लिये दीवार पर अश्व के समान प्रतिभास होता है। विभावादि से इस प्रकार प्रतिभास नहीं होता। विभावादि का समूह तो रति का प्रतिभास नहीं है। इसलिये चित्रतुरग का दृष्टान्त भी यहाँ उपपन्न नहीं होता। अतएव श्रीशंकुक द्वारा बतायी गयी 'भावानुकरणं रसः' वाली उपपत्ति स्वीकार्य नहीं है।

भट्टतौत का मत : नाटच अनुकरण नहीं है, अनुव्यवसाय है

रस स्थायी की उत्पत्ति नहीं है अथवा परिपुष्टि भी नहीं है, रस स्थायी की अनुमिति नहीं है अथवा अनुकृति भी नहीं है। फिर नाटच में है क्या? इसके अतिरिक्त भरत के 'सप्तद्वीपानुकरणं नाटचमेतन्मया कृतम्' इस वचन की संगति कैसे हो सकती है। भट्टतौत का इस पर कथन है कि नाटच में अनुकृति नहीं होती है, अनुव्यवसाय होता है। अनुकृति और अनुव्यवसाय एक ही नहीं है। भट्टतौन ने अपना यह मत 'काव्यकौतुक' नामक ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है किन्तु अभिनवगुप्त ने भरत के

> नैकान्ततोऽस्ति देवानामसुराणां च भावनम्।
> त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाटचं भावानुकीर्तनम्॥

इस श्लोक की टीका में भट्टतौत का मत संक्षेप में दिया है। इस पर से भट्टतौत के मत की कुछ कल्पना की जा सकती है [१३]।

---

१३. अस्मदुपाध्यायकृते काव्यकौतुकेऽयमेव अभिप्रायो मन्तव्यो, न तु अनियतानुकारोऽपि, तेन अनुव्यवसायविशेषविषयीकार्यं नाट्यम्। (अ. भा.)

नाट्य में अनुभावन होता है किन्तु वह किसी भी व्यक्ति के लौकिक व्यापार का अनुभावन नहीं होता । भरत ने देवदानवों को जो नाट्यप्रयोग दर्शाया उसमें देवों का अथवा दानवों का व्यक्तिगत (एकान्ततः) अनुभावन नहीं था। नाट्य में हम राम, रावण आदि देखते हैं वे लौकिक व्यक्तियाँ नहीं होतीं। उनके विषय में हमारी तत्त्वबुद्धि नहीं रहती अथवा सादृश्यबुद्धि भी नहीं रहती । वह भ्रान्ति, आरोप अथवा अनुकृति भी नहीं होती । इनमें से किसी भी पक्ष की दृष्टि से, इसमें साधारण्य न होने के कारण रससंभव नहीं हो सकता । हमें मानना पड़ेगा कि कवि ने किसी नियत व्यक्ति का वर्णन किया है; इससे कवि का वह काव्य इतिहास अथवा आख्यान के अन्तर्गत होगा, उसे काव्य कहना असंभव होगा । इसके अतिरिक्त हमें मानना पड़ेगा कि हम लौकिक युगुल का प्रणयव्यवहार देखते हैं, और इनमें लौकिक लज्जा, हर्ष, द्वेष आदि की वृत्ति उमड़ आयेंगी। इस अवस्था में रसास्वाद कहाँ ?

वस्तुस्थिति यह है कि आगम, इतिहास आदि में विशिष्ट व्यक्तियों के जीवन का कथन रहता है । किन्तु वे ही व्यक्तियाँ जब काव्य, नाटच, आदि में पात्रों के रूप में प्रवेश करते हैं तब उनका विभावों में रूपान्तर हो जाता है एवं विभावादि के साथ उस सम्पूर्ण कथावस्तु में साधारणीभाव आ जाता है । क्यों कि काव्यगत शब्दार्थों पर गुणालंकारों के संस्कार हुए रहते है, काव्य पढ़ते समय पाठक को तत्समकाल ही हृदयसंवादपूर्वक निमग्नाकारता प्राप्त होती है तथा वह सम्पूर्ण प्रसंग ही त्रैलोक्य के एक भाव के रूप में उसके अन्तश्चक्षु के समक्ष प्रत्यक्षवत् उपस्थित हो जाता है । यह तो नहीं माना जा सकता कि काव्य में हर किसी को इस प्रकार का प्रत्यक्षवत् ज्ञान होगा; किन्तु नाटच में त्रैलोक्यगत भाव का यह प्रत्यक्ष ज्ञान सब दर्शकों को समकाल ही प्राप्त होता है ।

किन्तु लौकिक प्रत्यक्ष और नाटचगत प्रत्यक्ष में बहुत बड़ा भेद है । कवि, नट अथवा दर्शकों के लौकिक जीवन में जो प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप व्यवहार दिखायी देते है उनसे उनका व्यक्तिगत संबन्ध होता है, किन्तु नाटच में जब यही प्रवृत्तिनिवृत्ति-रूप व्यवहार दर्शाया जाता है तब उससे किसीका भी व्यक्तिगत संबन्ध नहीं रहता । व्यक्तिगत संबन्ध का संस्कार लेश भी नाटच में नहीं पाया जाता । कवि का सम्पूर्ण उद्यम ही 'आराधयितुं विदुषः' — रसिकों को आनन्दित करने के लिये ही किया जाता है तथा नट का उद्यम भी इसी बुद्धि से प्रेरित हो कर किया जाता है । इसके अतिरिक्त नाटच में गीत, वाद्य आदि की उचित संगत होने से, नाटचभावों में, उनके अभिनय के या दर्शन के समय, सांसारिक बुद्धि (लौकिक कल्पना) रह ही नहीं सकती । लौकिक संबन्धों से नाटच इस प्रकार उन्मुक्त होता है इसी लिये

नाटचकाल में रसिक का मन दर्पण के समान निर्मल हो जाता है एवम् अभिनय के अवलोकन से वह हर्ष, शोक आदि भावों में तन्मय हो सकता है। इस समय राम, रावण आदि पात्रों के संबन्ध में उसे जो प्रतीति होती है वह देश, काल, व्यक्ति आदि से सीमित नहीं रहती। अतएव कवि द्वारा वर्णित अथवा नटद्वारा दर्शित राम, रावण आदि के संस्कार न रह कर उनमें कबि अथवा नट के आत्मगत संस्कारों की अनुवृत्ति की साधारण्य की भूमिका पर से होती है अतएव कवि तथा नट की उन पात्रों के साथ आत्मरूपता हो जाती है एवम् आत्मद्वारा ही वे सम्पूर्ण विश्व का अवलोकन करते हैं (सचमत्कारतदीयचरितमध्यप्रविष्टस्वात्मरूपमतिः स्वात्मद्वारेण विश्वं तथा पश्यन्)। इस प्रकार नाट्य में कवि के अन्तर्गत संस्कार ही साधारण्य की भूमि का से प्रकाशित होते हैं। नट इसी भूमिका पर से तज्जातीय संस्कार अभिनयद्वारा प्रकाशित करता है। एवं दर्शक भी साधारण्य से ही इनका ग्रहण करके [illegible] तज्जातीय भावों का आस्वाद लेता है। इस प्रकार नाटच में त्रैलोक्यगत भावों का अनुकीर्तन होता है।

वह अनुकीर्तन विशेष रूप का अनुव्यवसाय ही है। लौकिक जीवन में हमारे ऊपर सुखदुःखवृत्तिरूप अथवा बोधरूप संस्कार होते रहते है। वे ही संस्कार जब हमारे प्रत्यक्ष का विषय होते हैं तब उस प्रत्यक्ष के द्वारा होनेवाले ज्ञान को अनु-व्यवसाय कहा जाता है। न्याय की दृष्टि से अनुव्यवसाय है प्रत्यक्ष ज्ञान का भान, और वेदान्त की दृष्टि से अनुव्यवसाय है सुखदुःखात्मक भावों का अथवा बोध का प्रत्यक्ष। किसी भी दृष्टि से देखिये, अनुव्यवसाय ज्ञान का ज्ञान ही है (तद्वेदन-वेद्यत्वम्)। कवि के वृत्तिरूप अथवा बोधरूप संस्कार ही शब्दार्थ के माध्यम द्वारा प्रत्यक्ष का विषय होते हैं। नट के अभिनय में तज्जातीय संस्कार ही प्रत्यक्ष दर्शित होते हैं; एवम् दर्शक भी तज्जातीय संस्कारों का दर्शन करता है; तथा यह सब साधारण्य की भूमिका से होता है इस कारण इन सब में संवादित्व रहता है। अतएव नाट्य में विशेष रूप का अनुव्यवसाय रहता है। इस अनुव्यवसाय को ही अनुमति समझना ठीक नहीं।

इस पर यदि अनुकृतिवादी पूर्वपक्षी यों कहें कि, 'यह तो ठीक है कि नाटच में कथावस्तु आदि सभी बातों में साधारण्य होता है। यह भी स्वीकार है कि इनमें से कोई भी बात व्यक्तिसंबद्ध नहीं रहती, किन्तु इसी से नाटच में अनु-करण नहीं रहता यह कैसे कहा जा सकता है? नाटच में नियत अथवा विशेष व्यक्ति का अनुकरण भले ही न हो, किन्तु नाटच में अनियत व्यक्ति का अनुकरण नहीं होता यह कैसे कहा जाय?' तब इस पर अभिनत गुप्त का उत्तर है कि 'हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं है; किन्तु वास्तविक अड़चन यह है कि सामान्य का

अनुकरण ही नहीं हो सकता। अनुकरण का अर्थ है सदृशकरण और सादृश्य तो दो विशेषों में ही हो सकता है। सामान्य में सादृश्य की संभावना ही नहीं है। नाट्यगत विभाव साधारण्य से प्रतीत होते हैं, अतएव वे लौकिक का अनुकरण नहीं होते। नट चित्तवृत्ति का अनुकरण नहीं करता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि राम के शोक के समान नट को भी शोक होता है। यह तो ठीक है कि नट अनुभाव ही दर्शाता है। किन्तु ये अनुभाव राम के अनुभावों के सदृश नहीं होते; ये सजातीय होते हैं। अतएव यह भी नहीं कहा जा सकता कि नाट्य में अनियतानुकरण रहता है।

"नट अपने लौकिक जीवन में देश, काल आदि से मर्यादित चैत्र, मैत्र आदि नाम धारण करनेवाले व्यक्ति के रूप में ज्ञात रहता है। किन्तु नाट्यप्रयोग के समय जब वह आहार्य रूप में रंगमंच पर आता है तब लौकिक जीवन में उससे संबद्ध नटबुद्धि नष्ट हो जाती है। उसे राम, रावण आदि नाम प्राप्त होते हैं। किन्तु इन व्यक्तिविषयक नामों का हमारे अनुभव में पहले से ही उदात्त पुरुष, उद्धत पुरुष आदि सामान्य अर्थ स्थिर हुआ रहता है। यह सामान्य अर्थ नाट्यकाल में प्रकाशित होता है तथा नाट्यगत राम, रावण आदि शब्द व्यक्ति के प्रतिपादक न हो कर धीरोदात्तादि अवस्थाओं के प्रतिपादक हैं ऐसा हमारा ज्ञान होता है। (धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः-दशरूप)। रंगमंचगत प्रत्यक्षकल्पप्रसंग को विविध नाट्यालंकारों की एवं गीतवाद्य आदि की संगत प्राप्त होने पर वह सम्पूर्ण प्रसंग हृदयानुप्रवेश के लिये योग्य होता है। इस रंजक सामग्री में जब हमारा प्रवेश होता है तब हमारा भी व्यक्तिगत ज्ञान नष्ट हो जाता है, तथा इस अवस्था में अपने लौकिक जीवन के प्रत्यक्ष अनुमान आदि के द्वारा किये गये संस्कारों की सहाय्यता लेकर हम नट के ज्ञानसंस्कारों की सहाय्यता से (अनुभवकी सहाय्यता) से हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रम से सुखदुःखादि रूप में चित्रित निजसंविदा के ही प्रत्यक्ष दर्शन के आनन्द का अनुभव करते हैं। यही नाट्यगत अनुव्यवसाय है। इस आनन्दमय अनुव्यवसाय का ही रसन, आस्वादन, चमत्कार, चर्वणा, भोग आदि पर्यायों से निर्देश किया जाता है। इस आनन्दमय अनुव्यवसाय में प्रतीत होनेवाली वस्तु ही नाट्य है। अतएव नाट्य अनुकीर्तन अर्थात् अनुव्यवसायात्मक सुखदुःखादि भावों से विचित्रित संवेदन है। नाट्य में यह सवेदन प्रत्यक्ष का विषय बनता है। इस प्रकार का यह नाट्य अनुकार नहीं है।" नाट्य में व्यक्तिगत सादृश्य का दर्शन नहीं रहता प्रत्युत अपने ही साधारणीभूत भावों का तथा बोध का अतएव त्रैलोक्यगत भावों का साधारण्य की भूमिकापर से प्रत्यक्ष दर्शन होता है। इस प्रकार अपने भावबोधरूप संस्कार ही नाट्य में प्रत्यक्ष का विषय बनते हैं इस लिये नाट्य अनुव्यवसायविशेष है।

'लोकवृत्तानुकरण' शब्द का भरत ने 'लो[illegible]' के अर्थ में प्रयोग किया है। उनका कथन है कि नाटचक्रीडा लोकवृत्तानुसारी रहती है। किन्तु लोकवृत्त का दर्शन करना हो तो वह अनाश्रित अवस्था में केवल तत्त्वतः कल्पना असंभव है। अतएव इसका दर्शन कराने के लिये कवि पात्ररूप आश्रय का निर्माण करता है। लोकवृत्त के जिस विशिष्ट अंग का दर्शन करना हो उसके लिये पहले से ही कोई [illegible] पौराणिक व्यक्ति लोक में प्रसिद्ध हो, तो इसी व्यक्ति का वह पात्र अथवा प्रणालिका के रूप में उपयोग करता है [१४] ऐसे नाटच में उस व्यक्ति का अनुकरण नहीं किया जाता, अपितु इस पात्रके आश्रय से लोकवृत्त का अनुकरण किया जाता है। भट्टतौत कहते हैं कि नाटच को जब अनुकरणकहा जाता है तब इस बात का स्मरण रखना आवश्यक है कि इस कथन की पृष्ठभूमि में लोकवृत्तानुसरण की कल्पना होती है, न कि सदृशकरण की।

ध्वनिकार का मत

श्रीशंकुक के मत का परीक्षण करते हुए हम भट्टतौततक आ पहुँचे तथा तौत का भी मत देखा। किन्तु इसीके मध्य की एक सीढ़ी हमने छोड़ दी। भट्टतौत से·पूर्व आनन्दवर्धन ने 'रस ध्वनित होता है' यह मत बड़े जोर से प्रवर्तित किया। काव्यनाटचगत अन्य बातें वाच्य हो सकती हैं किन्तु रस स्वप्न में भी वाच्य नहीं रह सकता। वह उत्पन्न नहीं होता, वह अनुमित नहीं होता, वह वाक्यका तात्पर्यार्थ नहीं है, वह अभिधा अथवा लक्षणा का विषय नहीं है। काव्यगत शब्द के व्यंजना नामक व्यापार द्वारा रस अभिव्यक्त होता है। 'रस भाव आदि विभावादि द्वारा प्रतीत होता है। काव्य पढ़ते समय अथवा नाटच देखते समय, सहृदय की तत्त्वदर्शिनी बुद्धि में वह समकाल ही अवभासित होता है। इस रस-प्रतीति में क्रम तो है किन्तु झटिति प्रत्यय के कारण इस क्रम का हमें ज्ञान नहीं होता। अतएव रसभावादि असंलक्ष्यक्रम ध्वनि है"

आगे चल कर अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के इस मत को विशद किया। रसप्रक्रिया के इतिहास में अन्तिम मत अभिनवगुप्त का ही माना जाता है। "रस अभिव्यक्त होता है" इस मत को अभिनवगुप्त ने प्रस्थापित तो किया है किन्तु इस मत की मूल विवेचना अभिनवगुप्त की नहीं है। इस मत को सर्वप्रथम ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन ने प्रस्तुत किया। काव्यगत शब्दार्थ तथा नाटचगत अभिनय

---

१४. लोकवृत्तानुसारेण यत इयं नाट्यक्रीडा, लोके च धर्मादयोऽनाश्रया न संवेदनयोग्याः, तेन धर्मादिविषये यो यथा प्रसिद्धो रामादिः, स शब्दमात्रोपयोगित्वेन मुख्यया प्रणालिकया गृहीतः।

द्वारा दर्शाये गये विभावादि रस के व्यंजक हैं। रसाभिव्यक्ति ही कवि का एकमात्र प्रयोजन है। इसको लक्ष्य कर के ही कवि शब्दार्थ का प्रयोग करता है। काव्य तथा नाटच की कथावस्तु, तद्गत प्रसंग, पात्र वर्णन आदि सभी अर्थ रसाभिमुख ही होने चाहिये। इस विषय में कवि सतर्क रहता है। ध्वनिकार ने कहा है—

> वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
> रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः ॥

काव्य तथा नाटच के रसाभिव्यंजकता का स्वरूप ध्वनिकार ने इस प्रकार बताया है—

> विभावभावानुभावसंचार्यौचित्यचारुणः ।
> विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ॥
> इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाननुगुणां स्थितिम् ।
> उत्प्रेक्ष्याऽभ्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः ॥
> सन्धिसन्ध्यंगघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।
> न तु केवलया शास्त्रस्थितिसंपादनेच्छया ॥
> उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा ।
> [illegible] ॥
> अलंकृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम् ।
> प्रबन्धस्य रसादीनां व्यंजकत्वे निबन्धनम् ॥ (ध्व. ३। १० – १४)

यह तो बात अनुभवसिद्ध है कि महाकवियों के काव्य, नाटच आदि में रसास्वाद प्राप्त होता है। इस रस का प्रकाशन इन कृति के द्वारा कैसे होता है यही उपर्युक्त कारिकाओं में दर्शाया गया है। यह प्रकार उपन्यास करके आनन्दवर्धन कहते है— 'यह स्पष्ट होगा कि महाकवियों का समूचा काव्यव्यापार रसाभिव्यक्ति के लिये ही होता है। पहली बात यह है कि कवि जिस रस की अभिव्यक्ति करना चाहता है उस रस के लिये उचित विभावानुभाव, स्थायी तथा संचारी जिस कथा-वस्तु में उचित रूप से एकत्रित हो सकते हैं ऐसी ही कथावस्तु कवि चुन लेता है अथवा अपनी प्रतिभा के बल से रचता है। वह सतर्क रहता है कि इस कथावस्तु में रसोचित घटना, पात्रों के रसोचित व्यापार, तथा रसोचित अन्य विविध भाव सहजता से प्रकाशित होने चाहिये व कृत्रिम अथवा आगन्तुक नहीं दीखने चाहिये। विभावानुभावों का औचित्य लोकव्यवहार से निर्धारित किया जा सकता है। किन्तु इस कथा में अनुस्यूत दिखायी देनेवाले स्थायी का प्रधान पात्र की प्रकृति से औचित्य होना आवश्यक होता है। पात्र की जो प्रकृति हो उस प्रकृति द्वारा वह विभाव

आवश्यक ही प्रकाशित होता है। इसमें असंभवनीयता कुछ नहीं है (भावौचित्यं तु प्रकृत्यौचित्यात्—आनन्दवर्धन)। कवि यदि इतिहास अथवा पुराण से कथावस्तु लेना चाहता है तो ऐसी ही कथावस्तु लेता है जो कि रसाभिव्यक्ति के लिये पोषक हो सकती है। इतना नहीं, मूल कथावस्तु में यदि रस का कुछ बाधक हो तो कवि उस कथा में परिवर्तन कर के अथवा अपनी ओर से उसमें कुछ जोड़ कर, उसे रसानुवर्ति बनाता है। इस बात का स्मरण रहे कि कवि नित्य रसपरतन्त्र ही होता है। ऐतिहासिक काव्य में इतिहास कथन उसका प्रयोजन नही रहता। वह कार्य तो इतिहास ही कहता है। रसाभिव्यक्कि के एक साधन के रूप में कवि ऐतिहासिक घटना को उठा लेता है [१५]। ऐतिहासिक कथावस्तुओं में भी रसयुक्त कथाएँ अनेक हो सकती है। उनमे से किसी भी एक कथा को लेने से काम नहीं चलता। इनमें से भी महाकवि उसी कथा को चुन लेता है जिसमें कि रसोचित विभाव आ सकते हैं। कल्पित कथावस्तु के सम्बन्ध में तो कवि को बहुत ही सतर्क रहना आवश्यक हो जाता है। ऐसी कथा में अल्प अनवधान से भी कवि की अव्युत्पत्ति प्रकट हो जाती है। कथा की कल्पना भी ऐसी करनी चाहिये कि सम्पूर्ण कथावस्तु रसमय प्रतीत हो [१६]।

प्रबन्ध की रसाभिव्यक्ति का दूसरा गमक है कथा में ग्रथित प्रसंगों का सहज, संभाव्य तथा अपरिहार्य उपनिबन्धन। यह निबन्धनयदि औचित्यपूर्ण हो तो इसका पर्यवसान रसाभिव्यक्ति में होता है। यही है महाकाव्यगत घटकों की आकांक्षा तथा योग्यता। संधि, सन्ध्यंग, वृत्त्यंग आदि अर्थों की काव्य में स्थिति रसानुगुण होने से ही रहती है। शास्त्र में वर्णित ये अर्थ काव्य में रसानुगुण हो कर ही आने चाहिये, केवल शास्त्रदृष्ट अर्थ काव्य में ग्रथित करना है इसलिये नहीं। आनन्द-वर्धन इस विषय में अनुकूल प्रतिकूल दोनों उदाहरण देते हैं।

प्रबन्ध के रसाभिव्यंजकता का और एक गमक यह है कि महाकवियों की कृति मे रसों का उद्दीपन एवम् प्रशमन प्रसंग के अनुसार तथा प्रकृतिसिद्ध क्रम से होता है। काव्यगत प्रधान रस का अनुसंधान निरन्तर बनाया रखा जाता है। अंगभूत अनेक रसों का मुख्य रस के साथ अनुसंधान किस प्रकार होता है इसके उदाहरण के रूप में आनन्दवर्धन ने 'तापसवत्सराज' नाटक का उल्लेख किया है।

---

१५. कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतंत्रेण भवितव्यम्। तत्र इतिवृत्ते यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत् तदेमां भङ्क्त्वापि स्वतंत्रतया रसानुगुणं कथान्तरमुत्पादयेत्। न हि कवेः इतिमात्रनिर्वहणेन किंचित् प्रयोजनम्। इतिहासादेव तत्सिद्धेः।— आनंदवर्धन

१६. कथा शरीरमुत्पाद्य वस्तु कार्यं तथा तथा।
यथा रसमयं सर्वमेव तत्प्रतिभासते॥

रसाभिव्यक्ति का और एक गमक है अलंकारों का उचित उपयोग। अलंकार-युक्त लिखने की सामर्थ्य होने पर भी रससमाहित कवि अलंकारों के अधीन नहीं रहता। वह अपने आपको नियन्त्रित रखता है। जहाँ कवि रसावधान छोड़ कर कल्पना का चमत्कार दर्शाता है वहाँ अनुपद रसभंग ही दिखायी देता है।

महाकवि के काव्य में उपर्युक्त अर्थ ही नहीं, अपितु एक एक शब्द कैसे व्यंजक होता है यह आनन्दवर्धन ने विस्तरशः तथा उदाहरणों के साथ स्पष्ट किया है। कवि की प्रत्येक क्रिया से उसकी विवक्षा प्रकट होती है, एवं कुछ प्रयोजन रख के ही वह हर बात को काव्य में स्थान देता है। कवि की यह विवक्षा और प्रयोजन है काव्य में रस की अभिव्यक्ति। भामह आदि ने एक एक शब्द के प्रयोग के विषय में लिखा है इसमें भी व्यंजकत्व की ही दृष्टि है (शब्दविशेषाणां चान्यत्र च चारुत्वं यद्विभागे नो प्रदर्शितं तदपि तेषां व्यंजकत्वेनैवावस्थितम्)।

काव्य में लौकिक वस्तुधर्मों में भी परिवर्तत किया दिखायी देता है। यह भी रस ही की अपेक्षा से है। चन्द्रकिरण, कमलनाल आदि स्वभावतः शीतल वस्तुएँ भी विरही नायकनायिकाओं को ताप देती है। कालिदास का दुष्यन्त कहता है, " विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखैः "। सारांश, कवि की सृष्टि में वस्तुजात के लौकिक रूप में भी परिवर्तन होता है। लौकिक दृष्टि से मिथ्या प्रतीत होने वाले संबन्ध रसमय विश्व में सत्य समझे जाते है। क्यों ? जिस अपेक्षा से कवि इन अलौकिक वस्तुसंबन्धों का निर्माण करता है उस अपेक्षा अथवा विवक्षा की अभिव्यक्ति इनमें हमें प्रतीत होती है, अतएव कवि निर्मित अलौकिक संबन्ध भी हम स्वीकार कर लेते है। लौकिक व्यवहार में भी वक्ता का अभिप्राय ही वाक्य में अभिव्यक्त होता है। किन्तु कवि और लौकिक वक्ता दोनों के अभिप्राय में महत्त्व-पूर्ण भेद यह है कि वक्ता का व्यवहारगत अभिप्राय क्रियापर्यवसायी होता है प्रत्युत कवि का काव्यगत अभिप्राय प्रतीतिपर्यंवसायी है। अतएव अभिनवगुप्त कहते है कि काव्यप्रतीति अभिप्रायनिष्ठ होती है, अभिप्रेत वस्तुनिष्ठ नहीं होती (काव्यवाक्येभ्यो हि न नयनानयनाद्युपयोगिनी प्रतीतिरभ्यर्थ्यते अपितु प्रतीति विश्रांतिकारिणी, सा च अभिप्रायनिष्ठैव, न अभि[illegible] — लोचन)।

यह अभिप्रायप्रतीति काव्यगत शब्दार्थों द्वारा होती है इसका अर्थ यह होता है कि काव्यगत शब्दार्थ अभिप्राय व्यक्त करते है। अतएव काव्यगत शब्दार्थों में व्यंजकत्व रहता है। यह अभिप्राय रसादिरूप ही होता है अतएव रस तथा शब्दार्थ में व्यंग्यव्यंजकभाव होता है। इस व्यंजकत्व की अपेक्षा से ही काव्यगत शब्दार्थों का चारुत्व अथवा सौंदर्य प्रतीत होता है।

इस सौंदर्यविशेष का ज्ञाता सहृदय है। तथा रसज्ञता ही सहृदय का लक्षण है। शब्दार्थों का सरलता से रसादि में पर्यवसान होना ही काव्यगत शब्दार्थों का विशेष है। शब्द में यह सामर्थ्य व्यंजकत्व के कारण आता है। अतएव काव्यगत शब्दार्थों का चारुत्व व्यंजकत्वाश्रित ही रहता है (रसज्ञता एव सहृदयत्वम्। तथा-विधैः सहृदयैः संवेद्यः रसादिसमर्पणसामर्थ्यमेव नैसर्गिकशब्दानां विशेषः इति व्यंजक-त्वाश्रय्येव तेषां मुख्यं चारुत्वम्—आनन्दवर्धन)।

सारांश, महाकवियों का संपूर्ण काव्यव्यापार रसाश्रित ही होता है। विश्व में एक भी वस्तु ऐसी नहीं है जो कि अभिमत रस के अंगं के रूप में काव्यविशिष्ट होने पर आस्वाद्य नहीं होती। तथा एक भी अचेतन पदार्थ ऐसा नहीं है जो कि काव्य में विभाव के रूप में अथवा चेतन व्यवहार द्वारा रसादि का अंगभूत नहीं होता [१७]। अतएव काव्यगत शब्दार्थों का पर्यवसान रसास्वाद में होता है, रसास्वाद की अपेक्षा से ही इन शब्दार्थों का सौंदर्य प्रतीत होता है, एवं यह सौंदर्य शब्दार्थों की व्यंजकता में ही स्थित होता है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने अपना मत प्रस्तुत किया। व्यंजकता की सिद्धि के लिय उन्हें वैयाकरण, नैयायिक तथा मीमांसकों के साथ वाद करना पड़ा। इस वाद से हमें यहाँ कुछ प्रयोजन नहीं है। आनन्दवर्धन के इसी मत का विशद विचार अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोकलोचन' मे स्वतन्त्ररूप में तथा 'अभिनवभारती' में रससूत्र के आधार पर किया है।

इस प्रकार नवीं शती के पूर्वार्द्ध में ही साहित्य क्षेत्र में रसविषयक तीन वाद—लोल्लट का उत्पत्ति वाद अथवा परिपोषवाद, श्रीशंकुक का अनुमितिवाद अथवा अनुकृतिवाद एवं ध्वनिकार का अभिव्यक्तिवाद उपन्न हुए। इनके अतिरिक्त और भी दो वाद अभिनवगुप्त के समक्ष थे। एक है सांख्यों का वाद कि रस तो सुख-दुःखों को उत्पन्न करनेवाला बाह्य भाव ही है, तथा दूसरा है भट्टनायक का भावकत्व वाद। इन दोनों का स्वरूप अब हम देखें।

सांख्यों का सुखदुःखवाद

'अभिनवभारती' में सांख्यदर्शन पर आधारित एक मत यों निर्दिष्ट किया गया है—नाट्य में जो बाह्य विषयसामग्री दर्शाई जाती है वही रस है। यह विषय-सामग्री त्रिगुणात्मक होने से इसका तो स्वभाव ही सुखदुःखरूपता है। सुखदुःख

---

१७. परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते। रसादितात्पर्ये च नास्त्येव तद्वस्तु यदभिमतरसांगतां नीयमाना न प्रगुणीभवति। अचेतना अपि हि भावा यथा-

निर्माण की शक्ति इसमें सहजसिद्ध है। यह सुखदुःखस्वरूप विषयसामग्री ही रस है। इनके मन्तव्य के अनुसार रसप्रतीति का स्वरूप इस प्रकार है—विभाव दलस्थानीय है। रसनिष्पत्ति की घटना में विभावों की अंकुर दशा है। अनुभाव तथा व्यभिचारी के कारण अंकुर पर संस्कार होते हैं एवम् इन तीनों की सामग्री से सुखदुःखस्वरूप आंतर स्थायी उत्पन्न होते हैं। रस सुखदुःखरूप होने से सुखदुःखात्मक बाह्य विषय सामग्री में ही स्थित रहता है, क्योंकि बाह्य विषयों का स्वभाव ही सुखदुःखरूपता है। अतएव विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारीभावों की सामग्री ही रस है।

सांख्यों की यह उपपत्ति स्वीकार्य नहीं है। इस उपपत्ति पर पहली आपत्ति यह है कि "स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः" इस तथा तत्सदृश अन्य सूत्रों का अर्थ करने में लक्षणा का आश्रय करना पड़ता है। इस सूत्र का अर्थ है, 'लौकिक दृष्टि से जो स्थायी भाव होते हैं उनको रसत्व कैसे प्राप्त कराया जाता है यह हम कथन करेंगे।' किन्तु, इन विवेचकों का ही कथन है कि, उपर्युक्त मत का स्वीकार करने से इस सूत्र का वाच्य अर्थ लेना असंभव हो जाता है। यह तो एक दोष है कि सूत्रों का अर्थ करने में लक्षणा का आश्रय करना पड़ें। अतएव, अभिनवगुप्त का कथन है कि, यह मत विचार करने के भी योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त, इस मत में प्रतीति वैषम्य का दोष आता है। सुखदुःखस्वभावरूप बाह्य विषय ही यदि रस है, तो एक ही बाह्य विषय एक को सुख तथा दूसरे को दुःख देगा। एवम् इस प्रकार एक ही रस की प्रतीति में वैषम्य निर्माण होगा। इस दोष के तथा अन्य अनेक दोषों के कारण यह मत स्वीकार्य नहीं होता।

भट्टनायक का मत

भट्टनायक अभिनवगुप्त के वृद्धसमसामयिक थे। इन्हें ध्वनितत्त्व स्वीकार न था। आनन्दवर्धन के "रस ध्वनित होता है" इस मत के खण्डन के लिये इन्होंने 'हृदयदर्पण' नामक ग्रन्थ लिखा। इनके मत के अनुसार, रस उत्पन्न नहीं होता, अनुमित नहीं होता, अथवा अभिव्यक्त भी नहीं होता; अपितु भावकत्व नामक व्यापार द्वारा रस भावित होकर भोजकत्व नामक व्यापार द्वारा रसिक उसका आस्वाद लेता है। भट्टनायक ने अपना मत इस प्रकार प्रस्तुत किया है।

रस अनुमित नहीं होता। यदि माना गया कि वह अनुमित होता है तब या तो वह परगत होने के कारण अनुमित होगा या स्वात्मगत है इसलिये प्रतीत होगा। परगत होने से यदि वह अनुमित हुआ तब रसिक की उसके संबन्ध में तटस्थता रहेगी। इससे उसका आस्वाद संभव न रहेगा। रामादि के काव्यनाट्य में तो वह स्वगतत्व से प्रतीत ही नहीं हो सकता। रस आत्मगतत्व से प्रतीत होता है ऐसा

यदि मानना हो तो हमारे मन में रसोत्पत्ति हुई है यह भी मानना ही पड़ेगा (क्यों कि केवल कल्पित वस्तु के अनुमान में कुछ अर्थ नहीं होता) और इस प्रकार की रसोत्पत्ति तो रसिक के मन में होना ही असंभव है। सीता रसिक के हृदयगत रसोत्पत्ति का विभाव हो ही नहीं सकती। यह तो ठीक है कि रसिक की वासना का विकास होने के लिये साधारणीभूत कान्तात्व कारण होगा; किन्तु सीता, पार्वती आदि देवियों के वर्णन में कान्ता का साधारणीभाव प्रतीत नहीं हो सकता। इनके विषय में हमारी जो पूज्यत्वबुद्धि है वह इस साधारणीकरण में बाधक होगी। अच्छा, इन प्रसंगों को देखने के समय रसिक को अपनी कान्ता का स्मरण होता है यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ऐसा अनुभव नहीं है। यह रही शृंगार की बात। वीर रस के आस्वाद में भी यही अड़चन है। राम, कृष्ण, शिव तो असाधारण पुरुष थे। उनका सामान्यीकरण कैसे हो सकता है? सेतुबन्धनादि इनकी अलोकसामान्य कृति का रसिकों के लिये विभाव के रूप में साधारण्य कैसे हो सकता है? राम के उत्साह का ज्ञान इसे कारण होगा यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उत्साहगुणयुक्त राम की स्मृति होना असंभव है। इसका कारण यह है कि स्मृति के लिये अनुभव की पृष्ठभूमि आवश्यक होती है और राम के उत्साह का अनुभव तो रसिक ने कभी किया नहीं रहता। अच्छा, यदि ऐसा मान लिया कि हम राम के जीवन की घटनाएँ देख रहे हैं, अथवा पढ़ रहे हैं, इस लिये, अब इन घटनाओं से हमें राम के उत्साह की प्रतीति होगी, तब यह प्रतीति रसोत्पत्ति का कारण नहीं होगी; क्योंकि यदि मान लिया कि किसी का उत्साह देखने पर हमारे मन में रसोत्पत्ति होती है, तब तो यह भी मानना पड़ेगा कि व्यवहार में भी प्रेमिकों का व्यापार देखते ही हमारे मन में शृंगार का आविर्भाव होता है।

रसोत्पत्ति के पक्ष पर भी उपर्युक्त दोष आ जाते ही हैं। इसके अतिरिक्त करुणरसयुक्त काव्य में दुःखोत्पत्ति का प्रसंग आयेगा।

रस अभिव्यक्त होता है यह भी मानना असंभव है। क्योंकि वासनात्मक शक्ति के रूप में स्थित शृंगार अभिव्यक्त होने के लिये जो साधन आवश्यक होंगे उनके अल्पत्व अथवा अधिकता के अनुसार रसाभिव्यक्ति भी अल्प अथवा अधिक होगी। अपने मन में रसाभिव्यक्ति अधिक हों इस हेतु रसिक को अधिकाधिक बलवान् विभावों के पीछे मानों दौड़ना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त और एक प्रश्न रहेगा कि रस की स्वगत अभिव्यक्ति होती है अथवा परगत अभिव्यक्ति होती है? अतएव ये तीनों उपपत्तियाँ स्वीकार्य नहीं हो सकती।

अतएव भट्टनायक अपनी उपपत्ति इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं। काव्य तथा शास्त्र दोनों शब्दरूप होते हैं, किन्तु तब भी काव्यगत शब्दों का कार्य एवम् शास्त्रगत शब्दों

का कार्य दोनों परस्पर भिन्न होते हैं। काव्यव्यापार में काव्य का वाच्यार्थ, रस तथा पाठक का संबन्ध रहता है। इनके आनुषंगिक काव्य के व्यापार के तीन अंग हैं। वाच्यार्थ की दृष्टि से शब्द में अभिधायकत्व अर्थात् अभिधाव्यापार रहता है, रस की दृष्टि से शब्द में भावकत्व अर्थात् भावनाव्यापार रहता है तथा सहृदय की दृष्टि से भोगकृत्त्व अर्थात् भोगीकरण व्यापार रहता है। काव्यगत शब्दों की अभिधाशक्ति शास्त्रगत अभिधा के समान शुद्ध नहीं रहती। वह भावना तथा भोगीकरण व्यापारों से मिश्रित रहती है। ऐसा यदि न माना एवम् शास्त्र तथा काव्य की बोधक शक्ति (अभिधा) एकाकार मान ली, तो तन्त्र अर्थात् वह शास्त्रनियम जिसके कि दो अर्थ किये जाते है (उदा० पाणिनीय सूत्र – 'हलन्त्यम्') और श्लेषालंकार में कुछ भेद ही न रहेगा; उपनागरिकादि वृत्तियाँ तथा श्रुतिदुष्टादि भेद भी व्यर्थ हो जायेंगे। किन्तु, क्योंकि काव्यगत गुणदोषों का स्वरूप विशिष्ट है, ऐसा प्रतीत होता है, काव्यगत अभिधा का स्वरूप शास्त्रगत अभिधा से भिन्न ही मानना पड़ता है। काव्यगत अभिभा को 'रसभावना' रूप अंग के कारण भिन्नता प्राप्त होती है। काव्यगत अभिधा का 'रसभावना' एक अंग है यह स्वीकार करना पड़ता है।

'भावन' मीमांसाशास्त्र में एक संज्ञा है। भावना का लक्षण है 'भवितुर्भवनानुकूलो भावकव्यापारविशेषः।' निर्मास होनेवाली वस्तु के निर्माण के प्रति अनुकूल, निर्माता का व्यापार (प्रयत्न) ही भावना है। वेद में विधिवाक्य है — 'यजेत स्वर्गकामः' इस वाक्य का अर्थ है 'स्वर्ग की इच्छा से याग करना चाहिये'। स्वर्ग निर्माण होनेवाली वस्तु है तथा याग इसका साधन है। इस वाक्य का अभिप्राय है — 'यागेन स्वर्ग भावयेत्।' अर्थात् यागरूप साधन से स्वर्ग का भावन करना चाहिये अर्थात् स्वर्ग उत्पन्न करना चाहिये। इस विधिवाक्य के अनुसार स्वर्ग उत्पन्न करने के प्रयोजन से होनेवाला पुरुषनिष्ठ व्यापार ही भावना है। भावना के दो प्रकार है — शाब्दी भावना तथा आर्थी भावना। हमें यहाँ शाब्दी भावना से कुछ प्रयोजन नही है। इतना ही स्मरण रहे कि शाब्दी भावना का साध्य आर्थी भावना है। आर्थी भावना के तीन अंश हैं — साध्य, साधन तथा इतिकर्तव्यता। मीमांसकों के अनुसार स्वर्ग साध्य है, याग साधन है तथा याग में किये जानेवाले 'प्रयाज' आदि इतिकर्तव्यता हैं। भट्टनायक ने भावना का यह सिद्धान्त रसप्रक्रिया के संबन्ध में इस प्रकार दर्शाया। यह तो अनुभव है कि काव्यगत शब्द तथा नाटच का पर्यवसान रसोत्पत्ति में होता है। प्रत्येक प्रयुक्त शब्द द्वारा रसोत्पत्ति नहीं होती। अतएव काव्यगत शब्दों का अवश्य ही एक विशिष्ट व्यापार होना चाहिये जो रसोत्पत्ति के लिये अनुकूल हो। यह व्यापार है विभावादि का साधारणीकरण। जब तक

हम विभावादि को काव्यगत व्यक्ति से संबद्ध समझते हैं तबतक रसनिष्पत्ति असंभव है। तब यह सिद्ध हुआ कि विभावादि साधारणीकरण से रसनिष्पत्ति होती है। किन्तु व्यक्तिनिष्ठ रूप में दिखायी देनेवाले विभावादि साधारणीकृत किस प्रकार होते हैं ? भट्टनायक का कथन है कि विभावों का साधारणीकरण काव्यगत निर्दोषता, गुण तथा अलंकार एवम् नाट्यगत अभिनय के कारण होता है। मीमांसकों की परिभाषा में कहा जा सकता है कि काव्यगत भावना में रस साध्य है, विभावादि का साधारणीकरण साधन है एवम् गुणालंकार तथा अभिनय [illegible] है। 'काव्यंरसान् भावयति' इस वाक्य का अर्थ यह हुआ — गुणालंकार अथवा अभिनय द्वारा संपन्न होनेवाले विभावादि के साधारणीकरण रूप साधन से काव्य रसों को निर्माण करता है। काव्यगत शब्दों में स्थित यह साधारणीकरण का व्यापार ही भावना है। भावना का अर्थ है भावकत्व। 'काव्य रसों का भावक है' अर्थात् काव्य में भावकत्व है। 'तच्चैतत् भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत् काव्यस्य तद् विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम।' (लोचन)। मीमांसा की आर्थी भावना से रसभावना की तुलना इस प्रकार हो सकेगी —
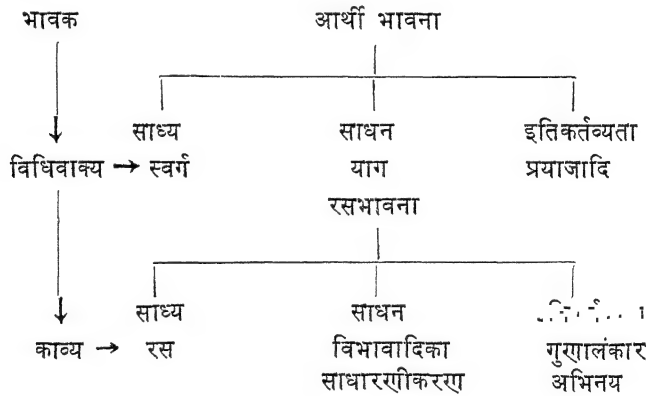
रसभावना के व्यापार में [illegible] साधनांश (करणांश) है। इसका अर्थ है कि रस तथा साधारणीकरण में अव्यभिचारी संबन्ध है। विभावादि के साधारणीकरण से रस भावित होता है अर्थात् रामादि की रत्यादि स्थायी चित्तवृत्ति साधारणीकृत होती है। इस प्रकार जब रस भावित होता है तब रसिक को उसका विशेष रूप में साक्षात्कार होता है। यही भोग है। रामादि की चित्तवृत्ति – जो कि भावना का विषय बन चुकी है – जब साधारण्य से प्रतीत होती है तब रसिक उसके संबन्ध में तटस्थ नहीं रहता, अपितु उसका भोग कर

सकता है । इस रसभोग को ही 'भोगीकरण' अथवा 'भोगकृत्त्व' कहा जाता है। रसभोग का अपना विशिष्ट रूप है। रसभोग लौकिक अनुभव नहीं है अथवा वह अनुभूत चित्तवृत्ति का स्मरण भी नहीं है। वह हृदय की एक अवस्था है जिसका कि स्वरूप है दृति, विस्तार और विकास। हमारा हृदय सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों से युक्त है। रजोगुण से दृति, तमोगुण से विस्तार तथा सत्त्वगुण से हृदय का विकास होता है। यही भोग की अवस्था है। (यदा हि रजसो गुणस्य दृतिः, तमसो विस्तारः, सत्त्वस्य विकासः, तदा भोगः स्वरूपं लभते – काव्यप्रकाश-संकेत)। भोगीकरण की अवस्था में सत्त्वगुण का प्रचुरता से उद्रेक होता है। इस कारण, हृदय की, रजस् तथा तमस् इन गुणों के वैचित्र्य से युक्त सत्त्वमयी अवस्था होती है। इस सत्त्वमयी अवस्था में रसिक का आत्मचैतन्यरूप लोकोत्तर आनन्द प्रकाशित होता है तथा इस आनन्द में रसिक विश्रान्त होता है। विश्रान्त होने का अर्थ है दूसरी किसी बात का ध्यान न होना। सारांश, भोग की अवस्था सत्त्वमय आनन्द की अवस्था है। इस अवस्था में रसिक को दूसरी किसी अवस्था का ध्यान नहीं रहता। रस का भोग आत्मानंद के स्वरूप का होता है। अतएव इसे 'पर ब्रह्मस्वादसविध' अर्थात् ब्रह्मानन्द के समान कहा गया है। काव्यव्यापार में भोगी-करण ही प्रधान अंश है एवं वह सिद्धरूप है, क्योंकि आत्मानन्द सिद्धरूप ही होता है। काव्य पढ़ने में अथवा नाट्य देखने में अनुभव होनेवाला यह आनन्द रसिक में व्याप्त होता है अतएव आनन्द ही काव्य का प्रधान फल है। व्युत्पत्ति गौण काव्यफल है। यह सब भट्टनायक ने इस प्रकार बताया है —

> अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतमेव च।
> अभिधाधामतां याते शब्दार्थालंकृती ततः॥
> भावनाभाव्य एषोऽपि शृंगारादिगणो मतः।
> तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान् नरः॥

भट्टनायक ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात बतायी है कि रसास्वाद के लिये विभावादि का साधारणीकरण होना चाहिये। दूसरी बात यह है कि भट्टनायक ने रसास्वाद के व्यापार में रसिक का भी अन्तर्भाव किया है। लोल्लट तथा श्रीशंकुक दोनों की उपपत्तियों में रसिक बाह्य तथा तटस्थ था। किन्तु भट्टनायक ने उसे रस का भोजक अर्थात् आस्वादक निर्धारित किया। विभावादि जब तक अन्य व्यक्ति से संबद्ध हैं तब तक रसिक उनका भोग ही नहीं कर सकता। किन्तु जब इन्हींका साधारणीकरण होता है तब व्यक्तिनिरपेक्ष तथा स्थलकालरहित अवस्था में ये उपस्थित होते हैं एवं रसिक इन का आस्वाद ले सकता है। इस प्रकार साधारणी-करण रूप भावनाव्यापार मानते हुए भट्टनायक ने रसास्वाद में आनेवाली बाधाओं का निवारण किया।

भट्टनायक के मत का परीक्षण

भट्टनायक की इस उपपत्ति की अभिनवगुप्त ने आलोचना की है। भट्टनायक के पूर्व ही आनन्दवर्धन ने व्यंजनाव्यापार के आधार पर रस की उपपत्ति निर्धारित की थी। लोल्लट तथा श्रीशंकुक की उपपत्तियों के दोष भट्टनायक को प्रतीत हुए थे। किन्तु वे व्यंजनाव्यापार स्वीकार नहीं करते थे अतएव आनन्दवर्धन की रसाभिव्यक्ति की उपपत्ति भी उन्हें स्वीकार न थी अतएव उन्होंने शब्दों के दो व्यापारों की – भावना तथा भोगीकरण की – कल्पना की। [illegible] का विचार है कि भट्टनायक का अभिप्रेत अर्थ यदि व्यंजनाव्यापार ही से सिद्ध हो सकता है तब इन दोनों अधिक व्यापारों की आवश्यकता ही क्या है ?

भट्टनायक ने प्रतीति का स्वगत तथा परगत विभाग करते हुए जो आपत्ति उठायी है वह भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद के संबन्ध में सत्य है। किन्तु अभिव्यक्तिवाद के संबन्ध में नहीं। यह तो कहना ही असंभव है कि रस प्रतीत नहीं होता। चाहे जिस पक्ष का स्वीकार कीजिये, रस की प्रतीति का तो परिहार नहीं हो सकता। रस यदि प्रतीत न होगा तब पिशाच के संबन्ध में जैसे कुछ कहा नहीं जा सकता वैसे ही रस के संबन्ध में भी कुछ कहा नहीं जा सकेगा। अतएव यह तो मानना ही पड़ेगा कि रस प्रतीत होता है। हाँ, इस प्रतीति का स्वरूप अवश्य विशिष्ट है। व्यवहार में भी प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, योगिप्रत्यक्ष आदि उपायों द्वारा प्रतीति ही होती है। किन्तु 'प्रतीतित्व' रूप धर्म इन सब में समान होने पर भी उपायभेद के कारण इनमें भेद होता ही है। प्रत्यक्ष प्रमाण (उपाय) से होनेवाली प्रात्यक्षिक प्रतीति, अनुमान से होनेवाली आनुमानिक प्रतीति, आप्तवाक्य से होनेवाली शाब्दप्रतीति; इस प्रकार उपायभेद से इस प्रकार एक प्रतीति का अन्य प्रतीति से भेद माना जाता है। इसी प्रकार यह रसप्रतीति भी — जिसके कि चर्वणा, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि अनेक नाम हैं — भिन्न प्रकार की है इस बात को अवश्य ही स्वीकार करना होगा। इसका कारण यह है कि इस प्रतीति का उपाय लोकोत्तर रूप का है, केवल इसी से कि विभावादि सामग्री लौकिक कारणादि से संवादी है — रसप्रतीति को लौकिक अनुमानादि के समान ही नहीं माना जा सकता। विभावादि सामग्री से हृदयसंवाद का योग होता है तभी रसप्रतीति होती है। यही विभावादि की अलौकिकता है कि इनमें हृदयसंवाद निर्माण करने की क्षमता होती है। अतएव रसप्रतीति का विभावादि सामग्री रूप उपाय अलौकिक है, तथा उपायों की इस अलौकिकता के कारण ही, इस से होनेवाली रसप्रतीति का स्वरूप लौकिक प्रतीति से भिन्न होता है।

भट्टनायक की अभिव्यक्तिवाद पर आपत्ति है कि यदि माना गया कि रस अभिव्यक्त होते हैं तब यह भी मानना होगा कि वे मूलतः सिद्धरूप हैं। इस पर अभिनवगुप्त कहते हैं कि अभिव्यक्तिवादियों का 'रसाः प्रतीयन्ते' यह कथन 'ओदनं पचति' इस कथन के समान है (रसाः प्रतीयन्ते इति ओदनं पचतिवत् व्यवहारः। — लोचन)। 'वह भात पकाता है' इस वाक्य में जैसे आगे आनेवाली परिपक्व अवस्था पर ध्यान देकर चावल पर भात का उपचार किया जाता है वैसे ही आगे आनेवाली प्रतीति का विषय होने से कहा जाता है कि 'रस प्रतीत होते हैं।' वस्तुतः रस प्रतीयमान ही होता है (प्रतीयमान एव हि सः) अर्थात् वह प्रतीति का ही विषय होता है। यह प्रतीति विशिष्ट प्रकार की रसना अथवा आस्वादनक्रिया के रूप की होती है। अतएव लौकिक अनुमानप्रतीति अथवा शब्द-प्रतीति से यह भिन्न होती है। लौकिक अनुमानप्रतीति रसिक को व्युत्पन्नता पाने में सहाय्यक होगी। वैसे ही शब्दप्रतीति से भी रसिक व्युत्पन्न होगा। लौकिक अनुमान तथा शब्द के प्रमाणों की सहायता से व्युत्पन्न बने हुए रसिक को ही रसप्रतीति होगी किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि सहृदय की व्युत्पन्नता के लिये अनुमानादि लौकिक प्रमाण आनुषंगिक रूप में उपयोगी होते है इस लिये उसे होनेवाली रसप्रतीति भी लौकिक रूप ही की है।

भट्टनायक का यह कथन कि रामादि लोकोत्तर पुरुषों का काव्यगतचरित्र पढ़ते समय अथवा तत्संबद्ध नाट्य देखते समय हृदयसंवाद नहीं होता—बड़ा ही धृष्टतापूर्ण है। पातजल योगदर्शन में कहा है कि "उस कर्म से जन्म, आयु तथा भोग के रूप का जो विपाक बनता है उससे जितनी वासनाएँ अनुगुण हों, उन्हींकी अभिव्यक्ति होती है (योगसूत्र ४।८)" अर्थात् विपाक से अनुबद्ध वासनाएँ प्रकाशित होती हैं तथा अन्य वासनाएँ सुप्त अवस्थाही में रहती हैं। अद्यतन के अनुगुण तथा इनके द्वारा व्यक्त होनेवाली वासनाएँ तथा इनके मूल संस्कार दोनों में जन्म, देश तथा काल का व्यवधान होते हुए भी ये वासनाएँ प्रकाशित होती हैं। इन वासनाओं के संस्कार स्मृतिरूप से उदित होते हैं (क्योंकि स्मृति तथा संस्कार एकरूप हैं)। ये वासनाएँ अनादि हैं (क्योंकि वे आशी रूप संकल्पविशेष पर अवलंबित है एवम् यह संकल्प अनादि है। योगसूत्र ४।८–१०) इस प्रकार वासना तथा संस्कार अनादि होने से, रामादि के चरित्र पढ़ते समय उसके अनुगुण रसिक की वासना तथा संस्कार उदित होना संभव है। अतएव तब भी रसिक का हृदयसंवाद हो सकता है।

तब रस प्रतीत होता है ऐसा कहने में कोई अड़चन नहीं पड़ती। रसप्रतीति अनुभवसिद्ध है। यह प्रतीति रसनारूप है तथा यह रसिक में उत्पन्न होती है;

और यह रसनारूप प्रतीति उत्पन्न होने के लिये काव्य का व्यंजकस्वरूप ध्वनन-व्यापार ही कारण होता है न कि अभिधाव्यापार।

रस की प्रतीयमानता इस प्रकार सिद्ध करने पर भट्टनायक के माने हुए भावना तथा भोगीकरण रूप व्यापारव्यंजना में ही किस प्रकार अन्तर्भूत होते हैं यह दर्शाते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं : भावकत्व तथा भोगीकरण दोनों व्यापार वास्तव में ध्वनि में ही अन्तर्भूत होते हैं। विभावादि के साधारणीकरण के लिये भट्टनायक ने भावकत्व व्यापार माना है और कहा है कि गुणालंकारों से यह साधारणीकरण होता है। काव्य का रसोचित गुणालंकारों से युक्त होना ध्वनि-वादियों को भी स्वीकार है। इसलिये भावकत्व में नया कुछ है ही नहीं। यह तो क्या, भावकत्व का ठीक विपरीत ही परिणाम हुआ है। भट्टनायक को उत्पत्तिवाद स्वीकार नहीं है किन्तु 'काव्यं रसान् प्रति भावकम्' कहते हुए तथा भावनाव्यापार मानते हुए उन्होंने इसी उत्पत्तिवाद को पुनरुज्जीवित किया है, क्योंकि इस भावना का अर्थ ही यह होता है कि काव्य भावनोत्पादक है। अच्छा, काव्य रस का भावक भी कैसे होता है ? यह भावकत्व केवल शब्दों का नहीं है, क्योंकि जबतक अर्थज्ञान नहीं होता तबतक भावकत्व संभव ही नहीं होता। वह केवल अर्थ का भी नहीं हो सकता, क्योंकि वही अर्थ भिन्न शब्दों में कहने से रसोत्पत्ति नहीं होती। यदि कहना हो कि शब्द तथा अर्थ दोनों के सहितत्व में यह भावकत्व है, तब, 'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ व्यङ्क्तः।' इस ध्वनिकारिका में ध्वनिकार ने यह पहले ही बताया है। सो भट्टनायक कथित भावकत्व में नवी-नता है ही नहीं। उचित गुणालंकारों से युक्त शब्दार्थमय काव्य सहृदय में रसचर्वणा उत्पन्न करता है। हम व्यजनावादी कहते हैं कि यह चर्वणोत्पत्ति शब्दार्थ के व्यंजनाव्यापार का कार्य है। जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' रूप विधि 'याग' रूप साधनद्वारा तथा प्रयाजादि इतिकर्तव्यता द्वारा स्वर्गकाम पुरुष के लिये स्वर्ग का भावन करता है वैसे ही काव्य भी व्यंजनाव्यापार द्वारा तथा गुणालंकारौचित्य रूप इति कर्तव्यताद्वारा सहृदय के लिये रस (चर्वणा) का भावन करता है।

इस प्रकार भट्टनायक के भावनाव्यापार का करणांश अन्ततोगत्वा व्यंजना-

व्यापार ही सिद्ध होता है। भट्टनायक ने विभावादि के साधारणीकरण को करणांश कहा है। विभावादि का साधारणीकरण व्यंजनाव्यापार ही से होता है। अतएव इसके लिये स्वतंत्र भावनाव्यापार की सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं रहती।

भट्टनायक का माना हुआ भोगीकरण व्यापार भी ध्वनिव्यापार ही में अन्तर्भूत होता है। भोग है 'लोकोत्तर आस्वाद' तथा भट्टनायक के मत के अनुसार हृदय के दृति-विस्तार-विकास इसका स्वरूप है। रसिक के मूल आत्मानद पर छाये हुए घन अज्ञानावरण का निवृत्त होना तथा साथ ही आत्मानंद का प्रकाशित होना ही इस आस्वाद का स्वरूप है। यह आवरण का भंग ही आनन्द की अभिव्यक्ति है। तब इस लोकोत्तर भोग का अन्तर्भाव भी ध्वननव्यापार ही में होता है। काव्य इस ध्वननव्यापार का आश्रय होता है अतएव इस आनन्दाभिव्यक्ति में सहकारी बनता है। सारांश, रसभोग है रसनाव्यापार से उत्पन्न चमत्कार। इस चमत्कार की सिद्धि ध्वनिकार ने पहले ही कर रक्खी थी इसलिये भोगीकरणरूप स्वतन्त्र व्यापार की सत्ता मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

भट्टनायक का जो कथन है कि रसास्वाद का स्वरूप दृतिविस्तार–विकासात्मक है–वह ठीक नहीं। भिन्नभिन्न वस्तुओं के संबन्ध में त्रिगुणों का न्यूनाधिक भाव हो सकता है, एवम् इससे इनके अनन्त भेद भी हो सकेंगे। भट्टनायक के मत का अनुसरण करते हुए यदि माना गया कि रसप्रतीति का भी यही स्वरूप है, तब रसास्वाद के भी अनन्त भेद मानने ही होंगे। भट्टनायक ने व्युत्पत्ति को गौण फल माना है, किन्तु इसकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। काव्य से प्राप्त होनेवाली व्युत्पत्ति शास्त्रादि से प्राप्त होनेवाले ज्ञान के समान नहीं है। काव्य से प्राप्त होनेवाली व्युत्पत्ति का स्वरूप है रसास्वाद के लिये उपायभूत रसिकगत प्रतिभा का विकास (रसास्वादोपायस्वप्रतिभाविजृम्भारूपाम्)। रसास्वाद से रसिक की प्रतिभा का तो आप ही आप विकास होनेवाला है ही।

तब ध्वनिकार का मत कि रस अभिव्यक्त होते है तथा इनकी रसना प्रतीतिरूप होती है, योग्य है (अभिव्यज्यन्ते रसाः प्रतीत्यैव च रस्यन्ते।)

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक की जो आलोचना की है, उसमें एक विशेष ध्यान देने योग्य है। अभिनवगुप्त ने असंमत अंश का खंडन तो किया है अवश्य, किन्तु संमत अंश का स्वीकार करते हुए आदर भी दर्शाया है। भट्टनायक ने "भावनाभाव्य एषोऽपि शृंगारादिगणो हि यत्" इस वचन में रसों के भावना का निर्देश किया है। इसको लक्ष्य करते हुए अभिनवगुप्त कहते है, "भावना से आपका अभिप्राय यदि यही है कि विभावादि द्वारा निर्माण होनेवाले चर्वणात्मक आस्वाद-

रूप प्रत्यय को काव्यार्थ गोचर होता है, तब तो हमें भी यह स्वीकार है। इतना ही नहीं,

> संसर्गादिर्यथा शास्त्रे एकत्वात् फलयोगतः ।
> वाक्यार्थस्तद्वदेवाऽत्र शृंगारादी रसो मतः ।।

शास्त्रगत वाक्यार्थ के अर्थैकत्व के कारण अथवा फलयोग के कारण संसर्गरूप विशिष्टरूप अथवा क्रियारूप आदि भेद होते हैं, वैसे ही काव्य में वाक्यार्थ शृंगारादि रसरूप ही होता है, यह आपका कथन भी हमें अभिमत है।

अभिनवगुप्त ने पूर्वाचार्यो के मतों का केवल खंडन ही नहीं किया अपितु शोधन भी किया। पूर्वाचार्यों के मतों का इस प्रकार शोधन करते हुए, इस शुद्ध किये हुए नीव पर उन्होंने अपने विवेचन का भवन खड़ा किया। इसीलिये उनके विवेचन को मूलप्रतिष्ठा प्राप्त हो सकी। वे कहते हैं—

> तस्मात् सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि ।
> पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति ।।

परिशुद्ध किया हुआ रसतत्त्व अभिनवगुप्त ने किस प्रकार कथन किया यह देखने का अब हम प्रयास करें।

अभिनवगुप्तकृत रसविवेचन

'काव्यार्थान् भावयन्ति इति भावाः' इस भरतसूत्र से ही अभिनवगुप्त ने अपने विवेचन का आरंभ किया है। काव्यगत पदार्थ तथा वाक्यार्थ अन्ततः रस ही में पर्यवसित होते हैं। इस प्रकार रस काव्य का असाधारण एवं प्रधान धर्म है। अतएव रस ही काव्यार्थ है। 'काव्यार्थ' में 'अर्थ' शब्द अभिधेयवाचक नहीं है। इसका अर्थ 'प्राधान्य से अभिप्रेत' है। रस स्वशब्द से वाच्य नहीं होता, अतएव वह काव्य का अभिधेय नही हो सकता। काव्य में रस की प्रधानता से अपेक्षा होती है अतएव रस को काव्यार्थ कहते हैं। काव्यार्थ अर्थात् रस का जो भावन करते हैं अर्थात् इसकी निष्पत्ति करते हैं वे है भाव। स्थायी तथा व्यभिचारी इस प्रकार के रस-निष्पादक भाव हैं। स्थायी तथा व्यभिचारी भावों के कलाप ही से एक अलौकिक अर्थ संपन्न होता है, जो आस्वाद्य होता है। सहृदय के लौकिक व्यवहार में प्रथम उसे स्थायी तथा व्यभिचारी भावों का ज्ञान होता है, तथा इसके उपरान्त ही काव्य-पठन के अथवा नाट्य देखने के समय साधारण्य की भूमिका पर से वह इनका आस्वाद ले सकता है। इस प्रकार, लौकिक जीवन में होनेवाली स्थायी तथा व्यभिचारी भावों की पूर्वावगति उत्तर कालीन आस्वाद का कारण होती है, इसी

एक अर्थ में, स्थायी को रस का भावक अर्थात् निष्पादक कहा गया है। इस रस की निष्पत्ति कैसे होती है यह दर्शाने के लिये अभिनवगुप्त एक दृष्टान्त देते हैं--

> आरोग्यमाप्तवान् साम्बः स्तुत्वा देवमहर्पतिम् ।
> स्यादर्थविगतिः पूर्वमित्यादिवचने यथा।।
> ततश्चोपात्तकालादिन्यक्कारेणोपजायते ।
> प्रतिपत्तुर्मनस्येवं प्रतिपत्तिर्न संशयः ।।
> यः कोऽपि भास्करं स्तौति स सर्वोऽप्यगदो भवेत् ।
> तस्मादहमपि स्तौमि रोगनिर्मुक्तये रविम् ।।

" साम्ब ने सूर्य का स्तवन किया और वह रोग से मुक्त हो गया " यह वाक्य सुनते ही हमें सर्व प्रथम इसका वाच्यार्थ ज्ञात होता है। (सांब, उसका किया विशिष्ट सूर्यस्तवन, तथा उसकी विशिष्ट रोगमुक्ति इनसे यह वाच्यार्थ संबद्ध है)। इस ज्ञान के उपरान्त " जो भी कोई सूर्य का स्तवन करेगा वह रोगनिर्मुक्त होगा " इस प्रकार केवल वाच्यार्थ से अधिक प्रतिपत्ति हमें होती है जिसका कि स्वरूप देशकालव्यक्तिनिरपेक्ष सामान्य है। इस प्रकार सामान्यता से प्रतीति आने पर हम भी सोचते हैं कि, ' हम भी इसी तरह सूर्यस्तवन से रोगविनिर्मुक्त हो जायँगे।' प्रथम व्यक्तिविषयक ज्ञान, तदुत्तर सामान्यप्रतीति एवं तदुपरान्त आत्मानुप्रवेश इस प्रकार का यह क्रम है।

यह रही पुराण के आख्यान की बात। वैदिक वाक्य से भी ऐसा ही ज्ञान होता है। उदाहरण के लिये, ' वनस्पतयः सत्रमासत ' (वनस्पतियों ने सत्र आरंभ किया), ' तामग्नौ प्रादात् ' (उसे अग्नि में हवन किया) आदि वैदिक वाक्य सुनते ही, अधिकारी व्यक्ति के मन में इस व्यक्तिसंबद्ध वाच्यार्थ से अधिक प्रतिपत्ति निर्माण होती है। इस उत्तरकालीन प्रतिपत्ति में देश, काल, व्यक्ति आदि का वाच्यार्थ से संबन्ध नष्ट हो जाता है, तथा, ' इस प्रकार सत्र किया जाता है' ' इस प्रकार हवन किया जाता है ' आदि सामान्य स्वरूप इस प्रतिपत्ति को प्राप्त होता है। इस सामान्य प्रतीति के अनुसार वह अधिकारी व्यक्ति भी कृति के लिये प्रवृत्त होता है। इस सामान्य प्रतीति को ही मीमांसा में भावना, विधि, नियोग आदि संज्ञाएँ हैं। उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में, हमें होनेवाली सामान्य प्रतीति का एक विशेष यह है कि भूतकालीन व्यक्तिगत बात सुनते ही, जिस क्रम से हमें यह सामान्य प्रतीति होती है उस क्रम का हमें ध्यान ही नहीं होता।

जैसे पौराणिक अथवा वैदिक वाक्यों से जो अधिकारी ज्ञाता है उसे केवल वाच्यार्थ से अधिक सामान्य प्रतीति होती है, वैसे ही काव्यगत शब्दों से भी,

अधिकारी पाठक को, काव्य के केवल वाच्यार्थ से अधिक अर्थप्रतीति होती है। हाँ, यह प्रतीति काव्य के प्रत्येक पाठक को नही होती। इस प्रतीति के लिये पाठक की भी योग्यता चाहिये। ऐसी योग्यता, विमलप्रतिभाशक्ति से युक्त सहृदय की ही हो सकती है। (अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशाली सहृदयः)। मान लीजिये कि इस प्रकार का कोई अधिकारी सहृदय, शाकुन्तल का छन्द—

ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वात् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥

पढ़ रहा है। इस छन्द का वाच्यार्थ अवगत होते ही रसिक को साक्षात्कार रूप मानस प्रतीति होती है। देशकाल आदि सीमाओं से रहित होने के कारण यह प्रतीति सामान्यत्व से प्राप्त रहती है। इस प्रतीति में आविर्भूत मृगबालक वह विशिष्ट मृग बालक नहीं है जिसका दुष्यन्त पीछा कर रहे थे। वह कोई विशेष मृगबालक नहीं है। वह तो एक भयाकुल हरिण मात्र है। यह तो कोई भी हरिण हो सकता हैं। उसे डरानेवाला भी परमार्थतः कोई नहीं है। इस भीति-ग्रस्त अवस्था से भयमात्र प्रतीत होगा। यह प्रतीत होनेवाला भय भी देशकाल आदि से सीमित नहीं है। इतना ही नहीं, इस भयप्रतीति के संबंध में स्वपरमध्यस्थ भाव न होने से स्वगत भय से होनेवाला दुःख, शत्रुगत भय से होनेवाला सुख, लौकिक भय के संबन्ध में, हमारी 'यह हो अथवा न हो' आदि वृत्ति, इन बातों का इसमें लेश भी नहीं होता। इस प्रकार इस प्रतीति में किसी भी लौकिक वृत्त्यंतर से बाधा न होने के कारण, यह भय निर्विघ्न प्रतीति का विषय होता है। अतएव, रसिक इसे हृदय में प्रवेश करता हुआ देखेगा, आँखों में छलकता हुआ देखेगा, शरीर पर रोमांचित हुआ देखेगा। इस रूप का, रसिक की निर्विघ्न प्रतीति का विषय बना हुआ, काव्यपठन का समकालिक मानस प्रतीतिगत भय ही भयानक रस है।

इस प्रकार की भयप्रतीति में रसिक की आत्मा तिरस्कृत भी नहीं होती अथवा विशेष रूप में उल्लिखित भी नहीं होती। यह अनुभव जैसे एक रसिक को होता है वैसे ही अन्य किसी भी सहृदय पाठक को होता है। अतएव इस अवस्था में होनेवाला साधारणीभाव भी सीमित नहीं रहता; इसकी व्याप्ति धूमाग्निसंबन्ध अथवा भयकम्पसंबन्ध के समान सार्वत्रिक होती है।

काव्य में मानससाक्षात्कार होता है, प्रत्युत नाट्य में इस साक्षात्कार का परिपोष नटादि के द्वारा होता है। काव्यगत प्रतीति को काव्यगत देशकालादि

ही सीमित करते हैं। किन्तु नाटच में इन देशकालादि के साथ नटगत सीमा भी हो सकती है। उदाहरण के लिये, उत्तररामचरित पढ़ते समय, हमारी प्रतीति को केवल रामत्व ही की सीमा हो सकती है। अतएव, इस प्रसंग में रामत्व का निरास होनेपर शोकवृत्ति का साधारण्य होता है। किन्तु 'उत्तररामचरित' के प्रयोग में राम का शोक नट के द्वारा प्रतीत होना है, अतएव वहाँ 'नटत्व' तथा 'रामत्व' दोनों का परिहार होना आवश्यक होता है; और परिहार होता भी है। इस प्रकार नाटच में भी काव्य के समान साधारणीभाव का परिपोष होता है। अतएव, नाटच में सभी दर्शकों की प्रतीति में एकघनता आ सकती है; लौकिक अवस्था में अनादि वासनाओं से रसिकों का हृदय संस्कारित हुआ रहता है, इससे नाटच में उनका वासनासंवाद हो सकता है। अतएव सामाजिकों को प्राप्त होनेवाली यह एकघन रसप्रतीति ही रसपरिपोष का कारण होती है।

इस प्रकार काव्य अथवा नाटच में रसिकों को होनेवाली यह निर्विघ्न तथा एकघन संवित्प्रतीति ही काव्यगत चमत्कार है। और इसीसे रसिक को प्रतीत होनेवाले कंप पुलक आदि विकार (सात्त्विक भाव) भी चमत्कार ही है।

> अज्ज वि हरी चमक्कइ कहकह वि न मन्दरेण कलिआइं।
> चन्दकळाकन्दळसच्छहाइं लच्छीइं अंगाइं॥

लक्ष्मी के, चन्द्रकिरणों के कन्दों के समान स्वच्छ तथा सुकुमार गात्रों का समुद्रमन्थन के समय निर्मथन नहीं हुआ इस विचार से भगवान् विष्णु को अभी भी चमत्कार होता है तथा उनका शरीर पुलकित होता है। इस अवस्था में प्रतीत होनेवाला अद्भुत भोगावेग ही इस चमत्कार का रूप है; फिर यह भोगावेश चाहे साक्षात्कार रूप हो, चाहे मानसप्रतीतिरूप हो, संकलपरूप हो अथवा स्मृतिरूप हो। किसी भी रूप में इसका स्फुरण हुआ है, इसका स्वरूप निश्चय ही लोक विलक्षण होता है।

> रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
> पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
> तच्चेतसा स्मरति नूनमबोध पूर्वं
> भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥

इस प्रसिद्ध छन्द में कालिदास ने इसी प्रकार अलौकिक स्मरण का निर्देश किया है। हम किसी रमणीय दृश्य को देखते है, अथवा संगीत के मधुर स्वर सुनते हैं, तब सब प्रकार से सुख की अवस्था में होते हुए भी, हमारे हृदय में घबड़ाहट पैदा हो जाती है। ऐसा क्यों होता है? कालिदास कहते है कि ऐसे समय में हमारे अन्य जन्म के वासनारूप मे स्थिर हुए भावबन्ध में उनका ज्ञान न होते हुए

प्रतीतियों के समान भले ही समझी जाय; रसनात्मकता ही इस प्रतीति की विशेषता है। अतएव यह लौकिक प्रत्यक्षानुमानादि प्रतीतियों से भिन्न है। **निर्विघ्नता इसकी अवश्योपाधि है।** अपनी अपनी पसंद के अनुकूल काव्य से मन बहलाना रस नहीं कहलाता। रसानुभाव के लिये रसिक को चाहिये कि किसी विशिष्ट स्तर से काव्य का आस्वाद लें। किसी भी कारण से क्यों न हो, यदि यह सीमा छूटी तब रस का संभव ही नहीं रहता। इस सीमा के छूटने के कारणों को अभिनवगुप्त 'रसविघ्न' कहते हैं। रसप्रतीति के बाधक अनेक विघ्न हो सकते हैं, और किसी भी विघ्न से रसभंग तो होता ही है। इसी लिये कहा जाता है कि 'निर्विघ्नता रसप्रतीति की अवश्योपाधि है।'

अभिनवगुप्त ने रसविघ्नों का विस्तरशः वर्णन किया है। निर्विघ्नता से होनेवाली प्रतीति के लिये ही लौकिकव्यवहार में भी चमत्कार, निर्वेश, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि पर्यायों का प्रयोग किया जाता है। इन पर्यायों का रसमीमांसा में भी प्रयोग किया गया है। रसप्रतीति कविरसिकहृदयसंवादरूप व्यापार है। काव्य अथवा नाट्य इसका माध्यम है। निर्विघ्न रसनात्मक प्रतीति में बाधक, कविगत, काव्यगत, नटगत अथवा रसिकगत कोई भी अर्थ रसविघ्न है। अभिनवगुप्त ने सात रसविघ्नों का निर्देश किया है। वे हैं — (१) संभावनाविरह, (२) स्वपरगतदेशकालविशेषावेश, (३) निजसुखादिविवशीभाव, (४) प्रतीत्युपायवैकल्य, (५) स्फुटत्वाभाव, (६) अप्रधानता, तथा (७) संशययोग। इन विघ्नों का स्वरूप अब हम देखें।

१. **संभावनाविरह** — संभावनाविरह का अर्थ है कल्पना का अभाव। जो काव्यवस्तु अथवा नाट्यवस्तु की कल्पना ही नहीं कर सकता, उसे भला रसास्वाद क्या होगा? कवि अपनी कृति के द्वारा-चाहे वह छोटी हो या बड़ी-एक ही वस्तु निर्माण करता है। यह वस्तु संवेद्य होती है। इस संवेद्य वस्तु को पाठक यदि ठीक तरह से समझ ही नहीं पाता है तब तो उसे इसकी प्रतीति ही नहीं हो सकती, फिर प्रतीतिविश्रांति की तो बातही दूर। यह दोष कविगत तथा रसिकगत-दोनों प्रकारों से हो सकता है। कविगतदोष अशक्ति के कारण होता है। कवि को उचितानुचितविवेक न रहने से इस दोष का संभव होता है। आनन्दवर्धन ने इसका विवेचन तृतीय उद्योत में किया है। किन्तु कभी कभी कवि की कृति अच्छी होनेपर भी, रसिक ही कल्पना की दरिद्रता के कारण उसका आकलन नहीं कर पाता। तब उसका हृदयसंवाद ही नहीं होता। इस विघ्न का अपसरण हो इसी लिये कवि लोकसामान्य कथावस्तु पसंद करता है, क्योंकि कथावस्तु यदि लोकसामान्य रही तो साधारण पाठक का भी हृदयसंवाद होने में सहाय्यता

होती है तथा अंततः उसे भावप्रतीति होती है। किन्तु कवि जब अलोक-सामान्य वस्तु ग्रथित करना चाहता है तब वह लोकविदित पात्रों की योजना करता है। ऐतिहासिक तथा पौराणिक प्रसिद्ध व्यक्तियों के-जो कि अलोक-सामान्य चरित्र के लिये प्रसिद्ध होते हैं — द्वारा उदात्त भावों की अभिव्यक्ति करने से रसिक उसका आकलन सरलता से कर पाता है तथा उसे निर्विघ्न भावप्रतीति हो सकती है। इस दृष्टि से भरतकृत दशरूपविभाग अध्ययनयोग्य है।

२. **स्वपरगतदेशकालविशेषावेश** — यह रसिकगत विघ्न है। अनेक पाठक तथा दर्शक काव्य तथा नाटच में अपने ही व्यक्तिगत सुखदुःखों का आस्वाद करते हैं। ऐसे पाठकों के विकारों को जबतक सुखकर प्रवर्तन प्राप्त होता है तबतक वे काव्य में निमग्न हो जाते हैं, किन्तु व्यक्तिगत दृष्टि से अप्रिय अथवा दुखकर घटना वे देख या पढ़ नहीं सकते। हमें सुखकर प्रतीत होनेवाली घटना देरतक चलती रहे, शीघ्र समाप्त न हों, दुःखकर घटना शीघ्र ही समाप्त हो जाय, आदि वृत्त्यंतरों से उनकी रससंवित् मलिन हो गयी होती है। कोई सोचते हैं कि नाटचगत अथवा काव्यगत घटना हम ही को लक्ष्य कर के लिखी गई है। ऐसे पाठक तथा दर्शक रसास्वाद कर ही नहीं सकते, क्योंकि रसास्वाद के लिये आवश्यक साधारणीभवन की गहराई, इनका व्यक्तित्व विगलित न होने से इनमें आती ही नहीं। इस विघ्न के साथ, अभिनवगुप्त ने 'गोपनेच्छ' रसिकों का निर्देश किया है— जो उनकी मर्मज्ञता का परिचायक है। कोई पाठक छिप छिप कर पढ़ते हैं। वे चाहते है कि व्यक्तिगत विकारों का उद्रेक करनेवाला साहित्य पढ़ते हुए, कोई हमें देखें ना। इन पाठकों का काव्यास्वाद की ओर उतना ध्यान नहीं रहता जितना कि वे 'ऐसे साहित्य को पढ़ते हुए कोई हमें देखता तो नहीं' इस सोच में रहते हैं। नाटच में यह विघ्न न हो इसलिये भरतमुनि ने पूर्वरंग का विधान किया है। पूर्वरंग के प्रयोग से ऐसे दर्शक भी साधारणी भाव को प्राप्त कर सकते हैं एवम् उनकी अवस्था रसास्वाद के लिये योग्य हो सकती है।

३. **निजसुखादि विवशीभाव** — कभी कभी दर्शक अपने व्यक्तिगत सुखदुःख में ही निमग्न रहता है तथा इसी मनोदशा में नाटच देखने के लिये अथवा काव्य सुनने के लिये आ पहुँचता है। पहले ही से व्यग्र होने के कारण उसकी काव्यार्थ में संविद्विश्रान्ति नहीं होती तथा उसे रसास्वाद का लाभ भी नहीं होता। काव्य पढ़ते पढ़ते अथवा नाटक देखते देखते उसके मन में बारबार पहले की सुखदुःखादि मनोवृत्तियाँ जाग्रत हो उठती है। इस विघ्न के उपशम के लिये नाटच में विविध गान, मण्डपवैचित्र्य, विदग्ध गणिकाओं का नृत्य आदि की योजना की जाती है इन उपायों से अहृदय दर्शक में हृदयनैर्मल्य आता है और वह सहृदय बनता है।

४. प्रतीत्युपायवैकल्य — विभावानुभाव ही रसप्रतीति के उपाय हैं। विभावानुभावों की यदि ठीक संगति न हो, वे यदि विकल हो, अथवा उनका सर्वथा अभाव हो, तब रसास्वाद की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती।

५. स्फुटत्वाभाव — विभावानुभावों की प्रतीति स्फुट रूप में होनी चाहिये। यदि यह अस्फुट रही तब रसिक की संविद्विश्रान्ति नहीं होती। विभावादि का यह स्फुटत्व प्रत्यक्षकल्प होना अवश्य है। भट्टतौत के 'भावाः प्रत्यक्षवत् स्फुटाः' इस कथन में यही आशय है। वात्स्यायन भाष्य में भी कहा है—। 'सर्वा चेयं प्रतीतिः प्रत्यक्षपरा'। प्रतीत्युपायों का वैकल्य तथा अस्फुटता इन दोनों विघ्नों का निरास हो इसी लिये भरत का कथन है कि अभिनय को लोकधर्मी, वृत्ति तथा प्रवृत्ति का आधार चाहिये। इस आधार से विभावादि की विकलता नष्ट हो जाती है तथा अभिनयद्वारा काव्यार्थ में प्रत्यक्षकल्पता आती है इस लिये वह स्फुट रूप में प्रतीत होता है। यह दोनों दोष कविगत अथवा नटगत होते है।

६ अप्रधानता — काव्यगत प्रधान वस्तु छोड़कर अप्रधान वस्तु पर यदि बल दिया गया तो रसप्रतीति में विघ्न होता है। यह तो ठीक है कि, रसिक की वृत्ति गौण वस्तु पर ही एकाग्र रहेगी किन्तु गौणवस्तु की निरपेक्ष सत्ता नहीं होती तथा उसका पर्यवसान अन्ततः प्रधानवस्तु में ही होता है इसलिये गौणवस्तु की प्रतीति की निरपेक्ष स्थिरता नहीं रहेगी। अतएव काव्यनाटयगत स्थायी ही चर्वणा का विषय बनना चाहिये। ऐसा न हुआ तो काव्यनाटयगत प्रधानवस्तु एक ओर रह जायेगी और गौणवस्तु ही का प्रधान रूप में आविर्भाव होगा। यह बहुत बड़ा दोष है। यह दोष कथावस्तु की दृष्टि से कविगत हो सकता है, तथा अभिनय की दृष्टि से नटगत हो सकता है। इस दोष के निरास के लिये कवि को चाहिये कि स्थायी का ही ध्यान रखें, तथा उचितानुचित विवेक से रचना करे और नट को चाहिये कि अभिनय में तारतम्य का ध्यान रखें। इसीलिये तो है कि भरत ने स्थायिनिरूपण किया, फिर रसों का सामान्य लक्षण बताने के बाद भी 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः' इस प्रतिज्ञा से सामान्यशेष के रूप में रसविशेषों के लक्षणों का विधान किया।

७. संशययोग — विभावानुभावादि के द्वारा स्थायी अभिव्यक्त होता है। किन्तु यह तो निश्चय नहीं है कि अमुक स्थायी के अमुक ही विभाव हैं, अमुक ही अनुभाव हैं अथवा अमुक ही संचारी भाव हैं। व्याघ्र जैसे भय का विभाव होगा वैसे ही क्रोध का भी विभाव हो सकता है। बाष्प जैसे शोक के अनुभाव होंगे, हर्ष के भी अनुभाव होंगे। तथा चिंता और दैन्य जिस प्रकार शोक के संचारी भाव हैं, वैसे ही वे विप्रलंभ के भी संचारी भाव हो सकते हैं। उन्हें पृथक् रूप में

देखा तो ये किस स्थायी के द्योतक हैं इस विषय में संदेह उत्पन्न होगा एवं रसास्वाद में विघ्न होगा। किन्तु ये तीनों यदि उचित रूप में एकत्रित किये गये तो निश्चय ही स्थायी का प्रत्यय होगा और वह रसास्वाद का विषय हो सकेगा। उदाहरण के लिये, बंधुनाश रूप विभाव, अश्रुपात रूप अनुभाव, एवं चिन्ता तथा दैन्य रूप व्यभिचारीभाव यदि एकत्र हुए हैं तब इनकी सामग्री से निश्चय ही शोक ही की प्रतीति होगी। अतएव भरत ने विभावानुभावव्यभिचारी का **संयोग** बताया है।

रसप्रतीति :— उपर्युक्त सात विघ्नों का निरास होने पर ही अर्थात् इनके अभाव में ही रसास्वाद हो सकता है। अन्यथा उसमें खंड हो जाता है। काव्यनाटच में विभावादि उचित रूप में आये हो तभी वे रसिक के हृदय में विघ्नापसारण-पूर्वक रसनाव्यापार की निष्पत्ति कर सकते है और तभी रसिक को निर्विघ्न रस-प्रतीति होती है। यह प्रतीति कैसे होती है, अभिनवगुप्त के मूल वचन ही देखिये—

"तत्र लोकव्यवहारे [illegible] वृत्त्यनुमानाभ्यासपाटवात् अधुना तैरेव [illegible] लौकिकीं कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तैः विभावन– अनुभावन– समुपरंजकत्वमात्रप्राणैः, अतएव अलौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भिः प्राच्यकारणादिरूपसंस्कारोपजीवनाख्यापनाय विभावादिनानानामधेयव्यपदेश्यैः [illegible] सामाजिकधियि सम्यक् योगं (संयोगं) संबन्धम् ऐकाग्र्यं वा आसादितवद्भिः, अलौकिकनिर्विघ्नसंवेदनात्मक-चर्वणागोचरतां नीतोऽर्थः, चर्व्यमाणतैकसारः न तु सिद्धस्वभावः, तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी, स्थायिविलक्षण एव रसः।"

लोकव्यवहार में व्यक्ति कारण, कार्य तथा अन्य सहचर अर्थ देखता है। तब इन चिह्नों (लिंगों) पर से वह अपने तथा दूसरों के भी स्थायी चित्तवृत्तियों का अनुमान करता है। इस प्रकार नित्य अनुमान के अभ्यास के कारण उसे पटुत्व प्राप्त हो जाता है। यह है लोकव्यवहार।

काव्य पढ़ते हुए अथवा नाटच देखते हुए, वे ही प्रमदा-उद्यान आदि कारण, वे ही कटाक्षादि कार्य, तथा वे ही धैर्यादि अर्थ रसिक प्रत्यक्षवत् देखता है। काव्य-पठन के समय वे ही लौकिक अर्थ इस प्रकार हमारे समक्ष उपस्थित होते तो हैं किन्तु अब इनका कार्य लौकिक कारणादि से भिन्न रहता है। अतएव इनकी लौकिक कारणादित्व की भूमिका भी नहीं रहती। काव्य में इनका कार्य क्रमशः विभावन, अनुभावन तथा समुपरंजन ही है अतएव इन कार्यों का बोध करा देनेवाले क्रमशः विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव की अलौकिक किन्तु अन्वर्थक संज्ञाओं से

इनका निर्देश किया जाता है। यह तो ठीक है कि लौकिक व्यवहार में व्यक्ति को लौकिक कारणत्वादि की प्रतीति होती है और इन प्रतीति के जो संस्कार उनके मन में स्थिर हुए रहते हैं वे संस्कार ही वस्तुतः विभावादि का उपजीवन अर्थात् आश्रय होते है। किन्तु लौकिक जीवन में जब ये संस्कार उद्बुद्ध होते हैं तब इनका होनेवाला कार्य तथा काव्यपठन के समय इनके उद्बोध से होनेवाला कार्य—दोनों में भेद है। यह इनका भेदक धर्म जो कि काव्यपठन के समय अनुभव किया जाता है। हमें हृदयंगम हो (आख्यापन) इसी लिये इन्हें काव्यमीमांसा में विभावादि, पृथक् अलौकिक संज्ञाओं से निर्दिष्ट किया जाता है; लौकिक कारणादि संज्ञाओं से कभी इनका निर्देश नहीं किया जाता (इसका विशेष विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा)।

काव्य पढ़ते हुए अथवा नाटच देखते हुए, इन अलौकिक विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों का, गुणप्रधान तारतम्य से, औचित्यपूर्ण योग (सम्यक् योग = संयोग) रसिक की बुद्धि में सहसा प्रकाशित होता है; उनका परस्पर औचित्यपूर्ण संबन्ध उसकी अनुमानपटुता के कारण उसे सहसा (उनके क्रम का कोई ध्यान न रहते हुए ही) प्रतीत होता है; इनकी रसिक की प्रतीति में एकाग्रता होती है। ये अलौकिक विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव-जो कि रसिक की प्रतीति में एकाग्र हो गये है—जिस एक अलौकिक अर्थ को रसिक की अलौकिक तथा निर्विघ्न संवेदना का विषय बनाते है वह अर्थ है रस। यह अर्थ जो कि रसिक की निर्विघ्न चर्वणा का विषय बनता है—चर्वणारूप ही रहता है। चर्व्यमाणता अर्थात् आस्वाद्यता ही इसका सारभूत धर्म होता है। रसिक को प्रतीत होनेवाला यह काव्यार्थ पूर्वसिद्ध नहीं होता यह तात्कालिक ही होता है तथा चर्वण काल से अधिक काल-तक रहता भी नहीं। रसिकगत चर्वणाव्यापार के साथ ही यह उपस्थित होता है, चर्वणाकाल तक ही रहता है तथा चर्वणा के साथ ही समाप्त हो जाता है। रस इस प्रकार चर्वणारूप है, अतएव स्थायी से वह विलक्षण है अर्थात् भिन्न रूप का है जैसा कि अन्य विद्वान् इसे स्थायी मानते है, यह स्थायी नहीं है।

श्रीशंकुक आदि का कथन है कि विभावादि पर से अनुमित स्थायी ही रसना व्यापार का विषय होता है, इसलिये यह अनुमित स्थायी ही रस है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है। स्थायी को ही यदि रसत्व प्राप्त होता हो तब लौकिक व्यवहार में भी स्थायी को रसत्व क्यों न प्राप्त हो? शंकुक आदि के मत में यदि (नटगत) स्थायी को—जिसकी परमार्थतः कोई सत्तां नही है—रसत्व प्राप्त हो सकता है, तब लौकिक स्थायी—जिसकी वस्तुरूप में सत्ता है—रसनीय होने में क्या आपत्ति है? इसलिये विभावादि से स्थायी की प्रतीति होना अनुमान मात्र है, रस नहीं है।

अतएव भरत ने भी रससूत्र में स्थायी का निर्देश नहीं किया, किंबहुना यदि उन्होंने इसका निर्देश किया होता तो वह शल्यरूपही हो जाता। " स्थायी रसीभूतः " यह कथन तो उपचार मात्र है। और इस उपचार के लिये निमित्त यही है कि उस स्थायी के कारण तथा कार्य के रूप में जो अर्थ लौकिक व्यवहार में हमें ज्ञात रहते हैं, तत्संवादी अर्थों का—वे काव्य में विभावन-अनुभावनद्वारा चर्वणा के उपयोगी होते हैं इसलिये विभावादि रूप में आश्रय किया जाता है।

अभिनवगुप्त ने इसीका विवेचन ' ध्वन्यालोकलोचन ' में भी किया है। वह संक्षेप में इस प्रकार है—काव्यपठन के समय परगत स्थायी से संबन्धित होने के नाते वर्णित विभावादि की साधारण्य से प्रतीति होते ही, इन विभावादि के लिये उचित, रसिक के हृदयगत वासनारूप संस्कारों का उद्बोध हो कर आनन्दमय चर्वणा का उदय होता है। रसचर्वणा के लिये रसिक का हृदयसंवाद होना आवश्यक है। परकीय चित्तवृत्ति का ज्ञान न हो तो यह हृदयसंवाद नहीं हो सकता; तथा परकीय चित्तवृत्ति के कारण और कार्य ज्ञात न हो तो परकीय चित्तवृत्ति का ज्ञान नहीं हो सकता। इसी कारण से केवल उपचार के " स्थायी रसीभूतः " ऐसा कहा जाता है। अतः, स्मृति, अनुभव अथवा लौकिक संवेदना से अलौकिक रसास्वाद सर्वथा भिन्न है।

सहृदय जिसके कि हृदय पर लौकिक अनुमान के संस्कार हुए हैं—काव्य-पठन में जब निमग्न हो जाता है तब काव्यगत प्रमदा, उद्यान, कटाक्ष आदि अर्थ उसे प्रतीत होते हैं। किन्तु तब, पाठक की भूमिका लौकिक अनुमाता के समान तटस्थता की नहीं रहती। सहृदय की भूमिका पर आरूढ हो कर वह उनका ग्रहण करता है। हृदयसंवाद की शक्ति ही सहृदयत्व है। हृदयसंवाद के बलपर उसका तन्मयीभवन होता है और तदुचित चर्वणाव्यापारद्वारा वह उनका तत्समकाल तथा अखंडरूप में ग्रहण करता है। अनुमान, स्मृति आदि क्रम से वह जाता ही नहीं। तन्मयीभवन के लिये उचित विभावादि की चर्वणा ही पूर्ण रूप में अनुभाव होने-वाले रसास्वाद का अंकुर है। यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि रसास्वाद में परिणत होनेवाली यह चर्वणा पूर्वसिद्ध होती है। इसकी पूर्वसिद्धि का कोई प्रमाण नहीं है। पूर्वसिद्ध न होने से इसकी स्मृति भी असंभव है; क्योंकि पूर्वसिद्ध वस्तु की ही स्मृति हो सकती है। रसचर्वणा लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों का भी विषय नहीं हो सकती। यह चर्वणा केवल अलौकिक विभावादि के संयोग के बलपर ही निष्पन्न हो सकती है, अन्य किसीका यह विषय नहीं बनती। अतएव यह अलौकिक है।

प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान आदि प्रमाणों से भी व्यवहार में रति आदि

का बोध होता है। किन्तु रत्यादि की इस लौकिक प्रतीति से यह रत्यादि चर्वणारूप प्रतीति सर्वथा भिन्न है। योगज प्रत्यक्ष से भी इस चर्वणाप्रतीति का रूप भिन्न है। मित योगी को परकीय चित्तवृत्ति का केवल तटस्थता से ज्ञान होता है, तथा सब प्रकार की विषयवासनाओं से विनिर्मुक्त पक्व योगी का आनन्दानुभव स्वात्मैकगत मात्र होता है। अतएव रसचर्वणा इनसे भी भिन्न होती है। लौकिक प्रमाणों से होनेवाली रत्यादि की प्रतीति, ज्ञातृगत आसक्ति, तिरस्कार आदि भावनाओं से मलिन रहती है; अपक्व योगी के प्रत्यक्ष में तटस्थता होने के कारण उसकी प्रतीति में स्फुटत्वाभाव रहता है, तथा पक्व योगी के एकघनानुभव में विषयावेश के कारण प्राप्त विवशता रहती है। इस प्रकार उपर्युक्त तीनों प्रकार की प्रतीति में रसिकगत किसी न किसी रसविघ्न की उपस्थिति होने से, रसास्वाद का सौंदर्य नहीं रह सकता। इसके विपरीत, चर्वणाप्रतीति में पक्वयोगी की प्रतीति के समान स्वात्मैकगतता न होने से विषयावेशविवशता नहीं रहती; रसिक का आत्मानुप्रवेश होता है इसलिये मितयोगी के समान तटस्थता नहीं रहती; अतएव ताटस्थ्य से प्राप्त अस्फुटता भी नहीं रहती; और चूंकि रसिक अपने ही वासनासंस्कारों का— जो कि विभावादि के साधारण्य से व्यक्त होते हैं तथा इसके लिये उचित होते हैं—आस्वाद करता है, अर्जनादि लौकिक विघ्नों की भी चर्वणाप्रतीति में संभावना नहीं रहती। इस प्रकार चर्वणाप्रतीति निर्विघ्न होनेसे इसमें सौंदर्य अर्थात् चमत्कार अनुस्यूत रहता है।

विभावादि रस के उत्पत्तिहेतु (कारक हेतु) नहीं है। इन्हें यदि कारकहेतु माना गया, तो कारणरूप विभावों की उपस्थिति न होने पर भी कार्यरूप रस का अवस्थान होना ही चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता। विभावादि जब तक दृष्टि-गत होते हैं तबतक ही रसचर्वणा रहती है और इनके साथ ही वह नष्ट हो जाती है। विभावादि रस के ज्ञापक हेतु भी नहीं है। इन्हें यदि ज्ञापक हेतु माना गया, तो इनका लौकिक प्रमाणों में अन्तर्भाव होगा, तथा रस भी प्रमेयरूप समझा जायगा एवम् उसे सिद्धरूप मानना पड़ेगा। किन्तु सिद्धरूप प्रमेयभूत कोई रस ही नहीं है। फिर ये विभावादि क्या हैं? इस पर उत्तर यही है कि ये बिभावादि ही हैं। रस विभावादि का कार्य नहीं है अथवा विभावादि का प्रमेय भी नहीं है। वह तो एक चर्वणागोचर अर्थ है जो विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त होता है। वह एक अलौकिक व्यवहार है जो चर्वणा के लिये उपयोगी होता है। इस पर यदि कोई कहता है कि यह व्यवहार — जो कि कारक तथा ज्ञापक से पृथक् है— लौकिक जीवन में तो कहीं नहीं दिखायी देता; तब हमें यह स्वीकार है। हमारा कहना है कि रसप्रतीति एक अलौकिक व्यवहार है, और आपके कथन से

अतएव भरत ने भी रससूत्र में स्थायी का निर्देश नहीं किया, किंबहुना यदि उन्होंने इसका निर्देश किया होता तो वह शल्यरूपही हो जाता। " स्थायी रसीभूतः " यह कथन तो उपचार मात्र है। और इस उपचार के लिये निमित्त यही है कि उस स्थायी के कारण तथा कार्य के रूप में जो अर्थ लौकिक व्यवहार में हमें ज्ञात रहते हैं, तत्संवादी अर्थों का—वे काव्य में विभावन-अनुभावनद्वारा चर्वणा के उपयोगी होते हैं इसलिये विभावादि रूप में आश्रय किया जाता है।

अभिनवगुप्त ने इसीका विवेचन 'ध्वन्यालोकलोचन' में भी किया है। वह संक्षेप में इस प्रकार है—काव्यपठन के समय परगत स्थायी से संबन्धित होने के नाते वर्णित विभावादि की साधारण्य से प्रतीति होते ही, इन विभावादि के लिये उचित, रसिक के हृदयगत वासनारूप संस्कारों का उद्बोध हो कर आनन्दमय चर्वणा का उदय होता है। रसचर्वणा के लिये रसिक का हृदयसंवाद होना आवश्यक है। परकीय चित्तवृत्ति का ज्ञान न हो तो यह हृदयसंवाद नहीं हो सकता; तथा परकीय चित्तवृत्ति के कारण और कार्य ज्ञात न हो तो परकीय चित्तवृत्ति का ज्ञान नहीं हो सकता। इसी कारण से केवल उपचार के " स्थायी रसीभूतः " ऐसा कहा जाता है। अतः, स्मृति, अनुभव अथवा लौकिक संवेदना से अलौकिक रसास्वाद सर्वथा भिन्न है।

सहृदय जिसके कि हृदय पर लौकिक अनुमान के संस्कार हुए हैं—काव्य-पठन में जब निमग्न हो जाता है तब काव्यगत प्रमदा, उद्यान, कटाक्ष आदि अर्थ उसे प्रतीत होते हैं। किन्तु तब, पाठक की भूमिका लौकिक अनुमाता के समान तटस्थता की नहीं रहती। सहृदय की भूमिका पर आरूढ हो कर वह उनका ग्रहण करता है। हृदयसंवाद की शक्ति ही सहृदयत्व है। हृदयसंवाद के बलपर उसका तन्मयीभवन होता है और तदुचित चर्वणाव्यापारद्वारा वह उनका तत्समकाल तथा अखंडरूप में ग्रहण करता है। अनुमान, स्मृति आदि क्रम से वह जाता ही नहीं। तन्मयीभवन के लिये उचित विभावादि की चर्वणा ही पूर्ण रूप में अनुभाव होने-वाले रसास्वाद का अंकुर है। यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि रसास्वाद में परिणत होनेवाली यह चर्वणा पूर्वसिद्ध होती है। इसकी पूर्वसिद्धि का कोई प्रमाण नहीं है। पूर्वसिद्ध न होने से इसकी स्मृति भी असंभव है; क्योंकि पूर्वसिद्ध वस्तु की ही स्मृति हो सकती है। रसचर्वणा लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों का भी विषय नहीं हो सकती। यह चर्वणा केवल अलौकिक विभावादि के संयोग के बलपर ही निष्पन्न हो सकती है, अन्य किसीका यह विषय नहीं बनती। अतएव यह अलौकिक है।

प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान आदि प्रमाणों से भी व्यवहार में रति आदि

का बोध होता है। किन्तु रत्यादि की इस लौकिक प्रतीति से यह रत्यादि चर्वणारूप प्रतीति सर्वथा भिन्न है। योगज प्रत्यक्ष से भी इस चर्वणाप्रतीति का रूप भिन्न है। मित योगी को परकीय चित्तवृत्ति का केवल तटस्थता से ज्ञान होता है, तथा सब प्रकार की विषयवासनाओं से विनिर्मुक्त पक्व योगी का आनन्दानुभव स्वात्मैकगत मात्र होता है। अतएव रसचर्वणा इनसे भी भिन्न होती है। लौकिक प्रमाणों से होनेवाली रत्यादि की प्रतीति, ज्ञातृगत आसक्ति, तिरस्कार आदि भावनाओं से मलिन रहती है; अपक्व योगी के प्रत्यक्ष में तटस्थता होने के कारण उसकी प्रतीति में स्फुटत्वाभाव रहता है, तथा पक्व योगी के एकघनानुभव में विषयावेश के कारण प्राप्त विवशता रहती है। इस प्रकार उपर्युक्त तीनों प्रकार की प्रतीति में रसिकगत किसी न किसी रसविघ्न की उपस्थिति होने से, रसास्वाद का सौंदर्य नहीं रह सकता। इसके विपरीत, चर्वणाप्रतीति में पक्वयोगी की प्रतीति के समान स्वात्मैकगतता न होने से विषयावेशविवशता नहीं रहती; रसिक का आत्मानुप्रवेश होता है इसलिये मितयोगी के समान तटस्थता नहीं रहती; अतएव ताटस्थ्य से प्राप्त अस्फुटता भी नहीं रहती; और चूँकि रसिक अपने ही वासनासंस्कारों का—जो कि विभावादि के साधारण्य से व्यक्त होते हैं तथा इसके लिये उचित होते हैं—आस्वाद करता है, अर्जनादि लौकिक विघ्नों की भी चर्वणाप्रतीति में संभावना नहीं रहती। इस प्रकार चर्वणाप्रतीति निर्विघ्न होनेसे इसमें सौंदर्य अर्थात् चमत्कार अनुस्यूत रहता है।

विभावादि रस के उत्पत्तिहेतु (कारक हेतु) नहीं है। इन्हें यदि कारकहेतु माना गया, तो कारणरूप विभावों की उपस्थिति न होने पर भी कार्यरूप रस का अवस्थान होना ही चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता। विभावादि जब तक दृष्टिगत होते हैं तबतक ही रसचर्वणा रहती है और इनके साथ ही यह नष्ट हो जाती है। विभावादि रस के ज्ञापक हेतु भी नहीं है। इन्हें यदि ज्ञापक हेतु माना गया, तो इनका लौकिक प्रमाणों में अन्तर्भाव होगा, तथा रस भी प्रमेयरूप समझा जायगा एवम् उसे सिद्धरूप मानना पड़ेगा। किन्तु सिद्धरूप प्रमेयभूत कोई रस ही नहीं है। फिर ये विभावादि क्या हैं? इस पर उत्तर यही है कि ये विभावादि ही हैं। रस विभावादि का कार्य नहीं है अथवा विभावादि का प्रमेय भी नहीं है। वह तो एक चर्वणागोचर अर्थ है जो विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त होता है। वह एक अलौकिक व्यवहार है जो चर्वणा के लिये उपयोगी होता है। इस पर यदि कोई कहता है कि यह व्यवहार – जो कि कारक तथा ज्ञापक से पृथक् है— लौकिक जीवन में तो कहीं नहीं दिखायी देता; तब हमें यह स्वीकार है। हमारा कहना है कि रसप्रतीति एक अलौकिक व्यवहार है, और आपके कथन से

यही सिद्ध होता है इस लिये आपके इस कथन को हम भूषण ही समझते हैं, न कि दूषण। अभिनवगुप्त ने इस प्रसंग में **पानकरस** का सर्वप्रसिद्ध दृष्टान्त दिया है।

रस यदि किसी प्रमाण का विषय नहीं होता तब क्या वह अप्रमेय है? यदि कोई ऐसी आपत्ति उठाता है तब अभिनवगुप्त इसका समाधान करते हैं कि यह तो वस्तुस्थिति ही है। रम्यता सौन्दर्य अथवा आनन्द ही रस का प्राण है; लौकिक प्रमाणों का विषय होना यह तो इसका धर्म नहीं है।

फिर मुनि ने रससूत्र में 'निष्पत्ति' शब्द का प्रयोग क्यों कर किया है? अभिवनगुप्त का इस पर कथन है कि **यह निष्पत्ति रस की नहीं है अपितु रस-विषयक रसना की निष्पत्ति है**। विभावानुभावव्यभिचारियों के संयोग से रसिक के हृदय में रसना की अर्थात् चर्वणा की निष्पत्ति होती है। यह चर्वणा ही रस का प्राण है। विभावादि के संयोग से चर्वणा निष्पन्न होती है इस बात पर ध्यान देते हुए, यदि आप उपचार से कहना चाहते हैं कि रस की भी— जो कि चर्वणा का विषय बनता है तथा चर्वणा ही के अधीन रहता है— निष्पत्ति होती है— तब आप ऐसा कह सकते हैं। रसना अर्थात् चर्वणा प्रमाणव्यापार नहीं है अथवा कारक व्यापार भी नहीं है; किन्तु इसीसे इसे अप्रमाण समझना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह स्वसंवेदनसिद्ध अर्थात् स्वानुभवसिद्ध है। यह रसना अर्थात् चर्वणा बोधरूप अर्थात् प्रतीतिरूप ही है; किन्तु यह लौकिक प्रतीति नहीं है, लौकिक प्रतीति से यह सर्वथा भिन्न है तथा इस भिन्नता का कारण यह है कि इस रसनारूप बोध अर्थात् प्रतीति के जो उपाय हैं– विभावादि – वे ही मूलतः लोकविलक्षण अथवा अलौकिक होते हैं। अतएव मुनि के रससूत्र की स्वरसता है—"अलौकिक विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के सम्यक् योग से रसना अर्थात् चर्वणारूप प्रतीति निष्पन्न होती है, इस प्रकार की अर्थात् विभावादिसंयोगनिष्पन्न रसना को गोचर होनेवाला लोकोत्तर अर्थात् अलौकिक अर्थ ही रस है।"

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन का संक्षेप इस प्रकार है— हम नाटक देखते हैं तब नट के उचित वेषादि के कारण हमारी नट के संबन्ध में नटत्वबुद्धि आच्छादित होती है। यद्यपि वह राम, सीता आदि नाम लेकर रंगमंच पर खड़ा है तथापि हमारी उसके संबन्ध में रामत्वबुद्धि भी स्थिर नहीं हो पाती। रामादि के संबन्ध हमारे जो पूर्व काल के गहरे संस्कार रूढ़मूल हुए रहते है वे सामने खड़े नट को राम समझने के लिये हमारे मन की प्रवृत्ति नहीं होने देते। अतएव पूर्व काल के राम तथा वर्तमान नट – दोनों से संबद्ध देशकाल का तत्क्षण निरास हो जाता है। रोमांचादि का आविर्भाव रत्यादि की प्रतीति करा देता है यह लौकिक व्यवहार का अनुभव तो हमारे नित्य परिचय का रहता ही है। इस लिये नाटक में जब हम

रोमांचादि का आविर्भाव देखते हैं तब उससे हमें नाटक में भी तत्काल रत्यादि का बोध होता है । किन्तु इस बोध का एक विशेष यह है कि यहाँ की रत्यादि के अलंबन ही देशकालव्यक्ति आदि से सीमित न होने के कारण ये प्रतीत होनेवाले रत्यादि भी देशकालव्यक्ति आदि से सीमित नहीं रहते । वे साधारणीभूत अवस्था में ही प्रतीत होते हैं । हमारी आत्मा पर भी रत्यादि वासनाओं के संस्कार पहले ही से हुए रहते हैं। इस वासनावत्त्व के बलपर हमारी आत्मा का भी उन साधारणीभूत रत्यादि में अनुप्रवेश होता है। इस अनुप्रवेश ही के कारण, हमें तत्काल होनेवाली रति की प्रतीति तटस्थता से नहीं होती। उस समय हमारी यह भावना नहीं रहती कि हमें प्रतीत होनेवाली रति व्यक्तिगत विशेष कारणों का फल है, अतएव ममत्वपूर्वक होनेवाली अर्जनादि की कल्पना (अर्थात् ये कारण रहने चाहिये अथवा प्राप्त होने चाहिये आदि हमारी उनके विषय में आसक्ति) उस समय नहीं रहती, अथवा रत्यादि के ये उपाय दूसरों के अधीन हैं इस कल्पना से होनेवाला दुःख, द्वेष आदि का उदय भी हमारे हृदय में नहीं होता। इस प्रकार काव्यगत सभी अर्थों के संबन्ध में तथा हमारी प्रतीति के संबन्ध में भी, हमारें हृदय में जो स्वत्व–परत्व–मध्यस्थत्व आदि की सीमाएँ रहती हैं वे नष्ट हो जाती हैं एवं हमारे लौकिक परिमित प्रमातृत्व अर्थात् व्यक्तिगत सीमित ज्ञातृत्व का परिहार हो कर तत्क्षण हमें अपरिमित प्रमातृत्व प्राप्त होता है तथा हमारी प्रतीति को भी साधारणीभूत रूप प्राप्त होता है। इस प्रकार हमारा सीमित व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है एवं हमारी प्रतीति भी व्यापक बन जाती है । हमारी इस साधारणीभूत अर्थात् व्यापक, संतानवाही अर्थात् अखंड एवं एकघन रसनात्मक संविद् को गोचर होनेवाली साधारणीभूत रति ही शृंगार है; इस प्रकार की साधारणीभूत संतानवाही एकघन संविद् को गोचर होनेवाला साधारणीभूत उत्साह अथवा शोक ही वीर अथवा करुण है।

रसिकगत प्रतीति में अथवा इस प्रतीति को गोचर होनेवाली रति आदि में जब तक साधारणीभाव नहीं आता तबतक रसास्वाद संभव ही नहीं होता। और विभावादि ही एकमात्र उपाय है जिससे कि इन दोनों में यह साधारणीभाव आ सकता है। विभावादि ही सर्व प्रथम साधारण्य से प्रतीत होते है; तब रत्यादि भी साधारण्य से ही प्रतीत होते है। उपाय ही साधारणीभूत होने से पाठक की भी व्यक्तिगत सीमाएँ विगलित हो जाती हैं तथा उसकी प्रतीति में भी व्यापकता, अपरिमितता तथा साधारण्य आ जाता है। इस अवस्था में ही संतानवाही रसना-व्यापार अर्थात् चर्वणात्मक संविद् निष्पन्न होती है एवम् यह रसनात्मक संविद् ही आस्वादवैचित्र्य के कारण शृंगारादि रसरूप में अनुभव की जाती है।

यह है अभिनवगुप्त की रसविषयक उपपत्ति । प्राचीन साहित्य मीमांसकों का निर्णय है कि रससूत्र के आधार पर जिन चार आचार्यो ने रस का विवेचन किया है उनमें अभिनवगुप्त का ही विवेचन भरत के अभिप्राय के अनुकूल है। 'काव्य-प्रकाश' के प्रसिद्ध टीकाकार माणिक्यचन्द्र 'संकेत' नामक टीका में लिखते हैं--

न वेत्ति यस्य गांभीर्य गिरितुङ्गोऽपि लोल्लटः ।
तत् तस्य रसपाथोधेः कथं जानातु शङ्कुकः ।।
भोगे रत्यादिभावानां भोगं स्वस्योचितं ब्रुवन् ।
सर्वथा रससर्वस्वमभाङ्क्षीत् भट्टनायकः ।।
स्वादयन्तु रसं सर्वे यथाकामं कथंचन ।
सर्वस्वं तु रसस्यात्र गुप्तपादा हि जानते ।।

इसी उपपत्ति को मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, प्रभाकर, मधुसूदन, जगन्नाथ आदि उत्तरवर्ती ख्यातिप्राप्त साहित्यमीमांसकों ने माना है तथा इसका अपने न्थों में स्वीकार किया है। संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर रसमीमांसा करनेवाले आधुनिक अभ्यासक भी इसी उपपत्ति को स्वीकार्य समझते हैं। किन्तु अभिनवगुप्त की विवेचन की शैली से विशेष परिचय न रहने के कारण, आधुनिक अभ्यासक की धारणा होती है कि इसीसे सारी शंकाग्रंथियाँ खुली नहीं होती। जब तक इन शंकाओं का निरास नहीं होता तब तक रस तथा ध्वनि में अन्योन्य संबन्ध आकलन न होगा, एवं ध्वनि के विरोध में स्थित वाद भी ध्यान में नहीं आयेंगे। अत एव अगले अध्याय में हम रसविषयक कुछ प्रश्नों का विचार करेंगे।

● ● ●

अध्याय सोलहवाँ

रसविषयक कुछ प्रश्न

रसप्रक्रिया के संबंध में भिन्न भिन्न मत हमने गत अध्याय में देखे हैं। उनका समुच्चय से विचार करते हुए उनके विकास के क्रम का अध्ययन करने से पूर्व रस के संबन्ध में और कई बातों का विचार करना आवश्यक है।

लौकिक तथा अलौकिक

लोकव्यवहार में जिन बातों का हम अनुभव करते हैं उन्हींका काव्य में वर्णन रहता है। किन्तु दोनों में बहुत बड़ा भेद है। लोकव्यवहारगत अर्थों का स्वरूप लौकिक रहता है। किन्तु उन्ही अर्थों का जब काव्य में वर्णन किया जाता है तब उनका स्वरूप अलौकिक होता है। अर्थ तो समान ही है, किन्तु एक विश्व में वे लौकिक है तथा अन्य विश्व में अलौकिक बन जाते हैं इस कथन का तात्पर्य क्या है? इस बात को समझने के लिए हमें लौकिक तथा अलौकिक में क्या भेद है यह देखना चाहिये।

लौकिक का अर्थ है लोकप्रसिद्ध अर्थात् लोकविदित। लोकव्यवहार का स्वरूप तथा उसकी विशेषताएँ हमने अपने अनुभव के आधार पर निर्धारित की है। जब हम देखते है कि जिन बातों को हम अनुभव करते हैं वे इन विशेषों से युक्त हैं तब हम उन्हें लौकिक कहते है। लोकव्यवहार के मुख्य विशेष ये है —

(१) हमारा सम्पूर्ण जीवन एक व्यापार (activity) है। इस व्यापार के दो प्रकार है — प्रवृत्ति तथा निवृत्ति। इस प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप व्यापार में व्यक्ति का समूचा जीवन प्रकट होता है। लौकिक जीवन की प्रवृत्तिनिवृत्तियाँ नित्य व्यक्तिसंबद्ध रहती हैं। शास्त्रकारों का कथन है कि "व्यवहारगत 'अर्थक्रियाकारिता' व्यक्ति-

संबद्ध ही होती है। " व्यवहारगत ये व्यक्तिसंबन्ध तीन प्रकार के पाये जाते है। व्यावहारिक अर्थ हमसे संबद्ध हो सकते हैं अथवा अन्य से संबद्ध हो सकते है। 'अन्य' में शत्रु, मित्र तथा तटस्थ का समावेश होगा। इन भिन्न भिन्न व्यक्तियों के संबन्ध के अनुसार, उस अर्थ के संबन्ध में हमारी भिन्न भिन्न प्रवृत्तियाँ रहेगी। हमसे संबद्ध अर्थों के विषय में हमारा ममत्व रहेगा; मित्रों से ममत्व होने के कारण तत्संबद्ध अर्थों के विषय में भी ममत्व ही रहेगा; शत्रुसंबद्ध अर्थों के विषय में हमारे द्वेषादि रहेंगे; तथा तटस्थ संबद्ध अर्थो के विषय में हम उदासीन रहेंगे। सारांश, व्यवहारगत सभी अर्थ मत्संबद्ध, शत्रुसंबद्ध अथवा तटस्थसंबद्ध होते हैं तथा उनके अनुसार उनके विषय में हमारी हर्षद्वेषात्मक वृत्ति उदित होती है। इस प्रकार, लौकिक व्यवहार का पहला विशेष है अर्थो की व्यक्तिसंबद्धता एवम् उनके अनुकूल वृत्त्युदय।

काव्य में भी व्यक्ति के प्रवृत्तिनिवृत्तिमय व्यापार ही का वर्णन रहता है। काव्य पढ़ते समय हमें वह प्रतीत होता है। संभव है कि हमारे व्यवहार के अनुकूल इस काव्यगत व्यवहार को भी हम व्यक्तिसंबद्ध समझे। किन्तु इस प्रकार की कल्पना रसास्वाद में बाधक होती है। काव्य में वर्णित व्यवहार प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप ही रहता है, किन्तु इसका विशेष है कि यह व्यक्तिसंबद्ध नहीं रहता। [illegible] लौकिक व्यवहार का स्वरूप है, और व्यक्तिनिरपेक्षता काव्य में वर्णित व्यवहार का स्वरूप है। अतएव काव्यवर्णित व्यवहार लौकिकभिन्न अर्थात् अलौकिक है।

किन्तु यहाँ एक आशंका है। लौकिकगत सभी संबद्ध स्व-पर-तटस्थ रूप तीन प्रकारों के अन्तर्गत हैं। काव्यगत अर्थो की ओर इनमें से किसी भी संबन्ध की दृष्टि से न देखना हो अर्थात् यदि हम कल्पना करते हैं कि ये अर्थ किसीके नहीं हैं, तब इन पर अनस्तित्व की आपत्ति आयेगी। 'असंबन्धिनोऽसत्त्वम्' एक नियम है। इस नियम के अनुसार काव्यगत अर्थ असत् निर्धारित हुए, तो आकाशपुष्प की जैसे सुगंध नहीं हो सकती, वैसे ही असत् अर्थो का आस्वाद भी असंभव होगा। फिर रसास्वाद कहाँ? इस पर साहित्यशास्त्र का कथन है कि काव्यगत अर्थो को व्यक्तिसंबद्ध दृष्टि से न देखते हुए भी इनकी सत्ता सामान्यत्व से प्रतीत हो सकती है। काव्यगत अर्थो की सामान्य रूप में प्रतीति होना रसास्वाद के लिए नितान्त आवश्यक है। मम्मट का भी इसीसे अभिप्राय है जब वे कहते हैं—"ममैवैते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते इति संबन्ध विशेषस्वीकार-परिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतेः—" ये मेरे ही हैं अथवा मेरे नहीं हैं, ये शत्रु ही के हैं अथवा शत्रु के नहीं हैं, ये तटस्थ ही के हैं अथवा तटस्थ के नहीं हैं, इस प्रकार काव्यगत अर्थों में संबन्ध विशेष के स्वीकार अथवा परिहार की कल्पना भी नहीं रहती। अतएव इनकी प्रतीति भी साधारण्य से होती है।

काव्य पढ़ते समय अथवा नाट्य देखते समय तद्गत अर्थों के दर्शन से पाठक के अथवा दर्शक के वासनारूप संस्कार उद्‌बुद्ध होते है। ये संस्कार उसके हृदय में पहले ही से स्थिर हुए रहते है। उसके लौकिक जीवन में ही ये संस्कार स्थिर हुए रहते हैं, इस लिए लौकिक दृष्टि से ये संस्कार 'स्वगत' तथा 'स्वसंबद्ध' भी होते हैं। काव्यपठन से जब वे उद्‌बुद्ध होते है तब इन स्वसंबद्ध अवस्था में ही उनके उद्‌बुद्ध होने की संभावना रहती है। और रसास्वाद के समय अपेक्षित यह रहता है कि वे उद्‌बुद्ध तो हों किन्तु स्वसंबद्ध न रहे। यह अवस्था कैसे संभव है? व्यवहार में तो इन संबन्धों की स्वगतता एक क्षण के लिये भी विगलित नहीं होती। साहित्यशास्त्र का इस पर कथन है जिन उपायों से (विभावादि से) ये संस्कार उद्‌बुद्ध होते हैं उन उपायों के नियतसंबन्ध विगलित हो जाते हैं, तब इन संस्कारों का भी नियतसंबद्धत्व विगलित हो जाता है। पाठक के वासनात्मक संस्कारों का उद्बोधन काव्यगत अर्थो से होता है। पाठक को जबतक ये अर्थ सामान्यरूप में प्रतीत होते है अर्थात् उद्‌बोधन के इन उपायों की प्रतीति पाठक को जब तक सामान्य रूप में होती रहती है तब तक इन उद्‌बुद्ध संस्कारों का व्यक्तिसंबद्धत्व भी विगलित हुआ रहता है।

उद्‌बुद्ध संस्कार का विगलित होना ही पाठक की व्यक्तिगत सीमा का विगलित होना है। इस व्यक्तिगत सीमा के विगलित होने का अर्थ है उसे स्वत्व की विस्मृति होना। स्वत्व की विस्मृति होने का अर्थ है स्वत्व का विस्तार होना। मम्मट का कथन है कि रसास्वाद के समय पाठक का 'परिमित प्रमातृत्व' अर्थात् व्यक्तिसंबद्ध ज्ञातृत्व विगलित होता है एवम् उसमें 'अपरिमितभाव' आ जाता है। उद्‌बुद्ध होनेवाला संस्कार मूलतः 'नियतप्रमातृगत' होता है, किन्तु तब भी विभावादि के साधारणत्व के कारण उस प्रमाता का परिमितत्व नष्ट होता है, तथा उसमें अपरिमित भाव का उन्मेष होता है (नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपाय-बलात् विगलितपरिमितभावोन्मिषित......अपरिमितभावेन प्रमात्रा)। इस प्रकार रसास्वाद के समय रसिक का उद्‌बुद्ध संस्कार भी साधारणीभूत होता है एवम् उसका सीमित व्यक्तिभाव भी विगलित होता है। इस अवस्था का अनुभव लौकिक व्यवहार में नहीं किया जाता। सारांश, लौकिक अर्थो का ही काव्य में वर्णन रहने पर भी, काव्य में उनका लौकिक स्वरूप नहीं रहता, उन अर्थों के द्वारा उद्‌बुद्ध होने वाले संस्कारों का भी लौकिक स्वरूप नहीं रहता, तथा रसिक का सीमित व्यक्तिभाव भी नही रहता। काव्यगत अनुभव का यह स्वरूप लौकिक अनुभव से इस प्रकार भिन्न है, अतएव वह अलौकिक है।

(२) काव्यगत उपायों का स्वरूप भी लौकिक उपायों से भिन्न है। लौकिक

उपायों के संबन्ध में एक महत्त्वपूर्ण नियम यह है कि उनकी सहायता से कार्य सिद्ध होने पर कर्ता को उनकी कोई आवश्यकता नहीं रहती; अतएव वह उनका त्याग करता है। लौकिक उपायों के संबन्ध में कहा जाता है —

> उपादायापि ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते ।
> उपायानां हि नियमो नावश्यमवतिष्ठते ॥

यह नियम काव्यगत उपायों को लागू नहीं होता। रसास्वाद में काव्यगत शब्दार्थ बाह्य नहीं होते। [illegible] विभावादि रसास्वाद के उपाय तो हैं, किन्तु रसोत्पत्ति होते ही, लौकिक उपायों के समान, इन उपायों का महत्त्व नहीं घटता। लौकिक उपायों के समान इनका त्याग नहीं किया जा सकता। विभावादि नष्ट हुए तो रसास्वाद भी नष्ट ही हुआ। किंबहुना, रसास्वाद विभावादि का ही आस्वाद है। "व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः" इस वचन का यह अर्थ नहीं है कि विभावादि के द्वारा स्थायी अभिव्यक्त होता है तथा तदुपरान्त उस स्थायी की चर्वणा होती है। विभावादि-अभिव्यक्ति-विशिष्ट स्थायी ही चर्वणा का विषय बनता है। स्थायी के संबन्ध में अभिव्यक्ति की विशेषणता है इस बात को क्षणभर के लिये भी भुलाया नही जा सकता। रसास्वादकालीन प्रतीति समूहालंबनात्मक रहती है। विभावानुभावों की चर्वणा ही के द्वारा, हृदयसंवाद–तन्मयीभवनक्रम से स्थायी को आस्वाद्यता प्राप्त होती है ([illegible]चर्वणया हृदयसंवाद-तन्मयीभवनक्रमात् आस्वाद्यतां प्रतिपन्नः स्थायी–लोचन)। अतएव रस 'विभावादि-जीवितावधि' है अर्थात् जबतक विभावादि हैं तबतक ही रहता है, तथा वह 'चर्व्यमाणतैकप्राण' है अर्थात् विभावादि की चर्वणा ही उसका स्वरूप है। पूर्व बताया गया है कि काव्यगत उपाय रस के कारक उपाय अथवा ज्ञापक उपाय नहीं है। इस प्रकार उपायों की दृष्टि से भी काव्यगत उपाय तथा लौकिक उपायों में भेद है। अतएव काव्यगत उपाय अलौकिक है।

(३) रस की अलौकिकता का यह भी एक गमक है कि वह लौकिकप्रमाणों का विषय नहीं बनता। रस लौकिक प्रत्यक्ष का विषय नहीं है वह अनुमित नहीं होता, वह स्वशब्दवाच्य नहीं है, वह स्मृति के अन्तर्गत नहीं है। वह केवल अनुभवैक-गम्य है, उसकी सत्ता होने पर भी वह लौकिकप्रमाणगम्य नहीं है, अत एवरस अलौकिक है।

(४) लौकिक व्यवहार तथा काव्यगत व्यवहार में स्वरूपगत, उपायगत तथा प्रमाणगत भेद किस प्रकार होता है यह ऊपर बताया गया है। किन्तु इनसे अन्य दृष्टियों से भी इनमें भेद है। पूर्व बताया गया है कि शब्द का संकेत जात्यादिरूप

होता है। जाति तथा व्यक्ति में अविनाभाव होने से जातिद्वारा व्यक्ति आक्षिप्त होता है । इसे मीमांसकों के मत के अनुसार लक्षणारूप माना जाय अथवा वैयाकरणों के मत के अनुसार अनुमान रूप माना जाय, किसी प्रकार का मानने पर भी, जाति को लौकिक व्यवहार में प्रकट होना है, तो व्यक्ति के माध्यम द्वारा ही प्रकट होना चाहिये। लौकिक व्यवहार भेदप्रधान होता है अतएव वहाँ व्यक्तिभाव को प्राधान्य तथा जातिभाव को गौणत्व रहना है। किन्तु काव्य में व्यक्तिभाव का कोई प्राधान्य नहीं रहता । काव्यनाट्य आदि में राम एक व्यक्ति न हो कर एक अवस्था का प्रतिपादक होता है (धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः) । अतएव कालिदासद्वारा 'कुमारसंभव' में वर्णित शिवपार्वती का प्रणय, पुरातन काल में किये गये शिवपार्वती के विहार का रिपोर्ट अथवा इतिहास नहीं है । वह सामान्यत्व से प्रतीत होने वाला प्रणयी युगुल का व्यवहार है। अभिनवगुप्त का कथन है कि, 'काव्यादि में, केवल वाच्य अवस्था में रामादि का वृत्तान्त ही दिखायी देता है तथा आपाततः वह विशिष्ट देशकालादि से सीमित भी माना जा सकता है, किन्तु परमार्थतः वहाँ व्यक्तिसंबद्ध व्यवहार अपेक्षित ही नहीं रहता। काव्य में इस व्यवहार को साधारणीभाव ही प्राप्त होता है। अतएव काव्यगत व्यवहारप्रतीति रसिक में भी व्याप्त हो जाती है।' जाति का प्रकटीकरण व्यक्ति द्वारा न हुआ तो लौकिक व्यवहार संपन्न नहीं होता तथा व्यक्ति द्वारा जाति की अर्थात् सामान्य की प्रतीति न हुई तो काव्यव्यवहार संपन्न नहीं होता । इस प्रकार लौकिक व्यवहार तथा काव्यगत व्यवहार में विवक्षाभेद होने के कारण, काव्यव्यापार अलौकिक है।

(५) काव्यार्थ अर्थात् रस अलौकिक है इस कथन में और भी एक अभिप्राय है। वह यह कि रस कभी वाच्य नहीं हो सकता । लौकिक अर्थ वह है जो वाच्य हो सकता है। रस स्वप्न में भी वाच्य नहीं हो सकता । अतएव वह अलौकिक अर्थ है । इसको व्यंजना के विवेचन में स्पष्ट किया है ही।

(६) ऊपर बताया जा चुका है कि यद्यपि काव्य में आपाततः व्यक्तिगत व्यवहार दिखाई देता है, तथापि रसिक को उसकी प्रतीति सामान्यत्व से ही होनी चाहिये। यहाँ एक आशंका हो सकती है । नाट्यगत प्रसंग हम प्रत्यक्ष रूप में देखते हैं। काव्यगत अर्थ भी हम 'प्रत्यक्षवत् स्फुट' रूप में देखते हैं। तब तो काव्यार्थ प्रत्यक्ष ही का विषय हुआ न ? इस प्रत्यक्ष में भी विषयेन्द्रियसंयोग रहता ही है तथा विषयेन्द्रियसंयोग लौकिक प्रत्यक्ष का ही विषय है । तब तो यह भी 'लौकिक प्रत्यक्ष' ही हुआ । काव्यार्थ इस प्रकार यदि लौकिक प्रत्यक्ष ही का विषय हुआ तब उसे अलौकिक कैसे माना जाय ? इस आशंका का समाधान इस प्रकार है —- रंगमंच पर हम जिन अर्थों को देखते हैं वे काव्यर्थ के उपाय हैं न कि काव्यार्थ।

इन उपायों से हमें काव्यार्थ प्रतीत होता है । हम देखते हैं विभावानुभाव, न कि रस । हम जिन्हें देखते है वे राम, सीता आदि विभाव हैं, उद्यान चन्द्रोदय आदि भी विभाव ही हैं; कटाक्ष, आलिंगन आदि अनुभाव हैं । इस विभाव अनुभाव आदि को ही हम प्रत्यक्ष रूप में देखते हैं । किन्तु इनसे हमें जो आस्वादमय प्रतीति होती है वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं होती, वह तो अनुभवैकगम्य ही रहती है । इसके अतिरिक्त, ये विभावानुभाव यद्यपि व्यक्तिगतरूप में दिखायी देते हैं, एवं विषयेन्द्रियसंयोग के कारण यद्यपि वे लौकिक प्रत्यक्ष का विषय बनते हैं तथापि इस लौकिक अवस्था में वे आस्वाद्य नहीं होते । इस लौकिक प्रत्यक्ष के समकाल ही 'जातिलक्षण-प्रत्यासत्ति' के द्वारा हमें उनकी सामान्यत्व से प्रतीति होती है । इसी अवस्था में वे आस्वाद्य होते है । 'जातिलक्षणप्रत्यासत्ति' द्वारा होने वाले इस प्रत्यक्ष ज्ञान ही को न्यायशास्त्र में 'अलौकिक प्रत्यक्ष' की संज्ञा है । तब विभावादि के साधारण्य से होनेवाला ग्रहण भी 'अलौकिक प्रत्यक्ष' ही है, इतनाही नहीं, कवि अपनी वक्रोक्ति द्वारा अथवा अलंकृत वाणी द्वारा जिन अर्थो को प्रस्तुत करता है वे भी उसे 'ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति' से ही प्राप्त रहते हैं, अतएव कवि का अभिधान भी 'अलौकिक प्रत्यक्ष' ही का विधान रहता है [१], अतएव यद्यपि काव्यगत विभावानुभाव अलौकिक प्रत्यक्ष का विषय बनते हैं तथापि वे लौकिक प्रत्यक्ष का विषय नही बनते, अपितु परामार्थतः अलौकिक प्रत्यक्ष ही का विषय बनते हैं । अलौकिक प्रत्यक्ष का विषय न हुए तो उन्हें विभावत्व ही प्राप्त नहीं हो सकता ।

---

१. न्यायशास्त्र के अनुसार प्रत्यक्ष के दो भेद हैं— लौकिक प्रत्यक्ष तथा अलौकिक प्रत्यक्ष। इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से होनेवाला प्रत्यक्ष लौकिक प्रत्यक्ष है। इन्द्रियार्थसंनिकर्ष लौकिक संनिकर्ष है। 'यह घोड़ा है' यह व्यक्तिविषयक ज्ञान लौकिक प्रत्यक्ष से हुआ है। जाति का अथवा सामान्य का ज्ञान मानसप्रत्यक्ष है। यह भी लौकिक प्रत्यक्ष ही है किन्तु जब कोई अश्वव्यक्ति को लक्ष्य कर के बताता है कि 'यह घोडा है' तब हम वह कथन तज्जातीय सभी व्यक्तियों के संबन्ध में समझते है। यहाँ क्या होता है? हमारे समक्ष व्यक्ति है, साथ ही व्यक्ति के आश्रय से जाति भी रहती है। हम जब उस व्यक्ति को देखते है, तभी तदाश्रित जातिद्वारा अन्य सब तज्जातीय व्यक्तियाँ भी वहाँ संबद्ध होती है। इस प्रकार जब कि इन्द्रिय का साक्षात् संबन्ध व्यक्ति से रहता है, तभी जातिद्वारा वह संबन्ध सभी से होता है। इस संबन्ध को 'सामान्यलक्षणा-प्रत्यासत्ति' कहते हैं। इस प्रत्यासत्ति को ही 'अलौकिक संनिकर्ष' कहते हैं। अत एव इस प्रत्यासत्ति से होनेवाला ज्ञान अलौकिकप्रत्यक्ष है। वस्तुतः यहाँ दो प्रत्यक्ष है। नेत्र से संबद्ध साक्षात् संयोगद्वारा होनेवाला लौकिक प्रत्यक्ष तथा सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से होनेवाला अलौकिक प्रत्यक्ष। जातिलक्षणाप्रत्यासत्ति से होनेवाली विभावादि की अलौकिकप्रत्यक्षप्रतीति ही साधारण्य से होनेवाली प्रतीति है। अलौकिक प्रत्यक्ष का दूसरा भी एक भेद है। वह ज्ञान-

[अगलें पृष्ठपर देखिये]

विभावानुभाव अलौकिक प्रत्यक्ष का विषय होकर ही नहीं रह जाते, प्रत्युत वे समकाल ही रसिक के हृदय में भी व्याप्त हो जाते हैं, अर्थात् रसिक का भी काव्य गत व्यवहार में अनुप्रवेश हो जाता है । विभावादि के द्वारा व्यापन अथवा रसिक का अनुप्रवेश केवल काव्य ही में संभव है, वाङ्मय के अन्य किसी भेद में वह नहीं हो सकता । विभावानुभावों का यह अलौकिक प्रत्यक्ष तथा यह अनुप्रवेश दोनों का काव्यगत संबन्ध इतना जुड़ा हुआ और अव्यभिचारी होता है कि इनके व्यावर्तन की कल्पना नही की जा सकती । न्याय के अलौकिक प्रत्यक्ष को रसिकव्यापन की अथवा अनुप्रवेश की जोड़ यदि न दी गयी तो रसानुभाव की उपपत्ति ही नहीं बतायी जा सकती । अतएव कहना पड़ता है कि काव्यव्यवहार अलौकिक है ।

रस को जो अनुमेय मानते है तथा रसप्रतीति को जो अनुमिति समझते हैं वे भी अनुप्रवेश की कल्पना को टाल नहीं सकते, और मानना पड़ता है कि रसप्रतीति एक अलौकिक अनुमान है । केवल अभिधावादी मीमांसकों को भी कहना पड़ता है कि काव्यगत अभिधा का स्वरूप शास्त्रगत अभिधा से भिन्न है । सारांश चाहे जितना प्रयास किया जाय काव्यार्थप्रतीति किसी लौकिक प्रमाण के ढाँचे में नहीं रखी जा सकती, या तो उसे अलौकिक मानना ही पड़ता है या यदि उसे लौकिक प्रमाणों में खींच लाना ही हो तो, लौकिक प्रमाणों का ही अलौकिकत्व मानना पड़ता है । अतएव स्वरूप, उपाय, प्रमाण, विवक्षा, प्रत्यासत्ति इनमें किसी भी दृष्टि से काव्यार्थ को देखनेपर भी, यही दिखायी देता है कि काव्यार्थ अलौकिक है ।

कारण--अनुमितिलिंग--विभाव

लौकिक जीवन में व्यक्ति जिन अर्थों का अनुभव करता है उन्ही अर्थों का वर्णन काव्य में रहता है । किन्तु उनका प्रयोजन परस्पर भिन्न होता है । प्रयोजन की इस भिन्नता से ही काव्यगत अर्थों को विभावादि की पृथक् संज्ञाएँ दी जाती हैं । अतएव विभावादि संज्ञाएँ अन्वर्थ अर्थात् अर्थानुगामी होती हैं । शत्रु को देखते ही

[पीछलें पृष्ठसे]

लक्षणप्रत्यासत्ति द्वारा होता है। दूर से आम का फल देखते ही हम कहते है, यह आम का फल मीठा दीखता है। यहाँ आम के फल का साक्षात् संबन्ध आँखों से है किन्तु इससे प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ है मिठास का। यह कैसे हुआ ? यहाँ आँख का आम से संयोग होते ही उसकी पूर्वानुभूत मिठास भी स्मरण से उपस्थित होती है। वस्तुतः यहाँ होना यह है—(१) यह आम है-(चाक्षुष प्रत्यक्ष), (२) मिठास का ज्ञान (स्मरण), (३) यह आम मीठा है (संयुक्त चाक्षुष प्रत्यक्ष)। यहाँ द्वितीय ज्ञान का विषय तृतीय ज्ञान में आ गया है, ‘ अतएव यहाँ ’ ‘ ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति है। यह अलौकिक प्रत्यक्ष ही वक्रोक्ति का मूल है।

कोई व्यक्ति जब क्रोधित हो जाता है तब उसकी भौंहें सिकुड़ जाती हैं, आँखें लाल हो जाती हैं, चेहरा फूल जाता है, और शरीर में कम्प होता है। क्रुद्ध व्यक्ति की दृष्टि से इन बातों का विचार किया जाय तो शत्रु का दर्शन उसके क्रोध का कारण प्रतीत होता है, एवम् भौंहें सिकुडना आदि उसके क्रोध का कार्य प्रतीत होता है। मान लीजिये, हम इस व्यक्ति को दूर से देख रहे हैं। हम देखेंगे कि उसकी भौंहें सिकुड़ गयी हैं, नेत्र आरक्त हुए है, चेहरा फूल गया है एवं शरीर कंपित हो रहा है। इस से हम तर्क करेंगे कि यह व्यक्ति क्रुद्ध हुआ है। यह किस पर और क्यों क्रोध कर रहा है इस विषय में हमारे मन में जिज्ञासा उदित होगी। इतने ही में, उस शत्रु को भी हम देखेंगे, और हमारा तर्क होगा कि यह व्यक्ति अपने शत्रुपर क्रोध कर रहा है, तथा उसके क्रोध के विषय में हमारी जिज्ञासा शान्त हो जायगी। यहाँ हमने किया हुआ उस व्यक्ति के शत्रु का दर्शन, हमें दिखायी देनेवाली उस व्यक्ति की सिकुड़ी हुई भौंहें आदि हमारे तर्क के लिंग हैं। अर्थ तो वे ही हैं किन्तु क्रुद्ध व्यक्ति की दृष्टि से वे कार्यकारणरूप है; तटस्थ की दृष्टि में वे अनुमिति के लिंग हैं। इन दोनों में इनका स्वरूप लौकिक है।

काव्य में जब इन्हीं अर्थों का वर्णन किया जाता है तब इनका प्रयोजन भिन्न होता है। पात्र की चित्तवृत्ति की निष्पत्ति यह इनका कार्य न होने से ये कार्यकारण रूप नहीं होते, अथवा पात्र की चित्तवृत्ति का रसिक को केवल ज्ञान करा देने का प्रयोजन न होने से, ये अनुमिति लिंगरूप भी नहीं होते। रसनिष्पत्ति ही इनका प्रयोजन है। रसिक मे रसनाव्यापार निष्पन्न करना ही इनका काव्य में प्रयोजन होता है। ये अर्थ इस व्यापार को किस प्रकार निष्पन्न करते हैं? अभिनवगुप्त का इस पर कथन है कि चित्तवृत्ति की उत्पत्ति के लिये व्यवहार में जो अर्थ कारण होते हैं, वे ही अर्थ काव्य में स्थायी का विज्ञान अर्थात् निश्चित अर्थ करा देते हैं। व्यवहार में इनका प्रयोजन निष्पत्ति होता है, और काव्य में इनका प्रयोजन 'विभावन' होता है। अतएव इनके निष्पत्ति कार्य के अनुकूल, व्यवहार में इन्हें 'कारण' कहा जाता है; और इनके विभावन रूप कार्य के अनुकूल इन्हें काव्य में 'विभाव' कहा जाता है। (विभावो ज्ञानाऽर्थः, विभाव्यते विशिष्टतया ज्ञायते वागंगकृतोऽभिनयः अनेन इति विभावः)। व्यवहार में देखे जानेवाले आरक्त नेत्र तथा कंप, पुलक आदि स्थायी के परिणाम अर्थात् कार्य हैं। किन्तु ये ही अर्थ जब काव्य में आते है तब इनका प्रयोजन रसिक को चित्तवृत्ति का अनुभव कराने का होता है; अर्थात् अनुभावन इनका काव्यगत कार्य है। अतएव लौकिक में हम इन्हें 'कार्य' कहते हैं, परन्तु काव्य में इनके अनुभावन कार्य के अनुकूल हम इन्हें अनुभाव कहते हैं (यदयमनुभावयति वागंगसत्त्वकृतोऽभिनयः, तस्मादनुभावः)। व्यवहार में देखी जानेवाली

लज्जा, अमर्ष आदि से हमें परकीय चित्तवृत्ति का ज्ञान मात्र होना है। व्यवहार में ये नित्य स्थायी चित्तवृत्ति के साथ पाये जाते हैं, अतएव इन्हें देखते ही परकीय स्थायी का हमें बोध होता है। किन्तु ये ही अर्थ जब काव्य में आते हैं तब स्थायी का समुपरंजन करते हैं, अर्थात् स्थायी को आस्वाद्य बनाते हैं (विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्ति इति व्यभिचारिणः)। अतएव लज्जादि भावों को व्यवहार में केवल 'सहकारी' ही कहा जाता है किन्तु काव्य में, इनके समुपरंजन रूप कार्य के अनुकूल इन्हें 'व्यभिचारीभाव' कहा जाता है। इस प्रकार, यद्यपि लौकिकगत अर्थ ही काव्य में भी रहते हैं तथापि विभावन, अनुभावन तथा समुपरंजन ही इनके प्रयोजन रहने से इन्हें क्रमशः विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव की संज्ञाएँ दी जाती है। इनका यह कार्य लौकिक नहीं है, इनका साधारणीभूत स्वरूप भी लौकिक नहीं है, इनकी ये संज्ञाएँ भी लौकिक नहीं है तथा इनका क्षेत्र भी लौकिक नहीं है, इनका क्षेत्र काव्यनाटच मात्र है; अतएव विभावादि अलौकिक है।

विभावादि के कारण रसिक को जो अनुभावन होता है उसका प्रकार भी अलौकिक ही होता है। व्यवहार में जैसे हमें कार्यकारण आदि के द्वारा परकीय चित्तवृत्ति का तटस्थता से ज्ञान होता है, वैसे विभावादि द्वारा केवल तटस्थता से ज्ञान नहीं होता। विभावादि रसिक के समक्ष उपस्थित होते ही, उन उन विभावादि से संबद्ध चित्तवृत्ति में रसिक का तन्मयीभवन होता है। इस प्रकार का यह तन्मयीभवन ही अनुभावन है (तच्चित्तवृत्तितन्मयीभवनमेवेह अनुभावनम्-लोचन)। इस अनुभावन में विभावों के लिये उचित चित्तवृत्ति से सजातीय, रसिक की अपनी चित्तवृत्ति उद्बुद्ध होती है (तच्चित्तवृत्तिभावनया तत्सजातीयस्वीयचित्तवृत्ते तदुद्बोधनेनानुभावनम्-बालप्रिया)। यह अनुभावन निर्विघ्न तथा निरपेक्ष होने से ही चर्वणारूप अर्थात् रसनारूप होता है। व्यवहार में हमें ऐसी प्रतीति कभी नहीं होती। अतएव काव्यगत अनुभावन एक अलौकिक अनुभव है।

विभावादि के साधारण्य से होनेवाला यह अनुभावन एक अन्य प्रतीति से पृथक् है इस बात ध्यान रखना आवश्यक है। कभी कभी हम देखते हैं कि कोई दुष्ट गरीब तथा निरपराध लोगों को पीड़ा दे रहे हैं; रास्ते से गुज़रनेवाली स्त्रियाँ आदि को सता रहे है। इस दृश्य को देखते ही हम सोचते हैं कि 'ऐसे समाजद्रोही लोगों को शासन होना चाहिये।' और जब हम देखते है कि ऐसे लोगों को शासन हुआ है तभी हमारा मन विश्रान्त होता है। इस प्रतीति का यदि विश्लेषण किया गया तो हम क्या देखेंगे? हमारी देखी हुई घटना यद्यपि व्यक्तिसंबद्ध है तथापि हमने उसका ग्रहण सामान्यत्व से किया है, अतएव इस एक लौकिक घटना में हमें सभी दुष्टों के व्यवहार की प्रतीति हुई। हमारी यह प्रतीति, तथा 'सांब ने सूर्य की

स्तुति की और वह रोगनिमुक्त हो गया' यह सुनकर, 'जो भी कोई इस प्रकार स्तुति करता है वह रोगनिर्मुक्त हो जाता है' यह सामान्य प्रतीति, दोनों सजातीय हैं। नाट्यगत विभावादि की प्रतीति भी इसी प्रकार सामान्यत्व से होती है। किन्तु नाट्यगत विभाव-प्रतीति जैसी अलौकिक होती है वैसी यह प्रतीति अलौकिक नही होती। इसका कारण यह है कि जब हमें यह प्रतीति हुई तब हमारा चित्त इस प्रतीति ही में विश्रान्त नहीं रहा, वह उसकी बाद की क्रिया की ओर दौड़ा। चित्त की इस दौड़ ने ही हमें लौकिक की ओर खींचा है। अतएव यह प्रतीति लौकिक है। उपर्युक्त उदाहरण के अनुसार, काव्य अथवा नाट्य में भी यदि दुष्टों ने दी हुई पीड़ा तथा उनका किया गया शासन वर्णित हो तथा उस नाट्य के आस्वाद में रसिक की प्रतीति उन विभावादि की चर्वणा में ही विश्रान्त न हो कर, उत्तरकालीन कर्तव्य की ओर उन्मुख होती है तब वह प्रतीति भी लौकिक प्रतीति ही है। इस प्रकार उत्तरकर्तव्योन्मुखता निर्माण करना शास्त्रपुराणादि का प्रयोजन है, काव्य का प्रयोजन नहीं है। विभावादि के उपस्थित होते ही रसिक चर्वणोन्मुख हो, इसीमें विभावादि का विभावत्व है। रसिक में चर्वणोन्मुखता के स्थानपर उत्तर-कर्तव्योन्मुखता यदि आ गयी तो विभावों का विभावत्व नष्ट हो कर उन्हें लौकिक स्वरूप प्राप्त होता है एवम् रसिक की प्रतीति भी लौकिक ही रह जाती है (इह तु विभावाद्येव प्रतिपाद्यमानं चर्वणाविषयतोन्मुखम्......न च नियुक्तोऽहं करवाणि, कृतार्थोऽहमिति शास्त्रीयप्रतीतिसदृशमदः। तत्र उत्तरकर्तव्यौन्मुख्येन लौकिकत्वात्। --लोचन)। काव्य तो वही है जो कि रसिक को चर्वणोन्मुख करे, और वह तो प्ररोचना अथवा अर्थवाद है जो उसे उत्तरकर्तव्योन्मुख करता है।

अतएव रसप्रतीति किसी अर्थ को सिद्ध करने का साधन नहीं है। यह तो अपेक्षा नहीं की जा सकती कि काव्यपठन से रसिक किसी चीज़ का स्वीकार या त्याग करने के लिये प्रवृत्त हो। किसी क्रिया के लिये पाठक को उन्मुख करना काव्य का प्रयोजन ही नहीं रहता। कवि का एकमात्र प्रयोजन रहता है, काव्य द्वारा होनेवाली प्रतीति में रसिक काव्यपठन के समय विश्रान्त हो। अतएव कवि ने विभावादि द्वारा अभिव्यक्त किये अभिप्राय में (भाव में-भावः कवेरभिप्रायः) रसिक-हृदय विश्रान्त होना यही काव्य का प्रयोजन है। रसास्वाद का पर्यवसान अभिप्रेत वस्तु की प्राप्ति में अथवा तद्विषयक कर्तव्य में नहीं रहता, अपितु केवल प्रतीति-विश्रान्ति में रहता है; और प्रतीतिविश्रान्ति केवल अभिप्रायनिष्ठ होती है। (काव्य-वाक्येभ्यो हि न [illegible] प्रतीतिरभ्यर्थ्यते, अपितु प्रतीतिविश्रान्ति-कारिणी, सा च अभिप्रायनिष्ठा एव, न तु अभिनेयवस्तुपर्यवसाना – लोचन)।

इसीसे रसप्रतीति तात्कालिक अर्थात् जबतक विभावादि उपस्थित रहते हैं

तबतक ही रहती है। विभावादि की उपस्थिति से पूर्व चर्वणा की सत्ता नहीं रहती। एवम् विभावादि के नष्ट हो जाने पर चर्वणा भी नहीं रहती। विभावादि जबतक उपस्थित है तबतक चर्वणा भी है, तथा विभावादि नष्ट हो गये हैं तब चर्वणा भी नष्ट ही है। विभावादि की उपस्थिति के पूर्व अथवा उत्तर काल में रसचर्वणा का कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता। अतएव, काव्य की दृष्टि से रसास्वाद के उपरान्त रसिक के लिये कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। इसीलिये, लौकिक आस्वाद से रसास्वाद सर्वथा भिन्न है। (इह तु विभावादिचर्वणा अद्भुतपुष्पवत् तत्कालसारा एव उदिता, न तु पूर्वापरकालानुबन्धिनी इति लौकिकास्वादादन्य एवाऽयं रसास्वादः। — लोचन)।

सारांश, एक ही अर्थप्रयोजनभेद से भिन्नभिन्न कार्य करता है एवम् कार्य के अनुसार भिन्नभिन्न संज्ञाओं से पहचाना जाता है। इसका आलेख इस प्रकार होगा —
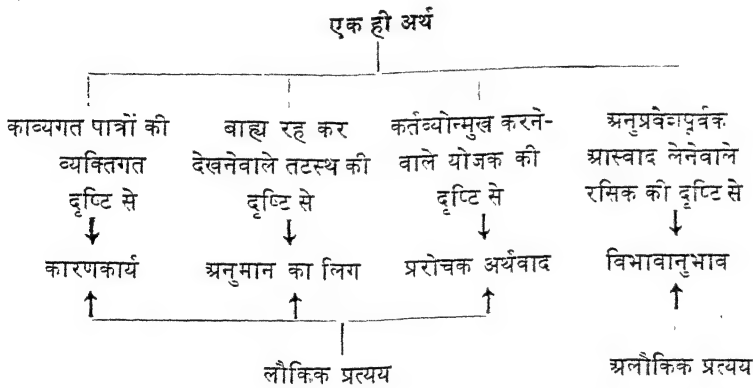
रसविवेचन के अध्ययन में एक बात अवश्य ही ध्यान में रखनी चाहिये। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी, स्थायी आदि का जो विवेचन किया जाता है वह नित्य अपोद्धार बुद्धि से किया जाता है। वस्तुतः रसास्वाद रसिक की अखण्ड एक-घन प्रतीति है। यह प्रतीति खण्डशः नहीं होती। ये है विभाव, ये रहे अनुभाव, ये संचारी, यह इनका संयोग, और यह रस इस क्रम से रसिक को रसप्रतीति नहीं होती। रसिक को होनेवाले अखण्ड रसानुभव का विश्लेषण करते हुए जब हम उसका स्वरूप देखने का प्रयास करते हैं तब अपने अध्ययन की सुविधा के लिये हम इन विभावादि खण्डों की कल्पना करते हैं। अतएव विभावादि की रसनिरपेक्ष रूप में सत्ता ही नहीं है। दूसरी बात यह है कि रसाभिव्यक्ति का परिचय आने

में नित्य प्रदीपघटन्याय उद्धृत किया जाता है। इस न्याय की सीमा का भी ध्यान रखना आवश्यक है। प्रदीप तथा घट दोनों की परस्पर निरपेक्ष सत्ता होती है वैसे ही विभावादि काव्यनाट्यगत होते हैं तथा स्थायी भाव रसिक के हृदय में लौकिक अवस्था में वासनासंस्काररूप में स्थित रहता है यह भी स्वीकार है। किन्तु जैसे कि बाहर से लाये दीपक के प्रकाश में मूल अवस्था में घट जो है वही प्रकट होता है वैसे रस की अभिव्यक्ति नहीं होती। विभावादि का उचित संयोग रसिक की प्रतीति में प्रविष्ट होते ही रसिक के तदुचित वासनासंस्कार का उद्बोधन अथवा प्रकाशन होता है। किन्तु इस प्रकाशित स्थायी के मूल रूप में पूर्ण रूप से परिवर्तन हो जाता है। वह लौकिक रूप का स्थायी रहता ही नहीं। विभावादि की अलौकिकता का एवं प्रमाता अथवा रसिक के अपरिमित प्रमातृत्व का मूलस्थायी पर संस्कार होने से उस स्थायी के रूप में पूर्णतः परिवर्तन हो जाता है तथा वह साधारणीभूत होता है तथा इसी अवस्था में वह चर्वणा का विषय बनता है। 'विभावानुभावों से अभिव्यक्त स्थायी' ऐसा जब कहा जाता है तब जिस अभिव्यक्ति से अभिप्राय रहता है वह स्थायी का उपलक्षण नहीं रहती, वह स्थायी का विशेषण है इस बात को क्षणभर के लिये भुलाया नहीं जा सकता। अतएव 'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः' इस वचन का 'विभावाद्यभिव्यक्तिविशिष्ट' यह अर्थ करना पड़ता है; 'विभावाद्यभिव्यक्त्युपलक्षितःस्थायी' इस प्रकार अर्थ नहीं किया जा शकता। रस में समूहालंबनता है इस बात को विवेचक भूल नहीं सकता।

रस में समूहालंबनता होने से ही रसिक दर्शक रसप्रयोग से बाहर नहीं रह सकता। इस संपूर्ण रसव्यापार में रसिक भी एक अपरिहार्य अंश है। अतएव उस की अवस्था का एक विशिष्ट स्तर हमें मानना ही पड़ता है। इस स्तर से यदि उस का भ्रंश हो गया तो वह लौकिक में ही आ जाता है। इतना ही नहीं, रसिक को रसप्रयोगबाह्य समझकर विवेचक भी रसविवेचन नहीं कर पाता। रसिक को बाह्य मान कर यदि विवेचक काव्यनाट्य का विवेचन करता है तब वह लौकिक घटना का विवेचन होता है न कि रस का। काव्यगत अर्थों को विभावत्व [illegible] है रसिकानुभूति की दृष्टि से, रसिकनिरपेक्षता से नहीं। जैसे रसिक को रसप्रयोग से बाह्य समझ कर विवेचक रसप्रतीतिका विवेचन नहीं कर पाता वैसे ही हम देखते हैं नाट्य, न कि लौकिक व्यक्तिगत घटना, इस बात को रसिक भी भूल नहीं सकता। दर्शक यदि इस बात को भूल बैठता है तो लौकिक में ही आ जाता है। फिर उसका आस्वाद भी लौकिक विकारों की प्रतीति के समान सुखदुःखात्मक हो जाता है।

रसिक में तन्मयीभवन की योग्यता होना आवश्यक है। योग्यता के लिये

रसिक में तीन विषयों का होना आवश्यक है। वे हैं नाट्यगत अर्थों का सामान्यत्व से ग्रहण, प्रतीतिविश्रांति तथा अनुमानपटुता। नाट्यगत अर्थों का रसिक यदि सामान्य रूप में ग्रहण न कर सका, तो नाट्य में व्यक्तिविशिष्ट संबन्धों की प्रतीति की संभावना उत्पन्न होती है एवम् इसमें रसविघ्न निर्माण होता है। नाट्य अथवा काव्य में कविद्वारा जो प्रतीति अभिव्यक्त की जाती है उसमें रसिक हृदय की विश्रान्ति होनी चाहिये। इस प्रतीति से कुछ सिद्ध या प्राप्त करना है यह भान रसास्वाद के समय नहीं रहना चाहिये। यदि यह भान रहा तो रसिकहृदय काव्य-प्रतीति में विश्रान्त नहीं होता। काव्यनाट्यगत प्रतीति स्वयंपूर्ण होती है। अतएव इसका आस्वाद भी इसी भाव से लेना आवश्यक होता है। यदि ऐसा न हुआ तो रसास्वाद के समय अन्य वृत्तियाँ भी समकाल ही उफनती हैं और रसप्रतीति को मलिन करती हैं। किसी बात के लिये रसिक को उन्मुख करने के लिये विज्ञापन अथवा आकर्षण हो इस लिये कवि काव्य की रचना नहीं करता। सामान्यत्व से ग्रहण करना तथा काव्य प्रतीति में विश्रान्त होना ये दो धर्म जिस बुद्धि में होते हैं उसीको आनन्दवर्धन 'तत्त्वार्थदर्शिनी बुद्धि' कहते हैं। तन्मयीभवन के लिये आवश्यक तीसरी बात है अनुमानपटुता। यह पटुता न हो तो रसिक को झटिति प्रत्यय अर्थात् तत्कालप्रतीति नहीं हो सकती। झटितिप्रत्यय न हुआ तो रसिक का रसावेश नहीं रहता। लौकिक अनुभवदर्शनादि से रसिक को कार्यकारणादि का संबन्ध जैसे ज्ञात होता है उसी क्रम से अनुमानपटुता प्राप्त होती है। हम लोगों में से अनेक ऐसे होते हैं कि रसिक होकर भी अंग्रेजी काव्यनाट्य आदि का आस्वाद नहीं कर पाते इस का कारण यह है कि इनमें वर्णित विभावानुभावों से कौन सी वृत्तियाँ सूचित होती हैं इसी बात का उन्हें तत्काल ज्ञान नहीं होता। इन संबन्धों की खोज ही में इनकी बुद्धि व्यग्र हो जाती है और रसप्रत्यय रह जाता है। उन की रसिकता की ठीक वही दशा होती है जो टूटेफूटे बर्तन में रस की होती है। यह तो नहीं कि रसास्वाद के समय अनुमान नहीं होता। किन्तु रसिक को जो प्रत्यय होता है वह कभी इतनी शीघ्रता से होता है, कि विभावानुभाव कौनसे हैं, हमने अनुमान कब किया, साधारणीकरण कब हुआ, अपना सीमित व्यक्तित्व कब विगलित हुआ तथा हम तन्मय कब और कैसे हुए इस बात का रसिक को पता तक नहीं चलता। उपर्युक्त अर्थ तथा इनका क्रम 'फलानुमेय प्रारंभ' के समान आस्वादानुमेय ही रह जाता है। अतएव रसास्वाद को आनन्दवर्धन ने 'असंलक्ष्य-क्रमध्वनि' की संज्ञा दी है तथा इस प्रत्यय का वर्णन—

> तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाक्यार्थविमुखात्मनाम्।
> बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते॥

इन शब्दों में किया है । रसिक को होनेवाला यह झटितिप्रत्यय उतनाही सजीव होता है जितना कि स्वयं रसिक; यह प्रत्यय इतना सजीव होता है कि इससे रसिक का शरीर रोमांचित हो जायेगा, उसकी आँखों से अश्रु बहने लगेंगे, एवम् उसका कंठ भी गद्गद् होगा । अभिनवगुप्त कहते हैं कि यह प्रत्यय ही चमत्कार है तथा रोमांचादि का उद्भव भी चमत्कार ही है । यह चमत्कार ही चैतन्य, आनन्द तथा समाधान है । चमत्कार, निर्वृति, आनन्द पर्याय शब्द हैं (आनन्दो निर्वृत्यात्मा चमत्कारापरपर्यायः ।–लोचन) ।

रसप्रक्रिया का विकास

साहित्य मीमांसकों के द्वारा की गयी रसप्रक्रिया का विकासक्रम ध्यान में आने की अब कुछ सुविधा होगी । उदाहरण के द्वारा इस विकास का क्रम देखने का हम प्रयास करें ।

१. अच्छोद सरोवर के समीपस्थित वन में पुंडरीक ने महाश्वेता को देखा। पुंडरीक के कान में पारिजात की एक मंजरी थी । चारों ओर उसकी सुगंध महक रही थी । महाश्वेता उस मंजरी के संबन्ध में जानना चाहती थी । जब पुंडरीक ने देखा कि महाश्वेता मंजरी चाहती है तब पुंडरीक ने वह अपने कान पर से उतार कर महाश्वेता के कान पर रख दी । उस समय पुंडरीक के हाथ का स्पर्श महाश्वेता के गाल से हुआ । महाश्वेता का शरीर रोमांचित हुआ और मुख आरक्त हुआ। पुंडरीक का शरीर भी उस स्पर्श से पुलकित हुआ और उसकी उँगलियाँ तरल हो कर उनमें से अक्षमाला गिर पडी । यह एक लौकिक घटना है । महाश्वेता की उत्सुकता का कारण है पुंडरीक का महाश्वेता को देखना । पारिजात मंजरी की सुगंध उत्सुकता की वृद्धि का कारण है । महाश्वेता ने, पुंडरीक के पास जाकर, उसके तथा पारिजात मंजरी के संबन्ध में प्रश्न करना यह है इस उत्सुकताका कार्य। महाश्वेता के मन में लज्जा उत्पन्न हुई इसका कारण है पुडरीक का करस्पर्श । इस लज्जा का कार्य है रोमांच तथा मुख की रक्तिमा । इस लौकिक व्यक्तिगत घटना के ये व्यापार इस प्रकार परस्पर कार्यकारण भावसे संबन्ध है ।

२. पुंडरीक का मित्र कपिंजल पास ही खड़ा है और इस घटना को देख रहा है । पुंडरीक तथा पारिजातमंजरी के संबन्ध में प्रश्न करती हुई महाश्वेता का हास्य उसकी भावपूर्ण दृष्टि, उसकी भाषण की शैली आदि बातें वह देख रहा है । पुंडरीक के चेहरे पर उस समय होनेवाले परिवर्तन, महाश्वेता के कान पर मंजरी रखते समय उसकी दृष्टि में जो भाव था कपिंजल सब देख चुका है । पुंडरीक के करस्पर्श से महाश्वेता के गाल भर उभर आये रोमांच तथा मुख की रक्तिमा, तथा

पुंडरीक के उँगलियों की तरलता एवम् गिरी हुई अक्षमाला, तथा इस बात का पुंडरीक को तनिक भी ध्यान न रहना इन बातों को भी कपिंजल देख चुका है। यह सब देख कर कपिंजल का तर्क हुआ कि पुंडरीक तथा महाश्वेता का परस्पर प्रेम हो गया है। कपिंजल ने जो कुछ देखा उस से उसका यह अनुमान हुआ। अतएव उसके देखे हुए व्यापार, उसके अनुमान के लिंग हैं। यह लौकिक अनुमान है। कपिंजल की भूमिका यहाँ तटस्थ की है। प्रेम के इस प्रसंग मे कपिंजल का कोई संबन्ध नहीं है। अपने मित्र का किसीसे प्रेम हो गया है इससे कपिंजल आनन्दित तो हुआ ही नहीं, प्रत्युत यह किस फँदे में फँस गया है इस विचार से कपिंजल दुखी हुआ, और कुछ समय के बाद उसने पुंडरीक को समझाया भी।

३. किन्तु जब हम यही प्रसंग बाणभट्टकृत कादंबरी में पढ़ते हैं अथवा 'शाप-संभ्रम' आदि किसी नाटच में देखते है, तब उपर्युक्त दोनों प्रतीतियों से हमे एक भिन्न प्रतीति होती है। इस प्रतीति में हम तटस्थ नहीं रहते। इस काव्य से अथवा नाटच से अर्थात् विभावादि से हम तन्मय हो जाते हैं तथा हमारा अनुप्रवेश होता है एवम् हृदयसंवादपूर्वक तन्मयीभवनसे हम सम्पूर्ण काव्य का अथवा नाटच का आस्वाद लेते हैं।

उपर्युक्त उदाहरण मे प्रतीतियों का जो क्रम दिया है तथा कारणादि का विभावों में परिवर्तन बताया है, इसी क्रम से साहित्य शास्त्र में रसप्रक्रिया पर विचार हुआ है। भट्ट लोल्लट की रस प्रक्रिया मे नाटचगत घटना का एक लौकिक घटना की, दृष्टि से विचार किया गया है। उनकी प्रक्रिया में काव्यगत अर्थों को कारणत्व है, न कि विभावत्व। "विभावैः=कार्यैः जनितः स्थायिभावः अनुभावैः= कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः, व्यभिचारिभिः= सहकारिभिः उपचितः मुख्यया वृत्त्या रामादौ" – इस प्रकार लोल्लट की प्रक्रिया है। रामादि में स्थायी चित्तवृत्ति उदित होकर, उसका किस प्रकार उपचय हुआ, यह बात इस उपपत्ति से स्पष्ट होती है। भट्ट लोल्लट जानते हैं कि यह प्रक्रिया लौकिक घटना की है. यह भी वे जानते हैं कि केवल लौकिक घटना से आनन्द नहीं होता। अतएव आनन्द के कारण का अनुसंधान वे अन्यत्र करते है तथा कथन करते है, कि राम की चित्तवृत्ति यद्यपि नट मे नहीं है तथापि नट की अभिनयनिपुणता के कारण वह नटगत ही मानी जाती है और इसीसे हमें आनन्द प्राप्त होता है।

श्रीशंकुक कृत विवेचन में दर्शक की भूमिका कपिंजल के समान तटस्थ की है। इनके मत के अनुसार, विभावादि स्थायी की अनुमिति के लिंग हैं। उनका कथन है, "कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैः विभावादि-शब्दव्यपदेश्यैः गम्यगमकभावरूपात् संयोगात् अनुमीयमानः स्थायी रसः।" श्रीशंकुक

के मत के अनुसार, नाटचगत कारणादि कृत्रिम होते हैं अतएव इन्हें विभावादि कहते हैं। एवम् इन से दर्शक स्थायी का अनुमान करता है। श्रीशंकुक जानते है कि केवल अनुमान आनन्द का कारण नहीं हो सकता। किन्तु नाटचगत अनुमान को अनुकरण की भी सहाय्यता है। श्रीशंकुक का कथन है कि नट रामगत स्थायी का अनुकरण करता है, और यही रसिक के आनन्द का कारण है।

इससे आगे सांख्यों की प्रक्रिया है। इनके मत के अनुसार काव्य में विभावसामग्री ही अन्ततः रस में परिणत होती है, अतएव नाटच में वर्णित बाह्य विषय सामग्री ही रस है। इनका कथन है कि, कविद्वारा काव्य में जो कुछ सुखदुःखात्मक वायु-मण्डल अथवा परिस्थिति निर्माण कि जाती है उसके बीज काव्य ही में होते हैं। वे विभावों से अंकुरित होते हैं तथा अन्ततः रस में परिणत होते है।

उपर्युक्त तीनों प्रक्रियाएँ रसिक को विवेचना से बाह्य रखती है। पहली दो प्रक्रियाओं में रसिक बाह्य तो हैं ही किन्तु स्थायी भी व्यक्तिनिष्ठ है। सांख्यों की प्रक्रिया में रस का बीज काव्यगतविषयसामग्री में ही माना है, एवम् बताया गया है कि बाह्यविषयगत स्वभावभूत सुखदुःख ही रस में परिणत होते है। इस मत के अनुसार, आन्तर स्थायी बाह्य परिस्थितिका परिणाम है। इसी मत में सर्वप्रथम माना गया है कि विभावादि का तथा स्थायी का व्यक्तिगत संबन्ध विगलित हो कर वह काव्यगत हुआ है। किन्तु रसिक अभी बाह्य ही हैं।

इसके अनन्तर भट्टनायककृत विवेचन आता है। सर्वप्रथम भट्टनायक ने ही विभावादि का साधारणीकरण सिद्ध किया। उन्होंने माना है कि रसभावना विभा-वादि के साधारण्य से होती है। तथा उन्होंने ही रस का भोक्ता होने के नाते रसिक को भी विवेचन में स्थान दिया। किन्तु काव्यद्वारा भावित रस का भोग रसिक स्वहृदय में किस प्रकार करता है इसका ठीक विवेचन वे नहीं कर पाये। त्रैगुण्य-युक्त अन्तःकरण के दृति–विस्तार विकास के रूप में रसास्वाद का स्वरूप विषद करने का उन्होंने प्रयास किया। किन्तु इसीसे, उनके कथित भोग में आनन्त्यदोष आ गया। अभिनवगुप्त इस संबन्ध में कहते है– 'सत्त्वादीनां च अंगांगिभाववैचि-त्र्यस्य आनन्त्यात् दृत्यादित्वेन आस्वादगणना न युक्ता।'

अभिनवगुप्तने इन सारे दोषों का निरास किया। उन्होंने विभावादि की अलौकिकता सिद्ध की, विभावन, अनुभावन तथा समुपरंजन ही इनके कार्य क्यों हैं यह भी विशद किया तथा हृदयसंवाद-तन्मयीभवन के क्रम से चर्वणानिष्पत्ति किस प्रकार होती है यह बताते हुए एवम् विभावादिनिष्पन्न चर्वणा को गोचर होनेवाला भाव ही रस है यह दर्शाते हुए चर्व्यमाणता अथवा अस्वाद्यता के आधार पर अपनी

उपपत्ति विशद की। इस उपपत्ति से रसास्वाद का स्वरूप तो स्पष्ट हुआ ही, साथ ही यह भी निश्चित हुआ कि रसास्वाद' की सत्ता काव्य नाटच के क्षेत्र में ही क्यों है और लौकिक व्यक्तिगत व्यवहार में कैसे नहीं है। अभिनवगुप्त ने इस प्रकार काव्यनाटच की विशिष्टता का प्रस्थापन किया। रसप्रक्रिया का विकासक्रम संक्षेप में इस प्रकार है।

'स्थायिविलक्षणो रसः'

अभिनवगुप्त के, 'रस स्थायी नहीं है, अपितु स्थायिविलक्षण' इस कथन का अर्थ अब स्पष्ट होगा। अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती भाष्यकार, रसीभूत होनेवाले स्थायी को व्यक्तिसंबद्ध मानते थे। लोल्लट के मत के अनुसार उपचित होनेवाला स्थायी, मुख्य वृत्ति से रामगत तथा गौण वृत्ति से नटगत है। शंकुक के मत के अनुसार नट रामही के स्थायी का अनुकार करता है। इस प्रकार का व्यक्ति-संबद्ध लौकिक स्थायी कितना ही उपचित क्यों न हो, रस में परिणत कैसे हो सकता है? और यदि इस लौकिक स्थायी की परिणति रस में होती हो तब तो यह भी मानना पड़ेगा कि व्यवहार में भी रस का अनुभव होता है। किन्तु ऐसा तो कोई मान ही नहीं सकता। वस्तुस्थिति यह है कि लौकिक स्थायी रस में परिणतही नहीं होता। भरतमुनि को भी रस का यह स्वरूप अभिप्रेत नहीं है। अतएव उन्होंने रससूत्र में स्थायी का निर्देश नहीं किया। यदि निर्देश किया होता तो वह शल्यरूप ही हो जाता। अतएव अभिनवगुप्त को लौकिक स्थायी रसत्व से अभिप्रेत नहीं है। व्यक्तिगत स्थायी की उत्पत्ति तथा परिपोष करनेवाले अर्थ जब काव्यनाटच में प्रकट होते है तब उन्होंने कारणत्वादि की भूमिका का त्याग किया रहता है। उस समय वे विभाव के रूप में उपस्थित होते हैं तथा विभावनादि कार्य करते हैं। इससे विभावादि—उचित रसिकगत वासनासंस्कार उद्बुद्ध अथवा अभि-व्यक्त होता है। हृदयसंवादतन्मयीभवन से उद्बुद्ध होनेवाला यह वासनासंस्कार लौकिक स्थायी नहीं है। आपाततः वह लौकिक स्थायी के समान दीखता है किन्तु वस्तुतः अलौकिक वासनासंस्कार होता है। मधुसूदन सरस्वती ने, स्पष्ट रूप में, दोनों में भेद दर्शाया है। वे कहते हैं—

> काव्यार्थनिष्ठा रत्याद्याः स्थायिनः सन्ति लौकिकाः।
> तद्बोद्धृनिष्ठास्त्वपरे तत्समा अप्यलौकिकाः॥ (भ. र. ३।४)

'काव्यार्थ में पाये जानेवाले रत्यादि स्थायी शुद्ध लौकिक होते हैं (अर्थात् उनका इस रूप में वर्णन किया जाता है जैसा कि वे रामादि के अपने हैं), परन्तु काव्यार्थ के आस्वाद के समय प्रमाता में उद्बुद्ध होनेवाले अन्य स्थायी यद्यपि पात्रगत स्थायी के समान दिखाई देते हैं तथापि वे अलौकिक रहते है।'

अभिनवगुप्त ने स्पष्ट ही कहा है कि स्थायी से अभिप्राय है—लौकिक की अपेक्षा से स्थायी (लोकापेक्षया ये स्थायिनो भावाः ।) उनका विचार है कि लोक की अपेक्षा से उपचित होनेवाला स्थायी रस नहीं है। उनके मत में रस 'स्थायिविलक्षण' है । यह तो उपचार मात्र है जो कि 'स्थायी रसीभवति' कहा जाता है । (इस उपचारका स्वरूप पूर्व बताया जा चुका है) । अभिनवगुप्त के इस विशिष्ट दृष्टिकोन पर ध्यान देने से उनके रसविवेचन का क्षेत्र भी स्पष्ट हो जाता है। काव्य का परिशीलन करने में अथवा नाटक देखने में, रसिक का जो अनुभव होता है, उस अनुभव का स्वरूप तथा प्रक्रिया बताना—यही है रसविवेचन का क्षेत्र । रसविवेचन का विषय रसिकास्वाद है, न कि व्यक्तिगत मनोविकार। हाँ इतना भर अवश्य है कि व्यक्तिगत मनोविकारों का ज्ञान कवि को काव्यरचना में, नट को अभिनय करने में, तथा रसिक को अनुमानपटुता प्राप्त करने में उपयोगी सिद्ध होगा । भरत ने भी स्थायी का विवेचन इसी प्रयोजन से किया है । अभिनवगुप्त का कथन है—"न अज्ञातलौकिकरत्यादिचित्तवृत्तेः कवेः नटस्य वा तद्विषयविशिष्टविभावाद्याहरणं शक्यम् इति स्थायिन उद्दिष्टाः। —लौकिकरत्यादि चित्तवृत्तियों का ज्ञान यदि न हो तब कवि के लिये अथवा नट के लिये तदुचित विशिष्ट विभावादि का प्रकाशन असंभव होगा इसी लिये भरतमुनि ने स्थायी भावों का परिगणन किया है । " और यह सत्य भी है । भरत ने स्थायी भावों के स्वरूप की विवेचना नहीं की । बस इतनाही बताया है कि कौन कौन से विभावानुभावों के द्वारा उनका अभिनय करना चाहिये, इससे स्पष्ट है कि रसविवेचनका विषय लौकिक मनोविकार न होकर रसिकास्वाद ही है । पूर्व बताया जा चुकाही है कि वासनासंस्कार-जो कि रसिक के चित्त में उद्‌बुद्ध होकर उसकी चर्वणा का विषय बनता है—अलौकिक होता है । अतएव अभिनवगुप्त कहते हैं कि रस स्थायी नही है; प्रत्युत स्थायिविलक्षण है । पूर्ववर्ती भाष्यकारों के मत के अनुसार उपचित अथवा अनुमित स्थायी रस है, इसके विपरीत अभिनवगुप्त के मत के अनुसार विभावादि के द्वारा निष्पन्न चर्वणा को गोचर होनेवाला तदुचित अलौकिक वासनासंस्कार रूप अर्थ ही रस है । यही है दोनों मतों में भेद ।

रसः इति कः पदार्थः ?—आस्वाद्यत्वात्

रस एक निर्विघ्न चर्वणात्मक संविद् है। अर्थात् इसका स्वरूप अन्ततः बोध अथवा प्रतीति का ही है। अभिनवगुप्त ने लोचन में कहा है—"चर्वणा अपि बोधरूपा एव"। यहाँ एक आशंका होती है कि काव्य के अनुशीलन के समय निष्पन्न आनन्दमय प्रतीति को 'रस' की संज्ञा क्यों कर दी जाती है ? इस आशंका

का समाधान साहित्यशास्त्र में इस प्रकार किया गया है — विभावानुभावव्यभि-चारी के संयोग से निष्पन्न होनेवाली प्रतीति अलौकिक रहती है। अलौकिक अर्थ की कुछ कल्पना दृष्टान्तद्वारा ही हो सकती है। भरत ने इसके लिये 'सार' ही दृष्टान्त दिया है। व्यंजन (मसाला), ओषधि (इमली, हलदी आदि) तथा द्रव्य (गुड़ आदि) आदि वस्तुओं की उचित योजना हुई और इन्हें पक्वावस्था प्राप्त हुई अर्थात् इनका ठीक तरह से पाक सिद्ध हुआ कि इनसे एक अतीव आस्वाद्य रस निष्पन्न होता है जो इन द्रव्यों से भिन्न होता तथा 'षाडव' आदि नामों से पहचाना जाता है। इसी तरह, विविध विभावानुभावों का रसिकबुद्धि में उचित रूप में संयोग होनेपर उनके द्वारा एक अर्थ जो प्रत्यक्षवत् अभिव्यक्त होता है, तथा जिसे लौकिक दृष्टि से स्थायी कहते हैं— रस्यमान अर्थात् आस्वाद्य रूप में निष्पन्न होना है। यहाँ विभावादि की सम्यग् योजना पाकस्थानीय है। काव्यगत रसोचित शब्द रचना के लिये शास्त्रकारों ने 'काव्यपाक' शब्द का ही प्रयोग किया है [२]. विभावादि व्यंजनौषधिस्थानीय हैं, तथा अभिव्यक्त होनेवाला स्थायिकल्प [स्थायी-सदृश] वासनासंस्कार रसस्थानीय है। दोनों का समानधर्म है आस्वाद्यता अथवा रस्यमानता। भेद यही है कि दृष्टान्तगत 'सार' रूप रस एक लौकिक वस्तु है, किन्तु प्रकृत दार्ष्टान्तिकगत रसरूप काव्यार्थ अलौकिक है एवम् काव्यकुशल ही इसे निष्पन्न कर सकते हैं। अतएव भरतमुनि ने 'रसः इति कः पदार्थः ?' इस प्रकार प्रश्न उपस्थित करते हुए उसका उत्तर दिया है—'उच्यते। आस्वाद्यत्वात्।' इसका अर्थ यह है— देखा जाता है कि काव्यशास्त्र के विद्वान् काव्य द्वारा होने-वाली प्रतीति के लिये 'रस' शब्द का प्रयोग करते हैं। रस शब्द, माधुर्य, पारद, सार, जल आदि शब्दों का वाचक है। फिर काव्यार्थप्रतीति के लिये प्रवृत्ति अर्थात् प्रयोग होने का क्या निमित्त है? भरत का इसपर उत्तर है कि, "आस्वाद्यत्व' ही इस शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है।" अर्थात् आस्वादनक्रिया ही इसका प्रवृत्तिनिमित्त है। किन्तु यहाँ एक और आशंका उपस्थित होती है। आस्वादन रसनेन्द्रियजन्य ज्ञान है। काव्यार्थज्ञान ऐसा नहीं है। वह तो मानसैकगम्य है। इसका समाधान यह है कि काव्यार्थप्रतीतिक्रिया पर रसनेन्द्रियजन्य ज्ञान का उपचार किया गया है। इस उपचार का बीज है सादृश्य। यह सादृश्योपचार भरत ने इस प्रकार दर्शाया है— "यथा नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुजाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, तथा नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागंगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावान् आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, तस्मात् नाट्य-

२. यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं काव्यशास्त्रनिष्णाताः काव्यपाक प्रचक्षते ॥

रसाः इति अभिव्याख्याताः।" यहाँ भोग्य, भोक्ता, फल आदि के साम्य पर से काव्यार्थप्रतीतिरूप व्यापारपर अर्थात् क्रिया पर रसनाव्यापार का इस प्रकार उपचार किया गया है--

	भोग्य	भोक्ता	फल	व्यापार
१.	व्यंजनसंस्कृत अन्न	सुमनस् अर्थात् समाहितचित्त पुरुष	हर्ष-तृप्ति	रसना (आस्वादन)
२.	विभावादिव्यंजित स्थायी	सुमनस् अर्थात् एकाग्र तथा निर्मल हृदय रसिक	हर्ष-तृप्ति	निर्विघ्न संविद् (आस्वादन)

वास्तव में आस्वादन रसनेन्द्रिय का व्यापार नहीं है, रसनेन्द्रिय का व्यापार तो केवल भोजन है। आस्वादन एक मानसव्यापार है तथा इसका फल है हर्ष और तृप्ति। भोजन तथा आस्वादन के व्यापारों में यह जो भिन्नता है इसीसे भरत का अभिप्राय है यह उनके शब्दप्रयोग 'भुंजाना आस्वादयन्ति' से स्पष्ट है। यह मानस व्यापार ही काव्य में अविकल रूप में रहता है (न रसनाव्यापारः आस्वादनम्, अपि तु मनसः एव, स च अत्र अविकलोऽस्ति)। आस्वादन व्यापार का फल है, आल्हादन तथा तर्पण (तृप्ति)। तर्पण का अर्थ है सब इन्द्रियों का समकाल सतोष। काव्यार्थप्रतीति के साथ ही रसिक को अल्हादन तथा तृप्ति की प्राप्ति होती है। अतएव इस प्रतीति पर ही आस्वादन का उपचार किया गया है। यदि चित्त समाहित न हो तो भोजन में भी यह आस्वादनव्यापार नहीं रह सकता तथा काव्यार्थप्रतीति भी चित्त यदिनिर्मल और एकाग्र न हो तो नहीं हो सकती, यही भरत ने, दोनों के संबन्ध में 'सुमनसः' शब्द का प्रयोग करते हुए दर्शाया है। इस उपचार के लिये भरत ने परम्परा का आधार दिया है। तथा इसी आधार पर उन्होंने 'आस्वाद्यत्वात्' यह उत्तर भी दिया है। केवल इसी आधार पर कि लौकिक अनुभव में यह आस्वादनव्यापार विचारतः रसनाव्यापारोत्तर रहता है, इसे रसनाव्यापार तथा इसीसे काव्यार्थ को रस कहा जाता है।

इसका अर्थ यह होता है कि अभिनवगुप्त रसनाव्यापार को, आस्वाद्यता को अथवा चर्वणाव्यापार को (ये सब पर्याय शब्द हैं) रस का भेदक लक्षण इस लिये मानते हैं कि काव्यार्थ को रसत्व आस्वाद्यता के कारण प्राप्त होता है तथा आस्वाद्यता विभावादि के उचित योग के कारण प्राप्त होती है। काव्यार्थ को रसत्व कब प्राप्त होता है? जब वह आस्वाद्य होता है तब। वह आस्वाद्य कब होता है? जब वह अलौकिक विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त होता है तब। काव्यार्थ यद्यपि लौकिक अर्थ के समान दिखाई देता है तथापि विभावादि

अलौकिक उपायों से वह अभिव्यक्त होता है इस लिये वह आस्वाद्य अर्थात् रसनीय होता है; और इसीलिये वह लौकिक अर्थ न हो कर लोकोत्तर अर्थ है। अतएव काव्यगत रसना यद्यपि अन्य प्रतीतियों के समान एक प्रतीति है तथापि उपायों की अलौकिकता के कारण एक अलौकिक प्रतीति है। अभिनवगुप्त कहते हैं— " रसना च बोधरूपा एव किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणा एव, उपायानां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यात्। तेन विभावादिसंयोगात् रसना यतो निष्पद्यते, ततः तथाविधरसनागोचरः लोकोत्तरोऽर्थः रसः इति तात्पर्यं सूत्रस्य।"

'नाट्ये एव रसः न तु लोके'

इस प्रकार का अलौकिक प्रतीतिरूप रस काव्य तथा नाट्य में ही रह सकता है, लौकिक व्यवहार में नहीं। भरत ने रस को 'नाट्यरस' कहा है। अभिनव-गुप्त ने इसका व्याख्यान "नाट्ये एव रसः, न तु लोके" किया है। अभिनवगुप्त ने यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात सूचित की है। रसास्वाद के समय लौकिकप्रतीति तथा नाट्यप्रतीति दोनों में भ्रान्ति (Confusion) नहीं होनी चाहिये। जहाँ इस प्रकार भ्रान्ति हुई कि रसविघ्न निर्माण हो जाता है। अभिनवगुप्तद्वारा निर्दिष्ट रस-विघ्न इस भ्रान्ति ही के रूप है। रसास्वाद के समय नाट्य तथा लोक के भिन्न स्तरों का विवेक जो दर्शक नहीं रख पाते उनमें देशकालविशेषावेश अथवा निज-सुखादिविवशीभाव दिखाई देता है। उनके परिमित प्रमातृत्व का परिहार नहीं हुआ रहता। ऐसे पाठक अथवा दर्शक शृंगार से सुख पायेंगे किन्तु करुण से इन्हें दुःख होगा; और बीभत्स तो वे पढ़ या देख भी नहीं सकेंगे। इन लोगों को संविद् निर्विघ्न न होने से तव रसना, आस्वाद्यता अथवा चर्वणा निष्पन्न ही नहीं होगी; फिर काव्यार्थ का रसत्व कहाँ ?

"आनन्दरूपता सर्वरसानाम्।"

रस 'सुख' रूप है अथवा 'सुखदुःख' रूप है इस विषय को लेकर आज-कल बहुत कुछ लिखा जाता है। इस संबन्ध में साहित्यशास्त्र की क्या भूमिका है इसका यहीं विचार करना उचित होगा। अभिनवगुप्त रस को आनन्दरूप मानते हैं। "सर्वे अमी सुखप्रधानाः स्वसंविच्चर्वणरूपस्य एकघनस्य प्रकाशस्य आनन्द-सारत्वात्। अन्तरायशून्यविश्रान्तिशरीरत्वात् सुखस्य। अविश्रान्तिरूपतैव दुःखम्। तत एव कापिलैः दुःखस्य चाञ्चल्यमेव प्राणत्वेन उक्तम् रजोवृत्तितां वदद्भिः **इति आनन्दरूपता सर्वरसानाम्**।" अभिनवगुप्त का कथन है कि सब रस सुखप्रधान ही हैं। क्यों कि स्वसंविद् की चर्वणा ही उनका स्वरूप है। यह चर्वणा एकघन तथा

प्रकाशमयी (बोधरूप) होती है अतएव आनन्द ही इसका सारभूत तत्त्व है। एकघन निर्विघ्न संवित्ति में ही रसिक का हृदय विश्रान्त हो सकता है। हृदय की अन्त-रायशून्य अर्थात् निर्विघ्न विश्रान्त अवस्था ही सुख का स्वरूप है। दुःख विश्रान्ति रूप हो ही नहीं सकता। सांख्यदार्शनिकों का कथन है कि दुःख रजोवृत्ति का धर्म है। इसमें, उन्होंने चाञ्चल्य ही को दुःख का स्वरूप बतलाया है। रसास्वाद के समय रसिक का चित्त एकघनसंवित्ति में विश्रान्त होता है। तब रसिक के हृदय में किसी भी प्रकार की चंचलता नही रहती। अतएव सब रस आनन्दरूप ही रहते हैं। रसास्वाद लौकिक हर्षशोकआदि का अनुभव नहीं है, प्रत्युत स्वसंवेदना का आस्वाद है, एवम् यह अनुभव आनन्दरूप ही होता है।

करुण रस की समस्या को भी अभिनवगुप्त ने आँखों से ओझल नहीं होने दिया। यह तो उनके पूर्वकाल ही से समस्या चली आई थी कि 'करुण से आनन्द कैसे होता है'? अनुकरणवादियों का इसपर कथन था कि करुण से भी आनन्द होना तो नाटचरस का एक अलौकिक विशेष है। अभिनवगुप्त का इस पर विचार था कि यह समस्या ही उपस्थित नहीं होती। क्यों कि लौकिक जीवन में भी यह तो नियम नहीं है कि शोक से दुःख ही होगा। हमारे अथवा हमारे मित्र के शोक से हमें दुःख अवश्य होगा; किन्तु शत्रु के शोक से हमें आनन्द भी होगा, तथा किसी अन्य व्यक्ति के शोक के विषय में तो हम उदासीन ही रहेंगे। सारांश, शोक यदि स्वगतसंबन्ध से सीमित न हो, तब उसका दुःख से कोई संबन्ध नहीं बताया जा सकता। और रस तो व्यक्तिसंबन्ध के परे है। इस लिये, 'शोक सुखहेतु कैसे होता है' यह प्रश्न ही ठीक नहीं है। अनुकरणवादियों के उत्तर का भी कोई अर्थ नहीं है। यह भी कोई उत्तर है कि, 'नाटचभावों से आनन्द होना तो इनका स्वभाव ही है'। अभिनवगुप्त की मान्यता है कि रसिक आस्वाद करता तो संवेदना का ही आस्वाद करता है, यह संविद् आनन्दरूप ही होती है (अस्मन्मते तु संवेदनमेव आनन्दघनम् आस्वाद्यते। तत्र का दुःखाशंका ?)। संवेदना के आस्वाद में दुःख कहाँ ? उचित विभावादि की चर्वणा से हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रम द्वारा लोकोत्तर काव्यार्थ की निर्विघ्न प्रतीति ही रस का स्वरूप है, अतएव यहाँ दुःख के लिये अवसर ही नहीं। बस, इतना ही है कि रति, शोक आदि वासनासंस्कारों के तत्कालीन उद्बोध के कारण इस एकघनसंवेदनास्वाद में वैचित्र्य निर्माण होता है। तथा यह वासनासंस्कारों का उद्बोधन लौकिक कारणों से नहीं होता, अपि तु अभिनयादि-व्यापार ही से होता है। (केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापार-स्तदुद्बोधने च अभिनयादिव्यापारः)।

वस्तुतः रस एक ही है; विभावादि भेद से रसभेद होते हैं

सब रसों की आनन्दरूपता अभिनवगुप्तकृत रसमीमांसा के अनुकूल ही है। काव्य में जो एक अर्थ द्योतित होता है उसका निर्विघ्न संवेदनात्मक विश्रान्तिरूप व्यापार द्वारा अर्थात् रसनाव्यापार द्वारा ग्रहण किया जाना ही उनके मत के अनुसार रसलक्षण है। सम्पूर्ण नाटच में रति, शोक, हास्य, उत्साह, भय आदि में से किसी एक प्रकार का अर्थ साक्षात्कृत होता है। अभिनवगुप्त के मत के अनुसार इस द्योतित होनेवाले अर्थ में निरपेक्ष रूप से रसत्व नहीं रहता। यह अर्थ रसनाव्यापार का विषय होता है अतएव इसमें रसत्व है। (नटगताभिनयप्रभावसाक्षात्कारायमाणः समस्तनाटकान्यतमकाव्यविशेषाच्च द्योतनीयोऽर्थः। **स च......निर्विघ्नसंवेदनात्मकविश्रान्तिलक्षणेन रसनापरपर्यायेण व्यापारेण गृह्यमाणत्वात् रसशब्देनाभिधीयते**)। अतएव, काव्यार्थ का रसनाव्यापार द्वारा ग्रहण, चर्वणा अथवा आस्वादन ही रस का सामान्य लक्षण है। इसी लिये रस को "चर्व्यमाणतैकप्राण" (चर्वणा ही जिसका सारभूत तत्त्व है) कहा जाता है। यही मुख्यभूत रस है। अभिनवगुप्त इस चर्वणारूप व्यापार ही को '**महारस**' की संज्ञा देते हैं। यह रस एक ही है एवम् आनन्दरूप ही है। शृंगारादि भिन्नभिन्न रस एक ही महारस के भिन्नभिन्न रूप है।

आस्वादरूप एक ही महारस के ये भिन्नभिन्न रूप किस प्रकार होते हैं? अभिनवगुप्त का कथन है कि विभावादि भेद से ये भेद होते हैं। 'अनेन विभावादिभेदं रसभेदे हेतुत्वेन सूचयति'; 'स च विभावसाक्षात्कारात्मक एव'; आदि अनेक प्रकारों से अभिनवगुप्त ने स्थान स्थान पर इस बात को दुहराया है। रसास्वाद में विभावादि की चर्वणा रहती है। काव्य में अथवा नाटच में विभावादि का ही वक्रोक्ति अथवा अभिनय द्वारा साक्षात्करण किया जाता है, विभावादि की चर्वणीयता के कारण ही रसिकों का तन्मयीभवन हो कर वासनासंस्कार उद्बुद्ध होते हैं, एवम् इसीसे चर्वणा में विशिष्टरूपता आती है। सारांश, कवि ने विभावादि का संयोजन जिस प्रकार किया होगा उसके अनुसार ही रसिक की चर्वणा को विशिष्ट रूप प्राप्त होता है एवम् रसास्वाद में वैचित्र्य निर्माण होता है। शृंगार, वीर आदि रस एक ही महारस के विभावादिकृत भेद के कारण बने विशेष है। विभावानुभावादि का अमुक प्रकार का संयोजन यदि चर्वणा का विषय हुआ तब वह शृंगार रस होगा, किसी दूसरे रूप में वह आस्वाद्य हुआ तो वह वीर रस, इस प्रकार, विभावादिभेद के कारण ही रसभेद सिद्ध होते हैं। करुण तथा शृंगार का भेद इसी कारण से उपपन्न होता है। इन दोनों में व्यभिचारी समान होने पर भी केवल विभावविषयक सापेक्षता तथा निरपेक्षता के कारण रसभेद होता है।

अतएव अभिनवगुप्त विवेचन की सुविधा के लिये रस के सामान्य लक्षण तथा विशेष लक्षण इस प्रकार दो भेद करते हैं। भरत को भी रस का सामान्य लक्षण तथा विशेष लक्षण रूप विभाग अभिप्रेत है। रससूत्र में उन्होंने रस का सामान्य लक्षण किया है तथा इसके उपरान्त उसका स्वरूप विशद किया है। सामान्य विवेचन के उपरान्त, 'अब हम विभावानुभावसंयुक्त रसों के लक्षणों तथा निदर्शनों का व्याख्यान करते हैं।' कहते हुए विशेष लक्षणों को आरंभ किया है, तथा शृंगार आदि के विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव मात्र का निर्देश किया है। भरत के इस वचन की संगति अभिनवगुप्त ने इसी अभिप्राय से बताई है। वे कहते हैं,— "मुनि अब विशेष लक्षण बताना चाहते हैं, विशेष लक्षण सजातीय व्यवच्छेदक होता है, एवं सामान्यलक्षण विजातीय व्यवच्छेदक होता है। विशेष लक्षण सामान्य के विशेषरूप निदर्शन ही होते हैं। अतएव विशेष लक्षण के कथन में सामान्य लक्षण का निर्देश, योजना तथा उदाहरण आताही रहता है। भरतकृत विशेष लक्षण इसी स्वरूप के हैं। स्थायी भावों के जिनका कि लोक में चित्तवृत्ति के रूप में अनुभव किया जाता है— यद्यपि विविध रूप हैं, तथापि वे सभी नाट्य में रसिक की मनोविश्रान्ति का एकायतन होकर रस को प्राप्त करते हैं। कवि तथा नट द्वारा निर्मित उचित विभावादि के कारण इन्हें काव्य तथा नाट्य में रसत्व प्राप्त होता है। अतएव विभावादि के औचित्य से अर्थात् सम्यग्योजना से स्थायी को रसता अर्थात् आस्वाद्यता प्राप्त होती है; फिर वह स्थायी लौकिक दृष्टि से चाहे सुखरूप हो अथवा दुःखरूप हो।" विभावादि का सम्यग् योग रसिक में चर्वणा अर्थात् रसनाव्यापार निष्पन्न करता है एवम् यह व्यापार एकघन संविद्विश्रान्तिरूप ही रहता है; अतएव यह आनन्दरूप ही है।

परन्तु जिन का विचार है कि लौकिक स्थायी स्वरूपतः ही रसरूप बन जाता है, वे सभी रसों को आनन्दरूप नहीं मान सकते। इनके मत के अनुसार स्थायी या तो रामादि से संबद्ध रहता है या वह स्वगत अर्थात् स्वसंबद्ध रहता है। इन्हें प्रतीत होता है कि विभावादि के कारण या तो रामादि का स्थायी परिपुष्ट हुआ है या इनके व्यक्तिगत मनोविकार उत्कट हुए हैं। इससे, वे शृंगारादि रसों को सुखरूप समझते हैं, और करुणादि को दुखःरूप। रस सुखरूप है अथवा दुःखरूप इस प्रश्न का उत्तर, रस 'स्थायिविलक्षण' है अथवा 'स्थायी' है इस प्रश्न के उत्तर पर अवलंबित है। यदि आप 'स्थायिविलक्षणो रसः' मानते हैं, तब इस उपपत्ति के अनुसार एकघन संविद्विश्रान्तिरूप होने से रस आनन्दमय ही है। यदि आप 'स्थायी रसः' मानते है, तब इस उपपत्ति के अनुसार लौकिक स्थायी स्वरूपतः ही उपचित होता है, अतएव रस दुखदुःखात्मक ही है। साहित्यशास्त्र में

ये दोनों परम्पराएँ स्पष्ट रूप में दिखाई देती हैं।

आनन्दवादी तथा सुखदुःखवादियों की भिन्न परम्पराएँ

रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र ने नाटचदर्पण में 'सुखदुःखात्मको रसः' कहा है। इन ग्रन्थकारों को 'परम्परा से विद्रोही' आदि उपाधियाँ दे दे कर आधुनिक काव्यमीमांसकों ने इनकी बड़ी सराहना की है। इसका अर्थ केवल यही है कि जो लोग आज रस की सुखदुःखरूपता प्रतिपादन करना चाहते हैं उन्हें संस्कृत ग्रन्थों में इन दोनों का आधार मिल गया। वस्तुस्थिति यह है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र एक परम्परा के प्रतिनिधि है, तथा यह परम्परा उन लोगों की है जो उपचयवादी अर्थात् 'स्थायी रसः' मानते थे। इन ग्रन्थकारों का रस लक्षण तथा इस पर इनका विवेचन पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि ये उपचयवादी हैं। इनका रसलक्षण है—

स्थायी भावः श्रितोत्कर्षः विभावव्यभिचारिभिः।
स्पष्टानुभावनिश्चेयः सुखदुःखात्मको रसः ॥

स्थायी भाव-जिसका कि विभाव तथा व्याभिचारीभावों से परिपोष हुआ है—जब स्पष्ट अनुभावों के द्वारा साक्षात्कारित्व से निर्णीत होता है, तब रसपदवी को प्राप्त करता है। यह रस सुखदुःखात्मक है। शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत, तथा शान्त रस इष्ट विभावादि के द्वारा उपनीत होते हैं अतएव वे सुखकर है। करुण, रौद्र बीभत्स तथा भयानक अनिष्ट विभावादि के द्वारा उपनीत होते हैं अतएव दुःखरूप हैं। इस कारिका की वृत्ति में, इन्होंने स्पष्ट ही, "उपचयं प्राप्य रसरूपेण रत्यादिर्भवति इति भावः," तथा "व्यभिचारिभिः......परिपोषणाच्च श्रितोत्कर्षः" कहा है। इससे स्पष्ट है कि नाटचदर्पणकार 'उपचयवादी' हैं। इनका कथन है कि लौकिक अवस्था में जो सुखदुःखात्मक भाव होता है वह उसी रूप में परिपुष्ट होता है और इस परिपुष्ट अवस्था ही में वह रसनीय होता है अतएव यह रस है। नाटचदर्पणकार की स्वीकृत रस की सुखदुःखात्मकता उनके उपचयवाद के अनुकूल ही है। इनकी वृत्ति पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि इनका किया रसानुभव का विवेचन लौकिक स्तर से ही किया गया है।

रस की सुखदुःखात्मकता प्रतिपादन करनेवालों में नाटचदर्पणकार सर्वप्रथम नही हैं। भोज ने 'रसा हि सुखदुःखावस्थारूपाः' कहा है। नाटचदर्पणकार से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व भोज का समय है। भोज से पूर्व भी ऐसे ग्रन्थकार थे जो कि रस की सुखदुःखात्मकता स्वीकार करते थे। अभिनवगुप्त ने एक मत उद्धृत किया है जिसे वे सांख्यों का बताते हैं। इस मत के अनुयायी भी रस को सुखदुःखस्वभाव ही मानते थे। उन्होंने भी रसविवेचन में परिपोष भाव ही स्वीकार किया है। सारांश, अभिनवगुप्त के पूर्व भी रस को उभयविध माननेवालों की एक परम्परा थी ही।

हम इसके भी पूर्व जा सकते है । वामन ने अपने ग्रन्थ में एक श्लोक उद्धृत किया है —

> करुणप्रेक्षणीयेषु संप्लवः सुखदुःखयोः ।
> यथानुभवतः सिद्धः तथैवोजःप्रसादयोः ।।

इस श्लोक में वामन कहते हैं कि करुण नाटच में रसिक सुखदुःखों के संप्लव को अनुभव करते हैं । यहाँ उन्होंने सुखदुःखवादियों की एक परम्परा की ओर अंगुलि-निर्देश किया है । अभिनवगुप्त ने भी कहा है कि लोल्लट के परिपोषवाद का यदि स्वीकार किया जायें तो ' करुणादौ प्रत्युत दुःखप्राप्तिः ' होती है । सारांश, ' परि-पोषवाद ' तथा ' रस का सुखदुःखरूपत्व ' इन दोनों में अन्योन्यसंबन्ध दिखायी देता है । अनुकरणवादि भी इसी निर्णय पर आ पहुँचते हैं । सारांश, रसविवेचन के विकास में दो स्वतन्त्र परम्पराएँ दिखायी देती हैं । एक परम्परा में ' स्थायी रसो भवति ' माना गया है और दूसरी परम्परा में ' स्थायिविलक्षणो रसः ' माना गया है । पहली परम्परा में स्थायी व्यक्तिसंबद्ध है तथा इसका परिपोष ही रस है, इस प्रकार रसस्वरूप माना गया है । विभावादि इस स्थायी के परिपोष की कारणादि सामग्री है । इससे इनकी उपपत्ति में स्थायी के लौकिक स्तर का त्याग नहीं होता । इतनाही नहीं, इनकी मान्यता है कि लौकिक स्थायी का ही स्वरूपतः परिपोष रस है । इसलिये इनकी दृष्टि से रस भी लौकिक ही है । तब इस रस का स्वरूप तो सुखदुःखात्मक ही रहेगा । फिर करुण में आनन्द का अंश कहाँ से आता है ? इसपर इनका उत्तर है कि या तो यह नाटचभावों का स्वभाव ही है; या नट का अभिनिवेश अथवा अनुकृतिकौशल ही आनन्द का कारण है; अथवा नाटचदर्पणकार के मत के अनुसार कविगतशक्ति अथवा नटगतशक्ति का वह चमत्कार है । दूसरी परम्परा ' अभिव्यक्तिवादियों ' की है । इनके मत के अनुसार रस स्वरूप चर्वणात्मक है तथा वह निर्विघ्नसंविद्विश्रान्ति की अवस्था है । रसिक का हृदयसंवाद इस आस्वाद का अर्थात् चर्वणा का बीज है । अभिनवगुप्त ने स्पष्ट रूप में ' हृदयसंवाद आस्वादः ' कहा है । रसिक का यह हृदयसंवाद लौकिक भूमिका पर नहीं होता । प्रत्युत, रसिक की लौकिक भूमिका विगलित न होना एक रसविघ्न है । इस प्रतीति के उपाय भी अलौकिक हैं । इतना ही नहीं इन विभावादि उपायों के द्वारा अभिव्यक्ति होनेवाला काव्यार्थ भी लोकोत्तर होता है । कहा तो जाता है कि, ' स्थायी रसत्व को प्राप्त होता है,' किन्तु लौकिक रूप में वह रसपदवी को प्राप्त नहीं होता । केवल इतना ही है कि काव्यगत अलौकिक उपायों का (विभावादि का) लौकिक कारणादि से संवादित्व रहता है, इससे लौकिक कारणों से संबद्ध लौकिक स्थायी का अलौकिक काव्यार्थपर उपचार

किया जाता है। अन्यथा, रसाभिव्यक्ति एक अलौकिक व्यवहार है। 'लौकिक विश्व' तथा 'रसविश्व' का स्तर एक ही नहीं है। लौकिक विश्व प्रवृत्तिनिवृत्ति रूप है, अतएव व्यक्तिसंबद्ध है एवम् सुखदुःखात्मक है। 'रसविश्व' प्रतीतिविश्रान्ति' रूप है, अतएव साधारण्यसंबद्ध है एवम् विश्रान्तावस्था के कारण ही आनन्दरूप है। इनके मत के अनुसार, रसास्वाद 'आनन्दघनसंवेदना का ही आस्वाद' है; विभावादि वैचित्र्य से इसमें वैचित्र्य आ जाता है एवम् यही रसभेद का कारण है।

रसविचार की इन दो दृष्टियों के कारण इनके रसानुभव के विश्लेषण में भी भिन्नता आ गयी है। अभिनवगुप्त आदि अभिव्यक्तिवादियों के मत के अनुसार रसास्वाद एक झटितिप्रत्यय है। विवेचन की सुविधा के लिये इनमें कुछ क्रम बताया जा भी सकता है, किन्तु वह केवल अपोद्धारबुद्धि में बताया गया क्रम है। रसास्वाद वस्तुतः विभावोपस्थिति के समकाल ही अखंडरूप में किया जाता है। झटितिप्रत्यय न होना रसास्वाद के लिये विघातक है। विभाव का साक्षात्कार होते ही रसना-व्यापार निष्पन्न होता है। अनुभवन के कारण तटस्थपरिहार होता है एवम् अभि-नयन के कारण स्वात्मैकगतविश्रान्ति होती है। व्यभिचारीभावों के द्वारा रसना को समुपरंजनमूल वैचित्र्य प्राप्त होता है। ये सब व्यापार उपस्थितिसमकाल ही होते हैं एवम् रसिक को सहसा निर्विघ्नसंविद्विश्रान्ति का लाभ होता है। यह संविद्-विश्रान्ति ही आनन्द है। अभिनवगुप्त शृंगारविवेचन में कहते हैं, 'कविना उपनि-बद्धैः नटेन च साक्षात्कारकल्पतामानीतैः (विभावैः) सम्यक् अविघ्नभोगात्मकः संभोगो रसः उत्पद्यते। झटित्येव, न हि गमनक्रियावत् पर्यन्ते, रसनाक्रिया निष्पद्यते, अपि तु प्रथमावसरे। स च विभावसाक्षात्कारात्मक एव। तस्य प्रथमकक्ष्यायामेव गोचरत्वाभिमतस्य नटनचातुर्यादिभिः रसैः रसना आभिमुख्यं नीयते। अत एव ते अभिनया अनुभावाश्च। ......अनुभावकत्वेन ताटस्थ्यपरिहारः। आभिमुख्य-नयनेन स्वात्मैकविश्रान्तिशंकानिरासः। एवं विभावसमये एव रसनीयस्य व्यभिचारिणः स्वामेव रसनीयतां चित्रयन्तः सातिशयं पुष्यन्ति।" रसप्रत्यय झटितिप्रत्यय है एवं एकघनसंविच्चर्वणारूप है, इसीलिये निर्विघ्नावस्था में आरंभ से अन्ततक आस्वाद्य होता है।

इसके विपरीत उपचयवादियों के मत के अनुसार स्थायी से लेकर रसत्वतक एक क्रम है। विभावों के द्वारा स्थायी उत्पन्न होता, अनुभावों के कारण प्रतीति-योग्य होता है। एवं व्यभिचारी भावों के कारण उपचित होता है। इस उपचय के अन्तिम क्षण में इसे रसत्व प्राप्त होता है। स्थायी का उपचय ही न हुआ तो वह भाव ही रह जाता है, एवम् आवश्यक मात्रा में उपचय न हुआ तो इसमें मन्दतरता अथवा मन्दतमता आ जाती है (इन सब बातों की विवेचना पूर्व की जा चुकी है)।

उपचयवादियों की इस उपपत्ति के अनुसार, [illegible] कि अभिनवगुप्त ने दृष्टान्त दिया है–गमन क्रिया के समान पर्यंत में आनेवाली अवस्था है। यहाँ झटितिप्रत्यय के लिये कोई अवसर नहीं है। इससे यहाँ [illegible] संभव नहीं। अतएव, पात्रगत रस, नटगत रस, रसिकगत रस, इस प्रकार लौकिक भूमिका पर उन्हें आना पड़ता है एवम् रस की उभयविधता का स्वीकार करना पड़ता है।

इस प्रकार साहित्यशास्त्र में दो भिन्न परम्पराएँ हैं एवम् इन दोनों के अनुयायी भी अनेक हैं। केवलानन्दवादी परम्परा के अनुयायी तो बताये जा सकते हैं, किन्तु सुखदुःखवादी परम्परा के अनुयायियों के संबंध में कुछ अनुमान करना पड़ता है। एक एक ग्रंथकार की उपपत्ति के अनुसार तर्क करने पर इनके संबन्ध में भिन्न रूप में कुछ अंदाज किया जा सकता है —

(१) परिपुष्टिवादियों की सुखदुःखवाद की परम्परा –

दण्डी, वामन, लोल्लट, श्रीशंकुक, सांख्यवादी, भोज, रामचंद्र-गुणचन्द्र।

(२) अभिव्यक्तिवादी अथवा चर्वणावादियों की केवलानन्दवाद की परम्परा–

ध्वनिकार-आनन्दवर्धन, भट्टतौत, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, प्रभाकर, मधुसूदन सरस्वती, जगन्नाथ।

इन दोनों परम्पराओं को देखने से एक बात स्पष्ट हो जाती है। केवलानन्द-वादी ध्वनिमत को मानते है एवं सुखदुःखवादियों को ध्वनि-तत्त्व स्वीकार नहीं है। भट्टनायक आपाततः भोगवादी तो हैं, किन्तु उनके स्वीकृत भावना तथा भोगीकरण के व्यापारों का स्वरूप वस्तुतः [illegible] ही है यह अभिनवगुप्त ने दर्शाया है। अतएव वे ध्वनिवादियों के निकट हैं।

इन दोनों पक्षों में ग्राह्याग्राह्यविवेचन करने का यहाँ अवसर नहीं है। क्यों कि दोनों की भूमिकाएँ परस्पर भिन्न हैं। हमारा अपना विचार है कि अनेक कारणों से अभिनवगुप्त का विवेचन स्वीकार्य है। इनकी उपपत्ति के कारण ही सभी काव्यांगों की व्यवस्था हो सकती है। अतएव इससे अपरिहार्य रूप में संबद्ध आनन्दवाद ही हम ग्राह्य समझते हैं। इन कारणों की मीमांसा का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है, और हमारा यह हठ भी नहीं है कि दूसरों को भी इसी पक्ष का स्वीकार करना चाहिये। किन्तु, जो आधुनिक विमर्शक संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर साहित्य-विवेचना करना चाहते हैं, उनसे हम मित्रभाव से एक विनय करते हैं। वह यह है कि उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोन मूलतः पृथक् हैं इस बात को वे सदा दृष्टि में रखें। 'स्थायी रसः' यह परिपोषवाद का विचार रस की सुखदुःखात्मता में पर्यवसित होता है, तथा 'स्थायिविलक्षणो रसः' यह संविच्चर्वणावादियों का विचार रस की आनन्दरूपता में परिणत होता है। आधुनिक विमर्शक जब रसमीमांसा करते हैं तब

अभिनवगुप्त की संविच्चर्वणारूप प्रक्रिया को स्वीकार्य मानते हैं किन्तु इसीके साथ अपरिहार्यरूप में आनेवाली रसों की आनन्दरूपता का वे स्वीकार नहीं करते। रस-प्रक्रिया का अध्याय समाप्त कर के जब वे 'काव्यानंदमीमांसा' का आरम्भ करते हैं तब परिपोषवाद की मान्यताओं को स्वीकार करके वे रस की सुखदु:खात्मकता निर्धारित करते हैं। इससे उनकी विवेचना में पूर्वापरसंगति नहीं रहती। उनकी अभिमत रसप्रक्रिया तथा उन्हें अभिप्रेत रसास्वाद का स्वरूप – इन दोनों में मेल नहीं रहता, इससे उनका पूरा रसविवेचन ही आकुल हो जाता है। कोई यह तो नहीं कहता कि रस की सुखदु:खात्मकता सिद्ध करना ठीक नहीं है, किन्तु यदि सिद्ध ही करना हो तब रसप्रक्रिया के लिये भी, बिना किसी हिचकिचाहट, उन्हें परिपोषवाद का आश्रय प्रकट रूप में करना चाहिये। अभिनवगुप्त की उपपत्ति के अनुसार, रस-स्वरूप 'स्थायीविलक्षण' है, तथा चर्वणा अर्थात् आस्वाद्यता ही रस का भेदक लक्षण है, तथा इसका स्वीकार करने से रस की आनन्दरूपता को भी विवश होकर स्वीकार करना पड़ता है। सुखदु:खवादी विवेचकों को रस की अलौकिकता का तो त्याग करना पड़ता ही है, किन्तु उसके साथ ही अभिव्यक्तिमत तथा व्यंजनाव्यापार का भी त्याग करना पड़ता है। संस्कृत ग्रंथों से मनचाहे अंश ला ला कर एकत्रित करना और शास्त्रीय विवेचना में व्याकुलता निर्माण करना ठीक नहीं है। प्राचीन ग्रन्थकारों में यह चंचलता नहीं पायी जाती। 'सुखदु:खात्मको रसः' कहते हुए नाटचदर्पणकार ने अपने विवेचन में प्रकटरूप में परिपोषवाद ही का स्वीकार किया है। यह तो क्या, जिस जिस ग्रन्थकार ने रस के सुखदु:खात्मक स्वरूप का प्रतिपादन किया उसने ध्वनिमत तथा चर्वणावाद का आश्रय ही नहीं किया। तो अपना विवेचन लौकिक प्रमाणों की सहायता से ही किया। अलौकिक व्यंजनाव्यापार उन्होंने माना ही नहीं। उन्होंने रसप्रक्रिया का लौकिक भूमिका पर ही विवेचन किया एवम् काव्यानन्द के कारण का अन्यत्र अनुसन्धान करने का प्रयास किया। किन्तु उन्होंने शास्त्र को व्याकुल नहीं किया।

रस का सामान्य लक्षण तथा विशेष लक्षण

"अलौकिक चर्वणाव्यापारगोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रसः," "सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः," "विभावादिभिः सामाजिकधियि संयोगमासादितवद्भिः अलौकिकनिर्विघ्न संवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थः, चर्व्यमाणतैकसारो न तु सिद्धस्वभावः तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी, स्थायिविलक्षण एव रसः", इस प्रकार तीन स्थानों में अभिनवगुप्त ने रस का सामान्य लक्षण निर्दिष्ट किया है। 'आस्वाद्यता' ही रस का भेदक लक्षण है।

रस भी प्रतीति रूप ही है, किन्तु 'ग्रास्वाद्यता' रूप उपाय के कारण यह प्रतीति अन्य प्रतीतिविशेषों से भिन्न है। ग्रास्वाद्यमानता अथवा चर्वणात्मकता की दृष्टि से सब रस तथा भाव एक ही हैं। अतएव अभिनवगुप्त ने इसे 'सामान्य रस' अथवा 'महारस' कहा है, और बताया है कि शृंगारादि रस इस एक महारस के विशेष निष्यन्द हैं। एक ही रस के ये विशेष भेद विभावानुभावों के संयोग विशेष के कारण होते हैं। किन्तु विभावादि का यह संयोजन केवल अर्थात् निरपेक्ष नहीं होता। लौकिक दृष्टि से यह किसी संचारी भाव का अथवा स्थायी का अभिव्यंजक होता है। इसके अनुरूप ही भाव तथा विशेष रस इस प्रकार सामान्य रस के विभाग किये गये हैं। भावों में भी इनके उदय, संधि, शान्ति, शबलता आदि अवस्थाविशेष उस उस प्रसंग में ग्रास्वाद्य होते हैं अतएव इनके अनुरूप भावोदय, भावशान्ति आदि भेद माने गये हैं। इसी प्रकार विशेष रसों में भी रति, हास, शोक ग्रास्वाद्य होते हैं तब इनके अनुरूप शृंगार, हास्य, करुण आदि भेद किये गये हैं। रति, हास, शोक आदि स्थायी भावों को ग्रास्वाद्यता प्राप्त होने के लिये विभावानुभावों के साथ ही संचारी भावों का भी संयोग आवश्यक होता है। इसका अर्थ यह है कि, जहाँ स्थायी भाव ग्रास्वाद्य होता है वहाँ व्यभिचारी भावों की निरपेक्ष ग्रास्वाद्यता नहीं रहती। किन्तु कवि के काव्य में, विशेष कर मुक्तक में, केवल व्यभिचारी भाव भी निरपेक्ष रूप में ग्रास्वाद्य हो सकता है। जहाँ स्थायी ग्रास्वाद्य रहता है वहाँ रसध्वनि होता है, एवं जहाँ व्यभिचारी भाव स्वतन्त्ररूप में ग्रास्वाद्य रहता है वहाँ भावध्वनि होता है। इन सब विभागों का आलेख इस प्रकार होगा—
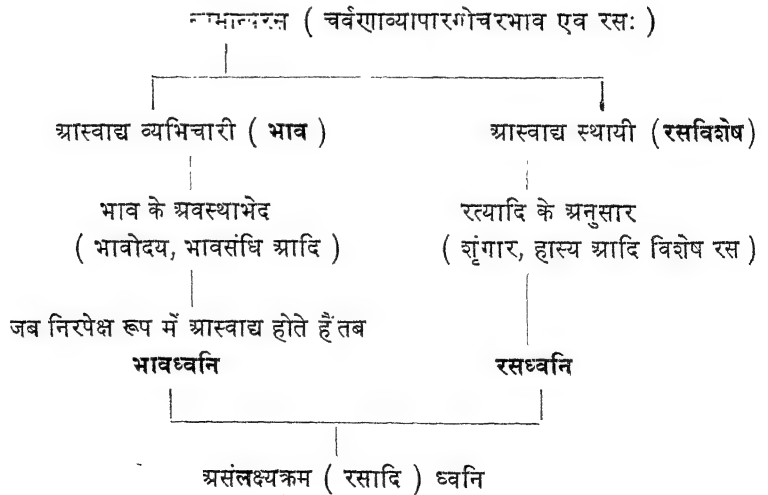
अब ध्यान मे आयगा कि, 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' अथवा 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इस प्रकार जब काव्य का वर्णन किया जाता है तब इसमें क्या आशय रहता है। ये लक्षण, रस के सामान्य स्वरूप को लक्ष्य कर के बनाये गये हैं। रसात्मक वाक्य का अर्थ है आस्वाद्यमान होनेवाला अर्थ। यह अर्थ लौकिक प्रमाणों का विषय नहीं है अपितु लौकिक व्यंजनाव्यापार द्वारा ही प्रतीत होता है-यह आशय इन वचनों की पृष्ठभूमि में रहता है, एवम् ग्रन्थकार वृत्ति में इसे विशद भी करते है।

शृंगारादि विशेष रसों का पूर्णतया तभी उत्कर्ष होता है, जब कि विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों का काव्य में समप्राधान्य रहता है। यह स्थिति मात्र नाटच में हो सकती है, अतएव रस का वास्तविक परमोत्कर्ष नाटच ही में देखा जाता है। महाकाव्यादि प्रबंधों में भी रसोत्कर्ष नाटच के समान ही प्रतीत होता है किन्तु इस के लिये रसिक को चाहिये कि प्रबन्धार्थ की प्रत्यक्षवत् कल्पना कर सकें। मुक्तक में सामान्यतः भावप्रतीति स्वतत्ररूप में आस्वाद्य होती है। किन्तु कभी कभी इस में विशेष रस की भी प्रतीति हो सकती है। परन्तु मुक्तक में रसास्वाद प्राप्त करने के लिये रसिक की विशेष योग्यता आवश्यक है। मुक्तक में विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव इनमें से सभी का वर्णन नही रहता। कभी विभावप्राधान्य रहता है, और कभी अनुभावप्राधान्य ही रहता है। तब पूर्वापर संदर्भ की उचित कल्पना करते हुए, कविद्वारा अकथित, किन्तु आस्वाद के लिये आवश्यक अर्थों का योग न किया जायँ तो मुक्तक में रसप्रत्यय नहीं हो सकता।

साहित्यशास्त्र में इस प्रकार नाटच को सम्मुख रखते हुए रसविवेचन किया गया है। किन्तु वह नाटच तक ही सीमित नहीं है। आस्वाद्य होनेवाले किसी भी प्रकार के काव्य के बारे में वह लागू किया जा सकता है। क्योंकि 'रसनाव्यापार-गोचरता' अथवा 'आस्वाद्यता' का धर्म सभी काव्यप्रकारों में अनुस्यूत रहता है। अतएव अभिनव गुप्त कहते है कि, रसभावादि सभी प्रकार के काव्यार्थ एकही महारस के निदर्शन हैं।

रसों का स्थायीसंचारीभाव

साहित्यशास्त्र में रसों का स्थायीसंचारीभाव अथवा अंगांगिभाव भी प्रबंधगत काव्य अर्थात् नाटच तथा महाकाव्य की दृष्टि से बताया गया है। नाटच में अथवा महाकाव्य में, प्रसंग के अनुसार अनेक रस रहते हैं; किन्तु सभी का प्राधान्य नहीं रहता। नाटच का जो नेता हो उसी का कायिक, वाचिक, तथा मानसिक व्यापार संपूर्ण नाटच में व्याप्त रहता है। अन्य सभी पात्रों के व्यापार नायक के व्यापार

के आनुषंगिक एवम् उसके अनुसारी रहते है । वह चित्तवृत्ति ही स्थायी चित्तवृत्ति है जो नेता के व्यापार में अभिव्यक्त होती है एवम् संपूर्ण नाटच में अनुस्यूत होकर प्रतीत होती है । इस चित्तवृत्ति का अनुबंधी रस ही स्थायी रस है। अन्य पात्रों की चित्तवृत्तियाँ एवम् तदनुबन्धी रस संचारी होते हैं। भरत ने कहा है—

> बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद् बहु ।
> स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मताः ।।

उत्तररामचरित के प्रथम अंक के कुछ अंश में शृंगार है, चौथें अंक के कुछ अश में रौद्र है। एवम् पाँचवे अंक में वीर रस है। किन्तु करुण संपूर्ण नाटक में अनुस्यूत है तथा प्रतीत होता है कि शृंगारादि अन्य रस अन्ततः करुणपर्यवसायी ही हैं। अतएव इस नाटक में करूण ही स्थायी रस है तथा शृंगारादि अन्य रस संचारी हैं। शृंगार, वीर आदि रसों की अपनी अपनी निरपेक्ष सत्ता होने पर भी कवि की कृति में इनमें से किसी एक रस का प्राधान्य तथा अन्य रसों का अंगत्व रहता है। जब वे अंगित्व से आस्वाद्य होते है तब उनमें स्थायित्व होता है। जब वे अंगत्व से आस्वाद्य होते हैं तब उनमें संचारित्व रहता है। परन्तु लज्जा, अमर्ष आदि कभी स्थायी नहीं हो सकते। वे नित्य संचारी ही रहते हैं। इस लिये, मुक्तक आदि में जब वे स्वतंत्र रूप में आस्वाद्य होते हैं तब उन्हें भावध्वनि ही कहा जाता है।

भरत ने आठ स्थायी भाव तथा तैंतीस संचारी भावों का निर्देश किया है। स्थायी भाव नाटच में जब अंगत्व से आते है तब संचारी ही बनते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि भरत द्वारा निर्दिष्ट भावों में से सभी अर्थात् एकतालीस संचारी हो सकते हैं किन्तु स्थायित्व केवल रति, उत्साह आदि आठ (अथवा शांतवादियों के अनुसार नौ) भावों का ही होता है।

रस और पुरुषार्थनिष्ठा

यहाँ सहज ही प्रश्न उपस्थित होता है कि इन आठ अथवा नौ ही भावों का स्थायित्व क्यों कर हो? अन्य भावों का भी क्यों नहीं? अभिनवगुप्त का इस पर कथन है—" नाटच में अथवा प्रबन्ध में कवि नायक का वाङ्मनःकायरूप व्यापार वर्णन करता है। यह व्यापार अनन्तः किसी अभिप्रेत व्यापार में परिणत होता है। यह अर्थ है पुरुषार्थ। कविद्वारा वर्णित इस पुमर्थसाधक व्यापारही को 'वृत्ति' की भी संज्ञा दी जाती है। काव्य में वर्णनीय वृत्तिरूप ही रहता है; किंबहुना, काव्य में वृत्तिशून्य वर्णनीय ही नहीं रह सकता। अतएव भरत ने 'सर्वेषाम्

एव काव्यानां मातृका वृत्तयः स्मृताः।' कहा है। (व्यापारः पुमर्थसाधको वृत्तिः। स च सर्वत्रैव वर्ण्यते इत्यतो वृत्तयः काव्यस्य मातृकाः इति— [उच्यते] न हि किंचिद्‌व्यापारशून्यं वर्णनीयमस्ति)। इसका अर्थ यह है कि, प्रबन्धगत प्रधान नेता का सम्पूर्ण व्यापार पुमर्थ ही में पर्यवसित होना है, एवम् इसके अनुरूप नेता की चित्तवृत्तिं भी पुरुषार्थनिष्ठ ही रहती है। सपूर्ण प्रबन्ध में व्याप्त नायकव्यापार द्वारा यह चित्तवृत्ति अभिव्यक्त होती है, इस लिये यह संपूर्ण प्रबन्ध में अनुस्यूत रहती है, और इसीसे यह स्थायी भी होती है। इस प्रकार के भाव केवल आठ (अथवा नौ) ही हैं अतएव स्थायित्व भी इन्हींका हो सकता है। अभिनवगुप्त ने " तत्र पुरुषार्थनिष्ठाः काश्चित् संविदः इति प्रधानम् " कहा है, एवं रत्यादि आठ भावों की पुमर्थनिष्ठा दर्शाते हुए, अन्ततः " स्थायित्वं तु एतेषामेव " यह परिणाम निकाला है। नाटच के अथवा प्रबन्धकाव्य के आस्वाद में रसिक की संविद्विश्रान्ति भी पुरुषार्थनिष्ठ भाव में ही होती है; अन्य भावों में निरपेक्षरूपमें संविद्विश्रान्ति नहीं होती।

नाटच में अभिव्यक्त रत्यादि की पुमर्थनिष्ठा अभिनवगुप्त ने एक और रूप में भी विशद की है। रति, हास, शोक आदि चित्तवृत्तियाँ मानव में जन्मतः ही होती हैं। मानव का संपूर्ण जीवन इन चित्तवृत्तियों की प्रतीतियों से ही व्याप्त रहता है। इन चित्तवृत्तियों से विरहित मानव ही नही होता। हाँ, यह हो सकता है कि, कोई चित्तवृत्ति किसी व्यक्ति में अल्प हो और किसी अन्य व्यक्ति में अधिक हो, किसी की चित्तवृत्ति उचित विषय से संबद्ध हो और किसी की अनुचित विषय से संबन्ध हो। इनसे किसी एक चित्तवृत्ति का कवि अपने काव्य में पुरुषार्थनिष्ठा होने के नाते वर्णन करता है एवम् अन्य चित्तवृत्तियों का इससे उचित रूप में मेल करता है। कवि नाटच में अथवा प्रबन्ध में किसी भी वृत्ति का वर्णन करता हो, यदि वह पुरुषार्थनिष्ठ न हो तब वह अनुस्यूत नही हो सकती अथवा वह आस्वाद्य भी नहीं हो सकती।

रतिशोकादि आठ भाव तथा ग्लानिशंकादि तैंतीस भावों में और भी एक भेद है। रतिशोकादि वृत्तियाँ मानव के हृदय में वासनासंस्काररूप मे निरपेक्षतय स्थित रहती हैं। ग्लानि, शंका आदि भाव कारण वश आते जाते रहते हैं। अतएव वासनात्मक होने के कारण रत्यादि का मानव हृदय में लौकिक दृष्टि से भी स्थायित्व है, तथा ग्लानि शंका आदि की आपेक्षिक रूप में केवल नैमित्तिक सत्ता है। नाटच में अथवा प्रबन्धगत काव्य में इन संचारी भावों की स्थायीमुख से ही आस्वाद्यता रहती है; स्थायीनिरपेक्ष आस्वाद्यता नहीं रहती और स्थायीवृत्ति भी जब नेता के पुरुषार्थनिष्ठ नाटचव्यापी व्यापारद्वारा अभिव्यक्त होती है तभी

आस्वाद्य होती है। अतएव नाट्य म पुरुषार्थनिष्ठ वृत्ति का ही स्थायित्व तथा उसी की आस्वाद्यता रहती है।

रसों का भरतकृत उत्पाद्योत्पादक भाव भी पुरुषार्थनिष्ठ ही है। शृंगार के विरोध में बीभत्स तथा वीर के विरोध में रौद्र इस प्रकार रसों के युग्म है। इन में शृंगार तथा वीर नायकगत और रौद्र तथा बीभत्स प्रतिनायकगत भावों का अभिव्यंजन है। शृंगार तथा वीर चतुर्वर्ग से अनुकूल रूप में संबंधित रहते हैं, और रौद्र तथा बीभत्स प्रतिकूलरूप में संबंधित रहते हैं। नाटचगत हास्य रस शृंगार के आभास से संबद्ध रहता है; करुण रौद्र का अवश्यंभावी फ़ल होता है; वीर की पूर्णता अद्भुत को उत्पन्न करती है; और बीभत्सजनक विभाव भयानक को भी निर्माण करते है इस प्रकार नाट्य में शृंगारादि का हास्यादि से [illegible] रहता है। ये आठों रस नाट्य में अथवा प्रबन्ध में पुरुषार्थ से निबद्ध हो कर ही निष्पन्न होते हैं।

इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि स्थायी की पुरुषार्थनिष्ठता तथा रसों का उत्पाद्य-उत्पादक भाव—दोनों की विवेचना नाट्य अथवा प्रबन्ध गत स्थायी रस की दृष्टि से ही की गयी है। अभिनवगुप्त ने स्थान स्थान पर कहा है कि नाटचगत स्थायी को पुरुषार्थनिष्ठा के कारण ही आस्वाद्यता प्राप्त होती है, और अठारहवें अध्याय में दशरूप विभाग की भी [illegible] सिद्ध की है। रसों का [illegible]
निर्दिष्ट किया है। भरत का कथन है कि नाटचगत रसों के इस संबन्ध पर ध्यान देकर ही नाट्य अभिनीत करना चाहिये। अतएव नाटचगत अथवा प्रबन्धगत स्थायी रस का निकष आस्वाद्यता के साथ ही पुरुषार्थनिष्ठा भी है। किंबहुना, नाटचगत अथवा प्रबन्धगत नेता का व्यापार पुरुषार्थनिष्ठ न हो, एवम् इस व्यापार में स्थायी अभिव्यक्त न हो तो स्थायी को आस्वाद्यता ही प्राप्त नहीं होती।

नाटचगत रसों की पुरुषार्थनिष्ठा से ही भरत का अभिप्राय है। उनका कथन है कि नाट्य में "क्वचिद्धर्मः, क्वचित् क्रीडा, क्वचिदर्थः, क्वचिच्छमः।" का दर्शन रहता है। इनमें सभी पुरुषार्थ सम्मिलित हैं। पुरुषार्थ है पुरुष का स्वयंप्राथित अर्थ। इस स्वयंप्राथित अर्थ का साधनभूत अर्थ भी पुरुषार्थ कहलाता है। पुरुषार्थलक्षण है,–'स्वयंप्राथितवृत्त्युद्देश्यतानिरूपितविधेयताशालित्वं पुरुषार्थत्वम्।' तथा जैमिनि ने पुरुषार्थ का स्वरूप, "यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्साऽर्थलक्षणाऽविभक्तत्वात्" (मी. सू. ४।१।२) इस प्रकार बताया है। यह पुरुषार्थ जीवन में चतुर्विधरूप ही है तथा कोई भी मानवव्यापार चतुर्वर्ग से किसी एक से अनुकूल अथवा प्रतिकूल रूप

में संबद्ध रहता ही है। उद्भट ने भी नाटचगत रस की पुरुषार्थनिष्ठा तथा उसके अनुकूल दशरूपविभाग दर्शाया है। अभिनवगुप्त ने रस की पुरुषार्थनिष्ठा स्थान स्थान पर विशद की है। इतना ही नहीं, भक्ति को स्वतन्त्र रस का स्थान देने में, मधुसूदन सरस्वती को भी प्रथम 'भक्ति एक स्वतन्त्र पुरुषार्थ है' यह सिद्ध करना पड़ा, तभी भक्ति को वे रसत्व दे सके इस बात का भी स्मरण रखना आवश्यक है।

शृंगारादि आठ रस हैं जो नायक के पुरुषार्थनिष्ठ व्यापार में अभिव्यक्त होते है और इसलिये नाटच अथवा प्रबन्ध में वर्णित रहते है। शान्त रस नाटच तथा काव्य में भी फल रूप में आता है। अतएव अभिनवगुप्त कहते हैं कि इतने ही विशेष रस हैं। भट्ट लोल्लट का कथन है कि रस यद्यपि अनन्त हो सकते हैं तथापि विद्वज्जन इन आठ अथवा नौ रसों को ही नाटचरस मानते है तथा उन्होंने इनकी संख्या सीमित की है, अतएव इतने ही नाटच रस हैं। अभिनवगुप्त इस कथन से सहमत नही है। उन्होंने अपना मत स्पष्टरूप में अंकित किया है—"एते नवैव रसाः पुमर्थोपयोगित्वेन रंजनाधिक्येन वा इयतामेव उपदेश्यत्वात्। तेन रसान्तर-संभवेऽपि पार्षदप्रसिद्ध्या संख्यानियमः, इति यदन्यैरुक्तम्, तदप्रत्युक्तम्।"

भरत ने नाटच के सम्बन्ध में जो कहा है वही महाकाव्य अथवा प्रबन्धगत काव्य के लिये भी सत्य है। अतएव महाकाव्यगत रस की कसौटी भी आस्वाद्यता और पुरुषार्थनिष्ठा ही है। अतएव साहित्यमीमांसक कहते हैं कि महाकाव्य 'चतुर्वर्गफलोपेत' तथा 'रसभावनिरन्तर' होना चाहिये। मुक्तक में भी जब कभी रस ध्वनित होता है तब यह पुमर्थनिष्ठा गृहीत रहती है।

प्रबन्धगत रस की कसौटी का इस प्रकार द्विविध स्वरूप होने से रसमीमांसकों के समक्ष कला तथा जीवन में संबन्ध क्या है इस विषय में प्रश्न नही निर्माण हुए। पुमर्थ की कसौटी के कारण रस जीवननिष्ठ रहा, तथा आस्वाद्यत्व की कसौटी के कारण अन्य वाङ्मय से काव्य की विशेषता प्रस्थापित की गयी।

रस तथा भाव में परस्पर संबन्ध

नाटचगत रस तथा भाव में परस्पर संबन्ध क्या है यह भी एक रसविषयक प्रश्न है। इसका उपन्यास भरत ही ने किया है—"किं रसेभ्यो भावानामभि-निर्वृतिः उत भावेभ्यो रसानामिति।"—नाटचगत रस से भावों की निष्पत्ति होती है अथवा भावों से रसों की निष्पत्ति होती है? इस प्रश्न के विचार में दूसरों के मतों का प्रथम निर्देश करते हुए अभिनवगुप्त ने अन्त में अपना मत भी निर्दिष्ट किया है। इन मतों का संक्षेप नीचे दिया जाता है।

एक मत है कि नटाश्रित रस के कारण रसिक में भावनिष्पत्ति होती है। उदाहरण के लिये, नटगत करुण से रसिकगत शोक जागृत होता है एवम् इस शोक का विभावादि से परिपोष होने पर रसिक में भी रस निष्पन्न होता है। इस प्रकार रस तथा भाव एक दूसरे को कालभेद से निष्पन्न करते हैं। अनेक विद्वान् यह भी कहते है कि–राम तथा नट में पहले ही से भाव रहता है। इसका उपचय होने पर रस होता है तथा रस का अपचय होने पर भाव होता है। ये दोनों मत उपचयवादी अथवा परिपोषवादियों के हैं। अभिनवगुप्त इस पक्ष को मानते नहीं क्योंकि उनके मत में रस का यह स्वरूप ही नहीं है।

श्रीशंकुक का कथन है — नाटचप्रयोग के समय हम नटगत रसपर से रामादि के भावों का अनुमान करते हैं (रसेभ्यो भावाः); किन्तु नाटचाचार्य की शिक्षा के अनुसार नट जब मूल प्रकृति का अनुकरण करता है तब नटगत भाव के रस होते हैं (भावेभ्यो रसाः); इस प्रकार भरत द्वारा उपस्थित किये गये दोनों पक्ष हो सकते हैं। अभिनवगुप्त का कथन है कि यह भी मत ठीक नहीं है; क्योंकि दर्शक की प्रतीति में, यह अनुकर्ता नट तथा यह अनुकार्य राम इस प्रकार विभागप्रतीति ही नहीं रहती।

अभिनवगुप्त के मत में भरत के इस प्रश्न का स्वरूप ही कुछ दूसरा है। वह इस प्रकार है—रस के कारण भाव (विभावादि) संपन्न होते हैं, अथवा भाव (विभावादि) के कारण रस संपन्न होते हैं? अथवा वे अन्योन्यजनक हैं? इन प्रश्नों के निर्माण होने का कारण यह है कि भरत न कथन किया है, विभावादि से रसनिष्पत्ति होती है। तब विभावादि का रस की दृष्टि से पूर्ववर्तित्व हुआ। किन्तु व्यवहार में विभावानुभावों की वास्तविक सत्ता ही नहीं रहती। जिन्हें हम विभावानुभाव कहते हैं वे तो प्रत्यक्ष व्यवहार में लौकिककारण होते हैं। जब इनका उपयोग रस के अर्थात रसनाव्यापार के लिये किया जायगा तभी इनको विभावानुभावत्व प्राप्त होगा, इससे पूर्व नहीं। इस दृष्टि से विभावादि की अपेक्षा रस का पूर्ववर्तित्व है। अच्छा भावादि से रस और रसादि से भाव इस प्रकार कहने पर इतरेतराश्रयत्व का दोष होता है।

इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार है—काव्यगत विभाव प्रतीत न हुए तो रस निर्माण ही नहीं होता। इससे यह स्पष्ट है कि रस से भावनिष्पत्ति नहीं होती। 'भाव' शब्द के अर्थ से भी यही प्रतीत होता है। भावलक्षण है कि भाव वे होते हैं जो विविध अभिनय से संबद्ध होने पर अर्थात् अभिनयद्वारा हृदयगत होने पर रस बनते है। जिस प्रकार नानाविध व्यंजनद्रव्य (मसाला) अन्न में रुचि उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार विभावादि के अभिनयद्वारा ही काव्यार्थ आस्वाद्य होता है।

तब भावरहित रस हो ही नहीं सकता (न भावहीनोऽस्ति रसः)। किन्तु यह भी सत्य है कि रस के अतिरिक्त अन्यत्र अर्थात् लौकिक व्यवहार में विभावादि की सत्ता नहीं रहती (न भावो रसवर्जितः)। फिर यह कूट सुलझे कैसे? इस पर उत्तर है कि रस तथा भाव द्वारा परस्पर सिद्धि अभिनय के आश्रय से होती है। (परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्)। रस तथा भाव दोनों का आश्रय अभिनय है। लौकिक कारण ही विभाव बनते हैं। कब? अभिनय की भूमिका पर, अन्यत्र नहीं; और अभिनय रसाभिमुख ही रहता है। सारांश, अभिनय रूप एक ही क्रियाद्वारा रस तथा भाव दोनों की परस्पर सिद्धि होती है। इसमें इतरेतराश्रय का दोष नहीं हो सकता। जैसे व्यंजनद्रव्य का संयोग अन्न में स्वादुत्व लाता है तथा व्यंजनद्रव्य को भी आस्वाद्य बनाता है, वैसे ही एक ही अभिनय क्रिया के कारण, भाव से रस अर्थात् रस्यमानता निर्माण होती है, एवम् इस रस्यमानता से ही कारणादि को विभावत्व प्राप्त होता है। एक ही आश्रय पर एक ही क्रियाद्वारा इतरेतराश्रयत्व हो तो वह दोष है, किन्तु एक ही आश्रय पर क्रियाभेद से अन्योन्याश्रयत्व हो तो वह दोष नही होता। उदाहरण के लिये, पट की अपेक्षा से तंतुओं का कारणत्व है और तंतुओं की अपेक्षा से पट का कार्यत्व है। इसमें इतरेतराश्रयत्व दोष नही है, ऐसा ही रसभावों का भी है। रस की अपेक्षा से लौकिक कारणों का विभावत्व है, तथा विभावादि की अपेक्षा से रस की निष्पत्ति है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि, यदि भाव से रस निष्पन्न होता हो, तब 'नहि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते' बिना रस के कोई भी नाटचगत अर्थ प्रवर्तित नही होता — यह भरत ने क्यों कर कहा है? इसका समाधान इस प्रकार है —

> यथा बीजाद्भवेत् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं ततः।
> एवं मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावाः प्रवर्तिताः॥

बीज जैसे वृक्ष का मूल होता है, वैसे ही कविगत साधारणीभूत संवेदन ही काव्यव्यापार का तथा नटव्यापार का मूल है। **कविगत साधारणीभूत संवेदना ही परमार्थतः रस है**। इस कविगत रस के कारण ही सम्पूर्ण काव्यव्यापार प्रवर्तित होता है। कविगत रस ही की नाटच अथवा काव्यद्वारा रसिक को हृदयसंवादबल से प्रतीति होती है; इस प्रतीति में वह विश्रान्त होता है — यह अनुभव करने के उपरान्त, अपने अनुभव को जब वह अपोद्धारबुद्धि से (विश्लेषण करने के हेतु) देखता है तब उसे विभावादि का बोध होता है एवम् कवि के प्रयोजन में, काव्य-नाटच में, तथा सामाजिक की प्रतीति में विभावादि की ही सत्ता उसे दिखायी देती है। (कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरःसरः नटव्यापारः। सर्वा संवित्

परमार्थतो रसः । सामाजिकस्य च तत्प्रतीत्या वशीकृतस्य पश्चात् अपोद्धारबुद्ध्या तत्प्रतीतिः इति प्रयोजने, नाटये, काव्ये, सामाजिकधियि च त एव । —अ. भा.)। सारांश, काव्यगत संपूर्ण व्यापार का उद्गम कविगत साधारणीभूत संविद् में ही होता है।

कविरसिकसंवाद

अभिनवगुप्त ने यहाँ हमें काव्यप्रतीति के उद्गम के पास ही लाया है। काव्य के संबन्ध में उन्होंने हमें यहाँ दो महत्त्व की बातें कथन की हैं। काव्य में कविगत साधारणीभूत संवित् व्याप्त रहती है। यह कविगत संवित् ही परमार्थतः रस है। काव्यनाटच में जो व्यक्ति हम देखते हैं वह इस संवित् को रसिक तक पहुँचाने का कविका साधन है, और इसी हेतु कवि इसे उत्पन्न करता है। यह व्यक्ति माधव के समान कविकल्पित हो सकती है, अथवा कवि द्वारा रामादि के समान इतिहास से भी ली जा सकती है। कुछ भी हो, अपना साधारणीभूतप्रत्यय रसिक तक संक्रान्त करने का एक माध्यम इसी रूप में कवि इसका उपयोग करता है। अतएव इसे 'पात्र' की संज्ञा है। (अतएव पात्रमिति उच्यते)। कवि का यह प्रत्यय उसका व्यक्तिगत मनोविकार नहीं है अथवा यह उसका व्यक्तिगत सुखदुःख भी नहीं है। साधारण्य की भूमिका पर प्रतीत यह उसकी अनुभूति है। अपने लौकिक जीवन में कवि जो कुछ देखता है अथवा अनुभव करता है उसे वह उसी रूप में रसिक के समक्ष प्रस्तुत नहीं करता। उसे उसी रूप में प्रस्तुत करना काव्य ही न होगा। वह तो केवल 'काव्यानुकार' होगा। यह अनुकार तो '[illegible]' अथवा 'रसजीव-रहित प्रतिकृति' है। वह सजीव काव्य नहीं है। कवि का लौकिक अनुभव उसकी प्रतिभा के प्रभाव से निखर उठता है। कवि के व्यक्तिबन्ध अथवा उसकी "परिमित प्रमातृता" में यह प्रतीति फँसती नहीं। कवि अपने प्रतिभाबल से अपने अनुभव को व्यक्तिगत स्तर से ऊपर उठाता है, एवम् उसे साधारण्य की भूमिपर लाता है। यह साधारण्य भी परिमित नहीं रहता। कवि का साधारणीभूत अर्थ इतना व्यापक बनता है कि सारे विश्व में वह व्याप्त हो सकें। अभिनवगुप्त ने इस संबन्ध में कहा है— "स्वात्मद्वारेण विश्वं तथा पश्यन्।" यह प्रतीति रसिक तक संक्रान्त करने के लिये जिस चीज को वह उठाता है वह भी साधारणीभूत ही रहती है। इन [illegible] उपायों की चर्वणा से आस्वाद्य बना हुआ उसका अनुभव, लौकिक अनुभव ही नहीं रहता। वह उसकी आत्मा में ही व्याप्त हो जाता है, उसका भावजीवन इस अनुभव से सराबोर हो जाता है तथा इसी अवस्था में अकृतकता से अर्थात् सहज रूप में (कृत्रिमता का स्पर्श भी न होते हुए) यह

अनुभव उसके शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त होता है। कवि का भावजीवन जबतक इन अनुभव से पूर्णतया व्याप्त नहीं होता तबतक यह शब्द द्वारा बाहर भी नहीं आता। (यावत्पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्–भट्टनायक)। कवि के शब्दार्थ लौकिक ही रहते हैं, किन्तु वे उसके अनुभव से इस प्रकार सन जाते हैं कि, जैसे किसी के अकृत्रिम विलाप से अथवा प्रशंसावचनों मे शोकवृत्ति अथवा आदरवृत्ति प्रतीत होती है वैसे ही कवि की इस अकृत्रिम वाणी से उसकी विश्वव्यापक प्रतीति अभिव्यक्त होती है।

कवि के काव्य का निर्माण कैसे होता है इसकी कुछ कल्पना इस से की जा सकती है। ध्वन्यालोक के 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इस वचन के व्याख्यान मे यह अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है। पाठक इसे मूल से ही समझ ले। मूल भाग यहां उद्धृत करने के मोह का विस्तार भय से सँवरण करना आवश्यक है।

दूसरी महत्त्व की बात यह है कि रसिकगत प्रतीति भी कविगत प्रतीति ही रहती है। कविका साधारणीभूत प्रत्यय तथा रसिक को काव्यपठन मे प्राप्त साधारणी-भूत प्रत्यय एक ही अर्थात् एक जातीय ही होते हैं। यही हृदयसंवाद अथवा वासना-सवाद है। संवाद का स्वरूप है, "एकत्र दृष्टस्य अन्यत्र तथा दर्शनं संवादः।" नाटकगत नायक इस वासनासंवाद का माध्यम है। कवि का अनुभव नायकद्वारा रसिकतक सक्रान्त होता है। कवि, नायक तथा रसिक के अनुभव की जाति, दर्जा और स्तर एक ही होता है। भट्टतौत कहते हैं। — "नायकस्य कवेः श्रोतु. समानोऽनुभवस्ततः।" रसिक का हृदयसंवाद कवि से होता है। "कविसवित् ही परमार्थतः रस है एवं रसिक को इसकी प्रतीति होती है।" इन शब्दों में अभिनवगुप्त ने हृदयसंवाद का स्वरूप कथन किया है।

रसविश्व

भट्टतौत कहते हैं, "कवि तथा श्रोता दोनों का समान अनुभव रहता है;" [illegible] अभिनवभारती में कहते है, "कविर्हि सामाजिकतुल्य एव;" तथा लोचन के आरंभ में उन्होंने कहा है कि सरस्वती का तत्त्व "कवि सहृदयात्मक" होता है। कवि से लेकर सहृदयतक एक ही विश्व है तथा यह इन दोनों में व्याप्त है। यही रसविश्व है। भरत के बीजवृक्ष दृष्टान्त को विशद करते हुए अभिनवगुप्त इस रसविश्व की कल्पना स्पष्ट करते हैं। वे कहते है —

"एवं मूलबीजस्थानीयः कविगतो रसः, ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम्, तत्रपुष्प-स्थानीयः अभिनयादिनटव्यापारः, तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः। तेन रसमयमेव विश्वम्।"

इस अलौकिक रसविश्व का विवेचन लौकिक विश्व के व्यक्तिगत स्तर से करना तथा रसास्वाद को व्यक्तिगत मनोविकार समझते हुए इस विकार की उत्कटता के द्वारा रसस्वरूप विशद करना कहाँतक ठीक होगा, पाठक स्वयं निर्णय करें। [illegible] भी जानते थे कि रसविवेचन में इस प्रकार भ्रान्ति हो सकती है, किन्तु उन्हें अपेक्षित है कि ऐसी भ्रान्ति न हो। रसविश्व की साधारणीभूत प्रतीति के स्तर से लौकिक नियतनिष्ठता के स्तर पर पाठक किसी भी कारण से आ सकता है। विभावों के स्थान में कारणत्व का गन्ध मात्र इस भ्रान्ति के लिये पर्याप्त है। अतएव अभिनवगुप्त बारंबार कहते है कि, 'रसिक जन, विभावादि अलौकिक है; इन्होंने कारणत्वादि की लौकिकभूमि अतिक्रान्त की है; विभावन-अनुभावन-समुपरंजन ही इनका काव्यगत प्रयोजन है। यह प्रयोजन भी अलौकिक है तथा इनकी विभावादि संज्ञाएँ भी अलौकिक हैं। रसिक के पूर्वकालीन कारणादि संस्कारों पर ही विभावादि का उपजीवन है, तथापि विभावनादि प्रयोजन ही इनका काव्य में भेदक लक्षण (आख्यापन) है; अतएव यह भेदकावस्था रसावस्था में कभी आँखों से ओझल न हो इसीलिये साहित्यशास्त्र में इन्हें विभावादि की ही संज्ञाएँ दी गयी है।''— "लौकिकीं कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तैः, विभावन—अनुभावन—समुपरंजकत्व-मात्रप्राणैः, अलौकिकविभावादिव्यपदेशभागिभः, प्राच्यकारणादिसंस्कारोपजीवना ख्यापनाय विभावादिनामधेयव्यपदेश्यैः" ——

• • •

अध्याय नव्वदवाँ

ध्वनि के विरोधक

तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणानुमिती द्विधा ।
अर्थापत्तिः क्वचित्तन्त्रं समासोक्त्याद्यलंकृतिः ॥
रसस्य कार्यता भोगः व्यापारान्तरबाधनम् ।
द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः ॥

— जयरथ

पूर्वगत दो अध्यायों में रसविवेचन का स्वरूप बताया गया है। रसविवेचन नाट्यशास्त्रांतर्गत रसविवेचन का आनुषंगिक है तथापि वह केवल नाट्य तक ही सीमित नहीं है। वह काव्य के संबन्ध से पूर्णतया लागू हो सकता है। भरत के नाट्यरस काव्यरस भी हैं; तथा काव्यगत अर्थ भी 'नाट्यायमान' होकर रसिक के अन्तश्चक्षु के सामने काव्यगत भाव 'प्रत्यक्षवत् स्फुट' रूप में साक्षात्कृत होते हैं।

शब्दार्थमय काव्य में भी रसप्रतीति होती है। इस, रसिक के अनुभव से सिद्ध भूमिका का स्वीकार करने पर, काव्यगत शब्दार्थों का रस से संबन्ध स्पष्ट हो जाता है। काव्यगत सभी अर्थ रसोन्मुख बनते हैं; वक्रोक्ति भी रसनिरपेक्ष नहीं रह सकती; अलंकार भी रसपरतंत्र बनना आवश्यक होता है; काव्यगत प्रत्येक छोटी मोटी बात, तद्वत् वर्ण, छन्द, नाद, रस को उपकारक होने चाहिये; इन सभी का रसौचित्य की दृष्टि से संनिवेश किया जाना चाहिये; और साहित्यमीमांसक को भी रसप्रतीति की दृष्टि से ही इन सबका विवेचन करना पड़ता है। महाकवियों के काव्य में प्रतीत होनेवाले इन रसोचित शब्दार्थसंनिवेश का स्वरूप विशद करने में,

लौकिक शब्दशास्त्र (व्याकरण), वाक्यशास्त्र (मीमांसा); तथा प्रमाणशास्त्र (न्यायशास्त्र) का अंशतः उपयोग होता है, किन्तु अन्ततक इनका साथ नहीं रह सकता। इससे, इस "रसोचित शब्दार्थसंनिवेश" का एक पृथक् शास्त्र ही बन जाता है तथा चारुत्वप्रतीति का — जिस का शब्दार्थद्वारा बोध होता है— विवेचन करना इस शास्त्र का प्रयोजन है। शब्दार्थद्वारा चारुत्वप्रतीति होने के लिये शब्दार्थों में परस्पर संबन्ध किस रूप में होना चाहिये, उनमें कौनसी और किस रूप की विशेषताएँ होती है, आदि विषयों का विवेचन, महाकवियों की कृतियों के तथा सहृदय रसिकों के अनुभव के आधारपर करना ही इस शास्त्र का कार्य है। "चारुत्व-प्रतीतिशास्त्र" जब अपना यह कार्य प्रारंभ करता है तब शब्दार्थों से संबद्ध अन्य शास्त्रों से उसका संघर्ष होता है। भामह के समय इस संघर्ष का स्वरूप क्या था इस पर पूर्वार्ध में विवेचन किया गया है। ध्वनिकार के काम में इस संघर्ष को तीव्रता प्राप्त हो गयी थी। इस संघर्ष की [illegible] में ध्वनिमत अन्ततः सफल रहा तथा अलंकारशास्त्र में सदा के लिये प्रस्थापित हो गया।

ध्वनिमत का आविर्भाव होते ही इस पर चारों ओर से आक्रमण हुआ। इसमें, मीमांसक, नैयायिक, वैयाकरण तथा इनके साथ ही कई आलंकारिकों ने भी यथासंभव भाग लिया। इसे ठीक तरह से समझने के लिये — ध्वन्यालोक, लोचन, वक्रोक्तिजीवित, शृंगारप्रकाश, सरस्वतीकंठाभरण, [illegible], अभिधावृत्ति-मातृका, [illegible] उद्भट पर टीका, अभिनवभारती के कुछ अध्याय तथा मम्मटकृत काव्यप्रकाश— इन ग्रन्थों का परिशीलन तो करना ही पड़ता है। अलंकार शास्त्र के इस काल में किये गये विवेचन में क्या क्या पृथक् भेद थे और प्रत्येक ग्रन्थकार अपना विचार किस आग्रह से प्रस्तुत करता था यह इस परिशीलन से स्पष्ट होगा। इन सब वादों को यहाँ उद्धृत करना अत्यंत असंभव है। आनन्दवर्धन से मम्मट तक लगभग २०० वर्षों में साहित्यमीमांसा में विचार की दृष्टि से जो आंदोलन हुआ उसी का स्थूल रूप में यहाँ परिचय देने का निम्नांकित प्रयास है।

ध्वनि के विरोधक

जयरथ का कथन है कि ध्वनि के विरोध में कुल बारह मत थे। मूल कारिकाएँ — जिनमें इनका एकत्र निर्देश है— ऊपर दी गयी हैं। ये द्वादश मत हैं—

१. मीमांसकों का कथन था कि ध्वनि अथवा व्यंजना रूप पृथक् व्यापार मानने की कोई आवश्यकता नहीं है; ध्वनि का अन्तर्भाव 'तात्पर्यशक्ति' में होता है।

२. कोई मीमांसक ऐसे थे जो कि, 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस न्याय के आधार पर, ध्वनि का अन्तर्भाव अभिधा में ही करते थे।

३. } लक्षणावादी, जो कि ध्वनि का अन्तर्भाव द्विविध लक्षणा में ही
४. } मानते थे।

५. } नैयायिक, जो कि ध्वनि का अन्तर्भाव दो प्रकार के अनुमान में ही
६. } मानते हैं।

७. साहित्यविमर्शक जो कि ध्वनि को तंत्र का ही (उभय अर्थों से बोलने का) एक और प्रकार कहते थे।

८. ऐसे विमर्शक जिनके मत के अनुसार ध्वनि का समावेश अर्थापत्ति में है।

९. आलंकारिक जो कि समासोक्ति, पर्यायोक्त आदि अलंकारों में ही ध्वनि का अन्तर्भाव करते थे।

१०. प्राचीन काव्यशास्त्री, लोल्लट तथा उनके अनुयायी जिनकी मान्यता थी कि रस विभावादि का कार्य है।

११. भट्टनायक तथा उनके अनुयायी— इनका विचार था कि रस ध्वनित नहीं होता अपितु भोगीकरण रूप व्यापार द्वारा इसका अनुभव किया जाता है।

१२. 'ध्वनि अनिर्वाच्य है' इस विचार का एक पक्ष (व्यापारान्तरबाधनम्)

उपर्युक्त मतों से अनेक मतों का परीक्षण, पूर्वगत अध्यायों में प्रसंगवश किया जा चुका है। तीसरे और चौथे मत के अनुसार ध्वनि का अन्तर्भाव द्विविध लक्षणा में ही होता है। लक्षणा के दो भेद है— द्वितीय लक्षणा तथा विशिष्ट लक्षणा। लक्षणा का प्रयोजन लक्षणा में अन्तर्भूत क्यों नहीं हो सकता, तथा इसलिये व्यंजनाव्यापार स्वीकार करना आवश्यक क्यों होता है इसका विवेचन लक्षणा के अध्याय में किया जा चुका है। सातवें मत के अनुसार ध्वनि तन्त्र ही का एक भेद है। इस मत के अनुसार ध्वनि तथा श्लेष एक ही हो सकते हैं। ध्वनि तथा श्लेष दोनों एकाकार क्यों नही हो सकते यह अभिधामूलव्यंजना के विचार में संक्षेपतः दर्शाया गया है। दसवाँ लोल्लट का तथा ग्यारहवाँ भट्टनायक का मत रसविवेचन में निर्दिष्ट किया गया है। पाँचवाँ तथा छठा मत अनुमानवादियों का है। इस पक्ष की मान्यता के अनुसार ध्वनि अनुमान में ही अन्तर्भूत है। शंकुक— जो कि रस को अनुमित मानते थे— इस मत के आचार्य थे। शंकुक का विचार तथा इसकी आलोचना पूर्व की गयी है। अभिनवगुप्त के बाद तथा मम्मट से पूर्व महिमभट्ट नाम के एक आलंकारिक हो गये। उन्होंने अपने 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ में यह दर्शाने का प्रयास किया है कि सभी ध्वनि भेदों का अन्तर्भाव अनुमान ही में

होता है । किन्तु इनके विचार के दोष मम्मट ने काव्यप्रकाश के पंचम उल्लास में तथा 'शब्दव्यापारविचार' में भी दर्शाये है । यहाँ एक अड़चन पाठकों के विचार के लिये प्रस्तुत करना उचित होगा । जयरथ ने कारिका में 'द्विधा अनुमिति' अर्थात् 'दो प्रकार के अनुमान' का निर्देश किया है । ये दो अनुमान प्रकार कौनसे हैं इस बात का निर्णय प्रकृत लेखक नहीं कर सका । डॉ. राघवन् ने अपने शृंगार-प्रकाश पर लिखे प्रबन्ध में अनुमान के दो प्रकार— स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान सूचित किये है । किन्तु, कई कारण है कि जिन से लगता है कि ये दोनों भेद यहाँ अपेक्षित नहीं हैं । श्री आनन्दप्रकाश दीक्षित ने अपने 'रस की व्याख्याओं के दार्शनिक आधार' इस लेख में (आलोचना, त्रैमासिक, अक्तूबर १९५३), शंकुक के मत के विवेचन में 'पूर्ववत्' तथा 'शेषवत्' इन अनुमानों का प्रयोग सिद्ध किया है । संभव है कि ये दोनों अनुमान अपेक्षित थे, किन्तु इस विषय में निर्णय करना कठिन है। आठवें मत के अनुसार ध्वनि का अर्थापत्ति में अन्तर्भाव होता है । यह मत किस का है बताया नहीं जा सकता। अर्थापत्ति अनुमान ही का प्रकार विशेष है, और 'अर्थापत्ति से ध्वनि भिन्न क्यों है, यह अभिनवगुप्त ने लोचन में दर्शाया है ।

अभाववादी

ध्वनिकार के समय ही दो पक्ष थे— एक पक्ष ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकार ही में करते थे और दूसरा पक्ष ध्वनि को अनिर्वचनीय बताता था। इनका निर्देश प्रथम ध्वनिकारिका में किया गया है ।

> काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः
> तस्याभावं जगदुरपरे, भाक्तमाहुस्तमन्ये ।
> केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम्

यहाँ 'तस्याभावं जगदुरपरे' इस अंश में निर्दिष्ट है अभाववादी आलंकारिक। ध्वनि को भाक्त बनानेवाले हैं लक्षणावादी, तथा तृतीय चरण में अनिर्वचनीय-वादियों का निर्देश है ।

अभाववादियों का कथन है— काव्यसौदर्य का जब विश्लेषण किया गया तब उसमें गुण, अलंकार, रीतियाँ, उपनागरिकादि वृत्तियाँ आदि वस्तुएँ प्राप्त हुई। इनके अतिरिक्त ध्वनि नामक कोई चीज नहीं देखी गई । अच्छा जितनी सौंदर्य-कारक बातें पायी गयी हैं उन सभी का अन्तर्भाव पर्यायोक्त, समासोक्ति आदि अलंकारों में ही हुआ दिखायी देता है। इन से ध्वनिवादियों ने एक अंश उठा लया एवम् उसीको ध्वनि नाम देते हुए वे आनन्दवश नाचने लगे है कि, " हमने

कुछ नई बात खोज निकाली है"। अभिवनगुप्त के निर्देश के अनुसार 'मनोरथ' नाम का कवि था जिसने यह आलोचना की है। इस पर आनन्दवर्धन का कथन है कि, "समनासोक्ति आदि कतिपय अलंकारो में व्यंग्य है अवश्य, किन्तु वह वाच्यार्थ की अपेक्षा गौरा है। वह ध्वनिकाव्य नही है। ध्वनि तभी होता है जब कि व्यंग्यार्थ प्रधान रहता है। इसके अतिरिक्त, कुछ अलंकारों में ध्वनि है, इस पर से यह कहना उचित नही होता कि सम्पूर्ण ध्वनि अलंकारों में ही अन्तर्भूत हो जाता है। ध्वनि का विषय अलंकारों से बहुत ही अधिक व्यापक है। वैसे ही लक्षणामूल ध्वनि लक्षरणापर आधारित रहता है, इस से सम्पूर्ण ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में नहीं किया जा सकता। लक्षरणा ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती। हाँ, कतिपय ध्वनिभेदों का वह उपलक्षरण हो सकती है। अनिर्वचनीयवादी तो अपनी 'शालीनबुद्धि' के कारण ध्वनि का लक्षण नहीं कर पाते। उनके लिये हम ध्वनि-स्वरूप विशद करेंगे। किन्तु ध्वनि को अनिर्वचनीय कहने में यदि उनका अभिप्राय यह है कि, 'ध्वनि का स्वरूप लोकोत्तर है,' तब हमें कोई आपत्ति नहीं।–"

दीर्घ-अभिधावादी

प्रभाकर मीमांसक दीर्घ-अभिधावादी है एवं वे अन्विताभिधानवाद के समर्थक है। इन की मान्यता है कि, 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' अर्थात् शब्द का अन्ततः जहाँ पर्यवसान होगा वही उस का वाच्यार्थ होगा। अपने कथन की पुष्टि के लिये वे धनुष से चलाये गये बारा का उदाहरण लेते हैं। 'सोयमिषोरिव दीर्घ दीर्घतरो व्यापारः'– जैसे धनुष्य से चलाया गया बारा एक ही वेग रूप व्यापार से कवच का भेद करता है, मर्मच्छेद करता है तथा अन्त में प्रारणहरण भी करता है; वैसे ही शब्द का एक ही अभिधारूप व्यापार वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ सभी का बोध कराता है। अतएव इनका मत है कि व्यंजनाव्यापार स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। अभिनवगुप्त इसपर कहते हैं कि मीमांसक जिस दीर्घतर व्यापार को स्वीकार करते है, वह एक ही व्यापार है अथवा अनेक व्यापारों का समूह है? वह एक ही तो नहीं हो सकता, क्योंकि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ – जो परस्परभिन्न है — एकही व्यापार के विषय कैसे हो सकते है? यदि मान लिया कि अनेक व्यापारों का यह समूह है, तो ये सभी व्यापार सजातीय नहीं हो सकते, क्योंकि इनके विषय सजातीय नहीं है। और इन व्यापारों को सजातीय मान भी लिया, तो मीमांसकों के एक दूसरे नियम, 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापारभावः' का बाध होगा। अतएव इन व्यापारों को विजातीय ही मानना पड़ेगा, और इन व्यापारो को विजातीय मानने से ध्वनिपक्ष आ ही जाता है; क्योंकि फिर वह एक ही दीर्घ-

व्यापार नहीं रहता। अच्छा, इस व्यापार को दीर्घ कहने में यदि 'झटितिप्रत्यय होना' यह अभिप्राय है तब जिस व्यंग्यार्थ के झटिति प्रत्यय के लिये आप अभिधा को दीर्घ मानते हैं, उसमें अभिधा का संकेत नहीं रहता। तब अभिधा से उसका प्रत्यय ही कैसे हो सकता है? इस मत का खण्डन काव्यप्रकाश में भी विस्तार से किया गया है। पाठक अवश्य देखें :

तात्पर्यवाद

ध्वनिकार के, सब से बड़े विरोधक हैं, तात्पर्यवादी भाट्ट मीमांसक। लोचन से प्रतीत होता है कि ये मीमांसक अभिहितान्वयवादी थे और इन्हें प्राभाकर तथा वैयाकरणों की भी सहायता थी। आनन्दवर्धन का इन्होंने विरोध तो किया ही है, किन्तु बाद में भी धनिक तथा धनंजय ने इस पक्ष की दशरूप में पुष्टि की। ध्वन्यालोक में किया गया तात्पर्यवादियों का खंडन (तृतीय उद्योत) तथा दशरूपावलोक में किया गया ध्वनिमत का खंडन—दोनों को साथ साथ पढ़ने से, इनके विरोध का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यहाँ इसका संपूर्ण विवेचन करने के लिये अवसर नहीं है; किन्तु संक्षेप में इसका स्वरूप हम देख लें।

तात्पर्यवादियों का कथन है—तात्पर्यशक्तिद्वारा ही ध्वनि का ग्रहण होता है, अतएव ध्वनिरूप पृथक् व्यापार मानने की आवश्यकता नहीं है। काव्यार्थ में वाच्यार्थ से पृथक् रूप में जो अर्थ प्रतीत होता है वह प्रधान होगा अथवा गौण होगा। जब वह प्रधान होता है, तब वाक्यार्थ की अन्तिम विश्रान्ति उसीमें होने से, वह उस वाक्य का तात्पर्य ही तो है। इसलिये उसका ग्रहण तात्पर्यशक्ति से ही होता है। इसके लिये पृथक् व्यापार मानने की आवश्यकता ही क्या? हाँ, यह तो ठीक है कि इस तात्पर्यग्रहण की क्रिया में एक पृथक् अर्थ (वाच्यार्थ) मध्यम अवस्था में पाया जाता है। किन्तु वह तात्पर्यप्रतीति के उपाय के रूप में रहता है। जैसे कि पदार्थप्रतीति वाक्यार्थप्रतीति का उपाय है, वैसे ही ये मध्यगत वाक्य तात्पर्य-प्रतीति के उपाय हैं।

इसपर आनन्दवर्धन कहते हैं, "शब्द का वाच्यार्थ और प्रतीयमान अर्थ* एक ही नहीं होते। इन से प्रथम अर्थ शब्द का वाच्यार्थ होता है, किन्तु द्वितीय अर्थ प्रथम अर्थ की अवगमन शक्ति से ज्ञात होता है। इसके अतिरिक्त, वाचकशक्ति तो केवल शब्द ही में हो सकती है, किन्तु अवगमनशक्ति संगीत आदि अवाचक स्वरों में भी रह सकती है। और तो क्या, शरीरचेष्टा से भी अभिप्राय व्यक्त हो सकता है। 'अनया मृगाक्ष्या कटाक्षेणाभिप्रायोव्यंजितः' यह वाक्य दर्शाता है कि कटाक्षद्वारा अभिप्राय व्यक्त हुआ है। तब अवगमनशक्ति और वाचकशक्ति एक ही है इस कथन

में क्या अर्थ रहा ? और तात्पर्यशक्ति–जो वाच्यार्थ ही मे संबद्ध रहती है–अवगमन-व्यापार तथा व्यंजनाव्यापार दोनों को अन्तर्भूत कर लेती है–इस कथन में भी क्या सार रहा ?

तात्पर्यवादी इसपर कहते है कि ध्वनिवादी. प्रथम प्रतीत अर्थशक्ति में ही तात्पर्यशक्ति को सीमित क्यों मानते है ? यह तो नहीं कि प्रथम अर्थ में ही तात्पर्य शक्ति रुक जाती है। वक्ता का अन्तिम अभिप्राय जब तक ज्ञात होता है–तात्पर्य-शक्ति का विस्तार है। जहाँतक आवश्यक है वहाँतक तात्पर्यशक्ति का विस्तार होता है, इसलिये पृथक् 'ध्वनिव्यापार' मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। तात्पर्यवादी ध्वनिवादी से पूछते है –

'एतावत्येव विश्रान्तिः तात्पर्यस्येति कि कृतम् ।
यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्य न तुलाधृतय् । '

ध्वनिवादि कहते,हैं कि वक्ता का अभिप्राय वाक्यद्वारा ध्वनित होता है। किन्तु यह अभिप्राय तात्पर्यार्थ में ही आ जाता है। "गामानय" इस वाक्य का तात्पर्य वाच्यार्थ ही में विश्रान्त हुआ है। किन्तु "दरवाजा ...... दरवाजा ....." आदि जब कहा जाता है तब 'दरवाजा खोल दो' अथवा 'दरवाजा बंद कर दो' इस रूप का वक्ता का अभिप्राय हम प्रसंग के अनुसार समझ लेते हैं। यह तो तात्पर्य ही है। इस लिये, व्यंजकत्व तात्पर्य से भिन्न नहीं है। अतएक व्यंजनाव्यापार मानने की कोई आवश्यकता नही है।– 'तात्पर्यनातिरेकाच्च व्यंजकत्वस्य न ध्वनिः।"

ध्वनिवादियों का सब से प्रबल आधार है रसास्वाद। इनका कथन है कि रसास्वाद की उपपत्ति के लिये ध्वनिस्वीकार आवश्यक है। किन्तु तात्पर्यवादी कहते हैं कि रसास्वाद भी तात्पर्य ही में आ जाता है। वाक्य का पर्यवसान नित्य क्रिया में होता है। 'गाम आनय" इस वाक्य का पर्यवसान बैल को ले आने की क्रिया में होता है। "दरवाजा ...... दरवाजा ......" इस वाक्य का पर्यवसान वक्ता के अभिप्राय के अनुसार, दरवाजा बन्द करने की अथवा खोलने की क्रिया मे होता है। वैसे ही विभावादि का पर्यवसान "आस्वाद क्रिया"मे होता है। मीमांसकों के मन्तव्य के अनुसार वाक्यार्थ का पर्यवसान क्रिया में ही होता है इसलिये रसास्वाद भी तात्पर्यशक्ति में ही अन्तर्भूत होता है। इस बात को सिद्ध करने के लिये वे भट्टनायक के भोगीकरण का आधार लेते हैं। इसपर ध्वनिवादियों का कहना है कि ऐसा मान लेने से यह भी मानना पड़ेगा कि रस अभिधा तथा तात्पर्य की शक्तियों द्वारा ही प्रतीत होता है, और तब रस की स्वशब्दवाच्यता भी मानना अवश्य होगा। तात्पर्यवादी अपने ही हठ पर डट कर, रस की स्वशब्दवाच्यता भी स्वीकार कर लेता है। उसके ध्यान में नहीं आता कि, स्वशब्दवाच्यता एक रसदोष है।

ध्वनि तथा तात्पर्यवाद के क्षेत्र एक दूसरे से इतने सटे हुए हैं कि ध्वन्यालोक का एक अभिनवगुप्तपूर्व टीकाकार अपनी टीका में ध्वनि का तात्पर्य से समीकरण कर देता है। "यस्तु ध्वनिव्याख्यानायोद्यत: तात्पर्यशक्तिमेव [illegible] वा ध्वननमवोचत्, स नास्माकं हृदयमावर्जयति।" और, "यस्तु अत्रापि तात्पर्यशक्तिमेव ध्वननं मन्यते, न स वस्तुतत्त्ववेदी।" इस प्रकार इस टीकाकार के मत का अभिनवगुप्त ने उल्लेख किया है और इस मत के विषय में प्रतिकूलता दर्शायी है। भोज ने तो, "तात्पर्यमेव वचसि ध्वननमेव काव्ये" इस प्रकार दोनों में समन्वय करते हुए "चैत्रवैशाख" और "मधुमाधव" के समान इन्हें पर्याय ही निर्धारित किया है। वे कहते है:—

> अदूरविप्रकर्षात्तु द्वयेन द्वयमुच्यते।
> यथा सुरभिवैशाखौ मनुमाधवसंज्ञया॥

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि ध्वनि और तात्पर्य परस्पर पर्याय हैं, तब आनन्दवर्धन का यह आग्रह क्यों है कि 'ध्वनि' एक पृथक् व्यापार मानना चाहिये? यदि भोज का यह कथन कि व्यवहार में जिसे तात्पर्य कहा जाता है उसीको काव्य में ध्वनि कहा जाता है – सत्य है तब यह क्या केवल शब्द ही का भेद है? अथवा तात्पर्य से ध्वनि को भिन्न मानने मे ध्वनिवादियों का कुछ दूसरा अभिप्राय है? इन प्रश्नों का उत्तर खोजना चाहिये।

ध्वनिवादी और ध्वनिविरोधकों में भूमिका भेद

आनन्दवर्धन का "तात्पर्य" और धनिक का "तात्पर्य" इनमें बहुत बडा भेद है। आनन्दवर्धन की तात्पर्य की कल्पना शास्त्रीय है। तात्पर्यशक्ति के प्रयोग के विषय में मीमांसा की जो सीमाएँ हैं उनका आनन्दवर्धन बड़ी सतर्कता से पालन करते हैं। अर्थप्रतीतिके विषय में मीमांसा में अभिधा–तात्पर्य–लक्षणा इस प्रकार क्रम दिया गया है। अभिधा से पदार्थो की सामान्यावगति होती है तथा तात्पर्य से उनकी विशेषावगति होती है। इस विशेषावगति में यदि बाध हुआ तभी लक्षणा प्रवृत्त होती है; अन्यथा नहीं। इस प्रकार तात्पर्य यदि लक्षणा तक नहीं नही जा सकता तब व्यंजना को–जो कि लक्षणा से भी आगे है–कैसे स्पर्श कर सकता है। आनन्दवर्धन ने अभिधा–तात्पर्य तथा लक्षणाकी इन शास्त्रीय सीमाओं का ठीक ठीक पालन किया है, और इसीलिये उन्हें काव्यार्थ की उपपत्ति के लिये व्यंजनारूप स्वतन्त्र व्यापार मानना पड़ा। (तस्मात् अभिधा–तात्पर्य–लक्षणाव्यतिरिक्त: चतुर्थोऽसौ व्यापार: ध्वननम्–लोचन)। धनिक ने ध्वनि का तात्पर्य में अंतर्भाव करने में तात्पर्यशक्ति

का विस्तार तो किया, इसमें, जिस शास्त्र के आधारपर यह किया जा रहा है उसकी सीमा का अतिक्रमण हो रहा है इस बात का उन्हें ध्यान न रहा। और यह दोष धनिक ने अकेले ने नहीं किया है। मीमांसा के क्षेत्र में ही काव्यार्थ को ढूँढने की इच्छा रखनेवाले प्रत्येक मीमांसक ने यह दोष किया है। मीमांसकों ने तीन पृथक् वृत्तियों का स्वीकार किया है—अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा। उनके परस्पर भिन्न क्षेत्र भी निर्धारित किये। किन्तु अन्विताभिधानवादी लक्षणा का क्षेत्र वाच्यार्थ से पूर्व ही मानते हैं इस बात के आधार पर भट्ट लोल्लट आदि ने दीर्घ-अभिधा का स्वीकार किया और अभिधा को सीधे व्यंजनातक पहुँचाया। इसमें उन्होंने संकेत में जो नियम हैं उन सब को एक ओर कर दिया। धनिक ने प्रतिनियतकार्यकारणभाव के संबन्ध से तात्पर्यवृत्ति का स्वीकार किया और उसीका व्यंजना तक विस्तार किया। किन्तु इसमें तात्पर्य के बाद आनेवाली लक्षणा का उन्हें ध्यान नहीं रहा। इस प्रकार अभिधावादी तथा तात्पर्यवादी दोनों ने जिस शास्त्र के आधार से विवेचन किया उसीकी सीमाओं का स्वयम् ही अतिक्रमण किया। लक्षणावादियों ने भी यही दोष किया है। व्यजना को लक्षणा के अन्तर्गत बनाते हुए द्वितीय लक्षणा अर्थात् विशिष्ट लक्षणा का उन्होंने स्वीकार किया। किन्तु इसमें या तो अनवस्था दोष होता है या ज्ञान और फल के नियम का भंग होता है, इस बात की ओर उनका ध्यान नहीं रहा। नैयायिक भी व्यंजना को अनुमानविशेष बनाते रहे और इसमें अनुमान के आधारभूत लिंगलिंगीसंबन्ध की ओर वे ध्यान न दे सके। मम्मट ने शब्दव्यापारविचार में स्पष्ट रूप से कहा है—"न हि वाच्यव्यंग्ययोः प्रतिबन्धग्रहे किंचित् प्रमाणमस्ति।" सारांश, इन सभी साहित्यमीमांसकों ने व्यजना का स्वीकार न करने के आग्रह से अपने ही शास्त्रों को व्याकुल किया।

आनन्दवर्धन ने यह दोष नहीं किया। पद-वाक्य-प्रमाणों से उन्होंने जिन जिन कल्पनाओं को लिया उनकी शास्त्रीय सीमाओं का उन्होंने रंच मात्र भी अतिक्रमण नहीं किया। अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा, अनुमान आदि सभी का उपयोग उन्होंने शास्त्र की सीमा में रहकर किया और जहाँ इनकी गति रुक गयी वहाँ केवल काव्यैकगत व्यंजनाव्यापार का स्वीकार किया। इससे, अन्य संबन्धित शास्त्रों को व्याकुल न करते हुए भी काव्य की विशेषता का वे प्रस्थापन कर सके। काव्यमीमांसकों पर आनन्दवर्धन का यह बड़ा भारी उपकार है।

कवित्वबीजम् प्रतिभानम्

ध्वनिविरोधकों ने काव्यार्थ को लौकिक प्रमाणों की तथा लौकिक व्यापारों की सीमाओं में लाने की चेष्टा की और आनन्दवर्धन ने व्यंजनाव्यापार मानते हुए

काव्य को अलौकिकता का प्रतिपादन किया । काव्यार्थ जैसे अलौकिक है वैसे ही व्यंजनाव्यापार भी अलौकिक है । व्यंजनाव्यापार का क्षेत्र काव्य ही है, काव्य से बाहर व्यंजनाव्यापार का स्थान नहीं है । तात्पर्यादि को जैसे अलौकिक काव्यार्थ का आकलन नहीं हो सकता वैसेही व्यंजना को भी लौकिक व्यवहार में स्थान नही दिया जा सकता । ऐसा करना भी दोष ही होगा । अलौकिक काव्यार्थ की प्रतीति करानेवाला व्यंजनाव्यापार भी अलौकिक ही है ।

व्यंजना तथा काव्यार्थ की इस अलौकिकता का क्या कारण है ? लौकिक विषय काव्य के क्षेत्र में आते ही अलौकिक किस कारण बनतें हैं ?–इसका एकमात्र उत्तर है––प्रतिभा । प्रतिभा ही काव्यार्थ को अलौकिक बनाती है और प्रतिभाही ध्वनन का अर्थात् व्यंजना का भी प्राण है । अभिनवगुप्त स्पष्ट ही कहते हैं,–'प्रतिपत्तृप्रतिभासहकारित्वं हि अस्माभिः ध्वननस्य प्राणत्वेन उक्तम् ।' कवि के समान रसिक के लिये भी प्रतिभा आवश्यक है । लौकिकपदार्थ कविकी प्रतिभा में से उज्ज्वल हो कर रसिक के समक्ष प्रस्तुत होते हैं और रसिक भी प्रतिभाबल से उनका ग्रहण करता है तभी रसनिष्पत्ति संभव होती है; इसमें विशेष यह है कि कवि की और रसिक की भी प्रतिभा नवनवोन्मेषमुक्त ही होती है। भेद इतना ही है कि कवि की प्रतिभाकारक (कारयित्री) रहती है और रसिक की प्रतिभा भावक (भावयित्री) रहती है ।

आनन्दवर्धन का विशेष यह है कि अपने विवेचन में उन्होंने प्रतिभा के इस अंश की ओर किंचिन्मात्र भी अनवधान नहीं होने दिया । ध्वनिविरोधकों ने काव्य का विवेचन तद्गत प्रतिभा को वर्जित करते हुए किया । अतएव उनका सभी विवेचन––रसविवेचन भी, केवल लौकिक के स्तर पर रहा । ध्वनिवादियों ने काव्यार्थ को प्रतिभा से अविच्छिन्न रूप में देखा। अन्य बिमर्शकों ने काव्यार्थ को प्रतिभा से अलग किया और फिर उसका विश्लेषण किया । दोनों के विवेचन में यह महत्त्वपूर्ण भेद है ।

कवि अपनी प्रतिभा से लौकिक अर्थ को अलौकिक के स्तरपर उठाता है एवं रसिक भी प्रतिभाबल से हो अलौकिक में प्रवेश करते हुए उसका आस्वाद लेता है। जब तक प्रतिभा के वलय में है तबतक ही काव्यार्थ की अलौकिकता है। अतएव प्रतिभा ही काव्यहेतु है । बिना प्रतिभा के, लौकिक अर्थ में काव्यार्थत्व नहीं आता, और खींचातानी करके लाने की चेष्टा यदि की गरी तो वह उपहास-विषय बन जाता है। (यां विना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वा वा उपहसनीयं स्यात्)। अतएव, 'कवित्वबीजं प्रतिभानम्' कहा जाता है। प्रतिभा के तेज से उज्ज्वल बनी हुई प्रत्येक लौकिक वस्तु आस्वाद्य बन जाती है। प्रतिभा के स्पर्श से रति के

समान शोक भी आस्वाद्य तथा आनन्दमय होता है, और बीभत्स भी आस्वाद्य हो कर रस पदवी प्राप्त करता है। अतएव, मम्मट ग्रन्थ के आरम्भ ही में कहते हैं कि सुखदुःखमोह आदि से भरपूर यह ब्रह्मा की त्रिगुणात्मक सृष्टि कविवाणी के माध्यम से जब प्रकट होती है तब 'ह्लादैकमयी' बनती है।

• • •

अध्याय अठारहवाँ

गुणालंकार

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
[illegible] मन्तव्याः कटकादिवत् ।।
— ध्वन्या. २।६

काव्य का सारभूत अर्थ रस है। रस की संज्ञा यहाँ सामान्य रस के अर्थ में प्रयुक्त है तथा इसमें विशेष रस, भाव, उनके आभास, भावसंधि आदि सभी असंलक्ष्यक्रम ध्वनिक्षेपों का अंतर्भाव किया गया है। शब्दार्थों में रसादि अभिव्यक्त होते है अतएव रस तथा शब्दार्थ में व्यंग्यव्यंजक संबन्ध है। कविद्वारा काव्य में प्रयुक्त शब्द वस्तुतः लौकिक ही रहते हैं, किन्तु कविप्रतिभा से जब वे प्रकाशित होते हैं तब उन पर गुणालंकारों के संस्कार होते हैं। इन संस्कारों से ही इनमें व्यंजकता का सामर्थ्य आता है। लौकिकगत शब्दार्थों का यदि रस में पर्यवसान होना आवश्यक है तब गुणालंकार ही इनका माध्यम है। अतएव वामन कहते हैं — "गुणालंकारसंस्कृतयोरेव शब्दार्थयोः काव्यशब्दोऽयं प्रवर्तते।"

किन्तु वामन के मत के अनुसार गुण तथा अलंकार दोनों शब्दार्थो के धर्म है। दोनों में भेद केवल यही है कि गुण शब्दार्थो के नित्य धर्म हैं और अलंकार अनित्य धर्म हैं। आनन्दवर्धन ने रस तथा शब्दार्थ में जीवशरीरसंबन्ध माना है [१] और बताया है कि गुण रसाश्रित हैं तथा अलंकार शब्दार्थाश्रित है।

---

१. रस और शब्दार्थों में जीवशरीरसंबन्ध क्यों मानना चाहिये, गुणगुणिसंबन्ध अथवा धर्म-धर्मिसंबन्ध क्यों माना नही जा सकता, इसका विवेचन आनन्दवर्धन ने ध्वनिकारिका ३।३३ की वृत्ति में किया है। जिज्ञासु अवश्य देखें। इसका यहाँ विस्तार नही किया जा सकता।

गुण रसधर्म हैं

आनन्दवर्धन के पूर्व गुण शब्दार्थों के साक्षात् धर्म माने जाते थे। भामह कहते है—"श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते।' शब्दों की श्रव्यता, असमस्तता आदि को ही माधुर्य कहा जाता था। परन्तु आनन्दवर्धन ने दर्शाया कि गुण शब्दार्थों से साक्षात् संबद्ध ही नहीं हैं। उन्होंने दर्शाया है कि श्रव्यत्व धर्म माधुर्य के लिये आवश्यक है, वैसे ही वह ओजस् के लिये भी आवश्यक है (श्रव्यत्वं पुनरोजसोऽपि साधारणम्)। और समासयुक्त रचना ओज ही का साधारण धर्म नहीं है। उन्होंने यह भी दर्शाया है कि शृंगार की रचना में अर्थात् माधुर्य में कई बार समासयुक्त रचना पायी जाती है। अतएव गुणों को शब्दार्थों का धर्म नहीं माना जा सकता।

आनन्दवर्धन कहते है कि गुण रसों के धर्म हैं। माधुर्य शृंगार ही का धर्म है। विप्रलम्भ, करुण तथा शान्त में इनकी प्रकृष्ट प्रतीति होती है। ओजस् रौद्रादि का धर्म है। माधुर्य और ओजस् मूलतः चित्त की द्रुति और दीप्ति के रूप हैं। रस चित्तवृत्ति रूप है। शृंगारादि के आस्वाद के समय चित्तद्रुति रसिक को प्रतीत होती है तथा वीरादि के आस्वाद के समय चित्तदीप्ति का वे अनुभव करते हैं। इस प्रकार, द्रुति और दीप्ति आस्वादरूप चित्तवृत्ति ही के विशेष हैं। प्रसाद भी रसधर्म ही है। काव्य से रसिक के हृदय में उचित रूप से रस का समर्पित होना ही प्रसाद है। यह समर्पण हृदयसंवाद के कारण होता है और चित्त की निर्विघ्न अवस्था न हो तो हृदयसंवाद नहीं होता। चित्त की निर्विघ्न अवस्थाही प्रसन्न अवस्था अर्थात् प्रसाद है। इस अवस्था में ही रसिक से हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रम से रसावेश हो सकता है। इस प्रकार प्रसाद भी चित्तधर्म ही है। इस तरह गुण आस्वादरूप चित्तवृत्ति के विशेष हैं। रसिक के आस्वाद के ये विशेष आस्वाद्य रस पर उपचरित हुए है एवं वहाँ से वे व्यंजक शब्दार्थों पर उपचरित हुए है (तं च प्रतिपत्त्रास्वादमया, तत आस्वाद्ये उपचरिता रसे, ततश्च तद्व्यंजकयो शब्दार्थयो:। लोचन)। अतएव गुणों को शब्दार्थधर्म मानना उपचारमात्र है [२]

---

२. साहित्यशास्त्रान्तर्गत रीतियों का यहा पृथक् रूप से विवेचन नहीं किया है। रीतियों का कुछ विचार पूर्व वामन तथा कुन्तक के प्रसंगमें पूर्वार्ध में किया है। इसके अतिरिक्त, 'वैदर्भी रीति' नामक पृथक् प्रबन्ध में हमने रीतियों का विवेचन किया है। (देखिये—नवभारत–मराठी, दीपावलि विशेषांक, १९५०)। स्थल के अभाव के कारण वह सम्पूर्ण विवेचन यहां प्रस्तुत करना असंभव हुआ।

अलंकारों की रसव्यंजकता

अलंकार शब्दार्थाश्रित हैं और उन्हींसे शब्दार्थों में व्यंजकता का सामर्थ्य आ जाता है। रस अभिव्यक्त होने के लिये काव्य को आरम्भ में वाच्यार्थ अथवा वाच्य का आश्रय करना ही पड़ता है। यह वाच्य रसाभिव्यक्ति के लिये समर्थ होना चाहिये। वाच्यार्थ में यह सामर्थ्य अलंकारों से आता है। यही एक अन्य प्रकार से कहा जा सकता है। वाच्य के लौकिक रूप में से रस अभिव्यक्त नहीं होते। रसाभिव्यक्ति के लिये वाच्यार्थ को लौकिक से भिन्न अर्थात् लोकोत्तर रूप धारण करना पड़ता है। यह लोकोत्तर रूप ही वाच्यार्थ का अलकृत रूप है। रसावेश में प्रतिभावान् कवि जो रचना (शब्दप्रयोग) करता है उस रचना (शब्दयोग) में से निर्माण होनेवाला वाच्यार्थविशेष ही अलंकार है। इसको 'उक्तिविशेष' भी कहा जाता है। रसयुक्त काव्य की रचना करते समय प्रतिभावान् कवि की रचना मे अलंकार आप ही प्रकट होते हैं। आनन्दवर्धन कहते हैं कि इस अवस्था में अलंकार कवि के समक्ष 'अहम्पूर्विकया' उपस्थित होते हैं। इस प्रकार काव्य में आये अलंकारों का रस के साथ अंतरंग संबन्ध रहता हे। अतएव रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से अलंकारों को केवल बाह्य समझने की आवश्यकता नहीं है। (अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेः अहंपूर्विकया परापतन्ति।...युक्तं चैतत्। यतो रसाः वाच्यविशेषैरेवाक्षेप्तव्याः। तत्प्रतिपादकैश्च शब्दैः तत्प्रकाशिनो वाच्यविशेषाः एव रूपकादयोऽलंकाराः। तस्मान्न तेषां बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ)।

इसका अर्थ यह है कि काव्यरचना के समय रसाभिव्यक्ति और अलंकारों की सृष्टि—दोनों कवि के एक ही प्रयास से सिद्ध होनी चाहिये। तभी वह अलंकार उस रस से, अंतरंगसंबद्ध होकर व्यंजनक्षम हो सकता है। यदि ऐसा न हुआ और अलंकार के लिये कवि को यदि पृथक् यत्न करना आवश्यक हुआ, तब कवि का अवघान रस में नहीं रह पाता और केवल अलंकारों की ही रचना में लगा रहता है। इस अवस्था में रचा अलंकार रस से अंतरंगसंबद्ध नहीं रहता। बाह्य हो जाता है। यह अलंकार रसव्यंजक तो रहता ही नहीं, प्रत्युत रस को बाधक होता है। किसी समय वह रस को बाधक न भी हुआ तो रस में गौणत्व अवश्य लाता हैं। उदाहरण से यह स्पष्ट होगा —

> कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता
> निपीतो निःश्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः।
> मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति बाष्पः स्तनतटीं
> प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम्॥

कोई नायिका ईर्ष्यावश रूठ गयी। हस्ततल पर कपोल रखे रहने से कपोल पर लिखित चंदन की रचना (पत्राली) धुल गयी थी; दीर्घ निःश्वासों के कारण अधर सूख गये थे; और दुख को हृदय ही में दबाये रखने से वक्षःस्थल में स्पन्दन हो रहा था। उसका अनुनय करता हुआ नायक कहता है—"तुम्हारे कपोल पर लिखित चन्दनरचना हस्ततल ने प्रोञ्छित की है; अमृततुल्य अधर रस के निश्वासों ने पान कर लिया है; बाष्प भर तुम्हारे गले लगा है; और इससे तुम्हारा वक्षस्थल तरलित हो रहा है। यह क्रोध ही तुम्हें प्रिय हो रहा है; हम नहीं। कमाल का तुम्हारा हठ भी है।"—यह एक चाटूक्ति है। प्रसग है ईर्ष्याविप्रलंभ का; नायिका के मिलन के लिये नायक उत्सुक हो उठा है किन्तु अड़ंगा है क्रोध का। इस क्रोध का वर्णन करने में, श्लेष के आधार से कवि ने इस पर नायक की कृति (कपोल-स्पर्श, चुम्बन, आलिंगन आदि) का आरोप किया है और इसमें, कवि के प्रयास के बिना ही व्यतिरेक की छाया आ गयी है। यह व्यतिरेक यहाँ रस में विघ्न तो करता ही नहीं, परन्तु ईर्ष्याविप्रलम्भ को और भी आस्वाद्य बनाता है; और हमें बड़ा अचम्भा होता है कि नायिका के मान के वर्णन में कवि श्लेष और व्यतिरेक कैसे सिद्ध कर पाया। यही अलंकारों का वैचित्र्य है। पूर्वार्ध में उद्धृत कालिदास का श्लोक—"चलापांगां दृष्टिम्" भी—जिस में भ्रमरस्वभावोक्ति अलंकार है—रसाभिव्यंजक अलंकार का अच्छा उदाहरण है। इस श्लोक की प्रत्येक कल्पना दुष्यंत की अभिलाषा को अधिकाधिक अभिव्यक्त कर रही है। ये दोनों उदाहरण अलंकारों की रसव्यंजकता दर्शाते हैं। कवि ने रसावेश में शब्दरचना की है उसके द्वारा प्रकट वाच्यार्थ ने यहाँ आप ही अलंकारों का रूप धारण किया है। अलंकार की सृष्टि के लिये कवि को पृथक् यत्न करने की आवश्यकता नहीं रही।

इन श्लोकों की तुलना मे निम्न पद्य देखिये—

> स्रस्तः स्रग्दामशोभां त्यजति विरचितामाकुलः केशपाशः
> क्षीबाया नूपुरौ च द्विगुणतरमिमौ क्रन्दतः पादलग्नौ।
> व्यस्तः कम्पानुबंधादनवरतमुरो हन्ति हारोऽयमस्याः
> क्रीडन्त्याः पीडयेव स्तनभरविनमन्मध्यभङ्गानपेक्षम्॥

यह पद्य रत्नावली नाटिका से है। वसन्तोत्सव के समय युवतियों की क्रीडा उदयन देख रहे हैं। तब अपने मित्र से वे कहते हैं—"कष्टपूर्वक रची हुई यह फूलों की माला, केशपाश आकुल होने से गिर रही है; ये दोनों नूपुर इस मद्य से उन्मत्त यवति के पैरों में लगे क्रन्दन कर रहे हैं। और स्तन भार से मध्यभाग भंग होगा इसकी तनिक भी चिन्ता न करती हुई, क्रीडा में निमग्न इस युवति का हार, पीड़ा से मानों छाती पीट रहा है।" वसंतोत्सव के शृंगार पूर्ण दृश्यों का वर्णन

करने में, कवि ने उत्प्रेक्षा के अधीन हो कर शोक के विभानुभाव उपस्थित किये हैं। वे मूल रस के निश्चय ही बाधक हुए है। यहाँ कवि ने अलंकार तो पाया है किन्तु रस को खो दिया है। ऐसे अलंकार रस से अंतरंगसंबद्ध नहीं रह सकते। वे बाह्य होते है।

अब स्पष्ट होगा कि रस के परिपोष में साधक अलंकार किस सरलता से सिद्ध होते हैं और कोरी कल्पना के अधीन हो कर कवि ने निर्माण किये अलंकार रस के बाधक कैसे होते है। यह सब ध्यान में रखते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ।। (२।१६)

कभी कभी कविद्वारा निर्मित अलंकार, यद्यपि रसाभिव्यंजक नहीं रहता, तथापि रस में बाधक भी नहीं होता। यह अलंकार सर्वथा अनावश्यक होता है। ऐसा अनावश्यक अलंकार भी समय में काव्य में नष्ट नहीं होता। उदाहरण के लिये—

लीलावधूतपद्मा कथयन्ती पक्षपातमधिकं नः ।
मानसमुपैति केयं चित्रगता राजहंसीव ।।

'रत्नावली' में सागरिका का चित्र देख कर उदयन की यह उक्ति है। उदयन कहते हैं, "कमलों को हलका-सा धक्का देती हुई और रह कर पंखों को फड़फड़ाती हुई, मानस सरोवर में चित्रगतिसे संचार करनेवाली राजहंसी के समान, लीलया कमल से खेलती हुई मुझ से स्नेह दर्शाकर मेरे मन को आकृष्ट करनेवाली यह चित्रगत युवति कौन हो सकती है?"— यहाँ, श्लेषपर आधारित उपमा शृंगार में बाध तो नहीं लाती, किन्तु वह उसे पुष्ट भी नहीं करती। कवि के मन में एक कल्पना स्फुरित हुई और उसने निविष्ट कर दिया। ऐसा अलंकार भी रसव्यंजक नहीं रह सकता। अतएव रसमय काव्य में यह भी बाह्य है।

सारांश, काव्यरचना के समय रसकवि को अलंकारों के [illegible] ही चाहिये। उचितानुचितविवेक ही इस समीक्षा का स्वरूप है। रस कवि में उचितानुचितविवेक कैसे रहता है इस बात को उदाहरण के साथ विवेचित करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं,— काव्य में रसानुगुण रूप में आये हुए अलंकार ही शब्दार्थों में व्यंजकता का सामर्थ्य निर्माण करते हैं। किन्तु इस सीमा का यदि त्याग किया गया और कवि कल्पना तथा अलकारों के वश में हो गया तब उसका प्रयास निश्चय ही रसभंग का कारण होता है।" (स एवमुपनिबध्यमानोऽलंकारो रसाभिव्यक्ति हेतुः कवेर्भवति। उक्त प्रकारातिक्रमे तु नियमेनैव रसभंगहेतुः संपद्यते)।

'अनौचित्य ही काव्यदोष है'

अलंकारों का उचित संनिवेश ही लौकिक शब्दार्थों में व्यंजकशक्ति लानेका एकमात्र उपाय है। औचित्य ही रस का परमरहस्य है और अनौचित्य ही रसभंग करनेवाला एकमात्र दोष है। आनन्दवर्धन कहते है—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥

क्षेमेन्द्र इसी को दृष्टान्त द्वारा और स्पष्ट करते हैं। 'औचित्यविचारचर्चा' में वे कहते हैं—

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यता—
मौचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः ॥

मेखला और हार अलंकार तो हैं, और शौर्य तथा करुणा भी गुण हैं; किन्तु मेखला को कंठ में अथवा हार को कटि में धारण करने से, अथवा शरणागत पर शौर्य और शत्रु पर करुणा करने से, हँसी ही उड़ायी जायेगी। औचित्य न हो तो गुण और अलंकार भी शोभा नही पायेंगे।

महाकवियों के काव्य में भी कभी कभी रसभंग के प्रसंग दिखाये पाये जाते है। इस का कारण यदि देखा गया तो पता चलेगा कि उस समय उनका रस में अवधान न रहकर वे वाह्य कल्पना के वश में हो गये हों। इसीको आनन्दवर्धन 'असमीक्ष्यकारिता' कहते हैं। महाकवियों के काव्य में प्रतीत असमीक्ष्यकारिता की चर्चा करने का यह स्थान नही है। ग्रन्थ में यत्र तत्र ऐसे उदाहरण दिये गये है इस लिये कि किसी वात को उदाहरण द्वारा विशद करना था— इसके लिये कोई और गति न थी। अन्यथा, आनन्दवर्धन का कथन, "अपनी सहस्रावधि सूक्तियों द्वारा जिन्होंने अपनी महत्ता प्रमाणित की है एवम् हमें भी सभ्य बनाया है, उन महात्माओं के, किसी प्रसंगवश किये दोषों का नित्य उद्घाटन करना, हमारी अपनी दोषैकदृष्टि का प्रदर्शन मात्र है।" सर्वथा सत्य है।

काव्य का नूतन वर्गीकरण

इस प्रकार, आनन्दवर्धन ने, विविधकाव्यांगों की रसमुख से व्यवस्था की तथा रस के प्रधानगुणभाव के अनुसार काव्य के तीन भेद निर्धारित किये—

(१) वह काव्य प्रकार-जिस में रसादि ध्वनि का ही प्राधान्य है तथा वाच्य-वाचकों के वैचित्र्य का, रस की दृष्टि से गौणभाव है। काव्य का यह उत्तम प्रकार है। साहित्यशास्त्र में इसे '**ध्वनिकाव्य**' कहा जाता है।

(२) जिसमें रसादिव्यंग्य तो है, किन्तु वाच्यवाचक सौंदर्य की अपेक्षा उसकी गौणता है एवं वह रसादिव्यंग्य अन्ततः वाच्यवाचक सौंदर्य ही का परिपोष करता हैं। काव्य का यह मध्यम प्रकार है। इसे '**गुणीभूतव्यंग्य**' कहा जाता है।

(३) काव्य का वह भेद जिसमें रसाभिव्यक्ति कवि का प्रयोजन ही नहीं है, और वाच्यवाचक ही के सौंदर्य पर कवि बल देता है यह काव्य का कनिष्ठ प्रकार है और इसे '**चित्रकाव्य**' की संज्ञा दी जाती है।

ध्वनिकाव्य

पूर्व ध्वनि का स्वरूप विशद करते हुए, ध्वन्यालोक की कारिका 'यत्रार्थः शब्दो वा'— उद्धृत की गयी है। इस कारिका में कथित लक्षण ही ध्वनिकाव्य का अर्थात् उत्तम काव्य का लक्षण है। पूर्वगत अध्यायों में ध्वनिकाव्यों के अनेक उदाहरण दिये गये हैं। रस, भाव, इनके आभास, भावोदय आदि के उदाहरण, ध्वनिकाव्य ही के उदाहरण हैं। इनमें प्रतीत होनेवाला रसादि ही काव्यात्मा है। जब ध्वनिकार 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' कहते हैं तब उनका इस रसादिध्वनि से ही अभिप्राय है।

गुणीभूतव्यंग्य

[illegible] रूप काव्यभेद में रस अथवा भाव ध्वनित होता है। परन्तु रसिक की हृदयविश्रान्ति इस रसादि में नहीं होती, अपि तु व्यंग्यार्थ से अधिक आस्वाद्य बने हुए वाच्यार्थ के चारुत्व में होती है। गुणीभूत व्यंग्य के उदाहरण-स्वरूप निम्न पद्य दिया जा सकता है—

लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र
यत्रोत्पलानि शशिना सह संप्लवन्ते।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र
यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः॥

"यह तो लावण्य की एक विलक्षण नदी ही उभर आयी है। आश्चर्य है, क्योंकि इस लावण्य की नदी में चन्द्रमा के साथ कमल अवगाहन कर रहे हैं, और इधर दो गजकुम्भ जलसे बाहर आ रहे हैं; इनके अतिरिक्त, कदलीस्तम्भ और मृणालदण्ड दे भी दिखाई रहे हैं"— इस पद्य में सिन्धु (नदी) शब्द से लावण्य

की परिपूर्णता, उत्पलशब्द से कटाक्षच्छटा, 'शशि' शब्द से मुख, द्विरदकुंभ से स्तन-द्वय, कदली से ऊरुद्वय, तथा मृणालदण्डने बाहुद्वय ध्वनित होते हैं। यहाँ लक्षणामूल अत्यंततिरस्कृतवाच्य ध्वनि है और यह ध्वनि 'अपराहि केयम्—यह कोई दूसरी ही दिखायी दे रही है' इस वाच्यांश को अधिक सौंदर्यशाली बना रहा है। इसमें व्यंग्यकी अपनी शोभा नहीं है। यह व्यंग्य वाच्यांश को सुंदर बना रहा है और वाच्य ही (उस युवति का अपरत्व) हमें अधिक प्रतीत होता है। चन्द्रमा और कमल—जो कभी एकसाथ नहीं रहते—यहाँ एकत्र हैं। गजकुंभ तो दिखायी दे रहे है, किन्तु इनके द्वारा सूचित हाथी ने अवगाहन करते हुए कदली और मृणाल का नाश क्यों नहीं किया इस बातपर आश्चर्य होता है। इस प्रकार के ध्वनिवलय ज्यों ज्यों हमें प्रतीत होते हैं त्यों त्यों इस लावण्य नदी की विलक्षणता (वाच्यांश) अधिकाधिक सुंदर लगती है, यह वाच्यार्थ का सौन्दर्य अन्ततः विस्मय को उत्पन्न करता है तथा अभिलाषा का विभाव बनता है। यहाँ एक बात का स्मरण रहे. यह पद्य यदि पृथक् रूप में लिया जाय, तब इसका वाच्यार्थ लक्षणामूल ध्वनि से अधिक सुंदर दीखता है। किन्तु फिरभी, जिस प्रसंग में यह पद्य अनुगत है, तद्‌गत रसध्वनि की दृष्टि से इस सुंदर वाच्यार्थ की भी गौणता ही है। इस पद्य में अन्ततः सूचित होनेवाली अभिलाषा, शृंगार का व्यभिचारी भाव है। गुणीभूत व्यंग्य के सभी प्रभेदों में यही होता है। वह अन्ततः किसी रस का कोई भाव सूचित करता ही है। क्योंकि रसभावविरहित काव्यप्रकार वस्तुतः संभव नही हैं।

चित्रकाव्य

उपर्युक्त दोनों काव्यभेदों से शेष काव्य चित्रकाव्यान्तर्गत है। वह काव्य, जिसमें विशेष रूप व्यंग्य का प्रकाशन नहीं होता एवं जिस में वैचित्र्य केवल वाच्यवाचक ही से संबद्ध रहता है— चित्रकाव्य है। ऐसा काव्य केवल 'आलेख्य-प्रख्य' अर्थात् उत्तम काव्य की जीवरहित प्रतिकृति मात्र है। दुष्कर यमकादि युक्त छंद, तथा व्यंग्यसंस्पर्शविरहित उत्प्रेक्षादि अलंकार इस काव्य के उदाहरण हैं। आनन्दवर्धन ने कहा है कि वास्तव में, यह तो काव्य ही नहीं है; काव्य का अनुकार मात्र है। (न तन्मुख्यं काव्यम्। काव्यानुकारो ह्यसौ)।

यहाँ शंका उठ सकती है कि इस स्थिति में काव्य का 'चित्रकाव्य' रूप कोई भेद भी हो सकता है? रसभावविरहित काव्यप्रकार ही संभव नहीं है। विश्व की किसी भी वस्तु का कवि ने वर्णन किया तो काव्यांग रूप में वह किसी न किसी रस का अथवा भाव का विभाव बनती ही है। इस स्थिति में, काव्य का रसभाव-विरहित 'चित्र' भेद कैसे माना जा सकता है? इसपर आनन्दवर्धन कहते हैं—

"आप ठीक कहते हैं। वस्तुतः रसभावविरहित काव्यप्रकार संभव नहीं है। किन्तु यह भी सत्य है कि ऐसा भी देखा जाता है जब कि कवि रसभावों की विवक्षा न रखते हुए काव्यरचना करते है, काव्यगत शब्दों का अर्थ विवक्षासापेक्ष रहता है। अतएव, ऐसे काव्य की जहाँ कवि को ही रसाभिव्यक्ति अपेक्षित नहीं है–व्यवस्था के लिए भिन्न काव्यप्रकार मानना पड़ता है। यह तो ठीक है, कि, कवि की विवक्षा न होने पर भी वाच्यसामर्थ्य से रसादि की प्रतीति होगी। किन्तु तब रसिक को जो रसप्रतीति होती है वह इतनी दुर्बल रहती है कि उस काव्य को नीरस ही मानना पड़ता है। इस नीरस काव्य की कल्पना करके ही हम 'चित्र' भेद मानते है।"

किन्तु, रसविरहित काव्य की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न पर आनन्दवर्धन कहते हैं, "ऐसी कल्पना न करने से काम नहीं चलेगा। अपनी वाणी को संयमित रखना जिन्हें ज्ञात ही नहीं है (विशृंखलगिराम), ऐसे अनेक कवियों में रसभावों की अपेक्षा ही न रखते हुए काव्यरचना करने की प्रवृत्ति नित्य देखी जाती है। अतएव, विवश होकर हमें भी इस भेद की कल्पना करनी पड़ी।

हमारे मत के अनुसार ध्वनिव्यतिरिक्त काव्यप्रकार ही संभव नहीं है। जिन की प्रतिभा परिणत हो गयी है ऐसे कवियों का लेखनव्यापार रसभावनिरपेक्ष रहता ही नहीं। महाकवियों ने अपने काव्यों में दर्शाया है कि कोई भी वस्तु रसपर्यवसायी हो सकती है। और हमने भी (आनन्दवर्धन उस युग के ख्यातिप्राप्त कवि थे) अपने काव्य में यथाशक्ति दर्शाया है। इतना ही नहीं, तो चाटुवचन तथा संप्रश्नक गाथाओं की गोष्ठियों में (कविमंडली की सभाओं में) भी व्यंग्य अथवा गुणिभूत व्यंग्य के अतिरिक्त काव्यप्रकार नहीं दिखायी देता। अतएव, हमारी दृष्टि में ध्वनिविरहित काव्यप्रकार ही नही हो सकता। काव्यरचना का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों की–जिनकी कि प्राथमिक अवस्था होती है–रचना को चाहे तो चित्रकाव्य कहा जा सकता है। किन्तु परिणतप्रज्ञ कवियों के सम्बन्ध में, ध्वनिकाव्य रूप एक ही काव्य-प्रकार हो सकता है।

आनन्दवर्धन ने चित्रकाव्य पर जो अभिप्राय प्रकट किया है उसे मूल ही में पढ़ना चाहिये। उसमें अधिकांश चित्रकाव्य की आलोचना ही प्रतीत होती है। चित्रकाव्य महाकवियों के काव्य का केवल 'प्रतिबिम्बकल्प' अथवा 'आलेखप्रख्य' अनुकरण' ही है। वह केवल 'काव्यानुकार' अथवा 'वाग्विकल्प' है। आनन्द-वर्धन के मत में ऐसा काव्य हेय है। रसभंगकारक अलंकारों का वे तिरस्कार करते हैं। रस का अवधान न रखते हुए काव्यरचना करनेवालों को वे आदर की दृष्टि से नहीं देखते। किन्तु महाकवि भी जब प्रसंगवश, केवल अलंकार के मोह के अधीन

हो गये दिखायी देते हैं, तब उन्हें बड़ा दुःख होता है। रसमय काव्यरचना की शक्ति होने पर भी उसे केवल कल्पना के विलास में जुटानेवाले और इस लालसा में रसभंग की भी चिन्ता न करनेवाले कवियों से वे कहते हैं, " भाइयों, अलंकारबन्ध की शक्ति होने पर भी कुछ तो विवेक रखना चाहिये, रसाभिव्यक्ति की ओर कुछ भी ध्यान न देना ठीक नहीं।" उनका स्पष्टरूप में कथन है कि, कवि को सदा रसपरतंत्र ही रहना चाहिये यह तथ्य कवियों को हृदयगंम करने के लिये ही हम ग्रन्थरचना के कष्ट उठा रहे है, न कि, ध्वनि प्रतिपादन के अभिनिवेश से। कवियों की अज्ञता देख कर वे चिढ़ भी जाते है किन्तु स्वभावतः संयत लेखक होने से वे आलोचना करने में क्रोध से भड़कने नहीं। इधर अभिनवगुप्त एक प्रखर आलोचक है। रस-दृष्टि छोड़कर केवल शब्दार्थव्यवहार पर ही बल देनेवाले साहित्यविमर्शकों का वे कड़ा उपहास करते हैं। चित्रकाव्य को तो वे 'अकाव्य' ही कहते है। कई प्राचीन कवियों ने इस प्रकार की रचना की और अपने आपको रसिक समझनेवालो ने इसे काव्य भी मान लिया; किन्तु इसीसे विवश होकर आनन्दवर्धन को इसकी आलोचना करनी पड़ी; किन्तु वे स्पष्ट रूपमें कथन करते हैं कि हेय काव्य किस प्रकार का होता यह दर्शाने के लिये मात्र इसका निर्देश किया गया है। (कविभि खलु तत् कृतम् अतो हेयतया उपदिश्यते)।

काव्यास्वाद एक अखण्डप्रतीति है।

जैसा कि आरंभ में बताया गया है, यहाँतक शब्दार्थ, रस तथा गुणालंकारों का विवेचन किया है। यह विवेचन अपोद्धार बुद्धि से किया गया है। वस्तुतः काव्य का आस्वाद रसिक अखण्ड बुद्धि से ही लेता है। ये रहे शब्दार्थ, ये गुणालंकार, यह रस तथा इनके मिश्रण से सिद्ध यह रहा काव्य; इसे रसिक की, अथवा काव्य-रचना के समय कवि की भी प्रतीति नहीं रहती। काव्यास्वाद लेने पर, रसिक जब उस आस्वादरूप अनुभव की दृष्टि से काव्य को देखता है तब उसे उसमें शास्त्रतः विवेच्य किन्तु प्रतीतितः अविभाज्य घटक दिखायी देते है। इन घटकों का स्वरूप बताकर उनके परस्पर अन्तर्गत संबन्ध स्पष्ट करने का कार्य साहित्यशास्त्र करता है। अभिनवगुप्त ने इस संबन्ध में कहा है,— "अखण्डबुद्धिसमास्वाद्यं काव्यम्, अपो-द्धारबुद्ध्या विभज्यते।"

प्रीति और व्युत्पत्ति

काव्य का प्रयोजन क्या है? प्रीति और व्युत्पत्ति ही रसिक के लिये काव्य प्रयोजन है। यद्यपि मम्मटाचार्य ने 'काव्यं यशसेऽर्थकृते...' आदि अनेक काव्य-

प्रयोजनों का निर्देश किया है तथापि उनमें से यश, प्रीति और व्युत्पत्ति ही वास्तव में काव्यप्रयोजन है। (हेमचन्द्र) प्रीति का अर्थ है आनन्द। यह तो 'सकल प्रयोजन मौलिभूत' प्रयोजन है। किन्तु व्युत्पत्ति क्या है और यह कैसे सिद्ध होती है यह बताना आवश्यक है। काव्य से प्राप्त होनेवाली व्युत्पत्ति पांडित्य नहीं है, अथवा व्यवहार के लिये आवश्यक चातुर्य भी नहीं है। काव्य के परिशीलन से रसिक व्युत्पन्न होता है इसका अर्थ यही है कि रसास्वाद के लिये आवश्यक रसिकप्रतिभा का विकास होता है (रसास्वादोपायस्वप्रतिभाविजृम्भारूपां व्युत्पत्तिम्–लोचन)। काव्य के परिशीलन से आनन्दलाभ तथा प्रतिभाविकास रूप दोनों फल रसिक को समकाल ही प्राप्त होते हैं। ये दोनों फल वास्तव में भिन्न नहीं हैं क्योंकि इनका विषय एकही है। काव्य में रसमुख से पुरुषार्थ का दर्शन होता है। (हृदयानुप्रवेश-मुखेन चतुर्वर्गोपायव्युत्पत्तिराधेया। नैते प्रीतिव्युत्पत्ती भिन्नरूपे एव, द्वयोरप्येक-विषयत्वात्–लोचन)। यही काव्यगत 'कान्तासंमिततयोपदेश' है। आनन्द तथा व्युत्पत्ति में यह आन्तरिक संबन्ध समझ लेने से ही, 'कला अथवा जीवन' के झगड़े से ये प्राचीन काव्यसमीक्षक दूर रहे।

उपसंहार

आनन्दवर्धन ने विवेचनपूर्वक की हुई काव्यांगों की पुनर्व्यवस्था और काव्य-प्रकारों को समक्ष रखते हुए लिखा गया ग्रन्थ ही मम्मटाचार्य का 'काव्यप्रकाश' है। यह तो स्पष्ट ही है कि काव्यप्रकाश की रचना में मम्मट ने आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्तकृत विवेचन का ध्यान रखा था। मम्मट ने आनन्दवर्धनकृत काव्यांग व्यवस्था का अनुसरण तो किया ही, और भी जहाँ तक हो सके इसे ध्वन्यालोक तथा अभिनवगुप्त के ही शब्दों में प्रस्तुत किया। काव्यप्रकाश के अध्ययन में हमें आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के शब्दों का स्मरण होता है, और ध्वन्यालोक तथा लोचन पढ़ते समय स्थानस्थान पर मम्मट का स्मरण होता है।

काव्यप्रकाश के आजतक कई सँस्करण निकल चुके हैं; किन्तु ध्वन्यालोक लोचन तथा अभिनवभारती के साथ इसमें तुलना की गयी है ऐसा एक संस्करण निकलना आवश्यक है। माणिक्यचन्द्रने अपनी संकेत टीका में इस दृष्टि से प्रयास किया है। किन्तु वह अब बहुत पुराना हो गया है। इस प्रकार सँस्करण यदि प्रकाशित हुआ तो, ध्वनिमत का संक्षेप मम्मट ने किस प्रकार किया यह स्पष्ट होगा। काव्यप्रकाश का अध्ययन करते समय, तद्गत युक्तियों का स्वरूप जब ध्वन्यालोक आदि ग्रन्थों में किये गये विवेचन से स्पष्ट होता है तभी काव्यप्रकाश का अनन्यसाधारण महत्त्व ध्यान में आता है।

काव्यप्रकाश के प्रथम छः उल्लासों में जितने विषय आये हैं उनका विवचन यहाँतक किया गया है। इस विवेचन में आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के ग्रन्थों का भरसक उपयोग किया गया है। साहित्यशास्त्र के अभ्यासकों को इस विवेचन का प्रस्तावना के समान उपयोग होगा। साहित्यशास्त्र की इस प्रस्तावना की समाप्ति हम लोचन के मंगलश्लोक ही से करें, जिससे इस प्रस्तावना की समाप्ति तथा साहित्यशास्त्र का आकरग्रन्थ ध्वन्यालोक के अध्ययन का आरंभ एकसाथ ही होगा—

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां
जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात् सारयति च ।
क्रमात्प्रख्योपाख्यात्प्रसरसुभग भासयति यत्
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते ॥

• • •

परिशिष्ट पहला

कुछ महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ

प्रकृत ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर ' इस बात की विवेचना आगे की जायगी ' इस प्रकार निर्देश किया गया है । किन्तु प्रमादवश, निर्देश के अनुसार विवेचना नहीं हुई। इसके अतिरिक्त, मूलतः ग्रन्थ में दोष, गुण तथा अलंकार के पृथक् अध्याय थे, किन्तु अन्ततः, उनका संक्षेप गुणालंकार के एक ही अध्याय में किया गया । इस संक्षेप के कारण भी कई निर्देश न रह सके । उनमें से कुछ एक यहाँ संदर्भ (context) सहित दिये जाते हैं ।

अध्याय २ – धर्मी तथा अलंकार— पृष्ठ ३९ पंक्ति १९

(संदर्भ–लोकधर्मी का स्वभावोक्ति से एवं वक्रोक्ति का नाटयधर्मी से किस प्रकार संबन्ध है इसकी विवेचना उत्तरार्ध में की जायेगी) ।

नाटय के समान काव्य में भी रसप्रयोग ही होता है । नाटयगत रस अभिनय के द्वारा संपन्न होता है, और काव्यवस्तु में भी ' स्वभिनीतता ' होना आवश्यक होता है । अभिनय की जिस प्रकार [illegible] रहती उसी प्रकार कविव्यापार की भी इतिकर्तव्यता रहती है । अभिनय की इतिकर्तव्यता है लोकधर्मी और नाटयधर्मी एवं कविव्यापार की गुणालंकार । गुणालंकार लोकधर्मी अभिनय साक्षात् भावसमर्पक होता है एवं नाटयधर्मी [illegible] होता है (अ. भा.)। इसी तरह स्वभावोक्ति में भावों का साक्षात् समर्पण होता है एवं वक्रोक्ति के द्वारा उक्तिवैचित्र्य का आधान होता है (व्यक्तिविवेक) । नाटयगत लोकधर्मी भित्तिस्थानीय हैं एवं नाटयधर्मी चित्र स्थानीय है तथा उनके द्वारा समूहालम्बन से विभाव आदि संपन्न होते हैं और रसप्रयोग सिद्ध होता है (अ. भा.) । इसी तरह सौदर्याधायक वक्रोक्ति तथा अर्थव्यक्ति गुणाधायक स्वभावोक्ति के द्वारा विभावादि-

साक्षात्कार के रसोक्ति सिद्ध होती है (तत्र उपमाद्यलंकारप्राधान्यं वक्रोक्तिः। साऽपि गुणप्राधान्ये स्वभावोक्तिः। विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तौ रसोक्तिः।–शृं. प्र.)। अतएव अभिनवगुप्त लोचन में कहते हैं–"काव्येऽपि च लोकनाट्यधर्मस्थानीये स्वभावोक्तिवक्रोक्तिप्रकारद्वयेन अलौकिक प्रसन्नमधुरौजस्वि शब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगादियमेव रसवार्ता।"

अध्याय ३ — रसवत्,–कान्तिगुण-रस-पृष्ठ–६९ टिप्पणी क. २५

(संदर्भ—रसवत् कान्तिगुण-रस इस क्रम से ही रस का इतिहास देखना आवश्यक होता है)।

भामह, दण्डी तथा उद्भट का कथन है कि विभावानुभावसंयोग के द्वारा जिसमें रस स्पष्ट तया प्रतीत होता है वह काव्य रसवत् है, अथवा उस काव्य में रसवत् अलंकार है; वामन का कथन है कि ऐसे काव्य में 'कान्ति' नामक गुण होता है और उसीके कारण काव्य में नवीनता प्रतीत होती है; और रुद्रट का विचार है कि ऐसा काव्यरस से युक्त रहता है। 'रसवत्' है एक अलंकार, 'कान्ति' है गुण; 'रस' है काव्य का सहज धर्म; और इन सबसे काव्यगत सौंदर्य का ही निर्देश किया गया है। इससे स्पष्ट होगा कि, रसवत्-कान्ति-रस इस क्रम से काव्यसौंदर्य पर विचार क्रमशः सूक्ष्मतर होता गया।

नाट्य से काव्यचर्चा पृथक् होते ही, काव्यालंकार का स्वतंत्र अभिधान उसे प्राप्त हुआ। 'अलंकार' शब्द काव्यगत सौंदर्य का वाचक हुआ और इसी अर्थ में उसका प्रयोग होने लगा। इससे, अलंकार, गुण, रस आदि सभी एक व्यापक अर्थ में 'अलंकार' ही बन गये। भामह के ग्रन्थ में गुण और अलंकारों का भेद नहीं है। कहा जा सकता है कि संभवतः भामह का उससे अभिप्राय भी नहीं था। भामह के टीकाकार उद्भट का एक वचन इस प्रकार है —

"समवायवृत्त्या शौर्यादयः, संयोगवृत्त्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः, ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां च उभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैव एषां भेदः।"

इस वचन से दिखायी देता है कि, गुणालंकारों का भेद उद्भट को स्वीकार न था, प्रत्युत उनका आशय है कि यमक, उपमा आदि जिस प्रकार शब्दार्थों के शोभाकर धर्म हैं उसी प्रकार माधुर्य आदि संघटना के शोभाकर धर्म है। उद्भट का यह विचार भामह विवरण में है, अतएव संभवतः भामह का भी ऐसा ही मत था ऐसा तर्क करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

किन्तु काव्यशोभाकरत्व की दृष्टि से सभी काव्यांग एक ही होने पर भी, दण्डी का मन्तव्य है कि कोई धर्म मार्गविशेष के असाधारण धर्म होते है और, कोई धर्म सभी मार्गों के साधारण धर्म होते हैं।

> पूर्व मार्गविभागार्थमुक्ता. काश्चिदलंक्रियाः ।
> साधारणमलंकारजातमत्र विविच्यते ।।

इस प्रकार उन्होंने काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद में कहा है। अर्थात् उनके मत में कोई अलंकृतियाँ सभी मार्गों के लिये साधारण होती है और कोई अलंकृतियाँ मार्ग मार्ग के लिये विशिष्ट होती है। यह असाधारण अलंकार अर्थात काव्यशोभाकर धर्म ही गुण हैं। दण्डी ने इस प्रकार काव्यशोभाकर धर्मों में साधारण तथा असाधारण रूप में भेद करते हुए, उस से अलंकार तथा गुणों का विवेक सिद्ध किया।

किन्तु केवल इसीसे, गुणों का निश्चित स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ। यह कार्य वामन ने किया। वामन ने देखा कि काव्यबंध के कोई नित्य विशेष होते हैं। काव्य-सौंदर्य का निर्माण ही मूलतः उन विशेषों पर अवलंबित रहता है। प्रत्युत कोई धर्म शोभावर्धक होते हैं। वैसे ही पूर्वोक्त धर्म नित्य होते हैं और दूसरे अनित्य हैं। इनमें से नित्य धर्म ही गुण हैं एवं अनित्य धर्म अलंकार हैं। वामन के मतानुसार रीति का स्वरूप नित्यगुणात्मक होने से, गुण और रीति अभिन्न है।

वामन और उद्भट समसामयिक ग्रन्थकर्ता थे। उनके विचारों में एक महत्त्वपूर्ण भेद है जिसका कि यहाँ ध्यान रखना आवश्यक है। वामन गुणों को नित्य मानते हुए उन्हें काव्यशोभा के कारक धर्म बताते हैं। अलंकारों को वे कारक धर्म नहीं मानते [illegible] धर्म कहते हैं। प्रत्युत उद्भट गुण तथा अलंकार दोनों को नित्य मानते हैं, एवं दोनों को कारकधर्म ही स्वीकार करते हैं।

वामन ने गुणविवेचन एक विशिष्ट क्रम से किया है। ओजस् – प्रसाद – श्लेष – समता – समाधि – माधुर्य – सौकुमार्य – उदारता – अर्थव्यक्ति – कान्ति इस क्रम से उनका विवेचन है। ओज का अर्थ है प्रौढी। वामन कृत विवेचन का आरंभ कविप्रौढोक्ति से है तथा कान्ति अर्थात् रसवत्ता से उसकी समाप्ति है। कवि की प्रौढोक्ति में अभिप्राय होता है (ओजस्); शब्दों की रचना विवक्षित अर्थ (अभिप्राय) में समुचित होती है (प्रसाद); वर्णित घटना में क्रम, वैदग्ध्य, अनुल्बणता तथा उपपत्ति होती है (श्लेष); उसमें कहीं भी विषमता अथवा क्रम भेद नहीं रहता (समता); कवि के काव्य में अर्थ नवीन हो सकता है अथवा

अन्यप्रेरित हो सकता है; वह व्यक्त हो सकता है अथवा सूक्ष्म (प्रतीयमान) हो सकता है; सूक्ष्म भी भाव्य (अगूढ) हो सकता है अथवा वासनीय (गूढ) हो सकता है (समाधि); कवि इस अर्थ को उक्तिवैचित्र्य (माधुर्य) में, परुषता तथा ग्राम्यता को वर्जित करते हुए (उदारता), हमें यथार्थ रूप में स्फुटतया प्रतीत कराता है (अर्थव्यक्ति); और ऐसे ही काव्य में रस दीप्त होता है (कान्ति)। इस दीप्तरसता के कारण ही काव्य में प्रतिक्षण नवीनता (उज्ज्वलता) आती है। रस के अभाव में काव्य पुराने चित्र के समान उदास हो जाता है, एवं रसहीनता से कविवाणी वन्ध्य होती है।

वामन के इन अर्थगुणों से क्या स्पष्ट होता है? उदारता तथा सुकुमारता में लक्षणा है। समाधिगुण में तो व्यंजना का बीज है। वामन का भाव्य तथा वासनीय अर्थ तो अगूढ तथा गूढ व्यंग्य का संक्षेप में रूप है। अर्थव्यक्ति में अर्थ की स्फुट-प्रतीति और विभावन है; और कान्ति तो रसादिध्वनि ही है। माधुर्य मे उक्तिवैचित्र्य एवं अलंकारप्रपंच अन्तर्गत् हैं, एवं श्लेष में वस्तुरचना सौंदर्य है। प्रसाद में विवक्षा-समुचित शब्दरचना है एवं यह सब ओजस् अर्थात् कविप्रौढोक्ति पर अधिष्ठित है। यहाँ आनन्दवर्धन के इस कथन का स्मरण हो आता है कि कविप्रौढोक्ति तथा कविनिर्मितपात्रप्रौढोक्ति भी संघटना के नियामक हैं। सारांश, वामनकृत विवेचना में ध्वन्यालोक के बीज शब्दभेद से पाये जाते हैं। वामन के विचार से रीति काव्य की आत्मा है; और कविप्रौढोक्ति (ओजस्) से प्रदीप्त रस (कान्ति) ही रीति का स्वरूप है। काव्य के लिये आवश्यक रस की नित्यता वामन ने ठीक पहचानी थी; अतएव उन्होंने रस को साधारण अलंकारसमूह से पृथक् किया तथा उसे काव्य के नित्यधर्मो में अर्थात् गुणों में स्थान दिया।

रुद्रट ने गुणालंकार विवेक नहीं किया। किन्तु उन्होंने रसालंकारविवेक अवश्य किया। रस तथा अलंकार काव्य के शोभाकर धर्म तो हैं किन्तु उनमें अलंकार कृत्रिम धर्म हैं और रस शोभाकर सहज धर्म है इस तथ्य को उन्होंने ठीक पहचाना, अतएव उन्होंने अलंकारों से भिन्न एवं पृथक् रूप में रसों का विवेचन किया। रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु कहते हैं—

"अथ अलंकारमध्ये एव रसा अपि किं नोक्ताः? उच्यते काव्यस्य शब्दार्थो शरीरम्। तस्य च वक्रोक्तिवास्तवादयः कटककुण्डलादय इव कृत्रिमा अलंकाराः। रसास्तु सौंदर्यादय इव सहजा गुणाः इति भिन्नस्तत्प्रकरणारम्भः॥"

इससे, आनन्दवर्धन के पूर्वकाल तक का काव्यसौंदर्यविचार हम आलेख में इस प्रकार बता सकते हैं—
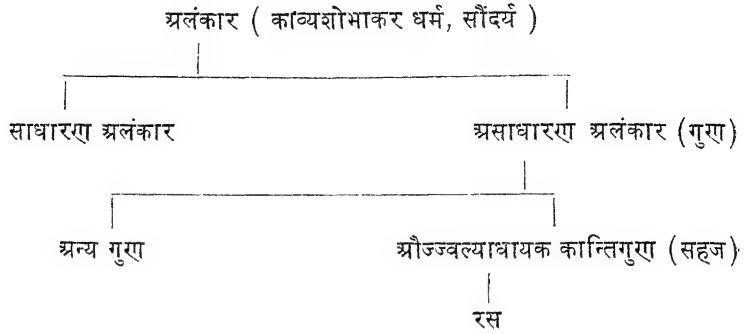
ध्वनि के पूर्व हुए इस विकास का पर्यवसान तथा पुनर्व्यवस्था ध्वन्यालोक में किस प्रकार की गयी है इसे देखना आवश्यक है, अन्यथा विकास का यह इतिहास पूर्ण नहीं हो सकता। ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में गुण, संघटना, तथा रस में अन्योन्यसंबन्ध प्रस्थापित करते हुए यह विषय आया है। वह संक्षेप में इस प्रकार है --

रीति और गुणात्मता में वामन ने अभेद माना है; क्योंकि उनके विचार से गुण रीति का नित्य धर्म है। उद्भट आदि ने गुणों को संघटनापर आश्रित मानते हुए संघटना एवं गुणों में भेद की कल्पना की एवं माना कि संघटना गुणों का आश्रय है। किन्तु आनन्दवर्धन ने सिद्ध किया कि गुण वस्तुतः रसधर्म हैं। इस कारण, गुण संघटनापर आश्रित नही हैं, प्रत्युत संघटना हि गुणों पर आश्रित है। यह तीन मत आलेखरूप में इस प्रकार बताये जा सकते है --
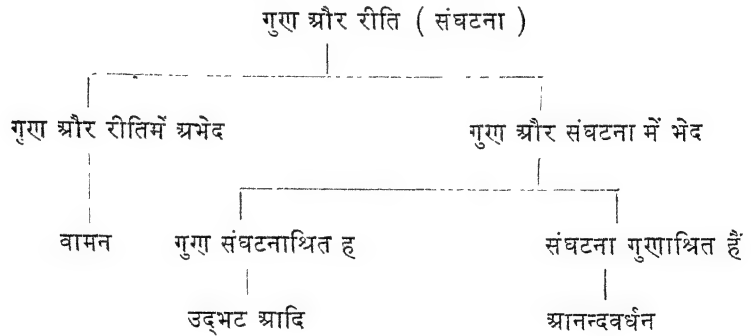
इस का अर्थ है; गुण रस के धर्म हैं। रस गुणी है, माधुर्य आदि उसके गुण हैं। संघटना अर्थात् रीति इन गुणों के आश्रय से रहती हुई रस को अभिव्यक्त करती है। गुण काव्यशोभा के कारक हेतु नहीं हैं अपितु वे रस के अभिव्यंजक

उपाय है। अतएव रस के अभिव्यंजक होने से ही काव्य मे अलंकार, रीति एव वृत्ति को स्थान है। इस प्रकार रसवत्–कान्तिगुण–रस का इतिहास है।

अध्याय ३ पृष्ठ ७१ पंक्ति २४–२७

(संदर्भ — भामह २।८५ इस कारिका का अभिनवगुप्त ने आधार लिया है तथा भामहकृत शब्दचारुत्व के विवेचन का पृष्ठगत [illegible] स्पष्ट किया है। इसके मूल उद्धरण—)

(क) यथारसं ये भावाः विभावानुभावव्यभिचारिणः, तेषां योऽर्थः, तं स्थायिभावरसीकरणात्मकं प्रयोजनान्तरं गतानि प्राप्तानि यदभिधाव्यापार[illegible] उद्यानादयोऽर्थाः तद्रसविशेषविभावादिभावं प्रतिपद्यन्ते तानि लक्षणानि इति सामान्यलक्षणम्। अत एव भट्ट नायकेनाऽपि अभिधाव्यापारप्रधानं काव्यमित्युक्तम्।... व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेदिति।—" सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते॥ इति॥

(ख) ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में आनन्दवर्धन का वचन है—"शब्दविशेषाणां च अन्यत्र चारुत्वं यद्विभागेनोपदर्शितं तदपि तेषां व्यंजकत्वेनैव अवस्थितम् इत्येव मन्तव्यम्।" इस पर अभिनवगुप्त कहते हैं—"अन्यत्र भामहविवरणे। विभागेनेति स्त्रक्चन्दनादयः शब्दाः शृंगारे चारवः बीभत्से तु अचारवः इति रसकृत एव विभागः।" अभिनव भारती. अ. १६.

अध्याय ४ पृष्ठ ९३ टिप्पणी क्र. २३

काव्य प्रत्यक्ष से संबन्धित विवेचन पृष्ठ १२२ से १२५ में आया है।

अध्याय ६ पृष्ठ १३२ पंक्ति ५–६

मम्मट को काव्यात्मता से रस ही अपेक्षित है इसके निर्देशक कुछ उद्धरण—

(१) मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः।

(२) ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥
उपकुर्वन्ति तं सन्तं येंऽगद्वारेण जातुचित्।
[illegible] ॥

अध्याय १५ पृष्ठ (१६८)

रुद्रटकृत रसविवेचन

उद्भट के अनन्तर रुद्रट ने रस पर लिखा है। रसप्रक्रिया के इतिहास में

रुद्रट के विवेचनान्तर्गत दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। रुद्रट का कथन है "रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।" उनका विचार है कि रति आदि भावों के समान निर्वेद आदि भी रसनाव्यापार के अर्थात् रस्यमानता के विषय होते हैं अतएव वे भी रस हैं। यह विचार हमें अभिनवगुप्त के अत्यंत निकट पहुँचाता है। अभिनवगुप्त का कथन है [illegible] अर्थात् चर्व्यमाणता ही रस का प्राण है। यह भी असंभव नहीं कि अभिनवगुप्त की सामान्यरस और विशेषरस की उपपत्ति रुद्रट से संबंधित हो। संभव है कि अभिनवगुप्त ने रुद्रट से और भी एक बात ली हो। शान्त रस की विवेचना में शान्त का स्थायी क्या है इस विषय में अभिनवगुप्त कहते हैं—'कस्तर्हि अत्र स्थायी? उच्यते, इह तत्त्वज्ञानमेव तावन्मोक्षसाधनम् इति तस्यैव मोक्षे स्थायिता युक्ता। तत्त्वज्ञानं च आत्मज्ञानमेव।" रुद्रट का भी शान्त के संबन्ध में यही विचार है। वे कहते हैं —

> सम्यग्ज्ञानप्रकृतिः शान्तो विगतेच्छनायको भवति।
> सम्यग्ज्ञानं विषये तमसो रागस्य चापगमात्॥

इस पर नामिसाधु लिखते हैं—'समग्ज्ञानं स्थायिभावः।

● ● ●

सूचि

(प)

(ब)

(म)